नन्द-मौर्य साम्राज्य का इतिहास

लेखक-परिचय

डॉ० श्रीराम गोयल (जन्म 1932) जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान), में इतिहास विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हैं। आपने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातक (1953, दर्शन-शास्त्र में सुवर्ण पदक प्राप्त) तथा स्नातकोत्तर (1955) डिग्रियाँ प्राप्त कीं। एम० ए० में आपने प्राचीन इतिहास में 'प्रथम श्रेणी के साथ प्रथम स्थान' प्राप्त किया। पहिले आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सी० एम० पी० कॉलिज में रहे (1955–58) और फिर गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग में (1958–70)। 1970 में आप जोधपुर विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में रीडर पद पर नियुक्त हुए और इस समय भी वहीं प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के रूप में सेवारत हैं।

प्रोफेसर गोयल ने बीस से अधिक उच्चस्तरीय ग्रन्थों का प्रणयन किया है और 80 से अधिक शोध-निबन्ध लिखे हैं। इनमें 'प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ' (1961), 'विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ' (1963, उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत), 'ए हिस्ट्री ऑव दि इम्पीरियल गुप्तज़' (1967), 'गुप्त एवं समकालीन राजवंश' (1969), 'प्राचीन नेपाल का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास' (1974), 'मागध साम्राज्य का उदय' (सम्पादित, 1981), 'प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह—प्राक्-गुप्तयुगीन' (1982), 'गुप्तकालीन अभिलेख' (1984), 'मौखरि-पुष्यभूति-चालुक्य युगीन अभिलेख' (1987), 'समुद्रगुप्त पराक्रमाङ्क' (1987), 'ए रिलीजस हिस्ट्री ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया', दो भागों में (1984, 1986), 'कौटिल्य एण्ड मेगास्थेनिज़' (1985), हर्ष एण्ड बुद्धिज़्म' (1986),'मुगल साम्राज्य का प्रारम्भिक इतिहास' (सम्पादित, 1987), 'हर्ष शीलादित्य' (1987), 'गुप्त साम्राज्य का इतिहास' (1987), 'ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म' (1987) तथा 'नन्द-मौर्य साम्राज्य का इतिहास' (1988) आदि सम्मिलित हैं। इन सभी ग्रन्थों की भारतीय इतिहास-जगत् में भूरि-भूरि प्रशंसा हुई है। आपके शोध-प्रवन्ध 'ए हिस्ट्री ऑव दि इम्पीरियल गुप्तज़' को ऑस्ट्रेलिया के नेशनल प्रोफेसर ए० एल० बैशम ने 'दि बेस्ट एनेलिसिस ऑव दि गुप्त पीरियड' बताया है तथा प्रोफेसर एलिनोर ज़ेलिओट (मिनेसोटा, अमेरिका) ने 'इमेजिनेटिव', 'वेल-रिटिन' तथा 'ए मॉडल ऑव हिस्टोरियोग्रेफी' कह कर सराहा है। इस ग्रन्थ में प्रतिपादित मतों और सुझावों को, जो पिछले दो दशकों से स्वदेशी एवं विदेशी विद्वानों के ग्रन्थों में विचार का विषय रहे हैं और जिन पर दर्जनों शोध-निबन्ध लिखे जा चुके हैं, प्रोफेसर आर० सी० मजूमदार ने भी 'अत्यन्त सावधानीपूर्वक अध्ययन करने योग्य' माना है। गुप्त इतिहास के पुनर्निर्माण में इन सुझावों का योगदान अब प्रायः स्वीकृत किया जाता है। प्रोफेसर गोयल के अभिलेखों पर लिखित ग्रन्थों की प्रशंसा प्रोफेसर दि० च० सरकार जैसे अभिलेख-शास्त्री ने भी की है। वस्तुतः प्रोफेसर गोयल के व्यक्तित्व में साहित्य, दर्शन-शास्त्र एवं इतिहास का विलक्षण समन्वय मिलता है।

प्रोफेसर गोयल के इस मत पर कि ब्राह्मी लिपि का आविष्कार प्रारम्भिक मौर्य युग में हुआ था, भारत के लब्ध-प्रतिष्ठ पुरालिपिशास्त्रियों की टिप्पणियों और प्रतिक्रियाओं को एकत्र संगृहीत एवं सम्पादित करके 'इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर सोसायटी' ने एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है ('दि ओरिजिन ऑव ब्राह्मी स्क्रिप्ट', नई दिल्ली, 1979)। प्रोफेसर गोयल के एक सुझाव पर इस प्रकार 'पत्राचार-सेमीनार' का आयोजन और प्रकाशन (जो स्वयं एक विरल बात है) तथा कुछ लिपि-शास्त्रियों द्वारा उनके इस सुझाव को 'सर्वाधिक स्वीकार्य' बताया जाना तथा अन्य अनेक इतिहासज्ञों द्वारा इसको कुछ संशोधन के साथ स्वीकृत किया जाना भारतीय

नन्द-मौर्य साम्राज्य का इतिहास

(A History of the Nanda-Maurya Empire)

श्रीराम गोयल

एम०ए०, पी-एच० डी०

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
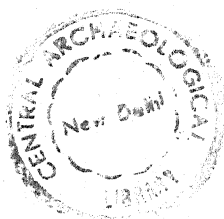
इतिहास विभाग

जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

कुसुमाञ्जलि प्रकाशन

मेरठ

लेखक-परिचय

डॉ० श्रीराम गोयल (जन्म 1932) जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान), में इतिहास विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हैं। आपने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातक (1953, दर्शन-शास्त्र में सुवर्ण पदक प्राप्त) तथा स्नातकोत्तर (1955) डिग्रियाँ प्राप्त कीं। एम० ए० में आपने प्राचीन इतिहास में 'प्रथम श्रेणी के साथ प्रथम स्थान' प्राप्त किया। पहिले आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सी० एम० पी० कॉलिज में रहे (1955–58) और फिर गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग में (1958–70)। 1970 में आप जोधपुर विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में रीडर पद पर नियुक्त हुए और इस समय भी वहीं प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के रूप में सेवारत हैं।

प्रोफेसर गोयल ने बीस से अधिक उच्चस्तरीय ग्रन्थों का प्रणयन किया है और 80 से अधिक शोध-निबन्ध लिखे हैं। इनमें 'प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ' (1961), 'विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ' (1963, उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत), 'ए हिस्ट्री ऑव दि इम्पीरियल गुप्तज़' (1967), 'गुप्त एवं समकालीन राजवंश' (1969), 'प्राचीन नेपाल का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास' (1974), 'मागध साम्राज्य का उदय' (सम्पादित, 1981), 'प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह—प्राक्-गुप्तयुगीन' (1982), 'गुप्तकालीन अभिलेख' (1984), 'मौखरि-पुष्यभूति-चालुक्य युगीन अभिलेख' (1987), 'समुद्रगुप्त पराक्रमाङ्क' (1987), 'ए रिलीजस हिस्ट्री ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया', दो भागों में (1984, 1986), 'कौटिल्य एण्ड मेगास्थेनिज़' (1985), हर्ष एण्ड बुद्धिज़्म' (1986), 'मुग़ल साम्राज्य का प्रारम्भिक इतिहास' (सम्पादित, 1987), 'हर्ष शीलादित्य' (1987), 'गुप्त साम्राज्य का इतिहास' (1987), 'ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म' (1987) तथा 'नन्द-मौर्य साम्राज्य का इतिहास' (1988) आदि सम्मिलित हैं। इन सभी ग्रन्थों की भारतीय इतिहास-जगत् में भूरि-भूरि प्रशंसा हुई है। आपके शोध-प्रबन्ध 'ए हिस्ट्री ऑव दि इम्पीरियल गुप्तज़' को ऑस्ट्रेलिया के नेशनल प्रोफेसर ए० एल० बैशम ने 'दि बेस्ट एनेलिसिस ऑव दि गुप्त पीरियड' बताया है तथा प्रोफेसर एलिनोर ज़ेलिओट (मिनेसोटा, अमेरिका) ने 'इमेजिनेटिव', 'वेल-रिटिन' तथा 'ए मॉडल ऑव हिस्टोरियोग्रेफी' कह कर सराहा है। इस ग्रन्थ में प्रतिपादित मतों और सुझावों को, जो पिछले दो दशकों से स्वदेशी एवं विदेशी विद्वानों के ग्रन्थों में विचार का विषय रहे हैं और जिन पर दर्जनों शोध-निबन्ध लिखे जा चुके हैं, प्रोफेसर आर० सी० मजूमदार ने भी 'अत्यन्त सावधानीपूर्वक अध्ययन करने योग्य' माना है। गुप्त इतिहास के पुनर्निर्माण में इन सुझावों का योगदान अब प्रायः स्वीकृत किया जाता है। प्रोफेसर गोयल के अभिलेखों पर लिखित ग्रन्थों की प्रशंसा प्रोफेसर दि० च० सरकार जैसे अभिलेख-शास्त्री ने भी की है। वस्तुतः प्रोफेसर गोयल के व्यक्तित्व में साहित्य, दर्शन-शास्त्र एवं इतिहास का विलक्षण समन्वय मिलता है।

प्रोफेसर गोयल के इस मत पर कि ब्राह्मी लिपि का आविष्कार प्रारम्भिक मौर्य युग में हुआ था, भारत के लब्ध-प्रतिष्ठ पुरालिपिशास्त्रियों की टिप्पणियों और प्रतिक्रियाओं को एकत्र संगृहीत एवं सम्पादित करके 'इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर सोसायटी' ने एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है ('दि ओरिजिन ऑव ब्राह्मी स्क्रिप्ट', नई दिल्ली, 1979)। प्रोफेसर गोयल के एक सुझाव पर इस प्रकार 'पत्राचार-सेमीनार' का आयोजन और प्रकाशन (जो स्वयं एक विरल बात है) तथा कुछ लिपि-शास्त्रियों द्वारा उनके इस सुझाव को 'सर्वाधिक स्वीकार्य' बताया जाना तथा अन्य अनेक इतिहासज्ञों द्वारा इसको कुछ संशोधन के साथ स्वीकृत किया जाना भारतीय इतिहास-जगत में डॉ० गोयल के विशिष्ट स्थान तथा उनकी विद्वता के सामान्य

नन्द-मौर्य साम्राज्य का इतिहास

(A History of the Nanda-Maurya Empire)

श्रीराम गोयल
एम०ए०, पी-एच० डी०
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
इतिहास विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

कुसुमाञ्जलि प्रकाशन
मेरठ

प्यारे बेटे अनिल
(श्री अनिल कुमार गुप्त, एडवोकेट)
एवं
आत्मजा **पूनम**
(श्रीमती अनिल कुमार गुप्त)
को स्नेहाशीष सहित

प्रोफेसर श्रीराम गोयल के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

(अ) अभिलेख-शास्त्र

1. प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह—प्राक्-गुप्तयुगीन
2. गुप्तकालीन अभिलेख
3. मौखरि-पुष्यभूति-चालुक्य युगीन अभिलेख

(आ) धार्मिक इतिहास

4–5. ए रिलीजस हिस्ट्री ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, दो भागों में
6. हर्ष एण्ड बुद्धिज़्म
7. ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म

(इ) राजनीतिक इतिहास

8. नन्द-मौर्य साम्राज्य का इतिहास
9. ए हिस्ट्री ऑव दि इम्पीरियल गुप्तज़
10. प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, भाग तीन
11. गुप्त साम्राज्य का इतिहास
12. प्राचीन नेपाल का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

(ई) चरित-ग्रन्थ

13. चन्द्रगुप्त मौर्य
14. प्रियदर्शी-अशोक
15. समुद्रगुप्त पराक्रमाङ्क
16. हर्ष शीलादित्य

(उ) सम्पादित ग्रन्थ

17. मागध साम्राज्य का उदय
18. भारत में मुग़ल साम्राज्य का प्रारम्भिक इतिहास

(ऊ) अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

19. कौटिल्य एण्ड मेगास्थेनिज़
20. विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ
21. प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ
22. युद्धकला (अनूदित)

(ए) प्रकाशनाधीन ग्रन्थ

23. दि क्वायनेज ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया
24. ए हिस्ट्री ऑव जैनिज़्म
25. ए पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया

प्रकाशकीय भूमिका

भारत के इतिहास में जिन साम्राज्यों का विशेष महत्त्व है उनमें नन्द-मौर्य, सातवाहन, कुषाण, गुप्त, चालुक्य तथा चोल विशेषतः उल्लेख्य हैं। इनमें भी नन्द-मौर्य साम्राज्य का स्थान विशेष है। कुसुमाञ्जलि प्रकाशन, मेरठ, की योजना है कि इन साम्राज्यों के इतिहास पर पृथक्-पृथक् ग्रन्थों का प्रकाशन किया जाये जिनमें इन पर की गई नवीनतम गवेषणाएँ और शोध समाविष्ट हों। गुप्त साम्राज्य के इतिहास पर हम एक ग्रन्थ पहिले ही इतिहासकारों के सम्मुख प्रस्तुत कर चुके हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ हमारे इस प्रयास का एक और सुखद परिणाम है। कुषाण साम्राज्य का अध्ययन भी हम शीघ्र ही विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत कर सकेंगे, ऐसा विश्वास है। आशा है हमारे इस प्रयास का इतिहास-जगत् स्वागत करेगा और सुधी इतिहासकार हमें प्राचीन, मध्य-कालीन तथा अर्वाचीन युगों के अन्य महान् साम्राज्यों पर अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों को प्रकाशित करने का अवसर देंगे।

प्राक्कथन

प्राचीन भारतीय इतिहास में नन्द-मौर्य साम्राज्य का अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान है। चौथी शती ई० पू० के पूर्वार्द्ध में नन्द वंश की स्थापना के साथ भारतीय इतिहास में वैदिक राजवंशों का युग समाप्त हुआ। तब से लेकर शुङ्गों के उदय तक भारतीय राजनीतिक जीवन में ऐसे राजवंशों की प्रधानता रही जिन्हें वैदिक सांस्कृतिक परम्परा में शूद्र अथवा व्रात्य या वृषल कहा गया है परन्तु जिन्होंने राजत्व की नवीन अवधारणा, राजनीति और धर्म के सम्बन्ध में नये सिद्धान्त तथा सांस्कृतिक और राजनीतिक एकता के नये आयाम निर्धारित किये, यद्यपि उनके द्वारा प्रवर्त्तित अनेक परम्पराएँ परवर्ती युगों में स्वीकृति नहीं पा सकीं।

नन्द-मौर्य युग की एक महती उपलब्धि चक्रवर्ती आदर्श को व्यावहारिक रूप दिया जाना था। चन्द्रगुप्त मौर्य का शासनकाल चक्रवर्ती आदर्श के व्यावहारिक रूप और मागध साम्राज्य की चरमावस्था का प्रारम्भ कहा जा सकता है। मागध साम्राज्य की स्थापना बिम्बिसार ने की थी। उसके समय से शैशुनाग वंश तक यह साम्राज्य भारत में फैलता रहा। नन्द नरेशों ने इसमें कलिंग व सम्भवत: गोदावरी नदी (और हो सकता है कुन्तल) तक विस्तृत दक्षिण भारतीय प्रदेश सम्मिलित करके इसे अखिल भारतीय रूप देने का प्रयास किया। पुराणों में नन्दों को 'एकराट्' कहा गया है और वैदिक राजवंशों के विनाश का श्रेय दिया गया है। इस परम्परा का निश्चायक प्रमाण यह तथ्य है कि नन्दों के उपरान्त वैदिक राजवंश भारतीय राजनीतिक रंगमञ्च से अदृश्य-से हो जाते हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन काल इस साम्राज्यिक प्रसार की अगली—चरम विकास वाली—अवस्था के प्रारम्भ का सूचक है, जब इस साम्राज्य में प्रथम बार लगभग समस्त भारतीय उप-महाद्वीप सम्मिलित हुआ। चरमोत्कर्ष का यह युग अशोक तक चला। जिस प्रकार किसी सरोवर में अगर एक पत्थर फेंका जाये तो उससे उठने वाली तरंगें धीरे-धीरे किनारों की ओर फैलती जाती हैं वैसे ही मगध का राज्य विस्तृत होकर धीरे-धीरे भारत के विभिन्न भागों को अपने में समेटता चला गया। अशोक की कलिंग-विजय से इस प्रक्रिया का समापन हुआ।

अशोक का शासन काल मागध साम्राज्य के प्रसार की चरमावस्था का ही नहीं, बौद्धों के धम्म चक्कवत्ती धम्मराज के आदर्श की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति का युग भी था। यह आदर्श आधुनिक धर्म-निरपेक्षता या सर्व-धर्म-समभाव के आदर्श का ही प्राचीन रूप था, कोई साम्प्रदायिक आदर्श नहीं। अशोक ने इस आदर्श को व्यावहारिक रूप देने के लिए जो उपाय किये उनसे न केवल साम्राज्य को स्थायित्व मिला वरन् भारत की राजनीतिक-सांस्कृतिक एकता बलवत्तर हुई। परन्तु यह मानना भ्रान्ति होगी कि उसकी नीतियों का उद्देश्य भारत की राजनीतिक-सांस्कृतिक एकता की प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना था। उसका लक्ष्य धंम चक्कवत्ती बनना और बौद्ध धर्म का प्रचार ही थे। भारत की राजनीतिक-

सांस्कृतिक एकता को तो उसकी नीतियों से आनुषंगिक रूप से बढ़ावा मिला था। इस स्थिति को भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नीतियों और उनके परिणामों से स्पष्टतर किया जा सकता है। भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का लक्ष्य अपनी जड़ें जमाना था। इसके लिए अंग्रेजों ने यहाँ एक भाषा—अंग्रेजी—का प्रचार किया, एक राज-पुरुषतन्त्र (bureaucracy) की स्थापना की और उसे मजबूत बनाया, भारत के दूरस्थ प्रदेशों को रेलों, सड़कों तथा वायुयान आदि के द्वारा परस्पर जोड़ा, टेलीफोन तथा समाचार-पत्रों आदि के द्वारा विभिन्न प्रदेशों में सम्पर्क स्थापित किया, अपने आर्थिक हितों की पूर्ति करने के लिए भारत के औद्योगीकरण का प्रारम्भ किया, आदि। परन्तु इन नीतियों का लक्ष्य उनके अपने हितों की सिद्धि थी। यह एकदम जुदा बात है कि इनके परिणामस्वरूप भारत में एकता की भावना को बल मिला। जब भारत के विभिन्न प्रदेश एक-दूसरे के सम्पर्क में आये तो उन्होंने अपनी विस्तृत एकता को न केवल पहिचाना वरन् व्यक्ति की स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र, संसदीय प्रशासन विधि, आदि पाश्चात्य विचारों के रूप में इस एकता को मजबूत करने वाले नये सूत्रों की खोज भी की। ब्रिटिश आधिपत्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया ने भी न केवल समस्त भारत में जागृति उत्पन्न की वरन् एकता की भावना को समान लक्ष्य जनित अति-रिक्त आधार प्रदान किया। अंग्रेजों की उपर्युक्त नीतियों के, जो उन्होंने अपने हितों की पूर्ति के लिए अपनाईं, ये उनकी अपनी दृष्टि से दुखद परिणाम थे। अशोक के विषय में यही बात कुछ अन्तर के साथ कही जा सकती है। अशोक अंग्रेजों की तरह विदेशी नहीं था, भारत का अपना था और उसकी नीतियों से भारत की एकता को बल मिला तो यह स्वयं उसे अपनी नीतियों का एक दुखद नहीं सुखद परिणाम लगा होगा। मागधी भाषा को राजभाषा बनाकर, ब्राह्मी लिपि में लेख लिखवाकर, एक कला परम्परा को राजकीय प्रश्रय देकर तथा अपने राजपुरुषतन्त्र की सहायता लेकर उसने बौद्ध धर्म का प्रचार करना एवं धंम चक्कवत्ती आदर्श को व्यावहारिक रूप देना चाहा था। इनसे देश की एकता बलवत्तर हुई, यह परिणाम सुखद होते हुए भी आनुषंगिक था, परोक्ष था, अप्रत्याशित था।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना में मुझे अनेक मित्रों से सहयोग मिला है। उन सभी के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इसकी अनुक्रमणिका मेरी पुत्रवधू श्रीमती अलका गोयल (एम०एस-सी०) तथा पुत्री कुमारी विजयश्री गोयल (एम० ए०) ने बनाई है। इसके लिए ये दोनों आशीर्वाद की अधिकारिणी हैं। कुसुमाञ्जलि प्रकाशन, मेरठ, के अधिकारियों ने इसे उत्साह से छापा है, इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

श्रीराम गोयल

41-ए, सरदार क्लब स्कीम, जोधपुर

विषय-सूची

अध्याय 7

चन्द्रगुप्त मौर्य का धर्म 132–144

अध्याय 8

प्रारम्भिक मौर्य सम्राटों का तिथिक्रम 145–151

अध्याय 9

चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व और मूल्यांकन 152–170

परिशिष्ट

कौटिल्य द्वारा वर्णित शासन-व्यवस्था 171–193

अध्याय 12

अशोक के इतिहास के स्रोत 224–242

अध्याय 13

अशोक का प्रारम्भिक जीवन 243–254

अध्याय 14

अशोक की कलिंग-विजय और साम्राज्य की सीमाएँ 255–266

अशोक के काल में मौर्य साम्राज्य का विस्तार

दक्षिण भारतीय तथा यूनानी राज्यों से अशोक के सम्बन्ध

अध्याय 15

अशोक और बौद्ध धर्म 267–302

अशोक द्वारा बौद्ध धर्म का स्वीकार

बौद्ध धर्म के लिए अशोक के कार्य

अध्याय 16

अशोक का धंम और धंम विजय नीति 303–339

धंम की अवधारणा : अभिलेखों का साक्ष्य

धंम के विविध पक्ष

अभिलेखों में वर्णित धंम और बौद्ध धर्म के सम्बन्ध की समस्या

संकेत-सूची

अ०हि०इं०	अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, ले०, वी०ए० स्मिथ, चौथा संस्करण, ऑक्सफोर्ड, 1924।
अ०हि०वै०	एन अर्ली हिस्ट्री ऑव वैशाली, ले०, योगेन्द्र मिश्र।
आई०ए०	इण्डियन एण्टिक्वेरी।
आई०एच०क्यु०	इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली।
आई०सी०	इण्डियन कल्चर।
आ०म०मू०क०	आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प।
आर्क०सर्वे०इं०	आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया।
इ०आई०	एपिग्रेफिया इण्डिका।
इ०हि०इं०	एन इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, ले०, काशीप्रसाद जायसवाल।
ए०इं०यू०	एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी, बम्बई।
ए०इं०डे०क्ला०रा०	एन्श्येण्ट इण्डिया एज़ डेस्क्राइब्ड बाई क्लासिकल राइटर्स, ले०, मैक्रिण्डल।
ए०बी०ओ०आर०आई०	एनाल्स ऑव भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना।
एम०ए०एस०आई०	मेमोआयर्स ऑव आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया।
ए०न०मौ०	एज ऑव नन्दज़ एण्ड मौर्यज़।
एन्श्येण्ट ज्यो०	एन्श्येण्ट ज्योग्रेफी ऑव इण्डिया, ले०, जनरल कनिंघम।
एन०एस०	न्युमिस्मेटिक सप्लीमेण्ट।
एस०बी०इ०	सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट।
ए०एस०आई०, ए०आर०	आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, एन्वल रिपोर्ट।
को० (कोम्प्रि०) हि०इं०	कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑव इण्डिया, भाग 2।
कै०ए०हि०	कैम्ब्रिज एन्श्येण्ट हिस्ट्री।
कै०हि०इं०	कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, भाग 1।
क्ला०ए०	दि क्लासिकल एज, बम्बई।
कार्मा०ले०	कार्माइकेल लेक्चर्स, ले०, डी०आर० भाण्डारकर।
क्ला०एका०	क्लासिकल एकाउण्ट्स ऑव इंडिया, ले०, र०च० मजूमदार।
जे०ए०	जूर्नाल एशियाटीक।
जे०बी०आर०एस०	जर्नल ऑव बिहार रिसर्च सोसायटी, पटना।
जे०बी०बी०आर०ए०एस०	जर्नल ऑव बाम्बे ब्रांच ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी।
च०मौ०का०	चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, ले०, रा० कु० मुकर्जी।
जे०आर०ए०एस०	जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी।

जे०ए०एस०बी०	जर्नल ऑव एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल ।
जे०एन०एस०आई०	जर्नल ऑव दि डिपार्टमेण्ट ऑव लैटर्स ।
जे०ए०ओ०एस०	जर्नल ऑव अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी ।
डा०क०ए० (डी०के०ए०)	पुराण टैक्स्ट्स् ऑव दि डायनेस्टीज़ ऑव कलि एज, ले०, एफ० इ० पार्जिटर ।
डि०पा०प्रो०ने०	डिक्शनरी ऑव पालि प्रोपर नेम्स, ले०, मललसेकर ।
न्यु०इण्डि०एण्टि०	न्यु इण्डियन एण्टिक्वेरी ।
न्यु०स० (सप्ली०)	न्युमिस्मेटिक सप्लीमेण्ट ।
न्यु०क्रो० (क्रोनो०)	न्युमिस्मेटिक क्रोनिकल ।
पी०आई०एच०सी०	प्रोसीडिंग्स ऑव इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस ।
पी०ओ०सी०	प्रोसीडिंग्स ऑव ओरियण्टल कान्फ्रेन्स ।
पो०हि०ए०इं०	पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, ले०, हे० च० रायचौधुरी ।
बी०एस०ओ०ए०एस०	बुलेटिन ऑव स्कूल ऑव ओरियण्टल एण्ड एफ्रीकन स्टडीज़ ।
बौ०ध०सू०	बौधायन धर्मसूत्र ।
बु०का०भा०भू०	बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, ले०, भरतसिंह उपाध्याय ।
मा०सा०उ०	मागध साम्राज्य का उदय, सम्पा०, श्रीराम गोयल एवं शिवकुमार गुप्त ।
स०इं०	सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स्, ले०, दि०च० सरकार ।
स्टडीज़	स्टडीज़ इन एन्श्येण्ट हिस्ट्री एण्ड सिविलिजेशन, ले० बुद्धप्रकाश ।

अध्याय 1
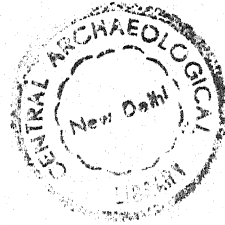
नन्द वंश और प्रारम्भिक मौर्य युग के इतिहास-स्रोत

नन्द वंश, सिकन्दर और चन्द्रगुप्त मौर्य

भारतीय इतिहास में चौथी शती ई०पू० का बहुत महत्त्व है। इस शताब्दी में भारतीय इतिहास को प्रधानतः तीन महान् नरेशों ने दिशा प्रदान की—एक, महापद्मनन्द जिसने उत्तर भारत के लघु वैदिक राजवंशों का अन्त करके तथा मगध के साम्राज्य को उत्तर भारत के अधिकांश में एवं दक्षिण के कुछ भागों तक विस्तृत करके देश के राजनीतिक मानचित्र को सरल किया। दूसरा सिकन्दर, जिसने महापद्मनन्द के कुछ ही समय बाद उत्तरापथ (पश्चिमोत्तर भारतवर्ष) के लघु राज्यों का अन्त करके राजनीतिक सरलीकरण की इस प्रक्रिया को उस प्रदेश में सम्पन्न किया। तथा तीसरा चन्द्रगुप्त मौर्य, जिसने चाणक्य की सहायता से महापद्मनन्द और सिकन्दर के काम को पूरा किया और भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास में प्रथम बार एक अखिल भारतीय साम्राज्य की स्थापना की। इसलिये नन्द वंश, सिकन्दर तथा चन्द्रगुप्त मौर्य का युग अपने आप में एक इकाई है। अन्य अनेक दृष्टि से भी ये राजा परस्पर जुड़े हैं। एक, जैसाकि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, चन्द्रगुप्त मौर्य ने जिस साम्राज्य की स्थापना की वह अचानक मात्र चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य के प्रयास से अस्तित्व में नहीं आ गया था। जब चाणक्य ने नन्द वंश का विनाश करके चन्द्रगुप्त को गद्दी पर बैठाया तब उसने एक नये वंश की स्थापना जरूर की परन्तु यह एक नये साम्राज्य की स्थापना नहीं थी क्योंकि नन्दों के अधिकार में जितना विशाल साम्राज्य था उसका अधिकांश चन्द्रगुप्त को गद्दी पर बैठते ही प्राप्त हो गया होगा—वैसे ही जैसे पुष्यमित्र शुंग ने बृहद्रथ को मार कर मगध का साम्राज्य पाया था, या ग्रहवर्मा की हत्या हो जाने के बाद हर्ष ने मौखरि साम्राज्य पाया था। यूरोप में इसका उदाहरण यूरोप का रोमक साम्राज्य है जिसमें एक-एक करके अनेक राजवंश स्थापित हुए परन्तु साम्राज्य वही रहा। यह दूसरी बात है कि इस प्रकार वंश-परिवर्तन होने पर नये वंश को एकाधिक प्रान्तों में अपनी राजसत्ता को स्वीकृत कराने के लिये बलप्रयोग भी करना पड़ जाता था, परन्तु उस बलप्रयोग में तथा नवीन साम्राज्य की स्थापना में, जैसा गुप्त सम्राटों ने किया या उनके बाद मौखरियों को करना पड़ा, बड़ा अन्तर होता है। संक्षेप में चन्द्रगुप्त मौर्य एक नये वंश का

संस्थापक होने के साथ नन्दों का राजनीतिक उत्तराधिकारी भी था (यद्यपि एक परम्परा में चन्द्रगुप्त को नन्दवंशोत्पन्न भी कह दिया गया है)। दूसरे, नन्दवंश और चन्द्रगुप्त मौर्य दोनों के ही अभिलेख नहीं मिलते—इनका इतिहास साहित्यिक अनुश्रुतियों की सहायता से पुनर्निर्मित करना होता है। इनमें अधिकांश अनुश्रुतियों में नन्द, चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य तीनों की चर्चा है। इस कथाचक्र को 'नन्द-चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथाचक्र' कहा जा सकता है। इस दृष्टि से भी नन्द वंश और चन्द्रगुप्त मौर्य का इतिहास एक इकाई के रूप में देखा जाना आवश्यक है।

ब्राह्मण ग्रन्थ

यद्यपि नन्द एवं प्रारम्भिक मौर्ययुगीन अभिलेख और इस युग का 'वैज्ञानिक' रूप से वर्णन करने वाले इतिहास-ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु ऐसी बहुत-सी साहित्यिक सामग्री—भारतीय एवं विदेशी—प्राप्त है जिसका उपयोग इस युग का इतिहास लिखने में किया जा सकता है। उन भारतीय ग्रन्थों में जो इस युग से और विशेषत: चन्द्रगुप्त मौर्य से सम्बन्धित माने जाते हैं, सर्वप्रथम कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का उल्लेख किया जा सकता है। परम्परानुसार इसकी रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के महामन्त्री चाणक्य उर्फ कौटिल्य उर्फ विष्णुगुप्त ने की थी। कुछ विद्वानों को इसमें शंका है और वे इस ग्रंथ की रचना मौर्य युग के उपरान्त हुई मानते हैं। यह तथ्य कि इसकी कुछ सामग्री चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद वाले युग की है, अनायास सिद्ध किया जा सकता है। लेकिन टॉमस, गणपतिशास्त्री, शामशास्त्री, स्मिथ, जायसवाल, मुकर्जी व कांगले आदि का अभिमत है कि कुल मिला कर इस ग्रन्थ को मौर्यकाल में अथवा इसके निकट रचित मानना चाहिये। परन्तु हमारा विश्वास है कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की रचना तीसरी शती ई० के अन्त में कभी हुई थी और इसका लेखक विष्णुगुप्त कौटिल्य था जो चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमन्त्री चाणक्य से भिन्न व्यक्ति था, यद्यपि हम यह भी मानते हैं कि इसकी कुछ सामग्री मौर्यकालीन परस्पराओं पर आधृत प्रतीत होती है। इस विषय में हमने अपने मत का विस्तार से विवेचन[1] आगे एक परिशिष्ट में किया है। जो भी हो, हमारे विचार से इतना तो निश्चित ही है कि इस ग्रन्थ से चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल की घटनाओं पर विशेष प्रकाश नहीं मिलता। मुकर्जी आदि बहुत-से विद्वान् यह मानते हैं कि इस ग्रन्थ की सहायता से हम मौर्य साम्राज्य की शासन व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु कौटिल्य यदि मौर्ययुगीन लेखक था तब भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उसका उद्देश्य मौर्य साम्राज्य की प्रशासकीय व्यवस्था का वर्णन करना नहीं वरन् यह बताना था कि किसी राज्य का

[1]देखिये, गोयल, एस० आर०, कौटिल्य एण्ड मेगास्थेनिज, मेरठ, 1985, अध्याय 1-2; 'दि रिडिल ऑव कौटिल्य एण्ड चाणक्य', जिज्ञासा (सं० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, 1, अंक 3-4, जयपुर, 1974, पृ० 32-51।

प्रशासन कैसा होना चाहिए। इसलिए यह ग्रन्थ मूलतः अगर चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में लिखा भी गया होगा तब भी इसमें वर्णित व्यवस्था को तत्कालीन राज्य और समाज का यथार्थ वर्णन नहीं माना जा सकता। हमारे विचार से उन विद्वानों के लिए भी जो कौटिल्य को मौर्य युग में रखते हैं यह उचित होगा कि वे मौर्यों के प्रशासन के यथार्थ रूप का अध्ययन करते समय 'अर्थशास्त्र' के साक्ष्य को यथावत् स्वीकार करने के बजाय इसका उपयोग अन्य साक्ष्य से ज्ञात तथ्यों की व्याख्या और समर्थन मात्र के लिए करें। किसी प्रशासकीय विशेषता के अस्तित्व को मात्र 'अर्थशास्त्र' के प्रमाण के आधार पर चन्द्रगुप्त मौर्ययुगीन सिद्ध मानने के लोभ को संवरण करना एवं मेगा-स्थेनिज़ तथा कौटिल्य के साक्ष्य में विरोध होने पर मेगास्थेनिज़ के साक्ष्य को अधिक महत्त्व देना वैज्ञानिक इतिहास के पुनर्निर्माण की दृष्टि से अधिक उचित होगा।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय साहित्य में ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जो नन्द-चाणक्य-चन्द्रगुप्त मौर्य का उल्लेख करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्व-प्रथम पुराणों और 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक की चर्चा की जा सकती है। पुराणों में प्रदत्त प्राचीन इतिहास प्रायः अशुद्धियों से परिपूर्ण है, परन्तु अब इस बात में सन्देह नहीं किया जा सकता कि इनका विवेचन करके प्राचीन भारतीय राजनीतिक इतिहास विषयक बहुत-सी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। जहाँ तक मौर्यों का सम्बन्ध है इन ग्रन्थों में नन्दों के उन्मूलन, मौर्य वंश की स्थापना तथा उसमें चाणक्य का योगदान (जिसे यहाँ भ्रमवशात् कौटिल्य कहा गया है) एवं वंशक्रम तथा तिथिक्रम विषयक बहुत ही उपयोगी सूचनाएँ मिलती हैं। 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक में चाणक्य द्वारा नन्दों के उन्मूलन और कूटनीति से नन्दों के भूतपूर्व मंत्री राक्षस को (जिसे चाणक्य चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनाना चाहता था) चन्द्रगुप्त की सेवा करने के लिए विवश कर दिये जाने का वर्णन मिलता है। इसकी रचना विशाखदत्त नामक व्यक्ति ने की थी। विल्सन ने विशाखदत्त की तिथि बारहवीं शती ई० सुझाई थी, परन्तु अब यह मत सर्वथा अग्राह्य माना जाता है। आजकल अधिकांश विद्वान् विशाखदत्त को गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (376–413 ई०) का समकालीन और सामन्त मानते हैं और कुछ उसे अपेक्षया बाद में (6ठी या 9वीं शती ई० में) रखते हैं। इसका कथानक[1] किस सीमा तक ऐतिहासिक तथ्यों पर आधृत है, कहना कठिन है। एफ० डब्ल्यु० टॉमस के अनुसार इसमें प्रदत्त तथ्यों को ऐतिहासिक मानने में कोई विशेष बाधा नहीं है।[2] परन्तु यह सही होते हुए भी कि इस ग्रन्थ में नन्दों के उन्मूलन व चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण सम्बन्धी कुछ बहुमूल्य सामग्री सुरक्षित है, हमें यह

---

[1]धनंजय के 'दशरूपक' के टीकाकार धनिक ने लिखा है कि 'मुद्राराक्षस' की कथा 'बृहत्कथा' पर आधारित थी (बृहत्कथामूलमुद्राराक्षसम्)। लेकिन सी० डी० चटर्जी ने इस अनुश्रुति को गलत बताया है (आई० सी०, 1, पृ० 209)। वी० राघवन भी चटर्जी से सहमत हैं (वही, पृ० 495)।

[2]कैं०हि०इं०, पृ० 423।

नहीं भूलना चाहिए कि यह ग्रन्थ प्रकृत्या एक नाटक है और वह भी चन्द्रगुप्त मौर्य के कम से कम सात सौ वर्ष बाद लिखा हुआ। दूसरे, इस ग्रन्थ में लिखी हुई बहुत-सी बातें निश्चय ही गलत हैं। उदाहरणार्थ, इसमें चन्द्रगुप्त मौर्य को नन्द वंश से सम्बन्धित बताया गया है जो, जैसा कि हम आगे देखेंगे, निश्चय ही अशुद्ध परम्परा है। इसलिए हमारा विचार है कि 'मुद्राराक्षस' की सामग्री को प्राचीन साक्ष्य के साथ संगत होने पर मात्र समर्थक प्रमाण के रूप में ही प्रयुक्त करना श्रेयस्कर होगा।[1]

नन्द-चन्द्रगुप्त-चाणक्य विषयक कथा का एक चक्र सोमदेव के ग्रन्थ 'कथा-सरित्सागर' में मिलता है। यह ग्रन्थ गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' के आधार पर, जिसकी रचना पैशाची प्राकृत में प्रथम शती ई० में की गई थी, लिखा गया था। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' आजकल उपलब्ध नहीं है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि 'कथा-सरित्सागर' में प्रदत्त नन्द-चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथा मूल 'बृहत्कथा' में थी या नहीं। हो सकता है इसे 'बृहत्कथा' में, जिसमें गुणाढ्योत्तर युग में बहुत-सी कथाएँ जोड़ी गई थीं, गुप्त काल में या उसके बाद जोड़ दिया गया हो। कम से कम इतना निश्चित है कि सोमदेव ने इस कथा को जिस प्रकार लिखा है वह इसके अत्यन्त विकसित रूप का परिचायक है।

ब्राह्मण साहित्य में नन्द-चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथा का बराबर विकास होता रहा। उदाहरणार्थ, 'मुद्राराक्षस' एवं 'विष्णु-पुराण' के ऊपर लिखित टीकाओं में नन्दों और चन्द्रगुप्त मौर्य के ऊपर कुछ नवीन सूचनाएँ—अधिकतर अशुद्ध—जोड़ दी गईं। इस प्रसंग में 'विष्णु-पुराण' का टीकाकार रत्नगर्भ (जिसकी तिथि अज्ञात है) और 'मुद्राराक्षस' की 'मुद्राराक्षस व्याख्या' नामक टीका का लेखक धुण्ढिराज (1713-14 ई०) विशेषत: उल्लेखनीय हैं। धुण्ढिराज द्वारा प्रदत्त सूचनाओं का समर्थन महादेव की 'मुद्राराक्षस कथा', रविनर्तक उर्फ इर्वी चाक्यर की 'चाणक्य कथा' (1615 ई०), तथा अनन्तकवि की 'राक्षसपूर्वकथा' (लग० 1660 ई०) तथा 'पूर्वपीठिका' (जिसे स्वयं धुण्ढिराज ने उद्धृत किया है) से होता है। लेकिन इन ग्रन्थों में प्रदत्त अनुश्रुतियाँ प्राचीनतर क्लासिकल, बौद्ध, जैन एवं स्वयं ब्राह्मण परम्पराओं के विरुद्ध होने के कारण त्याज्य मानी जाती हैं।

नन्दों तथा मौर्य वंश से सम्बन्धित कुछ फुटकर सूचनाएँ पतञ्जलि के 'महाभाष्य' एवं 'दशकुमारचरित' जैसे विविध संस्कृत ग्रन्थों में भी बिखरी मिलती हैं। उनकी चर्चा हम आगे यथास्थान करेंगे।

बौद्ध ग्रन्थ

नन्द वंश के उन्मूलन और चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा मौर्य वंश की स्थापना से सम्बन्धित

---

[1] 'मुद्राराक्षस' की तिथि पर सन्दर्भों के लिये दे०, गोयल, ए हिस्ट्री ऑव दि इम्पीरियल गुप्तज, पृ० 224, टि० 2; बुद्धप्रकाश, स्टडीज़ इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलिजेशन, पृ० 135, टि० 1; दे०, एस० के०, बी० सी० लाहा वॉल्यूम, 1, पृ० 50 अ०।

बहुत-सी कथाएँ बौद्ध और जैन साहित्य में उपलब्ध हैं। इन कथाओं का प्राचीनतम बौद्ध रूप सिंहली ग्रन्थों में मिलता है। अशोक द्वारा सिंहल (लंका) में बौद्ध धर्म का प्रचार किए जाने के बाद वहाँ के नगर अनिरुद्धपुर में 'महाविहार' और 'उत्तरविहार' नाम के दो प्रसिद्ध विहार स्थापित हुए। इनके स्थविरों ने कुछ ऐसे ग्रन्थों की रचना की जिनमें बौद्ध धर्म के लंका-प्रवेश और प्रसार का और प्रसंगवशात् मौर्य वंश का इतिहास दिया गया था। इनमें प्रथम शती ई० में रचित 'सिंहली अट्ठ-कथा' और 'उत्तरविहार अट्ठकथा' (अट्ठकथा=अर्थकथा) अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। ये ग्रन्थ आजकल अनुपलब्ध हैं परन्तु विश्वास किया जाता है कि इनकी सामग्री के आधार पर ही 'दीपवंस' और 'महावंस' की रचना हुई थी। 'दीपवंस' के लेखक का नाम अज्ञात है। यह पालि भाषा में लिखित काव्य ग्रन्थ है और इसकी तिथि लगभग चौथी शती ई० मानी जाती है। 'महावंस' की रचना महानाम नामक विद्वान् ने अपेक्षया अधिक परिष्कृत पालि भाषा में पाँचवीं-छठी शती ई० में की थी। नन्द-मौर्य वंशों के इतिहास के लिए इन दोनों ग्रन्थों का बड़ा योगदान है। 'महावंस' में प्रदत्त सामग्री का विस्तृत रूप 'महावंसटीका' नामक ग्रन्थ में मिलता है। इसे 'वंसत्थप्प-कासिनी' भी कहा जाता है। इसकी रचना आठवीं-नवीं शती ई० में हुई थी। 'महाबोधिवंस' (नवीं-दसवीं शती ई०) नामक ग्रन्थ में अनुराधपुर (लंका) में आरोपित बोधिवृक्ष की कथा दी गई है। प्रसंगवशात् इसमें अशोक के पूर्वजों का वर्णन भी किया गया है। इसका लेखक उपतिस्स नामक भिक्षु था। चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथा के लिए एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है 'मोग्गल्लान का महावंस' जो 'कम्बोडियायी महावंस' भी कहलाता है (दसवीं-ग्यारहवीं शती ई०)।

अन्य पालि बौद्ध ग्रन्थों में जो नन्द-चन्द्रगुप्त मौर्य युग पर प्रकाश देते हैं 'मिलिन्द-पञ्हो' उल्लेखनीय है। इसमें द्वितीय शती ई०पू० में शासन करने वाले यवनराज मिनेण्डर और बौद्ध विद्वान् नागसेन का वार्तालाप दिया गया है। प्रसंगवशात् इसमें नन्दों तथा चन्द्रगुप्त-चाणक्य से सम्बन्धित कथाएँ भी दे दी गई हैं।

बौद्ध धर्म के संस्कृत ग्रन्थों में, जिनमें नन्द-चन्द्रगुप्त-चाणक्य विषयक सामग्री मिलती है, सर्वप्रथम 'दिव्यावदान' उल्लेखनीय है। यह ग्रन्थ नेपाल में मिला था। इसका लेखक, जिसका नाम अज्ञात है, तीसरी शती ई० के लगभग रखा जा सकता है। साहित्यिक दृष्टि से यह एक उच्च कोटि का ग्रन्थ है। दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' है। इसमें बौद्ध धर्म का आठवीं शती ई० तक इतिहास दिया गया है। इसमें 1005 श्लोक हैं जो पौराणिक शैली में लिखे गए हैं। ग्याहरवीं शती ई० में इस ग्रन्थ का अनुवाद कुमारकलश नामक विद्वान् ने तिब्बती भाषा में किया था। आजकल इसके संस्कृत व तिब्बती दोनों संस्करण मिलते हैं। इसमें नन्दों, चन्द्रगुप्त मौर्य, चाणक्य और बिन्दुसार आदि के विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी गई हैं।

जैन साहित्य

नन्द वंश, चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के इतिहास के लिए जैन साहित्य में रोचक सामग्री भरी पड़ी है। इस सामग्री में बहुत-से परवर्ती परम्पराएँ भी घुल-मिल गई हैं परन्तु क्लासिकल लेखकों एवं अन्य स्रोतों के साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन करके अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य जाने जा सकते हैं। जैन परम्परानुसार चाणक्य व चन्द्रगुप्त दोनों जैन थे और (अगर हम 'अर्थशास्त्र' के कौटिल्य को एक परवर्ती लेखक मानें तो)[1] हमें इस परम्परा में अविश्वास का कोई कारण नहीं लगता। चन्द्रगुप्त को अपने धर्म का अनुयायी बताने का दावा केवल जैन करते हैं और चाणक्य के विषय में भी केवल जैन साक्ष्य ही यह सूचना देता है कि वह एक जैन परिवार में उत्पन्न ब्राह्मण था जो बाद में जैन मुनि बना। ब्राह्मण और बौद्ध ग्रन्थ चाणक्य के परिवार सम्बन्धी कोई सूचना नहीं देते।

जैन साहित्य[2] को सम्प्रदाय-भेद के अनुसार दो भागों में बाँटा जा सकता है—दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बरों के मूल आगम साहित्य में बहुत-सी कथाएँ बीजरूप में विद्यमान थीं। इनकी सहायता से जैन आचार्य अपने मन्तव्य की पुष्टि करते थे। इन कथाओं को स्पष्ट किया निज्जूतियों (निर्युक्तियों) व चूण्णियों (चूर्णियों) आदि के लेखकों ने। निज्जूतियों में ये कथाएँ अत्यन्त संक्षिप्त रूप से दी गई और चूण्णियों, भाष्यों अथवा टीकाओं में विशद रूप से। इस प्रकार श्वेताम्बर कथा-साहित्य के चार स्तर हैं—सूत्र (जो मूल आगम का अंग रूप हैं), निर्युक्ति, चूर्णि तथा टीका या भाष्य।

नन्द-मौर्य युग से सम्बन्धित कथा-सामग्री 'उत्तराध्ययनसूत्र', 'आवश्यक सूत्र', 'दशवैकालिक सूत्र', 'निशीथसूत्र' तथा 'बृहत्कल्पसूत्र'—इन पाँच सूत्र ग्रन्थों में (जो मूल आगम के अंग रूप हैं) थी। इनमें 'बृहत्कल्पसूत्र' पर भद्रबाहु नामक आचार्य ने (जो सम्भवत: श्रुतकेवली भद्रबाहु से भिन्न थे; लगभग आठवीं शती ई०) निज्जूति (निर्युक्ति) लिखी तथा संघदासगणिक्षमा श्रमण ने भाष्य की रचना की। इन ग्रन्थों में नन्द-मौर्य इतिहास पर सामग्री विशेषत: मिलती है। 'आवस्स्य सुत्त' की, जो श्वेताम्बरों का दूसरा मूलसुत्त है, निज्जूति की चुण्णि ('आवस्स्य चुण्णि') में भी चन्द्रगुप्त-चाणक्य कथा विद्यमान थी। उस पर विद्याधरगच्छ के हरिभद्र नामक आचार्य ने आठवीं शती में संस्कृत में 'आवश्यकसूत्रवृत्ति' नामक विस्तृत टीका लिखी जो नन्द-मौर्य इतिहास के लिए बड़ी उपयोगी है। उनके करीब तीन शती उपरान्त देवेन्द्रगणि ने श्वेताम्बरों के प्रथम मूलसुत्त 'उत्तरज्झयणसुत्त' अथवा 'उत्तराध्ययनसूत्र' पर प्राकृत भाषा में 'सुखबोधा' (1083 ई०) नामक टीका लिखी जो 'आवस्स्यचुण्णि' पर आधारित

---

[1]दे०, आगे, परिशिष्ट 2।

[2]दे०, चटर्जी, बी०सी० लाहा वॉल्यूम, 1, पृ० 607–11; विण्टरनिट्ज, हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, 2, पृ० 540 अ०।

थी। 'दशवैकालिक सूत्र' और 'निशीथसूत्र' की निर्युक्तियों, चुण्णियों तथा टीकाओं में भी नन्द-चन्द्रगुप्त-चाणक्य कथा विषयक कुछ सामग्री मिलती है।

'आवस्स्यचुण्णि' की कथा का ही कुछ भिन्न रूप हमें श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द्र के संस्कृत काव्य 'परिशिष्टपर्वण' में मिलता है। वह गुजरात नरेश जयसिंह सिद्धराज (1094–1143) तथा कुमारपाल (1143–74) के समकालीन और कुमारपाल के गुरु थे। उन्होंने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' नाम का विशाल ग्रन्थ लिखा था जिसमें दस पर्व या खण्ड और 34,000 श्लोक थे। इसमें उन्होंने 63 महापुरुषों (24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 वासुदेव, 9 बल्देव तथा 9 प्रतिवासुदेव) का वृत्तान्त लिखा। ये सब महापुरुष महावीर के समय तक हुए। इस ग्रन्थ के परिशिष्ट रूपी पर्व में उन्होंने 276 श्लोकों में महावीरोत्तर युगीन महापुरुषों का वर्णन किया। इसे 'परिशिष्टपर्वण' या 'स्थविरावलीचरित' कहते हैं। इसमें उन्होंने नन्दवंश तथा चन्द्रगुप्त-चाणक्य की कथाएँ भी दी हैं जो उनके काल में प्रचलित कथाओं पर आधारित रही होंगी।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों में रत्ननन्दि का 'भद्रबाहुचरित' सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। यह सम्भवत: 17वीं शती ई० की रचना है। इसमें चन्द्रगुप्त-भद्रबाहु कथा विस्तृत रूप से मिलती है। मुहम्मद तुग़लक की राजसभा को सुशोभित करने वाले आचार्य जिनप्रभ सूरि के 'विविधतीर्थकल्प' के एक भाग 'पाटलिपुत्रनगरकल्प' में भी चाणक्य द्वारा नन्दों के विनाश से लेकर परवर्ती मौर्य राजाओं तक का वर्णन है। मेरुत्तुंग नामक आचार्य का समय भी 14वीं शती ही है। उनके ग्रन्थ 'विचारश्रेणी' में महावीर के उपरान्त हुए राजाओं और जैनाचार्यों का वर्णन मिलता है।

जैन साहित्य के अन्तर्गत पट्टावलियों का उल्लेख भी आवश्यक है जो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में मिलती हैं। इनमें बताया गया है कि किस जैन संघ या गण में किस समय कौन व्यक्ति आचार्य या स्थविर था। प्रसंगवशात् इनमें कहीं-कहीं राजाओं की भी चर्चा कर दी गई। नन्द-मौर्य इतिहास के लिए भी ये पट्टावलियाँ बड़ी उपयोगी हैं।

अब दिगम्बर साहित्य को लें। नन्दों एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में सामग्री इसके कथा-ग्रन्थों में मिलती है। इस वर्ग के ग्रन्थों में हरिषेण का 'बृहत्कथाकोष', प्रभाचन्द्र का 'आराधनासत्कथा प्रबन्ध', श्रीचन्द्रकृत 'कथाकोष' और नेमिदत्त का 'आराधनाकथाकोष' उल्लेख्य हैं। हरिषेण का 'बृहत्कथाकोष' (931 ई०) एक संस्कृत काव्य है। इसके 'भद्रबाहुकथानकम्' में चन्द्रगुप्त के समय में द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष पड़ने तथा चन्द्रगुप्त के जैन धर्म ग्रहण करने एवं दक्षिण जाकर तप करने का विस्तृत वृत्तान्त दिया गया है। नेमिदत्त का 'आराधनाकोष' सोलहवीं शती का संस्कृत काव्य है और प्रभाचन्द्र व श्रीचन्द्र के ग्रन्थ, जो क्रमश: संस्कृत गद्य ग्रन्थ एवं प्राकृत काव्य हैं, दसवीं से सोलहवीं शती ई० के मध्य रखे जाते हैं।[1] इनके अतिरिक्त रामचन्द्र मुमुक्षु के

[1]द्रे०, विण्टरनिट्ज़, हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, 2, पृ० 544।

'पुण्याश्रवकथाकोष' (सोलहवीं शती ई०) में भी नन्द-चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथाचक्र उपलब्ध है।

उपर्युक्त सब कथाकोषों की रचना मध्यकाल में हुई, परन्तु इनका मूल पर्याप्त प्राचीन माना जाता है। विश्वास किया जाता है कि इनका स्रोत लगभग प्रथम शती ई० में शिवार्य (या शिवकोटि) द्वारा रचित 'भगवती आराधना' (या 'आराधना' अथवा 'मूलाराधना') नामक प्राकृत काव्य था जो स्वयं इससे भी प्राचीन अनुश्रुतियों के आधार पर लिखा गया था। इन अनुश्रुतियों का प्राचीनतम रूप उन पइण्णों या (प्रकीर्णकों) में पाया जाता है जो श्वेताम्बर जैन आगम के परिशिष्ट भाग के रूप में हैं। 'पइण्ण' संख्या में दस हैं परन्तु इनमें दो में—'भत्त पइण्णा' तथा 'संथारपइण्णा' में—चाणक्य की कथा बीज रूप में मिलती है। इनमें भी चाणक्य को जैन मुनि कहा गया है। पइण्णों का रचना काल निश्चित नहीं है पर ये प्रथम शती ई०पू० तक अवश्य ही अस्तित्व में आ चुके थे।[1]

दिगम्बर साहित्य के अन्य ग्रन्थों में, जिनका सम्बन्ध नन्द-मौर्य इतिहास से है, वृषभाचार्य की 'तिलोयपण्णति' (त्रिलोक प्रज्ञप्ति) उल्लेखनीय है। इसकी रचना तीसरी शती ई०पू० में हुई मानी जाती है। इसमें चन्द्रगुप्त को जैन धर्म स्वीकार करने वाले मुकुटधारी राजाओं में अन्तिम बताया गया है। इनके अतिरिक्त 'हरिवंश पुराण', 'धवला', 'जयधवला' (जो आठवीं शती ई० की रचनाएँ हैं) तथा 'उत्तरपुराण' और 'त्रिलोकसार' (दसवीं शती ई०) में भी नन्द-मौर्य युग के लिये थोड़ी-बहुत सामग्री मिलती है।

'क्लासिकल' लेखक

नन्दों व चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन और शासन काल पर क्लासिकल लेखकों के ग्रन्थों से बड़ी महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है, यद्यपि ये ग्रन्थ चाणक्य के विषय में सर्वथा मौन हैं। यूनानियों का भारत से परिचय जनपद युग में भी था। स्काइलैक्स (लगभग 500 ई०पू०), हेरोडोटस (484–425 ई०पू०) तथा टीसियस (416–398 ई०पू०) की रचनाएँ इसका प्रमाण हैं।[2] इसके बाद चौथी शती ई०पू० के अन्तिम पाद में भारत पर यूनानी नरेश सिकन्दर ने आक्रमण किया। उसके साथ आए हुए सेनापतियों में कुछ इतिहासकार भी थे। उनमें नियर्कस, एरिस्टोबुलस, क्लिटार्कस तथा ओनेसिक्रिटस प्रमुख थे। उनके ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं हैं परन्तु इनके जो अंश परवर्ती यूनानी व रोमक लेखकों ने उद्धृत किए वे नन्द-मौर्य युग के इतिहास, संस्कृति व प्रशासकीय व्यवस्था जानने के लिए बड़े उपयोगी हैं।

सिकन्दर व सेल्युकस के आक्रमणों के परिणामस्वरूप भारत व पश्चिमी एशिया

---

[1]चटर्जी, पूर्वो०।

[2]दे०, गोयल, श्रीराम (स०), मागध साम्राज्य का उदय, अध्याय 2।

के यूनानी राज्यों के सम्बन्ध बढ़े और यूनानी राजाओं ने समय-समय पर अपने राजदूत भारत भेजे। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था मेगास्थेनिज़ (मेगास्थने) जिसे सीरिया के राजा सेल्युकस निकाटोर ने चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में लगभग 300 ई०पू० में भेजा था। पाटलिपुत्र में रहते हुए मेगास्थेनिज़ ने जो कुछ सुना और देखा उसे अपनी 'इण्डिका' नामक पुस्तक में लेखबद्ध किया। अभाग्यवश यह ग्रन्थ आजकल कुछ उद्धरणों के रूप में ही प्राप्त है। अगर यह अपने मूल रूप में मिला होता तो इससे प्रारम्भिक मौर्य युग के विषय में हमें बहुत विस्तृत जानकारी मिलती। उसका ग्रन्थ समग्र रूप से न मिलने के बावजूद उसके जो अंश एरियन, स्ट्रेबो आदि लेखकों के ग्रन्थों में मिलते हैं उनसे भी काफी उपयोगी सूचनाएँ मिल जाती हैं। लेकिन मेगा-स्थेनिज़ के साक्ष्य को बहुत ध्यानपूर्वक और आलोचनात्मक ढंग से उपयोग में लाना अपेक्षित है। एक लेखक के रूप में स्वयं मेगास्थेनिज़ की एवं उसके ग्रन्थ के उपलब्ध उद्धरणों की विश्वसनीयता पर हमने आगे एक परिशिष्ट में विचार किया है।[1]

सेल्युकस ने डायमेकस नामक एक अन्य राजदूत को भी मौर्य राजसभा में भेजा था। वह बिन्दुसार के काल में भी भारत में रहा। सेल्युकस का जलसेनाध्यक्ष पेट्रोक्लिज़ था जिसे सेल्युकस ने सिन्धु नदी के प्रदेश का सर्वेक्षण करने भेजा था। इस सम्बन्ध में पेट्रोक्लिज़ ने एक पुस्तक भी लिखी थी जो आजकल उपलब्ध नहीं है। परन्तु स्ट्रेबो तथा एरेटोस्थेनिज़ ने इस ग्रन्थ की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

सेल्युकस के समान उसके समकालीन मिस्र के यूनानी नरेश तालेमी फिलाडेलफस ने भी डायोनीसियस नामक व्यक्ति को मौर्य दरबार में दूत बनाकर भेजा था। वह चन्द्रगुप्त या बिन्दुसार के काल में पाटलिपुत्र में रहा होगा। उसने भारत के ऊपर कोई ग्रन्थ लिखा या नहीं, कहना असम्भव है। तालेमी ने अपने जल-सेनाध्यक्ष टिमोस्थेनिज़ को भी भारतादि देशों की जानकारी प्राप्त करने हेतु भेजा था। उसका भी कोई ग्रन्थ नहीं मिलता।

बहुत से परवर्ती यूनानी-रोमक लेखकों ने सिकन्दर के इतिहासकारों, मेगास्थेनिज़ तथा अन्य स्रोतों के आधार पर प्रारम्भिक मौर्ययुगीन भारत का वर्णन किया है। इनमें निम्नलिखित लेखक महत्त्वपूर्ण हैं[2]—

(1) डायोडोरस (प्रथम शती ई०पू० का उत्तरार्द्ध)—वह सिसली के अगियारियम स्थल का निवासी था। उसने 'बिबिलियोथेका हिस्टोरिका' नाम का 40 अध्यायों का ग्रन्थ लिखा था जो अब अंशतः ही प्राप्य है। प्राप्त अंशों में सिकन्दर के भारत अभि-यान का वर्णन मिलता है।

(2) स्ट्रेबो (जन्म लगभग 63 ई०पू०)—वह पोण्टस के अमेसिया नगर में उत्पन्न एक यूनानी इतिहासकार व भूगोलवेत्ता था। उसने 'भूगोल' नामक ग्रन्थ की रचना

---

[1]विस्तृत अध्ययन के लिए दे०, गोयल, एस०आर०, कौटिल्य एण्ड मेगास्थेनिज़, मेरठ, 1985।

[2]दे०, मजूमदार, क्लासिकल एकाउण्ट्स ऑव इण्डिया।

की जिसको 17 व 23 ई० में संशोधित किया गया था। इसे 'इस विद्या पर प्राचीन युग में लिखित सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ' माना जाता है। यह 17 अध्यायों में विभाजित है जिनमें 15वाँ ईरान व भारत से सम्बन्धित है।

(3) **कर्टियस**—उसके जीवन के विषय में कम सूचनाएँ मिलती हैं। वह सम्भवत: रोमक सम्राट् क्लॉडियस (41–54 ई०) का समकालीन था। उसने दस अध्यायों में 'सिकन्दर का इतिहास' लिखा था जिसमें केवल अन्तिम आठ अंशत: प्राप्त हैं। उसका दृष्टिकोण आलोचनात्मक नहीं माना जाता।

(4) **प्लीनी** (23–79 ई०)—वह एक रोमक इतिहासकार था जिसने 'नेचुरालिस हिस्टोरिया' ('प्राकृतिक इतिहास') नाम का ग्रन्थ लिखा। 37 अध्यायों की इस पुस्तक में भूगोल, प्रजातिशास्त्र, मानवशास्त्र, जीवविज्ञान आदि का विवेचन है। इसमें भारत का सामान्य वर्णन मिलता है। उसके ग्रन्थ के 10 अध्यायों का प्रकाशन 77 ई० में हुआ था और शेष का उसकी मृत्यूपरान्त।

(5) **प्लुटार्क** (46–120 ई०)—यह यूनान के नगर केरोनिया का निवासी था। उसने एथेन्स में शिक्षा पाई, मिस्र व इटली की यात्रा की, रोमक सम्राट् ट्राजन व हेड्रियन (117–138 ई०) के पास उच्च पदों पर काम किया तथा डेल्फी में अपोलो का पुजारी रहा। उसने 'पैरेलल लाइन' नामक ग्रन्थ में अन्य यूनानी व रोमक महापुरुषों के साथ सिकन्दर की जीवनी भी लिखी। अपने कुछ अन्य लेखों में भी उसने सिकन्दर के भारत-अभियान के विषय में सूचनाएँ दी हैं।

(6) **एरियन** (लगभग 96 ई० से 180 ई०)—वह एक सुप्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार और दार्शनिक था और रोमक सम्राट् हेड्रियन के काल में कप्पेडोशिया का गवर्नर रहा था। उसका सर्वोत्तम ग्रन्थ 'एनाबेसिस ऑव अलेक्ज़ेण्डर' है जिसमें सिकन्दर की पूर्ण जीवन-कथा दी गयी है। इसे उसने सिकन्दर के सेनापति एरिस्टोबुलस व तालेमी के ग्रन्थों के आधार पर लिखा था। उसका दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'इण्डिका' है जिसमें मेगास्थेनिज़ व एरेटोस्थेनिज़ के आधार पर भारत का सामान्य परिचय दिया गया है। इसमें नियर्कस की यात्रा का वर्णन भी स्वयं नियर्कस के आधार पर किया गया है।

(7) **जस्टिन**—वह रोमक इतिहासकार था और सम्भवत: रोमक सम्राट् एण्टोनाइन्स (138–161 ई०) का समकालीन था। उसने पॉम्पियस ट्रोगस के रोमक सम्राट् आगस्टस के काल में लिखे गए ग्रन्थ के रोचक अंशों को लैटिन भाषा में संकलित किया था। उसके ग्रन्थ में सिकन्दर व चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है। 'नन्द' नाम का उल्लेख करने वाला वह एक मात्र लेखक है।

(8) **तालेमी** (दूसरी शती ई० का मध्य)—वह मिस्र का निवासी था और एक प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता और खगोलवेत्ता था। उसके ग्रन्थ में भारत के बहुत से नगरों और स्थानों का वर्णन मिलता है जिनमें कुछ की पहिचान निर्धारित की जा सकती है। उसका बनाया हुआ भारत का मानचित्र भी मिलता है जो सत्य से अतिदूर है।

(9) एलियन (दूसरी-तीसरी शती ई०)—वह सम्राट् हेड्रियन (117–138 ई०) के शासन काल में रोम नगर में रहता था। उसने दो पुस्तकें लिखीं जिनमें एक प्राणी शास्त्र पर थी। इसमें भारत के पशु-पक्षियों का रोचक वर्णन है। प्रसंगवशात् वह किसी 'भारतीय-नरेश' का वर्णन करता है जो चन्द्रगुप्त मौर्य प्रतीत होता है।

(10) क्लीमेन्स अलेक्जेण्ड्रीनस (लगभग 150–220 ई०)—वह एथेन्स में पैदा हुआ था परन्तु रहा अधिकांशतः अलक्जेण्ड्रिया में। उसने 'स्ट्रोमेटीज़' नाम का ग्रन्थ लिखा जिसमें उसने मेगास्थेनिज़ के आधार पर भारतीय ब्राह्मणों का वर्णन किया है।

ईरानी स्रोत

कुछ विद्वानों ने चन्द्रगुप्त मौर्य के इतिहास के पुनर्निर्माण में फारसी लेखक फिरदौसी (लगभग 920–1020 ई०) के 'शाहनामा' तथा कुछ अन्य फारसी ग्रन्थों की मदद लेने की चेष्टा की है। कहा जाता है कि तीसरी शती ई० में मिस्र के सिकन्दरिया नगर में कैलिस्थेनिज़[1] के इतिहास पर आधृत एक ग्रन्थ रचा गया था जो 'सूडो-कैलिस्थेनिज़' या 'नकली-कैलिस्थेनिज़' कहलाता है। इस ग्रन्थ के, जो यूनानी भाषा में था, जूलियस वेलेरियस कृत लैटिन अनुवाद (चौथी शती ई०) के इटालवी, फ्रेंच व जर्मन अनुवाद किये गये और बाद में इस ग्रन्थ के पहलवी, एथियोपियायी तथा सीरियायी भाषाओं में रूपान्तर लिखे गये। इस बीच में पहलवी तथा फारसी भाषाओं में सिकन्दर के ऊपर और भी ग्रन्थों की रचना हुई। इन सबके आधार पर फिरदौसी ने 'शाहनामा' में सिकन्दर का वर्णन किया। वह हमें बताता है कि सिकन्दर भारत के एक अत्यन्त बुद्धिमान राजा से मिला था जिसका नाम कन्द था। उसे कफन्द या कैद भी कहा गया है।[2] उसका गुरु मिहरान नाम का व्यक्ति था। एक बार कैद को एक विचित्र स्वप्न दिखाई दिया। मिहरान ने उसकी व्याख्या करके बताया कि वह एक क्रूर परन्तु धनी राजा का अन्त करेगा। मिहरान के कहने पर कैद सिकन्दर से मिला और दोनों ने सन्धि कर ली। फिरदौसी के अनुसार कैद ने सिकन्दर के पास एक सुन्दर युवती, एक दार्शनिक, एक वैद्य तथा एक प्याला भेंट स्वरूप भेजे थे जबकि 'मजमलुत्त्वारीख' के अनुसार कफन्द ने अपनी पुत्री, वैद्य, एक दार्शनिक और फूलदान भेंट में दिये थे। कुछ लेखकों ने इस कन्द, कैद या कफन्द की पहिचान चन्द्रगुप्त मौर्य से की है (कन्द=चन्द=चन्द्रगुप्त), मिहरान की चाणक्य से (मिहरान=ब्राह्मण) तथा स्वप्न से ज्ञात क्रूर परन्तु धनी राजा की नन्द नृपति से। परन्तु इस कथा को ऐतिहासिक मानना असम्भव है क्योंकि (1) मुस्लिम इतिहासकार कफन्द या कैद को 'शाह-ए-हिन्द'

---

[1]कैलिस्थेनिज़ सिकन्दर के गुरु एरिस्टोटल का भतीजा था। वह सिकन्दर के साथ भारत आया था। उसे सिकन्दर ने विद्रोहियों को उकसाने के अपराध में मरवा डाला था। बाद में यह परम्परा चल पड़ी कि उसने सिकन्दर का रूमानी इतिहास लिखा था।

[2]सूडो-कैलिस्थेनिज़ ने उसे कन्दरोस् लिखा है, 'मजमलुत्त्वारीख' के लेखक ने कफन्द, अमीर ख़ुसरो ने कैद तथा मसूदी ने कन्द।

बताते हैं, जबकि चन्द्रगुप्त सिकन्दर से भेंट करने तक एक 'मामूली' व्यक्ति था, राजा नहीं। (2) इस कथा के अनुसार उसने सिकन्दर को अपनी पुत्री भेंट में दे दी थी। परन्तु सिकन्दर से भेंट करने के समय तक चन्द्रगुप्त एक 'नवयुवक' मात्र था। अतः उस समय उसकी पुत्री विवाह के योग्य नहीं हो सकती थी। (3) जिस प्रदेश पर कैद का राज्य बताया गया है वह आम्भी द्वारा शासित गन्धार प्रतीत होता है। वस्तुतः यह कथा अगर चन्द्रगुप्त मौर्य से सम्बन्धित है तो भी मानना पड़ेगा कि यह इतने विकृत रूप में मिलती है कि इसके आधार पर कोई भी निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

आभिलेखिक एवं पुरातात्त्विक साधन

नन्द वंश एवं प्रारम्भिक मौर्य युग के अभिलेख नहीं मिलते। हमारे विचार से तब तक भारतवासी (पश्चिमोत्तर प्रदेश के भारतीयों को छोड़कर जो ईरानी लिपियों से परिचित थे) लेखन-कला से अपरिचित थे और ब्राह्मी लिपि का आविष्कार ही मेगास्थेनिज़ की भारत-यात्रा (लगभग 300 ई०पू०) के बाद (जो स्पष्टतः बताता है कि उसके काल में भारत के लोग लिखना नहीं जानते थे) और अशोक के अभिलेख (जो ऐतिहासिक युग के प्राचीनतम ज्ञात अभिलेख हैं) लिखे जाने (लगभग 260 ई०पू०) के पहिले हुआ था। इस समस्या पर हमने अन्यत्र विस्तार से विचार किया है।[1] अशोक के अभिलेखों में न तो नन्दों का उल्लेख हुआ है और न चन्द्रगुप्त मौर्य का, यद्यपि नन्द कालीन और चन्द्रगुप्त मौर्य कालीन प्रशासन, धर्म आदि से सम्बन्धित तथ्यों को जाँचने में, जो साहित्यिक साक्ष्य से ज्ञात होते हैं, इनकी सहायता अवश्य ली जा सकती है। नन्दों का सर्वप्रथम आभिलेखिक उल्लेख कलिंगराज खारवेल के हाथिगुम्फा-लेख[2] में है। कुछ मध्यकालीन लेख भी उनकी चर्चा करते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य का नाम से उल्लेख करने वाला प्रथम महत्त्वपूर्ण अभिलेख महाक्षत्रप प्रथम रुद्रदामा का जूनागढ़-शिलालेख (150 ई०) है।[3] यह चन्द्रगुप्त का गुजरात पर अधिकार प्रमाणित करता है और परोक्षतः उसकी प्रान्तीय शासन व्यवस्था पर प्रकाश देता है। इसके बाद स्थान आता है श्रवण बेलगोल (कर्नाटक अर्थात् मैसूर राज्य) से प्राप्त कुछ मध्यकालीन अभिलेखों का। यहाँ चन्द्रगिरि पर्वत पर ऐसे अनेक लेख मिलते हैं जिनमें चन्द्रगुप्त का जैन मुनि के रूप में उल्लेख हुआ है और बताया गया है कि उसने वहाँ

---

[1]गोयल, एस०आर०, 'ब्राह्मी स्क्रिप्ट : एन इन्वेन्शन ऑव अर्ली मौर्य पीरियड', ओरिजिन ऑव ब्राह्मी, (स०) एस०पी० गुप्त तथा के० एस० रामचन्द्रन, दिल्ली, 1979, पृ० 1–53; प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, 1, जयपुर, पृ० 18–27; कौटिल्य एण्ड मेगास्थेनिज़, अध्याय 12; गोयल, श्रीराम (स०), मा०सा०उ०, अध्याय 2।

[2]गोयल, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, 1, पृ० 359 अ०।

[3]सरकार, दि० च०, सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० 175 अ०; गोयल श्रीराम, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, पृ० 321 अ०।

अपने गुरु भद्रबाहु श्रुतकेवली की शिष्य रूप में बहुत सेवा की थी। इन अभिलेखों से चन्द्रगुप्त के दक्षिण के साथ सम्बन्ध, उसके धर्म तथा जैन संघ के तत्कालीन इतिहास पर रोचक प्रकाश मिलता है।

जहाँ तक मुद्राओं अर्थात् सिक्कों का सम्बन्ध है, भारत में मौर्य युग के पूर्व ही स्वदेशी मुद्रा-प्रणाली का विकास हो गया था। इनमें नन्द और मौर्य काल की रजत मुद्राओं की पहिचान लगभग समस्त भारत से प्राप्त 'आहत' मुद्राओं (punch-marked coins) से की जाती है जिनमें कुछ को प्राङ्-मौर्ययुगीन माना जाता है, कुछ को मौर्ययुगीन और शेष को मौर्योत्तरयुगीन। ऐसे सिक्के जिन पर 'मेरु और चन्द्र' तथा 'मयूर' चिह्न आहत हैं प्रायः मौर्यों द्वारा प्रचलित माने जाते हैं।[1] लेकिन इन मुद्राओं पर लेख अंकित न होने से इनका उपयोग राजनीतिक इतिहास के अध्ययन में करना सम्भव नहीं है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के युग में साम्राज्य का वैभव कला में भी अभिव्यक्त हुआ था। इसका प्रमाण मेगास्थेनिज़ द्वारा पाटलिपुत्र नगर एवं इसके राजप्रासाद का वर्णन है। परन्तु आधुनिक युग में की गई खुदाई में इनके अवशेष बहुत ही कम मिले हैं। सम्भवतः इसका कारण यह है कि आधुनिक पटना नगर प्राचीन पाटलिपुत्र के ऊपर ही बसा हुआ है। फिर भी लोहानीपुर, बुलन्दीबाग, बहादुरपुर, कुम्रहार तथा अन्य स्थलों पर की गई खुदाई से मौर्यकालीन परिखा, तोरण, नालियों और एक विशाल भवन के कुछ अवशेष उपलब्ध हो गये हैं जिनसे मेगास्थेनिज़ का वर्णन बहुत कुछ सही प्रमाणित होता है।

---

[1]ए०न०मौ०, पृ० 280; गोयल, श्रीराम, क्वायनेज ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, 1, 1987, पृ० 85 अ०।

परिशिष्ट 1

मेगास्थेनिज़ और उसकी 'इण्डिका' की विश्वसनीयता

मेगास्थेनिज़ के जीवन पर हमें बहुत कम विश्वसनीय सामग्री उपलब्ध है। इस विषय में हम जो कुछ भी जानते हैं वह स्ट्रेबो, एरियन, प्लीनी तथा क्लीमेन्स एलेक्ज़ेण्ड्रिनस के द्वारा प्रदत्त छिटपुट सूचनाओं पर आधृत है। इनके अनुसार वह सिकन्दर के सेनापति और 'उत्तराधिकारी' सीरिया-नरेश सेल्युकस एवं सिबाइर्टियस के पास रहा था जिसे सिकन्दर ने 324 ई० पू० में एरेकोशिया का क्षत्रप नियुक्त किया था। सेल्युकस द्वारा वह भारत-नरेश सेण्ड्रोकोट्टोस अर्थात् चन्द्रगुप्त मौर्य के पास भेजा गया। भारत में वह पालिम्बोथ्रा (प्राचीन पाटलिपुत्र) में रहा। एरियन के शब्दों में 'मेगास्थेनिज़ ने भी भारत में बहुत दूर तक यात्रा नहीं की थी, यद्यपि उसने इस देश को उन लोगों से जो फिलिपि के पुत्र सिकन्दर के साथ आए थे, अधिक देखा था, क्योंकि वह हमें बताता है कि वह सेण्ड्रोकोट्टोस के दर्बार में ही नहीं, जो भारत का सबसे महान् शासक था वरन् पोरस के पास भी, जो उससे (सेण्ड्रोकोट्टोस से) भी अधिक महान् था, रहा था'।[1] मैक्रिण्डल के अनुवादानुसार मेगास्थेनिज़ पोरस के दर्बार में भी रहा था परन्तु रोबसन ने यहाँ केवल मेगास्थेनिज़ और पोरस की भेंट का उल्लेख माना है।[2] मेगास्थेनिज़ के भारत-निवास की तिथि 305 ई०पू० में सेल्युकस के अभियान के उपरान्त पड़ेगी। उसके किसी भी उपलब्ध कथन में बिन्दुसार का उल्लेख नहीं मिलता इसलिए अनुमानतः वह 297 ई० पू० में चन्द्रगुप्त के द्वारा राज्य-त्याग किये जाने के पूर्व ही वापिस लौट गया होगा। एरियन[3] ने एक स्थान पर मेगास्थेनिज़ के इस कथन को उद्धृत किया है कि वह सेण्ड्रोकोट्टोस के पास 'कई बार' गया था।[4] श्वानबैक के अनुसार यहाँ मेगास्थेनिज़ का आशय है कि उसने भारत की यात्रा एक ही बार की थी परन्तु उस यात्रा के दौरान उसने चन्द्रगुप्त से कई बार भेंट की थी।[5] मजूमदार इस मत से सहमत हैं।[6] परन्तु एफ० डब्ल्यु० टॉमस का कहना है कि मेगा-

---

[1]एरियन, इण्डिका, 5; मजूमदार, क्ला०ए०इं०, पृ० 218।

[2]क्ला०ए०इं०, पृ० 473, टि० 2 में उद्धत।

[3]एनाबेसिस, पृ० 5.6.1।

[4]क्ला०ए०इं०, पृ० 26।

[5]कै०हि०इं०, 1, पृ० 425, टि० 2 में उद्धृत।

[6]क्ला०ए०इं०, पृ० 462।

स्थेनिज़ ने यहाँ भारत की कई बार यात्रा करने का दावा किया है।[1]

अपनी भारत-यात्रा का विवरण मेगास्थेनिज़ ने 'इण्डिका' नामक जिस ग्रन्थ में लिखा था वह अब केवल उद्धरणों के रूप में ही उपलब्ध है। जर्मन विद्वान् श्वानबैक ने इनको एकत्र संगृहीत किया था और मैक्रिण्डल ने उनको अंग्रेजी में अनूदित करके अंग्रेजी भाषा जानने वालों को सुलभ बनाया। पिछले सौ वर्षों से आधुनिक विद्वान् श्वानबैक द्वारा संगृहीत और मैक्रिण्डल द्वारा अनूदित इन उद्धरणों को पूर्णत: विश्वसनीय मानकर उपयोग में लाते रहे हैं। परन्तु मजूमदार को इन उद्धरणों की विश्वसनीयता में गम्भीर शंका है। उन्होंने मैक्रिण्डल द्वारा अनूदित उद्धरणों को चार वर्गों में बाँटा है :

(1) वे उद्धरण जो प्राचीन लेखकों ने मेगास्थेनिज़ का नाम से उल्लेख करके दिए हैं।

(2) वे उद्धरण जो प्रथम वर्ग के उद्धरणों के समान हैं परन्तु मेगास्थेनिज़ का नाम से उल्लेख नहीं करते।

(3) प्रथम दो वर्गों के उद्धरणों के पहिले या बाद में दिए गए उद्धरण।

(4) लम्बे उद्धरण, जिनमें प्रथम तीन वर्गों के कुछ उद्धरण भी सम्मिलित हैं।

मजूमदार का कथन है कि प्रथम दो वर्गों के उद्धरण स्पष्टत: मेगास्थेनिज़ के हैं, परन्तु शेष दो वर्गों के उद्धरणों के विषय में शंका की जा सकती हैं। चौथे वर्ग के उद्धरणों को तो बहुत ही शंकालु होकर अध्ययन करना चाहिए। उदाहरणार्थ, डायोडोरस के ग्रन्थ से प्राप्त करीब 14 मुद्रित पृष्ठों के लम्बे उद्धरण में,[2] जिसे श्वानबैक ने मेगास्थेनिज़ का प्रथम उद्धरण गिना है एवं उसकी 'इण्डिका' का सारभूत संकलन बताया है, कहीं भी मेगास्थेनिज़ का नाम नहीं दिया गया है। इसीलिए इसके एक अंग्रेजी अनुवादक ओल्डफादर को यह कल्पना करनी पड़ी कि यह उद्धरण मेगास्थेनिज़ का तो है परन्तु इसे डायोडोरस ने किसी और लेखक के ग्रन्थ से उद्धृत किया होगा।[3] इसके विपरीत मजूमदार का कहना है कि डायोडोरस ने अपने ग्रन्थ का यह अंश अनेक स्रोतों से सामग्री एकत्र करके लिखा होगा। इसी प्रकार स्ट्रेबो द्वारा अपने ग्रन्थ 'ज्योग्रेफी' के 53–56 अनुच्छेदों में,[4] जिन्हें मैक्रिण्डिल ने मेगास्थेनिज़ का 27वाँ उद्धरण गिना है, मेगास्थेनिज़ का नाम केवल तीन स्थलों पर दिया गया है। मजूमदार के अनुसार यह मानना निराधार है कि ये चारों अनुच्छेद पूर्णत: मेगास्थेनिज़ की 'इण्डिका' पर आधारित हैं। स्ट्रेबो के ग्रन्थ में इन अनुच्छेदों के पूर्व प्रदत्त तीन अनुच्छेदों (सं० 50-52) को मजूमदार ने तीसरे वर्ग के उद्धरणों में रखा है और

---

[1]कै०हि०इं०, पृ० 425, टि० 2। लैसन ने पहिले श्वानबैक का सुझाव माना था, बाद में उन्होंने अपना मत बदल दिया।

[2]डायोडोरस, 2.35–42; क्ला०ए०इं०, पृ० 232 अ०।

[3]मजूमदार द्वारा उद्धृत, पृ० 493, टि० 5।

[4]वही, पृ० 270–71।

अविश्वसनीय माना है। उनका कहना है कि अपने अनुच्छेद सं० 39-41 तथा 46-49 में स्ट्रैबो ने मेगास्थेनिज़ के आधार पर भारत की सात जातियों का वर्णन अवश्य किया है परन्तु 50-52 में वह मेगास्थेनिज़ का उल्लेख नहीं करता। अत: इनको मेगास्थेनिज़ की 'इण्डिका' पर आधृत नहीं माना जा सकता। यह तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इन्हीं अनुच्छेदों में नगर व सैनिक समितियों से सम्बन्धित वह सूचना मिलती है जिनके आधार पर मौर्य प्रशासन का अध्ययन प्राय: किया जाता है।

मजूमदार के उपर्युक्त तर्क बहुत सबल हैं। परन्तु हमारे विचार से उन्होंने आवश्यकता से अधिक शंकावाद प्रदर्शित किया है। उदाहरणार्थ, स्ट्रैबो के अनुच्छेद संख्या 39-41 एवं 46-49 में भारत की सात जातियों का वर्णन निश्चित रूप से मेगास्थेनिज़ की 'इण्डिका' के आधार पर किया गया है। अब, डायोडोरस के उपर्युक्त उद्धरण का एक बहुत बड़ा भाग इन्हीं सात जातियों का वर्णन करता है। इनके नाम तक दोनों स्रोतों में समान हैं। अत: डायोडोरस के अनुच्छेदों का यह भाग निश्चय ही मेगास्थेनिज़ पर आधृत माना जा सकता है। यहाँ यह तथ्य रोचक है कि एरियन ने अपनी 'इण्डिका' के अनुच्छेद 11-12 में भी भारत की इन सात जातियों का वर्णन किया है, परन्तु उसने भी मेगास्थेनिज़ का कहीं उल्लेख नहीं किया है। वस्तुत: हमें यह आशा ही नहीं करनी चाहिए कि प्राचीन लेखकों के हर अनुच्छेद में उसके स्रोत का उल्लेख मिलेगा। इसलिए स्ट्रैबो ने अगर अपने 50वें से 52वें अनुच्छेदों में, जो केवल डेढ़ मुद्रित पृष्ठ में हैं, मेगास्थेनिज़ का नाम नहीं लिया है तो यह निष्कर्ष निकालना संगत नहीं होगा कि इन अनुच्छेदों का स्रोत कोई अन्य लेखक रहा होगा जबकि स्ट्रैबो ने इन अनुच्छेदों के ठीक पहिले और बाद में दोनों ही जगह मेगास्थेनिज़ को अपना स्रोत बताया है।[1]

जहाँ तक लेखक के रूप में मेगास्थेनिज़ की विश्वसनीयता का प्रश्न है, मजूमदार का कहना है कि एरेस्टोस्थेनिज़, प्लीनी तथा स्ट्रैबो आदि जैसे प्राचीन लेखकों ने मेगास्थेनिज़ को 'विश्वास के अयोग्य' बताया है। परन्तु इसके विपरीत आग्रह किया जा सकता है कि एरियन ने मेगास्थेनिज़ के विषय में सर्वथा भिन्न विचार प्रकट किया है।[2] दूसरे, मेगास्थेनिज़ ने बहुत-सी बातें सुनकर लिखी थीं। वे अगर सही नहीं थीं तो दोष उसको उन बातों के बताने वालों का था। तीसरे, मेगास्थेनिज़ द्वारा उल्लिखित बहुत-सी गलत बातें उसके द्वारा भारतीय परम्पराओं और प्रथाओं को न समझे जाने का परिणाम थीं। उदाहरणार्थ, उसने भारत में दास-प्रथा के अनस्तित्व का उल्लेख किया है जबकि तत्कालीन भारत में दासों का अस्तित्व निर्विवाद है। मेगास्थेनिज़ की इस भूल का कारण यह तथ्य हो सकता है कि उसके युग में भारत में दासों के साथ इतना अच्छा व्यवहार किया जाता था कि मेगास्थेनिज़, जिसने यूनानी समाज में दासों

---

[1]विस्तृत विवेचन के लिए दे०, गोयल, एस० आर०, कौटिल्य एण्ड मेगास्थेनिज़, मेरठ, 1985, अध्याय 11।

[2]क्ला०ए०इं०, पृ० 231।

के साथ निर्मम व्यवहार ही होते देखा था, यह नहीं समझ पाया कि वे नौकर नहीं दास थे। यह भी सम्भव है कि उस युग में भारत में दासों की संख्या बहुत कम या कुछ प्रदेशों तक सीमित रही हो।[1]

बहुत-सी बातों में आधुनिक विद्वान् मेगास्थेनिज़ के साक्ष्य को इसलिए अस्वीकार कर देते हैं क्योंकि यह उनकी पूर्व-धारणाओं के अनुकूल नहीं है। उदाहरणार्थ, स्ट्रैबो ने मेगास्थेनिज़ का नाम देकर कहा है कि मेगास्थेनिज़ के अनुसार तत्कालीन भारत-वासी (यहाँ उसका आशय मध्यदेशवासियों से है) लेखन-कला से परिचित नहीं थे।[2] इस उद्धरण को मजूमदार भी विश्वसनीय (प्रथम वर्ग का) मानने के लिए विवश हैं। जैसाकि हमने अन्यत्र सिद्ध किया है यह कथन अशोक के पूर्व व्यतीत होने वाली पन्द्रह शतियों का कोई अभिलेख उपलब्ध न होने से एवं बौद्ध साक्ष्य द्वारा सत्य प्रमाणित होता है।[3] परन्तु अभी तक मेगास्थेनिज़ के इस कथन को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता रहा है क्योंकि सब इतिहासकार यह मानकर चलते हैं कि प्राक्-अशोकयुगीन भारतीय लेखन-कला से भली-भाँति परिचित थे।

मेगास्थेनिज़ के साक्ष्य को अविश्वसनीय सिद्ध करने के लिए मजूमदार ने तर्क रखा है कि 'मेगास्थेनिज़ ने भारतीय समाज को सात वर्गों में बाँटा है, लेकिन यह विभाजन भारतीय परम्परा और साहित्य को सर्वथा अज्ञात है।' मजूमदार का कथन भारतीय दृष्टिकोण से सही हो सकता है। परन्तु स्मरणीय है कि किसी विदेशी को भारतीय समाज इस प्रकार से विभाजित प्रतीत हो सकता था। उदाहरणार्थ, इब्न-खुर्दादबा नाम के अरब यात्री ने, जिसने अपने ग्रन्थ की रचना दसवीं शती ई०में की, तथा अल-अद्रीसी ने (12वीं शती ई०), भारतीय समाज को सात वर्गों में ही विभाजित बताया है।[4] सी० वी० वैद्य के अनुसार उस युग का भारतीय समाज किसी विदेशी को इसी प्रकार विभाजित प्रतीत हो सकता था।[5] यही बात मेगा-स्थेनिज़ के साक्ष्य के विषय में कही जा सकती है। इसलिए हमारे विचार से मेगास्थेनिज़ के साक्ष्य में उतनी शंका करने की आवश्यकता नहीं है जितनी मजूमदार ने दिखाई है।

---

[1]यह भी सम्भव है कि यूनान में 'दास' की जो कानूनी परिभाषा थी, भारतीय दासों को उसके अनुसार 'दास' कहना सम्भव न रहा हो और इसलिए मेगास्थेनिज ने यह लिखा हो कि भारत में दास प्रथा नहीं है।

[2]क्ला०ए०इं०, पृ० 270)

[3]दे० पीछे पृ० 196, टि० 1।

[4]श्रीवास्तव, अशोक कुमार, इण्डिया एज डेस्क्राइब्ड बाई दि अरब ट्रैवेलर्स, पृ० 9–10।

[5]वैद्य, सी० वी०, हिस्ट्री ऑव मैडीवल हिन्दू इण्डिया, 2, पृ० 178।

परिशिष्ट 2

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की तिथि की समस्या[1]

अर्थशास्त्र की तिथि की समस्या

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का प्रकाशन सर्वप्रथम आर० शामशास्त्री ने 1909 ई० में किया। तब से ही इस ग्रन्थ की तिथि विद्वानों में विवाद का विषय बनी हुई है। इस प्रश्न का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त मौर्य के महामन्त्री और गुरु चाणक्य की पहिचान के साथ जुड़ा हुआ है। आर० शामशास्त्री और उनका समर्थन करते हुए गणपति शास्त्री, जैकोबी, जायसवाल, एन०एन० लाहा, डी० आर० भाण्डारकर, आर० के० मुकर्जी, नीलकान्त शास्त्री, वी० आर० आर० दीक्षितार, जे० मियर, ब्रेलोअर तथा आर० पी० कांगले प्रभृति विद्वान् यह मानते हैं कि इस ग्रन्थ का प्रणेता कौटिल्य, जिसे इस ग्रन्थ में विष्णुगुप्त भी कहा गया है, प्रथम मौर्य नरेश चन्द्रगुप्त के महा-मन्त्री चाणक्य से अभिन्न था।[2] के० सी० ओझा का अनुसरण करते हुए रोमिला थापर ने मान्यता रखी है कि 'अर्थशास्त्र' की रचना तो चन्द्रगुप्त मौर्य के महामन्त्री कौटिल्य ने की थी परन्तु इसमें परवर्ती लेखकों ने बहुत-सी नई सामग्री जोड़ दी। अन्त में विष्णुगुप्त नामक लेखक ने इसको नया रूप प्रदान किया। इस प्रकार ओझा व थापर ने कौटिल्य उर्फ चाणक्य को विष्णुगुप्त से भिन्न माना है।[3] स्पष्टतः आर०

---

[1]दे०, गोयल, श्रीराम, कौटिल्य एण्ड मेगास्थेनिज़, मेरठ, 1985, अध्याय 2।

[2]शामशास्त्री, अर्थशास्त्र, भू०; फ्लीट, शामशास्त्री के अनुवाद के साथ प्रवेशक टि०; शास्त्री, गणपति, अर्थशास्त्र, भू०; जैकोबी, आई०ए०, 47, पृ० 187; जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी, भाग 1, पृ० 203–15; लाहा, एन० एन०, केलकटा रिव्यु, सितम्बर-दिसम्बर 1934; इलाहाबाद यूनी० स्टडीज़ हिस्ट्री सेक्शन, 1942; भाण्डारकर, ए० बी० ओ० आर० आई०, 7, पृ० 65 अ०; मुकर्जी, आर० के०, को०हि०इं०, 2, अध्याय 1; शास्त्री, नीलकान्त, ए० न० मौ०, पृ० 190 अ०; दीक्षितार, मौर्य पोलिटी; ब्रेलोअर, नीलकान्त शास्त्री द्वारा उद्धृत; कृष्णराव, स्टडीज़ इन कौटिल्य, भू०, पृ० 11, आगे पृ० 6, 10; दे०, राय, एच० सी०, आई० ए०, 54, पृ० 170; काणे, ए० बी० ओ० आर० आई०, 7, पृ० 85 अ०; हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, 1, पृ० 85; जे० मियर, नीलकान्त शास्त्री द्वारा उद्धृत, एल० डी० बार्नेट, स्मिथ, एफ० डब्ल्यु० टॉमस तथा डी०डी० कौशाम्बी ने भी 'अर्थशास्त्र' का उपयोग मौर्य काल के लिए किया है। उपर्युक्त सभी विद्वानों के तर्कों को आर० पी० कांगले ने स्वयं द्वारा सम्पादित 'अर्थशास्त्र', भाग 3, में दोहरा दिया है।

[3]ओझा, के० सी०, आई० एच० क्यु०, 27, पृ० 265 अ०; थापर, रोमिला, अशोक एण्ड दि डेक्लाइन ऑव दि मौर्यज़, परिशिष्ट 1।

शामशास्त्री व उनके समर्थक परस्पर न्यूनाधिक मतभेद रखते हुए भी मूलतः यह मानते हैं कि 'अर्थशास्त्र' की रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में हुई और इसका लेखक कौटिल्य ही चन्द्रगुप्त का महामन्त्री चाणक्य था। इस आधार पर यू० एन० घोषाल ने तो 'अर्थशास्त्र' की सामग्री का उपयोग प्राङ्-मौर्य युग के लिये भी किया है।[1] लेकिन जॉली, कीथ, विण्टरनिट्ज, आर० जी० भाण्डारकर, स्टीन, हेमचन्द्र रायचौधुरी, ए० एन० बोस, कालयानोव तथा टी० बरो आदि ने 'अर्थशास्त्र' को मौर्योत्तरयुगीन रचना माना है, यद्यपि ये विद्वान् इस विषय में सहमत नहीं हैं कि इसकी वास्तविक तिथि क्या है।[2] स्थूलरूपेण ये विद्वान् इसे ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों की रचना बताते हैं और कुछ तो इसे खींच कर तीसरी-चौथी शती ई० तक ले जाते हैं।

परम्परागत मत और उसकी समीक्षा

शामशास्त्री व उनके समर्थकों के मत का मूलाधार स्वयं 'अर्थशास्त्र' का यह कथन है कि इस ग्रन्थ की रचना उस विष्णुगुप्त ने की थी जिसने शास्त्र, शस्त्र व नन्दराजा द्वारा शासित पृथिवी का अमर्षपूर्वक एक साथ उद्धार किया।[3] 'अर्थशास्त्र' के लेखक विष्णुगुप्त का चन्द्रगुप्त मौर्य से सम्बन्ध एवं नन्दों के विनाश में उसकी भूमिका का उल्लेख कामन्दक के 'नीतिसार' (लग० 800 ई०)[4] तथा दण्डी के

---

[1]घोषाल, यू० एन०, ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन पब्लिक लाइफ, 2, पृ० 9 अ०; मोनाहन (अर्ली हिस्ट्री ऑव बंगाल, 1, पृ० 31) का विचार है कि 'अर्थशास्त्र' की रचना चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा साम्राज्य-व्यवस्था की स्थापना के पूर्व हो चुकी थी।

[2]भाण्डारकर, आर० जी०, पी० ओ० सी०, 1, खण्ड 1, पृ० 24–5; बोस, ए० एन०, सोशल एण्ड रूरल इकोनोमी ऑव नार्दर्न इण्डिया, 2, पृ० 280–94; जॉली, पी० ओ० सी०, इलाहाबाद, 1926; विण्टरनिट्ज, केलकटा रिव्यु, अप्रैल 1924; हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, भाग 3; कीथ, ए० बी०, जे० आर० ए० एस०, 1916, पृ० 130–38; बी० सी० लाहा वॉल्यूम, 1, पृ० 477–95; ए० हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, पृ० 458 अ०; कालयानोव, 22वीं ओरयण्टलिस्ट्स कांग्रेस, कैम्ब्रिज, 1954; बरो, टी०, ए० बी० ओ० आर० आई०, 48–49, सुवर्ण जयन्ती अंक, पृ० 17–31; रायचौधुरी (पो० हि० ए० इं०, पृ० 9 तथा ए० इ० यू०, पृ० 285–7) ने 'अर्थशास्त्र' को 249 ई० पू० से 100 ई० के मध्य रखा है। ई० जे० जॉन्स्टन, हिलेब्राण्ड्ट, जे० टिमर तथा आर० एस० शर्मा 'अर्थशास्त्र' में विभिन्न युगों की सामग्री मिश्रित मानते हैं।

[3]येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराज गता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥
दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम्।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च॥

—अर्थशास्त्र, 15.1।

[4]यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः।
पपातमूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः॥

'दशकुमारचरित'[1] (लग० छठी शती ई०) में हुआ है। अधिकांश पुराणों में[2] (जो गुप्त या गुप्तोत्तर काल में लिखे गए) तथा विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक[3] में (लग० 400 ई०) कौटिल्य को नन्दों का विनाश करने वाला बताया गया है यद्यपि इनमें उसे 'अर्थशास्त्र' का लेखक नहीं कहा गया है। क्योंकि दण्डी तथा विशाखदत्त ने कौटिल्य का दूसरा नाम चाणक्य भी बताया है और 'पञ्चतन्त्र' के 'कथामुख' में (जिसकी रचना गुप्तकाल में या इसके बाद कभी हुई मानी जाती है[4]), चाणक्य को 'अर्थशास्त्र' का रचयिता कहा गया है[5], इसलिए यह माना जाता है कि विष्णुगुप्त, कौटिल्य तथा चाणक्य एक ही व्यक्ति के नाम थे जिसने नन्दों का विनाश करके चन्द्रगुप्त मौर्य को राजा बनाया और 'अर्थशास्त्र' की रचना की।

लेकिन उपर्युक्त परम्परा के अतिरिक्त स्वयं 'अर्थशास्त्र' में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे इसको इतना प्राचीन ग्रन्थ माना जा सके। यह तर्क प्रायः रखा जाता है कि 'अर्थशास्त्र' के बहुत से नियम और कानून मेगास्थेनिज़ द्वारा उल्लिखित नियमों और कानूनों से सादृश्य रखते हैं। लेकिन इसके साथ ही यह भी सही है कि 'अर्थशास्त्र' में राज्य व समाज का जो चित्र मिलता है वह 'इण्डिका' के चित्र से बहुत-सी महत्त्व-पूर्ण बातों में भिन्न है। कीथ के अनुसार इन दोनों ग्रन्थों में सादृश्य बताने वाली बातें ऐसी हैं जो आज भी भारतीय समाज में प्रायः देखी जा सकती हैं जबकि इन दोनों का अन्तर मूलभूत बातों के विषय में हैं।[6] उदाहरणार्थ, मेगास्थेनिज़ बताता है कि

एकाकी मन्त्र शक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम्॥
नीति शास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्र महोदधेः।
समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे॥
—नीतिसार, 1.4–6।

नीतिसार की तिथि के लिए दे०, क्ला० ए०, पृ० 300।

[1]अधीष्वतावद्दण्डनीतिम्। इयमिदानीमाचार्य विष्णुगुप्तेन
मौर्यार्थे षड्भिः श्लोक सहस्त्रैः संक्षिप्ता।
—दशकुमारचरित, अष्टमोच्छवास।

[2]तान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति। तेषमभावे मौर्याः
पृथिवीं भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति।
—विष्णु-पुराण, 4.24।

[3]'मुद्राराक्षस' की तिथि के लिये दे०, गोयल, ए हिस्ट्री ऑव दि इम्पीरियल गुप्तज, पृ० 224, टि० 2।

[4]स्मरणीय है कि 'पंचतन्त्र' के 570 ई० में हुए पहलवी अनुवाद में कथामुख सम्मिलित नहीं था, इसलिए यह इस तिथि के बाद कभी लिखा गया होगा।

[5]ततो धर्मशास्त्राणिमन्वादीनि। अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि, कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीति।
—पञ्चतन्त्र, कथामुख।

[6]कीथ, बी० सी० लाहा वॉल्यूम, 1, पृ० 483।

पालिबोथ्रा (=पाटलिपुत्र) काष्ठ-प्राचीर से सुरक्षित था जबकि कौटिल्य काष्ठ-प्राचीर को न बनवाने की सलाह देता है क्योंकि इसमें आग लग जाने का डर रहता है (2.3)। दूसरे, 'अर्थशास्त्र' में धातुविज्ञान उससे कहीं अधिक विकसित अवस्था में मिलता है जितना मेगास्थेनिज़ ने भारत में देखा था। तीसरे, मेगास्थेनिज़ ने नगर-प्रशासन और सैन्य-प्रशासन के लिए तीस-तीस सदस्यों की जिन सभाओं का उल्लेख किया है (जो पाँच-पाँच सदस्यों की छः-छः समितियों में बँटी हुई थीं) उनकी 'अर्थशास्त्र' में कहीं चर्चा तक नहीं है। चौथे, मेगास्थेनिज बताता है कि युद्धकाल में दोनों पक्षों की सेनाएँ किसानों और उनके खेतों को कोई हानि नहीं पहुँचाती थीं। इसके विपरीत कौटिल्य (9.1) ने इस प्रकार के विध्वंस को उचित ठहराया है। पाँचवें, मेगास्थेनिज़ ने भारत में लेखन-कला का अभाव पाया था जबकि कौटिल्य यह मानकर चलता है कि राज्य का कार्य लिखित शासनों द्वारा होता है।[1] इन आपत्तियों का कीथ और स्टीन आदि विस्तार से विवेचन कर चुके हैं और 'अर्थशास्त्र' को मौर्यकालीन रचना मानने वाले विद्वान् अभी तक इनका सन्तोषजनक समाधान नहीं कर पाये हैं। परम्परागत मत को मानने वाले इतिहासकार इनके स्थान पर 'इण्डिका' व 'अर्थशास्त्र' की सादृश्यता पर बल देते हैं। वे भूल जाते हैं कि ऐसा सादृश्यताएँ किन्हीं भी दो युगों में लिखित ग्रन्थों में मिल सकती हैं। हमें ध्यान रखना चाहिए कि किन्हीं दो ग्रन्थों की समकालीनता अथवा उनका विभिन्न युगों में रचित होना उनकी सादृश्यताओं से नहीं वरन् उनके पारस्परिक अन्तरों से प्रमाणित होता है।

बहुत से विद्वानों ने 'अर्थशास्त्र' को मौर्यकालीन रचना सिद्ध करने के लिए तर्क रखा है कि 'मनुस्मृति' (लग० 200 ई०पू०—लग० 200 ई० के मध्य रचित) एवं 'याज्ञवल्क्य स्मृति' (ईसवी सन् की प्रारम्भिक शतियों में कभी लिखित)[2] में जिस समाज का चित्रण है वह 'अर्थशास्त्र' में वर्णित समाज से परवर्ती है। लेकिन विचित्र बात तो यह है कि ठीक इसी तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर जॉली ने 'अर्थशास्त्र' को इन स्मृतियों से बाद की रचना माना है। स्पष्टतः इस प्रकार की तुलना द्वारा कुछ प्रमाणित नहीं हो सकता।[3] जैसा कि सर्वज्ञात है अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र साहित्य के लेखक इन विषयों पर लिखित प्राचीनतर ग्रन्थों की सामग्री का निस्संकोच रूप से प्रयोग करते थे। इसलिये ऐसे ग्रन्थों में प्राचीन और परवर्ती सामग्री प्रायः साथ-साथ मिलती है। ऐसी स्थिति में किसी ग्रन्थ की रचना तिथि उसकी प्राचीन सामग्री द्वारा

---

[1]दे०, पीछे।

[2]'मनुस्मृति' सम्भवतः 'मानवधर्मसूत्र' पर आधारित थी। इसकी रचना शुंग काल में हुई मानी जाती है यद्यपि शुंगोत्तर युग में इसको संशोधित किया गया लगता है। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' को जॉली ने चतुर्थ शती ई० में रखा है और काणे ने 100–300 ई० के मध्य (क्लासिकल एज, पृ० 256–7)।

[3]इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि कौटिल्य का यह कथन (3.1) कि विधि के स्रोत के रूप में राजशासन (राजाज्ञा) का स्थान धर्म, व्यवहार तथा चरित्र से ऊपर होता है, प्राचीन भारतीय इतिहास में केवल गुप्त काल में लिखित 'नारद स्मृति' द्वारा समर्थित हुआ है।

नहीं वरन् परवर्ती सामग्री द्वारा निर्धारित की जानी चाहिये। स्पष्टतः गुप्तकाल का कोई स्मृति लेखक मौर्यकालीन ग्रन्थ से कुछ बातें लेकर अपने ग्रन्थ में जोड़ सकता था, लेकिन मौर्यकाल का लेखक गुप्तकालीन समाज का वर्णन नहीं कर सकता था। इसलिए कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में अगर मौर्ययुगीन सामग्री के साथ मौर्योत्तरयुगीन सामग्री भी मिलती है तो मानना चाहिए कि कौटिल्य ने मौर्य सामग्री मौर्यकालीन ग्रन्थों से उधार ली होगी। कौटिल्य ने स्वयं भी यह कहा है कि उसने अपने विषय के सभी प्राचीनतर ग्रन्थ पढ़े थे। हमें इस विषय में अधिक विस्तार से जाने की आवश्यकता नहीं है। हमारा विचार है कि 'अर्थशास्त्र' के वर्तमान रूप की तिथि 'इण्डिका' व 'मनुस्मृति' आदि से इसकी तुलना करके तय नहीं की जा सकती। इसके स्थान पर हमें उन बाह्य और आन्तरिक साक्ष्य पर ध्यान देना चाहिए जो इसके वर्तमान रूप की रचना मौर्योत्तर युग में होना प्रमाणित करते हैं।

'अर्थशास्त्र' को मौर्योत्तर रचना सिद्ध करने वाले बाह्य साक्ष्य

सर्वप्रथम हम बाह्य साक्ष्य को लें। एक, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' का उल्लेख किसी भी प्राक्-गुप्तयुगीन ग्रन्थ में नहीं मिलता। इसका प्राचीनतम उल्लेख दण्डी के 'दशकुमारचरित' में, जिसमें इसे एक 'हाल ही में' (इदानीम्) लिखित रचना बताया गया है,[1] तथा जैनों के 'नन्दिसूत्र' (5वीं शती ई०) में मिलता है। यह भी बहुत सम्भव है कि 'जातकमाला' (434 ई०) का लेखक आर्यशूर तथा 'लंकावतारसूत्र' (5वीं शती ई०) का लेखक इससे परिचित रहे हों। लेकिन अभी तक किसी भी ऐसे ग्रन्थ में इसकी चर्चा नहीं मिली है जिसको निश्चित रूप से गुप्तकाल के पूर्व रखा जा सके। लेकिन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्राक्-गुप्तयुगीन साहित्य प्रसंग आने पर अर्थशास्त्र-विद्या के उन ग्रन्थों, आचार्यों और सम्प्रदायों का उल्लेख करता है जिन्हें कौटिल्य ने अपना पूर्वगामी बताया है। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में शुक्र (उशनस्), बृहस्पति, मनु, पराशर, भारद्वाज, विशालाक्ष, पिशुन वातव्याधि, बहुदन्तिपुत्र, कौणपदन्त तथा पराशर का व्यक्तिगत आचार्यों अथवा अर्थशास्त्र के सम्प्रदायों के संस्थापकों के रूप में अनेकत्र उल्लेख किया है। अब, प्राक्-गुप्तयुगीन साहित्य अर्थशास्त्र विद्या के आचार्यों का उल्लेख करते समय इन्हीं विद्वानों की चर्चा करता है, स्वयं कौटिल्य से पूर्णतः अपरिचित है। उदाहरणार्थ, 'महाभारत' में, जिसको वर्तमान रूप गुप्तकाल के प्रारम्भ में प्राप्त हुआ, कहा गया है कि ब्रह्मा ने दण्डनीति पर जो ग्रन्थ लिखा था उसको शिव (विशालाक्ष), इन्द्र (बहु-

---

[1]अधीष्व तावद्दण्डनीतिम्। इयमिदानीमाचार्य विष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोक सहस्रैः संक्षिप्ता। —दशकुमारचरित, अष्टमोच्छ्वास।

इसी उच्छवास में दण्डी ने 'शुक्र, विशालाक्ष, अंगिरस, बाहुदन्तिपुत्र तथा पराशर प्रभृति' का भी उल्लेख किया है। परन्तु उसकी दृष्टि में केवल विष्णुगुप्त ही 'हाल ही का' लेखक था।

दन्तक) तथा बृहस्पति एवं शुक्र आदि ऋषियों ने संक्षिप्त किया ।[1] अश्वघोष (लग० 100 ई०) ने अपने 'बुद्धचरित' (1.46) में कहा है कि शुक्र और बृहस्पति ने राजशास्त्र की रचना की जो उनके पिता भृगु और अंगिरस् भी नहीं कर पाये थे ।[2] इसी प्रकार अपने 'कामसूत्र' (1.5–7) में वात्स्यायन (तीसरी शती ई०) ने कहा है कि ब्रह्मदेव के मूल ग्रन्थ से मनु ने 'धर्मशास्त्र' की रचना की, बृहस्पति ने 'अर्थशास्त्र' की और नन्दी ने 'कामशास्त्र' की । भास ने, जिनका समय 'मनुस्मृति' की रचना के बाद और कालिदास के पूर्व पड़ेगा, अपने 'प्रतिमा नाटक' (अंक 5) में एक स्थल पर रावण के मुख से कहलाया है कि उसने 'मानव धर्मशास्त्र' अर्थात् 'मनुस्मृति', बृहस्पति के 'अर्थशास्त्र' आदि का अध्ययन किया था । यहाँ भी कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' परिगणित नहीं है । इन तथ्यों से स्पष्ट है कि प्राक्-गुप्तकालीन साहित्य न केवल कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' से अपरिचित है वरन् प्रसंग होने पर कौटिल्य के पूर्वगामी अर्थशास्त्रियों का उल्लेख करता है, कौटिल्य का नहीं । यह स्थिति गुप्तकालीन स्थिति से सर्वथा भिन्न है क्योंकि गुप्तकाल में हम पाते हैं कि जब-जब त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) के प्रमुख ग्रन्थों का उल्लेख होता है तब-तब प्रायः 'मनुस्मृति', कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' तथा वात्स्यायन के 'कामसूत्र' को गिनाया जाता है । 'पञ्चतन्त्र' का कथा मुख इसका एक उदाहरण है ।[3]

'अर्थशास्त्र' को मौर्ययुगीन रचना मानने वाले विद्वान् यह बात भूल जाते हैं कि इस ग्रन्थ को चतुर्थ शती ई० पू० की रचना मानने से इसके और 'नीतिसार' (लग० 800 ई०) के मध्य (जो राजनीति पर लिखा गया अगला प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है), एक सहस्र वर्ष से अधिक का अन्तर हो जाता है जबकि 'अर्थशास्त्र' को लगभग 300 ई० की रचना मानने पर इस अन्तराल में छः सौ वर्ष कम हो जाते हैं । यह तर्क कि कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' ने इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी कि इस विषय पर लिखित अन्य ग्रन्थ उसके सामने लोकप्रिय नहीं रह पाए, कौटिल्य को मौर्य युग में रखने के पक्ष में नहीं वरन् इसके विरुद्ध है क्योंकि जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं प्राक्-गुप्त युग में कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' नहीं बृहस्पति आदि के 'अर्थशास्त्र' लोकप्रिय थे ।

भास और कौटिल्य की तुलनात्मक तिथिक्रमिक स्थिति कौटिल्य को मौर्य युग में रखने के विरुद्ध है । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भास ने अपने 'प्रतिमा नाटक' की रचना उस समय की जब 'मनुस्मृति' की रचना हो चुकी थी और बृहस्पति को अर्थशास्त्र-विद्या का प्रतिनिधि लेखक माना जाता था । इससे भास का समय मनु के उपरान्त और कौटिल्य के पूर्व होना संकेतित है । कौटिल्य की भास से परवर्तिता भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक के उन दो श्लोकों से निर्णायकरूपेण प्रमाणित

[1]घोषाल, यू० एन०, ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज, पृ० 81 ।
[2]कांगले, पूर्वो०, पृ० 7 ।
[3]पीछे उद्धृत ।

हो जाती है (नवं शरावं···आदि) जिन्हें कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' (10.3) में किसी अन्य लेखक द्वारा रचित श्लोकों के रूप में उद्धृत किया है। इस प्रकार भास मनु से परवर्ती ठहरते हैं और कौटिल्य भास से।

जैसा कि जॉली और अन्य कई विद्वानों ने ध्यान दिलाया है कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की ग्रन्थ-योजना, भाषा, शैली तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण वात्स्यायन के 'कामसूत्र' से बहुत मेल खाते हैं। दोनों ही ग्रन्थ सूत्र शैली में लिखे गये हैं, दोनों में बीच-बीच में श्लोक दिये गये हैं तथा दोनों ग्रन्थ अधिकरणों में विभाजित हैं जिन्हें प्रकरणों में बाँटा गया है। दोनों में एक ओर उनके अपने-अपने विषय के परम्परागत ज्ञान को समेट लिया गया है और दूसरी ओर उन पर उनके लेखकों के मौलिक चिन्तन की गहरी छाप भी है। दोनों में इनके लेखकों का मत स्थान-स्थान पर प्रथम पुरुष में उद्धृत है ('इति कौटिल्यः' तथा 'इति वात्स्यायनः')। यह शैली प्राचीन भारत में विरलतः ही मिलती है। 'कामसूत्र' में औपनिषदिक नाम का एक लघु अधिकरण है जिसमें सौभाग्य तथा सौन्दर्य वृद्धि के उपाय, स्त्री-वशीकरण तथा वाजीकरण के प्रयोग, आयु वृद्धि के उपाय, नष्टराग-प्रत्यानयन तथा काम से सम्बन्धित फुटकर योग आदि बताये गये हैं जो सामान्य स्थिति में, स्वयं वात्स्यायन के अनुसार, हेय, निन्दित और वर्ज्य थे। इसी प्रकार कौटिल्य ने भी अपने ग्रन्थ में एक औपनिषदिक अधिकरण दिया है जिसमें वह शत्रु के विनाश के लिए विभिन्न प्रकार के विषों, शत्रु-प्रजा को बड़ी संख्या में मारने या पागल बनाने के लिए रोग आदि फैलाने के उपायों, कई दिनों तक भूखा रहने के उपायों, छद्मवेश धारण करने के साधनों, शत्रुओं को सुला देने की विधियों, रात में भी देख सकने की शक्ति प्रदान करने वाली औषधियों, ताले तोड़ने के मन्त्रों तथा शत्रु द्वारा प्रयुक्त विष का प्रभाव दूर करने के उपायों आदि का विवेचन करता है। इस प्रकार इन दोनों ही लेखकों की न केवल भाषा शैली व ग्रन्थ-योजना समान है वरन् दोनों का दृष्टिकोण भी एक-सा है—दोनों ही यह मानकर चलते हैं कि युद्ध और प्रेम में सब प्रकार के उपाय काम में लाये जा सकते हैं। इससे लगता है कि वात्स्यायन एवं कौटिल्य दोनों एक ही युग की देन थे। जॉली के शब्दों में ऐसे दो समान-धर्मा ग्रन्थों की रचना के बीच में बहुत लम्बा समय नहीं बीता होगा। अगर यह परम्परा न होती कि कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य के महामन्त्री थे तो शायद इसी तर्क के आधार पर कौटिल्य को वात्स्यायन का निकट समकालीन मान लिया जाता। हमें याद रखना चाहिए कि बहुत से प्राचीन भारतीय ग्रन्थों की तिथियाँ इससे भी कम निर्णायक साक्ष्य पर अवलम्बित हैं। वास्तव में एक प्राचीन परम्परानुसार तो वात्स्यायन और कौटिल्य एक ही व्यक्ति थे।[1] अभी तक इस अनुश्रुति के समर्थन

[1]वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पाक्षिलः स्वामी विष्णुगुप्तो गुलश्च स ॥—हेमचन्द्र।
वात्स्यायनस्तु कौटिल्यो विष्णुगुप्तो वराणकः।
द्रामिल पाक्षिल स्वामी मल्लनागो वलोऽपि च ॥—यादवप्रकाश वैजयन्ती।

में कोई समर्थक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, परन्तु उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि कौटिल्य और वात्स्यायन समकालीन अथवा निकट समकालीन रहे होंगे। और क्योंकि वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' में कौटिल्य के ग्रन्थ के बजाय बृहस्पति के 'अर्थशास्त्र' को उद्धृत किया है, इसलिए सम्भावना इसी बात की है कि कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ की रचना वात्स्यायन द्वारा 'कामसूत्र' की रचना किये जाने (तीसरी शती ई०) के कुछ बाद में की होगी।

'अर्थशास्त्र' को मौर्योत्तर ग्रन्थ सिद्ध करने वाले अन्तः साक्ष्य

आर० एस० शर्मा[1] और अन्य कई विद्वानों ने मत प्रकट किया है कि कौटिलीय प्रशासन-व्यवस्था अशोकीय प्रशासन-व्यवस्था से बहुत भिन्न है। अशोकीय युग के बहुत से विशिष्ट पदाधिकारी—महामात्र, राजुक प्रादेशिक, प्रतिवेदक आदि—'अर्थशास्त्र' में अज्ञात हैं अथवा विरलतः उल्लिखित हैं। इसी प्रकार 'अर्थशास्त्र' के भोग, विष्टि, प्रणय, परिहार जैसे प्रशासनिक पारिभाषिक शब्द तथा सन्निधाता एवं समाहर्ता जैसे पदाधिकारी अशोकीय अभिलेखों में अज्ञात हैं या विरलतः ही उल्लिखित हैं। ये सर्वप्रथम शक-सातवाहन राजाओं के ईसवी सन् की प्रारम्भिक शतियों के लेखों में मिलते हैं। 'स्कन्धावार' (सैनिक छावनी) भी 'अर्थशास्त्र' के प्रथम अधिकरण में उतना ही महत्त्व-पूर्ण है जितना सातवाहन व गुप्त अभिलेखों में।

'महामात्र' पदनाम के इतिहास से हमें 'अर्थशास्त्र' की तिथि निर्धारित करने में बहुत सहायता मिल सकती है। प्राङ्-मौर्य युग में महामात्र राज्य के उच्चपदस्थ कर्मचारी हुआ करते थे। पालि ग्रन्थों के अनुसार वे मन्त्री, सेनानायक, न्यायाधीश, गणक (एकाउण्टेण्ट), अन्तःपुराध्यक्ष आदि पदों पर कार्य करते थे। अशोक के काल में उनकी संख्या और कार्य-क्षेत्र बढ़े। अब वे धार्मिक मामलों व सीमा की देखभाल आदि के लिए भी नियुक्त किये जाने लगे। लेकिन शक-सातवाहन युग में महामात्र पदनाम का महत्त्व घटा और उच्च पदों पर नियुक्त पदाधिकारी विशेषतः 'अमात्य' कहे जाने लगे। सातवीं शती ई० तक 'महामात्र' पदनाम की अवनति इतनी अधिक हो चुकी थी कि 'हर्षचरित' में 'महामात्र' नामक पदाधिकारी को हम हाथियों के निरीक्षक के रूप में उल्लिखित पाते हैं। हिन्दी का आधुनिक शब्द 'महावत' 'महामात्र' पदनाम का ही विकृत रूप है। इस साक्ष्य से, जिसकी ओर इस सन्दर्भ में किसी ने अभी तक ध्यान नहीं दिया है, प्रमाणित होता है कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की रचना अशोक के बाद और हर्ष के पूर्व हुई होगी, क्योंकि इस ग्रन्थ में उच्च पदाधिकारियों के लिए प्रयुक्त पदनाम 'अमात्य' है, 'महामात्र' नहीं। कौटिल्य ने 'महामात्र' नाम का उल्लेख अवश्य किया है परन्तु विरलतः ही और उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों की चर्चा किए बिना।

---

[1]शर्मा, आर० एस०, पूर्वो०, पृ० 19 अ०।

'अर्थशास्त्र' का सामाजिक संगठन भी इसको मौर्योत्तरयुगीन रचना प्रमाणित करता है। सिद्धान्तत: भारतीय समाज चार वर्णों में विभाजित था। लेकिन जैसा कि ब्रजनाथसिंह यादव[1] ने ध्यान दिलाया है ईसा के उपरान्त की प्रारम्भिक शताब्दियों में आर्थिक विकास व विदेशी आक्रमणों के कारण समाज में जबरदस्त उथल-पुथल हुई। शकुन-विद्या पर कुषाण काल में लिखित ग्रन्थ 'अंगविज्जा'[2] में इस सामाजिक उथल-पुथल की कुछ झलक मिलती है। इसमें एक स्थान पर चार वर्णों को दो वर्गों में बाँटा गया है—'अज्ज' या 'आर्य' तथा 'मिलिक्कु' या 'म्लेच्छ'। 'अज्ज' में यहाँ प्रथम तीन वर्णों के सदस्य सम्मिलित लगते हैं और 'मिलिक्कु' में शूद्र, आदिवासी जातियाँ व विदेशी जातियाँ।[3] परन्तु इसी ग्रन्थ में अन्यत्र समाज को 'अज्ज' (यहाँ आशय सम्पत्तिशाली श्रीमन्त वर्ग से है) तथा 'पेस्स' (दास, नौकर तथा वेतनभोगी श्रमिक आदि) वर्गों में बाँटा गया है।[4] अब 'अर्थशास्त्र' (1.13) में भी समाज का इस प्रकार आर्य और म्लेच्छ तथा आर्य और दास वर्गों में विभाजन किया गया है और कहा गया है कि केवल म्लेच्छ ही दास बनाये जा सकते हैं, आर्य नहीं। यह स्थिति प्रारम्भिक मौर्य युग में होनी सम्भव नहीं थी क्योंकि तब तक भारत पर भारतीय-यूनानी, शक, पह्लव व कुषाण जातियों के आक्रमण नहीं हो पाए थे और इसलिए देश में म्लेच्छ दासों की इतनी संख्या नहीं हो सकती थी कि कौटिल्य समाज को आर्य और म्लेच्छ इन दो वर्गों में बाँटता। विदेशी दासों का इस प्रकार अस्तित्व अगर चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में होता तो मेगास्थेनिज़ यह नहीं कहता कि भारत में दास नहीं होते।

'अर्थशास्त्र' में एक स्थल पर (11.1) राजशब्दोपजीवी संघों का उल्लेख है। उनमें अन्य संघ जातियों के अतिरिक्त लिच्छवियों का भी उल्लेख हुआ है। अब, लिच्छवियों का एक संघ के रूप में अस्तित्व छठी शती ई०पू० में था लेकिन पाँचवीं शती ई०पू० के प्रारम्भ में अजातशत्रु ने उनका उन्मूलन कर दिया था। इसके बाद लिच्छवियों का एक गणराज्य के रूप में अस्तित्व तीसरी शती ई० के अन्त में दिखाई देता है क्योंकि चौथी शती ई० के प्रारम्भ में लिच्छवि गणराज्य की कुमारी कुमारदेवी के साथ गुप्त सम्राट् प्रथम चन्द्रगुप्त का विवाह हुआ था। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि कौटिल्य के द्वारा लिच्छवियों का एक संघ के रूप में उल्लेख मौर्यकाल में नहीं हो सकता था क्योंकि उस युग में लिच्छवि संघ का अस्तित्व था ही नहीं। दूसरे शब्दों में कौटिल्य लिच्छवि संघ का उल्लेख लगभग 300 ई० में ही कर सकता था, उसके पूर्व नहीं।

---

[1]कुषाण स्टडीज, इलाहाबाद, 1968, पृ० 79; दे०, प्रकाश, बी०, पोलिटिकल एण्ड सोशल मूवमेण्टस इन एन्श्येण्ट पञ्जाब, पृ० 219।

[2]अग्रवाल, वा० श०, अंगविज्जा, भूमिका, पृ० 91

[3]अंगविज्जा, पृ० 218।

[4]वही, पृ० 149।

राजशब्दोपजीवी संघों में कौटिल्य ने मद्रकों की भी गणना की है। मद्रक पंजाब की एक प्राचीन जाति थे परन्तु उनकी शासन-व्यवस्था जनतान्त्रिक न होकर राज-तन्त्रात्मक थी। क्लासिकल लेखकों ने पंजाब के सिकन्दरकालीन राज्यों का विवरण विस्तार से लिखा है परन्तु वे मद्रक गणराज्य की चर्चा नहीं करते। मद्रक जाति का गणराज्य के रूप में उल्लेख केवल समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में मिलता है। इससे स्पष्ट है कि वह तीसरी शती ई० के अन्त व चौथी शती ई० के प्रारम्भ में एक गणराज्य के रूप में अवश्य ही विद्यमान रही होगी। यह साक्ष्य भी कौटिल्य को लग० 300 ई० में रखने के पक्ष में है।

यहाँ यह तथ्य रोचक है कि कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' (3.18) में प्राज्जूणकों का भी उल्लेख किया है। यह जाति भी भारतीय साहित्य व अभिलेखों को अज्ञातप्राय: है—केवल समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में इसका प्रार्जून नाम से उल्लेख मिलता है। यह तथ्य भी 'अर्थशास्त्र' को लगभग 300 ई० की रचना मानने वाले मत का समर्थन करता है।

कौटिल्य का भौगोलिक ज्ञान उसके ग्रन्थ के परवर्तित्व का द्योतक है। उदाहरणार्थ, इसमें आए 'हारहूरक' (2.25) नाम से ऐसे स्थान का बोध होता है जो हारहूणों के नाम से विख्यात था। जैसा कि प्रबोधचन्द बागची ने साग्रह कहा है, हूण नाम गुप्त काल में या इसके कुछ पूर्व ही अस्तित्व में आया था।[1] जो भी हो, इतना निश्चित है कि हूण जाति चतुर्थ शती ई०पू० के भारतीयों के भौगोलिक ज्ञान की सीमा के परे थी। इसी प्रकार 'अर्थशास्त्र' (2.11) में अलेक्ज़ेण्ड्रिया से आने वाले प्रवाल का उल्लेख मिलता है (प्रवालकं आलकन्दकं)। अब, जैसा कि लेवी ने ध्यान दिलाया है प्लीनी एवं 'पेरिप्लस' के अनुसार प्रवाल का व्यापार प्रथम शती ई० में भारतोन्मुखी हुआ था। इसी प्रकार सिकन्दर द्वारा चन्द्रगुप्त मौर्य के सिंहासनारोहण के कुछ ही वर्ष पूर्व स्थापित अलेक्ज़ेण्ड्रिया नगर स्वयं चन्द्रगुप्त के ही शासन काल में इतना महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकता था कि उसका उल्लेख उसी समय लिखित एक भारतीय ग्रन्थ में एक अन्तरराष्ट्रीय व्यापार-केन्द्र के रूप में होता। 'अर्थशास्त्र' (2.11) में चीन भूमि से आने वाले चीनपट्ट का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि चौथी शती ई०पू० में भारतीय जन चीन देश को रेशम के देश के रूप में जानते होंगे, यह सन्दिग्ध है। शायद उस समय तक वह देश चीन नाम से प्रसिद्ध भी नहीं हो पाया था। यही बात 'अर्थशास्त्र' (11.11) में पारसमुद्रक के उल्लेख (पारसमुद्रकं चित्ररूपम्) के विषय में कही जा सकती है क्योंकि 'पेरिप्लस' (प्रथम शती ई०) के अनुसार पेलियसिमुन्द (पारसमुद्र) सिंहल का नाम था जिसे पुराने लोग ताप्रोबेन (ताम्रपर्णि) कहते थे। अब, क्योंकि मेगास्थेनिज़ तथा अशोकीय अभिलेखों में सिंहल को सचमुच ही ताम्रपर्णि कहा गया है, इसलिए यह कहना संगत नहीं होगा कि अशोक के पूर्व का कोई लेखक इस द्वीप

[1]बागची, पी०सी०, इण्डिया एण्ड सेण्ट्रल एशिया, पृ० 137।

को पारसमुद्रक नाम से जानता होगा ।[1]

अन्त में हम आमतौर पर दिए जाने वाले उन अन्य तर्कों को संक्षेप में दोहरा दें जिनसे कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' एक मौर्योत्तरयुगीन रचना सिद्ध होता है। एक, 'अर्थशास्त्र' (2.6) में बताया गया है कि शासन-पत्रों में तिथि देते समय वर्ष, माह, पक्ष तथा दिन का उल्लेख किया जाना चाहिए। परन्तु अशोक के अभिलेखों में इस विधि का अनुसरण नहीं किया गया है। इसका सर्वप्रथम पालन मिलता है प्रथम रुद्रदामा के 150 ई० के गिरनार शिलालेख में। दूसरे, 'अर्थशास्त्र' (2.10) में राजकीय भाषा का पद संस्कृत को दिया गया है, प्राकृत को नहीं जो अशोक के अभिलेखों की भाषा है। संस्कृत का राजकीय भाषा के रूप में प्रयोग सर्वप्रथम प्रथम रुद्रदामा के काल में हुआ और इसे इस रूप में पूर्ण प्रतिष्ठा मिली गुप्तकाल में। तीसरे, 'अर्थशास्त्र' में मौर्ययुगीन राजविरुदों का उल्लेख नहीं मिलता। इसके विपरीत इसमें राजा के लिए 'इन्द्रयमस्थानमेतत्' का प्रयोग (1.13) प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के लिए प्रयुक्त 'धनदवरुणेन्द्रान्तकसम' का स्मरण दिलाने वाला है। चौथे, 'अर्थशास्त्र' से प्रतीत होता है कि इसकी रचना के समय भारत में कृषि शास्त्र, वास्तु कला, रसायन शास्त्र, धातु शास्त्र, खनिज शास्त्र, रोगविज्ञान, वनस्पति शास्त्र आदि पर एक विस्तृत साहित्य विद्यमान था। इसमें सामान्य धातुओं को सुवर्ण में परिवर्तित करने का उल्लेख मिलता है व पारे के लिए 'रस' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका प्राचीनतम प्रयोग चतुर्थ शती ई० की बावर पाण्डुलिपियों तथा चरक एवं सुश्रुत के सन्दिग्ध तिथि वाले ग्रन्थों में ही मिलता है। कौटिल्य की रसायनविद्या सुश्रुत से भी अधिक समुन्नत लगती है। पाँचवें, 'अर्थशास्त्र' में कई स्थलों (1.20 आदि) पर प्रयुक्त 'सुरंग' शब्द की व्युत्पत्ति यूनानी मानी जाती है। टी० बरो के अनुसार यही बात 'परिस्तोम' (एक प्रकार का कम्बल) नाम के विषय में (2.11) कही जा सकती है। यूनानी शब्दों का संस्कृत ग्रन्थों में इस प्रकार प्रयोग चतुर्थ शती ई०पू० में सम्भव नहीं लगता। अन्त में ध्यान दिलाया जा सकता है कि 'अर्थशास्त्र' का प्रशासन एक लघु राज्य की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के हेतु है, एक अखिल भारतीय साम्राज्य को जैसा कि चन्द्रगुप्त मौर्य का था, ध्यान में रखकर कल्पित नहीं किया गया है। 'अर्थशास्त्र' (9.1) में चक्रवर्ती-क्षेत्र को हिमालय से लेकर समुद्र तक विस्तृत बताए जाने से भी यह तथ्य सर्वथा अप्रभावित रहता है कि कौटिल्य ने अपना ग्रन्थ एक ऐसे लघु राज्य की दृष्टिगत रखते हुए लिखा था जो चारों ओर अन्य लघु राज्यों द्वारा घिरा हो। वास्तव में 'अर्थशास्त्र' की राजनीति मण्डल सिद्धान्त पर आधृत है जिनमें प्रत्येक राज्य किसी न किसी प्रकार अपना प्रसार करना चाहता है, मित्र राज्य भी धोखा देते हैं और सन्धियों की अवहेलना की जाती है। यह चित्र मौर्य साम्राज्यवाद से एकदम भिन्न और कुषाणोत्तरयुगीन उत्तर भारत की

---

[1]'अर्थशास्त्र' में कम्बु (कम्बोडिया) तथा वनायु (अरब ?) का उल्लेख भी कौटिल्य के भौगोलिक ज्ञान को जितना विस्तृत प्रमाणित करता है उतना प्रारम्भिक मौर्य युग में सम्भव नहीं था।

राजनीतिक स्थिति के अनुरूप है।[1]

निष्कर्ष

कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' को परवर्तीयुगीन बताने वाले जिन तर्कों की ओर ऊपर ध्यान दिलाया गया है उनको नजरअन्दाज़ कर देना न सम्भव है और न उचित। यह कहना भी कि मौर्ययुगीन मूल 'अर्थशास्त्र' में बीच-बीच में परवर्ती सामग्री जोड़ दी गई होगी, तर्कसंगत नहीं है क्योंकि 'अर्थशास्त्र' में मौर्योत्तर सामग्री इतनी अधिक है कि उसकी व्याख्या इस प्रकार प्रक्षिप्तांशों के सिद्धान्त द्वारा की ही नहीं जा सकती। हमें यह विकल्प भी कि 'अर्थशास्त्र' एक सम्प्रदाय विशेष के आचार्यों की देन है सही नहीं लगता क्योंकि इस ग्रन्थ के अधिकांश पर एक ही व्यक्ति की रचना होने की स्पष्ट और गहरी छाप है। यह व्यक्ति कौटिल्य था जैसा कि स्वयं यह ग्रन्थ बार-बार कहता है। हमें उसका समय तीसरी शती ई० का अन्तिम भाग प्रतीत होता है (जैसा कि अश्वघोष, भास व वात्स्यायन से उसके परवर्तित्व, उसके द्वारा लिच्छवियों, मद्रकों व प्राज्जूणों के उल्लेख, दण्डी द्वारा 'अर्थशास्त्र' की 'हाल ही में' रचना होने की चर्चा एवं पीछे प्रदत्त अन्य अनेक तर्कों से स्पष्ट है)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'अर्थशास्त्र' के एक श्लोक (15.1) का यह कथन कि इस ग्रन्थ की रचना उस विष्णुगुप्त ने की थी जिसने नन्दों का विनाश किया, गलत है। यह श्लोक इस ग्रन्थ में बाद में जोड़ा गया होगा और इसके कारण विष्णुगुप्त कौटिल्य को नन्दों का विनाश करने वाला मानने की परम्परा फैली होगी। इस निष्कर्ष के स्वीकार से समस्या उत्पन्न होती है कि कौटिल्य का चाणक्य से, जिसे बौद्ध व जैन ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त मौर्य का गुरु और महामन्त्री बताया गया है और परवर्ती परम्पराओं में विष्णुगुप्त कौटिल्य से अभिन्न माना गया है, क्या सम्बन्ध था। इस समस्या पर अगले परिशिष्ट में विचार किया गया है।[2]

---

[1]रायचौधुरी (ए०इ०यू०, पृ० 286) के अनुसार कौटिल्य को प्राक्-अशोकीय काल में इसलिए भी नहीं रखा जा सकता क्योंकि 'अर्थशास्त्र' में वर्णों की संख्या 63 बतायी गई है जबकि अशोकीय लिपि में लगभग 46 वर्ण हैं। लेकिन यह तर्क सही नहीं है क्योंकि 63 संख्या लिखित वर्णमाला के वर्णों की नहीं वरन् वैयाकरणों की मौखिक वर्णमाला के अक्षरों की है जिसमें प्लुत और यम आदि ऐसे स्वरों की ध्वनियाँ भी पृथक्तः गिनी जाती हैं जिनके लिए लिखित वर्णमाला में पृथक् चिह्न नहीं होते।

[2]ट्रॉटमान ने 'अर्थशास्त्र' की भाषा का कम्प्यूटर से विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाला है कि इस ग्रन्थ की रचना कई युगों में हुई और इसे लगभग 250 ई० में वर्तमान रूप दिया गया। उनके विचार में 'अर्थशास्त्र' का प्राचीनतम अंश 150 ई० से बहुत पुराना नहीं हो सकता। (ट्रॉटमान, टॉमस आर०, कौटिल्य एण्ड दि अर्थशास्त्र, लीडेन, 1971)। क्योंकि ट्रॉटमान द्वारा अपनायी गई अध्ययन-विधि को किसी प्रकार जाँचा नहीं जा सकता इसलिए हमें इसमें विशेष श्रद्धा नहीं है। परन्तु उनका निष्कर्ष हमारे सुझाव से स्थूलतः संगत है।

परिशिष्ट 3

कौटिल्य तथा चाणक्य का पृथक्त्व

चाणक्य का, जिसे जैन व बौद्ध ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त मौर्य का गुरु एवं महामन्त्री बताया गया है, मौर्य इतिहास में क्या स्थान है, इस विषय में 'अर्थशास्त्र' की तिथि के विवादग्रस्त हो जाने से बड़ी भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। 'अर्थशास्त्र' के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना कौटिल्य[1] ने की थी जिसका दूसरा नाम विष्णुगुप्त भी था। इस ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि विष्णुगुप्त ने नन्दों के चंगुल में फँसी पृथिवी का उद्धार किया था। 'अर्थशास्त्र' के लेखक का चन्द्रगुप्त मौर्य से सम्बन्ध और नन्दों के उन्मूलन में उसकी भूमिका कामन्दक के 'नीतिसार' (लग० 800 ई०) तथा दण्डी के 'दशकुमार-चरित' (छठी शती ई०) में भी उल्लिखित है। इसी प्रकार अधिकांश पुराणों में कौटिल्य को (बिना उसे 'अर्थशास्त्र' का लेखक बताए) नन्दों के उन्मूलन व चन्द्रगुप्त को राजा बनाने का श्रेय दिया गया है। क्योंकि 'मुद्राराक्षस' का लेखक विशाखदत्त व दण्डी कौटिल्य को चाणक्य भी कहते हैं तथा 'पञ्चतन्त्र' के कथामुख में चाणक्य को 'अर्थशास्त्र' का प्रणेता बताया गया है इसलिए मानना पड़ता है कि कम से कम गुप्त युग में यह परम्परा अवश्य ही प्रचलित थी कि 'अर्थशास्त्र' का प्रणेता विष्णुगुप्त कौटिल्य व नन्दों का उन्मूलन करने वाला चाणक्य एक ही व्यक्ति थे। लेकिन जैसा कि हम पिछले परिशिष्ट में देख चुके हैं 'अर्थशास्त्र' की रचना तीसरी शती ई० के अन्तिम वर्षों में कभी हुई होगी, अतः इसके रचयिता कौटिल्य को मौर्यकालीन नहीं माना जा सकता। इससे निष्कर्ष निकलता है कि 'अर्थशास्त्र' के उस श्लोक को (15.1), जिसमें विष्णुगुप्त को नन्दों के उन्मूलन का श्रेय दिया गया है, इस ग्रन्थ में किसी व्यक्ति ने गुप्तकाल में जोड़ दिया होगा। बजाय इसके कि हम सम्पूर्ण 'अर्थशास्त्र' को प्रक्षेपों से परिपूर्ण मानें, यह अनुमान करना निश्चय ही अधिक संगत होगा कि इसमें एक श्लोक प्रक्षिप्त है। जैसा कि कीथ ने कहा है, सम्पूर्ण 'अर्थशास्त्र' में केवल यही एक श्लोक नन्दों का उल्लेख करता है और यह मानने का कोई कारण नहीं है कि यह मूल 'अर्थशास्त्र' में भी विद्यमान था। बाद में यह परम्परा लोकप्रिय हो गई

---

[1]यह नाम 'कौटिल्य' और 'कौटल्य' दोनों रूपों में मिलता है। आजकल प्रायः 'कौटिल्य' वर्तनी ठीक मानी जाती है। ये दोनों ही गोत्र नाम लगते हैं।

होगी और गुप्तकालीन लेखकों—यथा पुराणकारों, विशाखदत्त, दण्डी तथा 'पञ्चतन्त्र' के लेखक—ने यह बात प्रश्नातीत तथ्य मान ली होगी कि 'अर्थशास्त्र' के प्रणेता कौटिल्य ने ही नन्दों का विनाश किया था और चन्द्रगुप्त मौर्य को राजा बनाया था।

चाणक्य और कौटिल्य की पृथक्ता का अनुमान सर्वप्रथम एच० जैकोबी ने किया था।[1] बाद में ई० जे० जॉन्स्टन तथा टी० बरो ने इस सम्भावना को सतर्क सिद्ध करने की चेष्टा की।[2] उनके अनुसार चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य का महामन्त्री था और कौटिल्य 'अर्थशास्त्र' का एक परवर्ती लेखक। अभाग्यवश इस सुझाव की ओर विद्वानों ने भली-भाँति ध्यान नहीं दिया है। परन्तु हमारे विचार से इससे चाणक्य और कौटिल्य की समस्या का सही समाधान हो जाता है। निम्नलिखित तर्कों को इस मत की सत्यता प्रमाणित करने के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है :—

एक, इस मत के स्वीकार से 'अर्थशास्त्र' को कौटिल्य की रचना मानना, जिसका उल्लेख इस ग्रन्थ में बार-बार किया गया है, सम्भव रहता है और इसके साथ कौटिल्य को मौर्य युग में रखने से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ भी सामने नहीं आतीं।

दूसरे, इस मत में चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु और महामन्त्री चाणक्य की, जिसका अस्तित्व बौद्ध, जैन व ब्राह्मण साहित्य में इतने सबल रूप से चर्चित है, ऐतिहासिकता यथावत् बनी रहती है और जैन तथा बौद्ध कथाओं की सहायता से नन्द-मौर्य युग का इतिहास लिखना सम्भव रहता है।

तीसरे, चन्द्रगुप्त-चाणक्य कथा के सभी प्रारम्भिक संस्करणों में चन्द्रगुप्त के गुरु का नाम चाणक्य मिलता है, कौटिल्य या विष्णुगुप्त नहीं। संस्कृत में चाणक्य-कथा का प्राचीनतम उल्लेख शूद्रक के 'मृच्छकटिक' नामक नाटक (1.39 तथा 8.34 और 35) में मिलता है। वहाँ उसके नाम का प्राकृत रूप चणक्क दिया गया है। उसका उल्लेख जिस प्रकार से हुआ है उससे लगता है कि शूद्रक की दृष्टि में चाणक्य की कथा 'रामायण' 'व महाभारत' की कथाओं के सदृश थी। परन्तु वह इस बात की चर्चा नहीं करता कि चाणक्य ने 'अर्थशास्त्र' नाम का ग्रन्थ लिखा था। जैनों के 'नन्दिसुत्त' में एक स्थल पर चणक्क को अपनी बुद्धि के लिए विख्यात व्यक्तियों के अन्तर्गत परि-गणित किया गया है और अन्यत्र कौटिल्य को 'अर्थशास्त्र' का लेखक बताया गया है। इस ग्रन्थ में इस बात का संकेत तक नहीं है कि चाणक्य और कौटिल्य एक ही व्यक्ति थे। जैन साहित्य भी चाणक्य या चणक्क को चन्द्रगुप्त मौर्य का गुरु और मन्त्री बताता है परन्तु इस बात का उल्लेख नहीं करता कि वह कौटिल्य के नाम से भी ज्ञात

---

[1] आई०एच०क्यु०, 3, पृ० 669 अ०। लेकिन उनका अनुमान था कि चाणक्य एक प्राकृत कवि था जिसने एक नीति ग्रन्थ की रचना की थी। बाद में उसे 'अर्थशास्त्र' के प्रणेता से अभिन्न मान लिया गया।

[2] जॉन्स्टन, जे०आर०ए०एस०, 1929, पृ० 88; बरो, ए०बी०ओ०ओ०आर०आई०, सुवर्ण जयन्ती अंक, पृ० 17 अ०।

था और 'अर्थशास्त्र' का लेखक था। गुणाढ्य के पैशाची प्राकृत में लिखित ग्रन्थ 'बृहत्कथा' के आधार पर 11वीं शती में सोमदेव तथा क्षेमेन्द्र ने 'कथासरित्सागर' तथा 'बृहत्कथामञ्जरी' नाम के जो ग्रन्थ लिखे उन दोनों में ही चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथा मिलती है। इसलिए अनुमानतः वह मूल 'बृहत्कथा' में भी रही होगी। लेकिन यहाँ यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि सोमदेव तथा क्षेमेन्द्र दोनों ने ही चन्द्रगुप्त के गुरु को चाणक्य कहा है, विष्णुगुप्त या कौटिल्य नहीं। पालि ग्रन्थों में भी चाणक्य का उल्लेख इसी नाम से मिलता है, कौटिल्य नाम से नहीं। कुछ परवर्ती पालि ग्रन्थों में कौटिल्य नाम आता है, परन्तु सर्वथा भिन्न सन्दर्भों में। ऐसे स्थलों पर उसका चन्द्रगुप्त-कथा के चाणक्य से कोई सम्बन्ध नहीं बताया गया है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि उपर्युक्त सभी ग्रन्थ चन्द्रगुप्त के गुरु और महामन्त्री को चाणक्य नाम से जानते हैं, कौटिल्य नाम से नहीं। दूसरे, वे इस बात से भी परिचित नहीं हैं कि चाणक्य ने 'अर्थशास्त्र' नाम का ग्रन्थ लिखा था। इसके विपरीत, जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, 'अर्थशास्त्र' का प्रणेता कौटिल्य तीसरी शती ई० में रखा जाना चाहिए। इसलिए निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य का मन्त्री चाणक्य व 'अर्थशास्त्र' का लेखक कौटिल्य सर्वथा भिन्न व्यक्ति थे और कौटिल्य चाणक्य के पाँच-छः सौ वर्ष के बाद का लेखक था। जहाँ तक विष्णुगुप्त का सम्बन्ध है वह कौटिल्य का मूल नाम रहा होगा और कौटिल्य उसका गोत्र नाम। उसकी चाणक्य से पहिचान भूल से सम्भवतः इसलिए कर दी गई होगी क्योंकि दोनों जबरदस्त कूटनीतिज्ञ थे—चाणक्य ने नन्दवंश के उन्मूलन और मौर्य वंश की स्थापना में महान् व्यावहारिक कूटनीतिज्ञता का परिचय दिया था जबकि कौटिल्य सैद्धान्तिक कूटनीति का आचार्य था। दोनों को एक मानने की परम्परा कब और किसने चलाई यह निश्चित रूप से तो कहना कठिन है परन्तु सर्वप्रथम विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' नाटक (लग० 400 ई०) में दोनों को एक माना गया है। हो सकता है विशाखदत्त ने ही इस परम्परा को जन्म दिया हो। एक बार यह परम्परा फैल जाने के बाद इसका उल्लेख करने वाला एक श्लोक स्वयं 'अर्थशास्त्र' में जोड़ दिया जाना और पुराणों के लेखकों द्वारा नन्दों का उन्मूलन करने वाले ब्राह्मण को कौटिल्य कह दिया जाना और 'पञ्चतन्त्र' के कथामुख के लेखक का 'अर्थशास्त्र' के प्रणेता को चाणक्य नाम से पुकारना असम्भव नहीं था। प्राचीन भारत में इस प्रकार की मिश्रित परम्पराएँ प्रायः मिलती हैं।

कौटिल्य एवं चाणक्य के पृथक्त्व का सबसे रोचक प्रमाण उनका धर्म है। 'अर्थशास्त्र' का रचयिता कौटिल्य निश्चित रूप से वैदिक धर्म का अनुयायी था। उसके अनुसार 'पवित्र आर्य मर्यादा में अवस्थित, वर्णाश्रमधर्म से नियमित और त्रयी धर्म से रक्षित प्रजा दुखी नहीं होती, सदा सुखी रहती है'।[1] वह वैदिकेतर सम्प्रदायों को 'वृषल'

[1]व्यवस्थितार्यमर्यादः कृत वर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥ —अर्थशास्त्र, 1.2।

या 'पाषण्ड' कहता है और एक स्थल पर व्यवस्था करता है कि जो व्यक्ति शाक्यों, आजीवकों आदि वृषल प्रव्रजितों को देवकर्मों और श्राद्ध आदि पितृकर्मों में भोजन करवाए उस पर सौ पण दण्ड किया जाए (3.30)। एक स्थान पर (2.4) उसने व्यवस्था की है कि पाषण्डों और चाण्डालों का वास श्मशान के समीप होना चाहिए। उसने राजा को सलाह दी है कि आवश्यकता होने पर वह पाषण्डों के संघ का धन अपहृत कर ले (1.18)। इन तथ्यों से और 'अर्थशास्त्र' में ब्राह्मणों और राजपुरोहितों के विशेषाधिकारों के वर्णन से स्पष्ट है कि कौटिल्य वैदिक धर्म का कट्टर अनुयायी था। इसके विपरीत चाणक्य को जैन ग्रन्थों में निरपवाद रूप से न केवल जैन कहा गया है वरन् चन्द्रगुप्त मौर्य को जैन धर्म की ओर उन्मुख करने का श्रेय भी दिया गया है। कुछ जैन परम्पराओं में तो यह भी बताया गया है कि चाणक्य अपनी वृद्धावस्था में जैन मुनि बन गया था। जैन ग्रन्थों के इस साक्ष्य पर हमने विस्तार से विचार अन्यत्र किया है।[1] यहाँ मात्र इतना कह देना पर्याप्त होगा कि इस जैन परम्परा को पूर्णतः असत्य मानने का कोई कारण नहीं है। बौद्ध ग्रन्थों में भी चाणक्य के विषय में जो सूचनाएँ मिलती हैं उनमें ऐसी कोई बात नहीं कही गई जो उसे जैन मानने के विरुद्ध हो। चाणक्य का जैन धर्मावलम्बी होना नन्दकालीन मगध में जैन धर्म की लोकप्रियता एवं स्वयं चन्द्रगुप्त मौर्य के जैन होने के साथ संगत है। अभाग्यवश जॉन्स्टन व टी० बरो जैसे विद्वानों ने, जो कौटिल्य व चाणक्य को पृथक्-पृथक् मानते हैं, इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया है कि कौटिल्य व चाणक्य का धर्म अलग-अलग था। इस तथ्य से उन्हीं के मत को अतिरिक्त बल मिलता है। दूसरी तरफ मुनि महेन्द्रकुमार प्रथम जैसे कुछ आधुनिक जैन विद्वान्, जो चाणक्य को जैन मानते हैं, उसे 'अर्थशास्त्र' के प्रणेता कौटिल्य से अभिन्न मानने का लोभ संवरण नहीं कर पाते।[2] लेकिन चाणक्य न केवल निष्ठावान् जैन था वरन् एक जैन परिवार में ही उत्पन्न हुआ था। अतः उसको वैदिक धर्म के श्रेष्ठत्व में श्रद्धा रखने वाले और जैन धर्म की अवहेलना करने वाले कौटिल्य से अभिन्न नहीं माना जा सकता।

निष्कर्षतः हम चाणक्य को नन्द वंश का उन्मूलन करने वाला और चन्द्रगुप्त मौर्य को राजसत्ता दिलाने वाला जैन धर्मावलम्बी कूटनीतिज्ञ एवं कौटिल्य को तीसरी शती ई० के अन्तिम वर्षों में 'अर्थशास्त्र' की रचना करने वाला ब्राह्मण आचार्य मानना उपयुक्त समझते हैं।[3]

---

[1]दे०, गोयल, एस०आर०, कौटिल्य एण्ड मेगास्थेनिज़, मेरठ, 1985, अध्याय 2।

[2]मुनि, महेन्द्र कुमार प्रथम, क्या चाणक्य जैन था? जैन, ज्योति प्रसाद, जैन सिद्धान्त भास्कर, 15, स० 1; 17, स० 1; स्मारिका, 1974।

[3]के०सी० ओझा तथा रोमिला थापर चाणक्य व कौटिल्य को एक व्यक्ति मानते हैं और विष्णुगुप्त को एक परवर्ती टीकाकार। परन्तु यह मत ऊपर दिये गए तथ्यों के प्रकाश में अग्राह्य हो जाता है।

अध्याय 2

नन्द वंश

नन्द वंश की महत्ता

नन्द वंश की स्थापना से मगध के साम्राज्य में पहली बार उत्तर भारत के गंगा की उपत्यका के बाहर स्थित प्रदेश तथा दक्षिण भारत का काफी विस्तृत भूभाग सम्मिलित हुए और एक अखिल भारतीय साम्राज्य की स्थापना की सम्भावना स्पष्टतर हुई। विशालता के अतिरिक्त यह साम्राज्य अन्य कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। वह गुप्त, पुष्यभूति तथा राजपूतयुगीन साम्राज्यों के समान एक 'महाराजाधिराज' द्वारा नियन्त्रित परन्तु अधीन राजाओं द्वारा शासित राज्यों का संघ नहीं वरन् एक सबल और साधन-सम्पन्न 'एकराट्' द्वारा शासित केन्द्रीभूत शक्ति वाला साम्राज्य था। इसकी स्थापना ही 'सब क्षत्रिय नरेशों का अन्त करके' की गई थी।[1] इसका संस्थापक शुद्ध रक्त का दावा करने वाला कोई क्षत्रिय न होकर क्षत्रियों का परशुराम के समान कट्टर दुश्मन था। पुराणकारों ने उसे कलि के अंश से उत्पन्न बताया है और उसके राज्यारोहण को परीक्षित के राज्याभिषेक के समान युग प्रवर्त्तक घटना माना है।

वर्ण-व्यवस्था में नन्दों का स्थान

नन्दों की जाति के विषय में बौद्ध साहित्य में, सिवाय 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' के जिसमें प्रथम नन्द नरेश को 'नीचमुख्य' कहा गया है (नीचमुख्य समाख्यातो ततो लोके भविष्यति), कोई निश्चित सूचना नहीं मिलती। सिंहली परम्परा तथा 'वंसत्थप्पकासिनी' जैसे ग्रन्थों में अवश्य ही प्रथम नन्द को अज्ञात कुल में उत्पन्न (तिसं हि जेट्ठो पनो अज्ञात कुलस्स पुत्तो) कहा गया है, परन्तु इससे कुछ सिद्ध नहीं होता। एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार, जो हमें सर्वप्रथम 'मुद्राराक्षस' नाटक में मिलती है, नन्द नरेश 'प्रथितकुलजाः' अथवा उच्चकुल के थे। एक स्थल पर इस नाटक में नन्दों का मन्त्री राक्षस उन्हें 'अभिजन' कहता है। इस नाटक के टीकाकार धुण्ढिराज (18वीं शती) ने भी किसी जगह उन्हें हीनकुलोत्पन्न नहीं कहा है। उल्टे, अपनी टीका के उपोद्घात में वह हमें बताता है कि सर्वार्थसिद्धि की दो पत्नियाँ थीं—एक क्षत्रिय कुलोत्पन्ना सुनन्दा जिससे नौ नन्द उत्पन्न हुए तथा दूसरी वृषलात्मजा मुरा जिससे मौर्य नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जैनाचार्य हेमचन्द्र ने तो 'परिशिष्टपर्वण' में एक स्थल पर अन्तिम नरेश की

---

[1] दे०, गोयल, मागध साम्राज्य का उदय, पृ० 119।

पुत्री को स्पष्टतः 'क्षत्रिय-कन्या' कहा है (प्रायः क्षत्रिय कन्यायां शस्यतेहि स्वयंवरः)। परन्तु यह अनुश्रुतिः निश्चित रूप से गलत है। स्वयं हेमचन्द्र ने उसी ग्रन्थ में अन्यत्र प्रथम नन्द नरेश को एक वेश्या के गर्भ से (गणिकाकुक्षिजन्मा) दिवाकीर्ति नामक नाई द्वारा उत्पन्न (नापित कुमार) बताया है।[1] 'अभिधान राजेन्द्र' में भी प्रथम नन्द को 'गणिकासुतो नन्दः' कहा गया है। हरिभद्रसूरि के 'आवश्यकसूत्र वृत्ति' तथा जिनप्रभ के 'विविध कल्पतरु' नामक जैन ग्रन्थों में भी उसे क्रमशः 'नापितदास' और 'नापित-गणिकासुत' कहा गया है। जहाँ हेमचन्द्र ने नन्द राजकुमारी को क्षत्रिय कन्या बताया है वहाँ हो सकता है उन्होंने इस शब्द का प्रयोग राजकन्या के अर्थ में किया हो।

पुराणों से जैन ग्रन्थों की नन्दों की उत्पत्ति विषयक परम्परा का समर्थन अंशतः हो जाता है। इनमें प्रथम मगध नरेश को अन्तिम शैशुनाग नृपति महानन्दी द्वारा एक शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न (शूद्रागर्भोद्भवः) और उसके वंशजों को 'शूद्रभूपालाः' कहा गया है। क्योंकि प्राचीन काल में नापितों को हीनजातीय माना जाता था इसलिए इस विषय में जैन और पौराणिक साक्ष्य को आंशिक रूप से एक-दूसरे का समर्थक माना जा सकता है, यद्यपि पुराणों का यह कथन कि महापद्मनन्द का पिता मगध-नरेश महानन्दी था, जैन परम्परा के स्पष्टतः विपरीत है।

उन अफवाहों से भी जो सिकन्दर ने भारत में सुनी थीं, जैन परम्परा का समर्थन होता है। कर्टियस के कथनानुसार पोरस ने सिकन्दर को बताया था कि गेंगेरीडाई और प्रासाई का तत्कालीन नरेश एग्रम्मिज़ बड़ा अप्रतिष्ठित (ignobles) व्यक्ति था। 'उसका पिता वस्तुतः एक नाई था जो अपनी दैनिक आय से अपना पेट मुश्किल से भर पाता था लेकिन जिसने अपने सुन्दर व्यक्तित्व के कारण रानी का प्रेम और उसके (रानी के) प्रभाव के कारण तत्कालीन राजा का घनिष्ठ विश्वास प्राप्त कर लिया था। लेकिन बाद में उसने अपने स्वामी की धोखे से हत्या कर दी और तब राजकुमारों के संरक्षक होने का दिखावा करके सर्वोच्च सत्ता हथिया ली। इसके बाद उसने अल्पवयस्क राजकुमारों को भी मरवा दिया और फिर (रानी के गर्भ से) वर्तमान राजकुमार को उत्पन्न किया।[2] डायोडोरस ने भी अपने ग्रन्थ में कर्टियस के कथन का स्थूलतः समर्थन किया है और गेंगेरेडाई और प्रासाई के तत्कालीन राजा ज़ेण्ड्रेमिज़ को अज्ञात कुल वाला (adokson), नीच (eutele Pantelos) तथा जाति से नाई बताया है।[3] प्लुटार्क के अनुसार एण्ड्रोकोट्टोस (चन्द्रगुप्त मौर्य) बाद में कहा करता था कि सिकन्दर चाहता तो सारे देश (गंगा की उपत्यका वाला भूखण्ड) पर आसानी से अधिकार कर सकता था क्योंकि वहाँ का राजा 'नीचकुलोत्पन्न' और अज्ञात वंश का (dusgeneia) था और इसलिए प्रजा उसे घृणा तथा तिरस्कार की

---

[1]सन्दर्भों के लिए दे०, गोयल, मा०सा०उ०, पृ० 123।

[2]मजूमदार, क्ला०एका०, पृ० 129। लेकिन डायोडोरस ने राजा की हत्या की अपराधिनी स्वयं उसकी रानी को बताया है।

[3]वही, पृ० 172।

दृष्टि से देखती थी। इन साक्ष्यों से स्पष्ट है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय मगध पर शासन करने वाले नरेश को, जो चन्द्रगुप्त मौर्य का पूर्वगामी होने के कारण अन्तिम नन्द नरेश से अभिन्न माना जायेगा, नीच कुल में उत्पन्न और उसके पिता को, जिसने राजसत्ता पर छल से अधिकार किया था, जाति से नाई माना जाता था। यह परम्परा उग्रसेन-महापद्म के विषय में उपलब्ध जैन अनुश्रुति से पूर्णतः संगत है।[1]

क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ 'बृहत्कथामंजरी' तथा सोमदेव के 'कथासरित्सागर' में नन्द नामक एक राजा की कथा मिलती है। वह पाटलिपुत्र का स्वामी था और चन्द्रगुप्त उसका पुत्र था। उसके मृत शरीर में इन्द्रदत्त नामक एक अन्य व्यक्ति ने योगबल से प्रवेश किया जिसके परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त के पिता को 'पूर्वनन्द' कहा गया और उसके योगबल से पुनरुज्जीवित शरीर को 'योगनन्द'। योगनन्द के पुत्र का नाम हिरण्यगुप्त अथवा हरिगुप्त था।[2] पूर्वनन्द का मन्त्री शकटार चन्द्रगुप्त को राजा बनाना चाहता था। उसने युक्ति से चाणक्य को योगनन्द का शत्रु और अपना मित्र बना लिया। इसके बाद चाणक्य ने अपनी कृत्या (मारण-मन्त्र) से योगनन्द को मार डाला और शकटार ने हिरण्यगुप्त को। तदुपरान्त पूर्वनन्द का पुत्र चन्द्रगुप्त राजा बना और चाणक्य उसका महामन्त्री। इस कथा के आधार पर जायसवाल ने सुझाव रखा है कि वस्तुत नन्द वंश संख्या में दो थे—पूर्वनन्द वंश जिसके सदस्य नन्दिवर्धन और महानन्दी थे तथा नवनन्द वंश जिसका संस्थापक महापद्मनन्द था। उन्होंने 'नव' शब्द का अर्थ 'नौ' न करके 'नवीन' किया है।[3] स्मिथ के अनुसार यह सुझाव सत्य हो सकता है।[4] लेकिन जैसा कि रायचौधुरी[5] ने आग्रह किया है, कश्मीरी ग्रन्थों में प्रदत्त उपर्युक्त कथा में दो नन्द वंशों की चर्चा नहीं है—इनमें एक ही व्यक्ति के दो व्यक्तित्वों में अन्तर किया गया है। दूसरे, पुराणों, सिंहली ग्रन्थों तथा जैन साहित्य इन सभी में 'नवनन्द' का अर्थ 'नौ नन्द' किया गया है, 'नवीन नन्द' नहीं।

प्रथम नन्द नरेश का नाम

'विष्णु-पुराण' में, जो प्राचीनतम पुराणों में से एक है, प्रथम नन्द नरेश को 'नन्द' कहा गया है।[6] इस परम्परा का समर्थन 'परिशिष्टपर्वण' तथा 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प'

---

[1]इस मत के लिए कि नन्द राजा नापित नहीं थे, दे०, प्रकाश, स्टडीज़, पृ० 103 अ०। यह मत सर्वथा निराधार है।

[2]जैन ग्रन्थों में अन्तिम नन्द नरेश के पुत्र का नाम 'सिद्धपुत्र' दिया गया है और बौद्ध ग्रन्थ 'वंसत्थप्पकासिनी' में 'पर्वत'। जैन ग्रन्थों में अन्तिम नन्द नृपति की दो रानियों तथा दुर्धरा अथवा सुप्रभा नामक पुत्री का भी, जिसका विवाह चन्द्रगुप्त मौर्य से हुआ बताया गया है, उल्लेख है (दे०, चटर्जी, सी० डी०, आई०सी०, 1, पृ० 220, 223।

[3]जायसवाल, जे०बी०ओ०आर०एस०, 4, पृ० 91–95।

[4]अ०हि०इ०, पृ० 44; रेप्सन (कैं०हि०इं०, पृ० 280) इससे सहमत हैं।

[5]ए०न०मौ०, पृ० 20।

[6]पार्जिटर, डा०क०ए०, पृ० 25, 69, टि० 15।

से होता है ।[1] इसके विपरीत बौद्ध ग्रन्थ 'महाबोधिवंश' और 'वंसत्थप्पकासिनी' में उसका नाम उग्गसेन नन्द (=उग्रसेन नन्द) दिया गया है ।[2] पुराणों में उसे महापद्म (विष्णु०) अथवा महापद्मपति (भागवत०) भी कहा गया है । 'महापद्म' का अर्थ 'एक खरब' होता है, इसलिए 'भागवत पुराण' के टीकाकार के अनुसार 'महापद्मपति' का अर्थ था 'अनन्त सैनिकों अथवा अतुल धन का स्वामी ।'[3] सम्भवतः यह प्रथम नन्द नरेश का नाम न होकर उसकी उपाधि थी, यद्यपि वायु० और मत्स्य० में 'महापद्म' को उसका दूसरा नाम ही बताया गया है । यूनानी साक्ष्य में सिकन्दर के आक्रमण के समय (326 ई०पू०) शासन करने वाले मगध-नरेश को, जिसके नापित पिता ने अपने स्वामी को मारकर राज्य छीना था, एग्रेम्मिज़ (Agrammes) कहा गया है । रायचौधुरी आदि के अनुसार यह नाम संस्कृत नाम 'औग्रसेन्य' (=उग्रसेन का पुत्र) का यूनानी रूपान्तर हो सकता है ।[4] इससे भी लगता है कि प्रथम नन्द नरेश का 'महाबोधिवंश' में प्रदत्त उग्रसेननन्द नाम ही सही है । जहाँ उसे मात्र नन्द कहा गया है वहाँ उसका उसके कुलनाम से उल्लेख मानना चाहिये—वैसे ही जैसे गुप्त नरेशों को को बोलचाल में गुप्त कह दिया जाता था और मौखरि राजाओं को मौखरि । पण्डित क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने यूनानियों के एग्रेम्मिज़ की पहिचान स्वयं उग्रसेन महापद्मनन्द से की है ।[5] उनका कहना है 'एग्रेम्मिज़' का रूपान्तर 'उग्रसेन' हो सकता है । उनके अनुसार जब यूनानियों ने भारतीयों से गंगा की उपत्यका के राजा का नाम पूछा होगा तो उन्हें उसका व्यक्तिगत नाम ही बताया गया होगा । रूसी विद्वान् बोंगार्ड-लेविन ने पण्डित चट्टोपाध्याय के मत का बिना उनका उल्लेख किये समर्थन किया है ।[6] उनका कहना है कि प्रथम नन्द नरेश सत्तापहारक, राजहन्ता एवं नापितजातीय था, अतः उसको भारतीय ग्रन्थों में राजा नहीं माना गया । इस प्रकार ये दोनों विद्वान् यह मानते हैं कि उग्रसेन-महापद्म सिकन्दर के आक्रमण के समय भी शासन कर रहा था और तदनुसार वे उसके उत्तराधिकारियों को सिकन्दरोत्तर युग में रखते हैं एवं चन्द्रगुप्त द्वारा मौर्य वंश स्थापना की तिथि 313 ई०पू० बताते हैं । परन्तु एग्रेम्मिज़ को यूनानियों ने स्पष्टतः 'राजा का पुत्र' बताया है जबकि उग्रसेन राजा का पुत्र नहीं था । उसने स्वयं राजपद प्राप्त किया था । दूसरे, पुराणों में महापद्मनन्द को स्पष्टतः 'एकराट्' कहा गया है । अतः यह मान्यता कि भारतीय परम्परा में उसे राजा नहीं माना गया, गलत है । तीसरे, प्रत्येक वंश का संस्थापक सत्तापहारक होता है और राज्य को प्रायः भूतपूर्व नरेश को मार कर प्राप्त करता

---

[1]परिशिष्टपर्वण, 6.231; आर्यमंजुश्रीमूलकल्प, पृ० 15 ।

[2]बर्मी परम्परा में भी उसका नाम उग्रसेननन्द दिया गया है ।

[3]विष्णु-पुराण, विल्सन का अनुवाद, पृ० 394, टि० 18 ।

[4]पो०हि०ए०इं०, पृ० 236 ।

[5]पी०आई०एच०सी०, 4, लाहौर अधिवेशन पृ० 140–47 ।

[6]बोंगार्ड-लेविन, एन्श्येण्ट इण्डिया एण्ड सेण्ट्रल एशिया, पृ० 79 अ० 1 ।

है । लेकिन इस आधार पर भारतीय ग्रंथों में ऐसे व्यक्तियों को राजा मानने में कभी आपत्ति प्रकट नहीं की गई । चौथे, महापद्मनन्द के शूद्र होने के कारण पुराणों में उसे राजा नहीं माना गया हो, ऐसी बात भी नहीं है । इन ग्रंथों में स्पष्टत: कहा गया है कि शैशुनागों के उपरान्त शूद्र राजा होंगे। अन्यत्र भी इन ग्रंथों में 'शूद्र भूपालों' की चर्चा मिलती है । पाँचवें, हमारे सभी साक्ष्य चन्द्रगुप्त और अशोक के मध्य 52 वर्ष का अन्तर बताते हैं । अत: चन्द्रगुप्त मौर्य को 313 ई०पू० में रखने पर अशोक का अभिषेक 313—52=261 ई०पू० में रखना अनिवार्य है जो उसके समकालीन यूनानी राजाओं की तिथियों के प्रकाश में असम्भव है । छठे, अगर भारतीयों ने उस राजा का नाम 'औग्रसेन्य' के बजाय 'उग्रसेन' बताया होता तो यूनानी लेखक उसका यूनानी रूप 'एग्रेम्मिज़' न करके 'ओग्रसेनस' करते । सेनान्त नाम 'सुभागसेन' का यूनानी रूप 'सोफागसेनस' इसका प्रमाण है ।

महापद्मनन्द उग्रसेन द्वारा राज्य-प्राप्ति

कर्टियस के ऊपर उद्धृत कथन के अनुसार नन्द वंश के संस्थापक ने अपने स्वामी का घनिष्ठ विश्वासपात्र बनकर राजसत्ता अपहृत की थी। इस कथन का क्या आशय है यह 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' से स्पष्ट होता है जिसमें कहा गया है कि राजपद प्राप्त करने के पूर्व वह प्रधानमंत्री रहा था ।[1] इसी प्रकार मगध के जिस राजा की रानी को उसने अपने रूपजाल में फंसाया था, उसकी पहिचान शिशुनागवंशीय काकवर्ण से पुराणों और 'हर्षचरित' के सम्मिलित साक्ष्य से तय होती है क्योंकि पुराणों में शिशुनाग के पुत्र और उत्तराधिकारी का नाम काकवर्ण दिया गया है और बाण के 'हर्षचरित' में बताया गया है कि काकवर्णी शैशुनागी नामक राजा को उसके गले में खंजर भोंक कर मार डाला गया था ।[2] सिंहली अनुश्रुतियों में उसका नाम कालाशोक दिया गया है और कहा गया है कि उसके बाद उसके नौ (अथवा दस) पुत्रों ने सम्मिलितरूपेण दस (अथवा अट्ठाइस) वर्ष शासन किया । 'महाबोधिवंश' में उनके नामों की जो सूची मिलती है उनमें कम से कम एक नाम नन्दिवर्धन पुराणों में भी मिलता है । अत: यह सर्वथा सम्भव हैं कि उग्रसेनमहापद्म ने अपने जिस स्वामी का वध किया था वह कालाशोक-काकवर्णी रहा हो और कर्टियस ने जिन राजकुमारों की हत्या की जाने की चर्चा की है वे काकवर्णी के पुत्र रहे हों ।

'महावंसटीका' में उग्रसेन के उदय के विषय में सर्वथा भिन्न अनुश्रुति दी गई है । इसके अनुसार 'अज्ञातकुलजन्मा' उग्रसेन सीमावर्ती प्रदेश का रहने वाला (पच्चन्तवासिक) था । वह एक बार डाकुओं के हाथ में पड़ गया । वे उसे मलय नामक सीमान्त प्रदेश में ले गए ('मुद्राराक्षस' में भी मलय की चर्चा है) । धीरे-धीरे वह

---

[1]जायसवाल, इ०हि०इं०, पृ० 14 ।

[2]हर्षचरित, काणे का संस्करण, पृ० 50, 161 । 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' के अनुसार प्रथम नन्द ने राज्य को धन और मंत्रबल से प्राप्त किया था ।

डाकुओं का नेता बन बैठा। 'महाबोधिवंश' में भी उग्रसेन के साथियों को 'चोर-पुब्बस' (पुराने चोर) कहा गया है। उसने अपने डाकू साथियों के साथ सीमान्त नगरों पर (पच्चंत नगरं गत्वा) धावे बोलना और पड़ोसी राजाओं को चुनौती देना शुरू किया : "या तो युद्ध करो अथवा राज्य दो" (रज्जम वा देतु युद्धं वा)। इसके बाद उसने सर्वोच्च सत्ता प्राप्त करने का निश्चय किया। शायद यहाँ बौद्ध लेखकों का आशय मगध-विजय से है। लेकिन उन्होंने यह नहीं बताया है कि उसने उसको किस तरह जीता। अगर यह मान लिया जाय कि उग्रसेन की शक्ति से भयभीत होकर अन्तिम शिशुनाग राजा उसे अपना प्रधानमन्त्री बनाने के लिए विवश हो गया था और यह पद पाने के बाद उग्रसेन ने रानी को अपने रूपजाल में फंसाया था, तो बौद्ध तथा जैन साक्ष्य में कुछ समन्वय हो सकता है।

प्रथम नन्द द्वारा राज्य पाने की 'परिशिष्टपर्वण' में दी गई कथा के अनुसार एक बार प्रथम नन्द ने कुमारावस्था में एक स्वप्न में पाटिलपुत्र को अपनी आंतों से घिरा हुआ देखा। इसे उसकी भावी महत्ता का संकेत मानकर उसके गुरु ने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। जब उसकी बारात नगर से होकर जा रही थी तो वहाँ से राजलांछनों का जलूस गुजरा क्योंकि तभी उदायी की हत्या हो जाने से सिंहासन रिक्त हो गया था। उस समय शाही हाथी ने नन्द को अपनी पीठ पर बैठा लिया। इस पर जनता ने उसे अपना राजा बना लिया। (ततः प्रधान पुरुषैः पौरजनपदेन च। चक्रे नन्दस्य सानन्दमभिषेकमहोत्सवः ।।)। यह कथा सही नहीं लगती।

उग्रसेन-महापद्म ने अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अनन्त सम्पति और एक विशाल सेना एकत्र की। सम्भवतः असंख्य सैनिकों और अतुल सम्पदा का स्वामी होने के कारण वह 'महापद्मपति' उपाधि से विख्यात हुआ था। उसका उग्रसेन नाम भी हो सकता है उसकी प्रचण्ड सेना के[1] कारण पड़ा हो। 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' में उसकी विशाल सेना का उल्लेख करते हुए उसे 'महासैन्य' और 'महाबलः' कहा गया है। कर्टियस ने उसके उत्तराधिकारी एग्रेम्मिज़ की सेना का वर्णन करते हुए बताया है कि उसमें 20 सहस्र अश्वारोही, 2 लाख पदाति, चार घोड़ों से खींचे जाने वाले 2 हजार रथ एवं 3 हजार हाथी थे। डायोडोरस ने हाथियों की संख्या 4 हजार बताई है और प्लुटार्क ने हाथियों की 6 हजार, अश्वारोही सेना की 80 हजार और रथों की 8 हजार। पदातियों की संख्या ये लेखक भी दो लाख ही बताते हैं। इन संख्याओं में कुछ अतिरंजना हो सकती है, परन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना में अगर 6 लाख पदाति थे और वह अपनी हस्ति-सेना में से 500 हाथी सेल्युकस को अनायास दे सकता था, तो नन्द सेना की उपर्युक्त संख्या अविश्वसनीय नहीं लगेगी। नन्द सेना की विशालता और शक्ति जैन ग्रन्थों तथा 'मिलिन्दपञ्हो'[1] में वर्णित नन्द-मौर्य संघर्ष की भयंकरता

[1] 'मिलिन्दपञ्हो' में नन्दों के एक सेनापति भद्दसाल (भद्रसाल) का उल्लेख मिलता है।

से भी संकेतित है।

चीनी, यूनानी तथा भारत के जैन, बौद्ध, ब्राह्मण एवं तमिल साहित्यों में नन्दों के वैभव का अनेकत्र उल्लेख है। चीनी यात्री शुआन-च्वांग ने नन्दराज के सात बहुमूल्य पाषाणों के पांच कोषागारों की चर्चा की है। 'मुद्राराक्षस' में नन्दों को 'नवनवतिशत-द्रव्यकोटीश्वरा:' (990 करोड़ सुवर्ण मुद्राओं का स्वामी) तथा 'अर्थरुचि' कहा गया है। 'कथासरित्सागर' के अनुसार भी नन्दराज ने 990 करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ एकत्र कर ली थीं। दक्षिण भारत के संगम साहित्य (ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियाँ) में नन्दों के असीम धन का उल्लेख है। एक स्थल पर कहा गया है कि नन्दराज ने 'पहिले पाटलिपुत्र में धन संचित किया और फिर उसे गंगा की धारा में छिपा दिया।' मामूल्नार ने एक स्थान पर प्रेम की मारी नायिका के मुख से कहलाया है : "वह क्या है जो मेरे प्रेमी को मेरे रूप से भी अधिक आकर्षक लगा है ?—क्या यह युद्धों में विजय प्राप्त करने वाले सुप्रतिथ नन्दों का पाटिलपुत्र में संचित और गंगा में छिपाया गया धन है ?" इसके अतिरिक्त 'अहनानूरु' में भी उसने एक स्थल पर कहा है कि 'प्रेमी अपना पग पीछे नहीं हटा सकता चाहे ऐसा करने पर उसे नन्दों का धन ही क्यों न मिल जाय।' 'कुरुन्दोगई' नामक ग्रन्थ की एक कविता में पाटलिपुत्र के सुवर्ण के प्राचुर्य की चर्चा है।[1] 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' में उसको 'महाभोगी' और धन की सहायता से राज्य प्राप्त करने वाला बताया गया है। जैन ग्रन्थ 'तित्थोगाली पइण्णा' में एक नन्द राजा (नन्दोराया) के बारे में, जो बहुत धनी, सुन्दर तथा यशस्वी (अत्थसमिद्धो रूपसमिद्धो जससमिद्धो) था, कहा गया है कि उसने पाँच स्तूपों (पंचथूमे) में असंख्य सुवर्ण मुद्रायें (हिरण्णं निस्कित्तं), दबा दी थीं जिन्हें वहाँ से कल्कि उठा ले गया था।[2] इस नन्द नरेश का वर्णन, विशेषत: उसके रूपवान् होने का उल्लेख, कर्टियस द्वारा वर्णित प्रथम नन्द के व्यक्तित्व का स्मरण दिलाता है।

सामान्यत: नन्दों के अतुल धन के संचय का श्रेय प्रधानत: उग्रसेन-महापद्म को ही दिया जाना चाहिए। शायद असंख्य मुद्राओं का स्वामी होने के कारण वह 'महापद्मपति' कहलाया हो। फिर भी इतना अवश्य ही माना जा सकता है कि धन-नन्द ने अपने पिता की परम्परा को बनाए रखा था। 'महावंसटीका' के अनुसार उग्रसेन के पुत्रों में सबसे छोटा 'धन एकत्र करने का शौकीन होने के कारण धननन्द कहलाया।...उसने अस्सी कोटि धन एकत्र किया और गंगा नदी की तहलटी में एक विशाल शिला में दीर्घाकार गुहा बनवाकर अपने कोष को उसमें दबा दिया।' 'वंसत्थप्पकासिनी' में भी कुछ इसी प्रकार की सूचना मिलती है (अन्तोगंगाय पासाण-तले महन्तं आवाटं कारापेत्वा तत्थ धनं ततोपरि पासाणे संथरापेत्वा ...तं पकति पासाणतलं विय जातं गंगं विसज्जापेसि)।

[1]सन्दर्भों के लिये दे०, पो०हि०ए०इं०, पृ० 20–31।
[2]सन्दर्भों के लिये दे०, मा० सा० उ०, पृ० 127।

साम्राज्य विस्तार और वैदिक राजवंशों का अन्त

एक अखिल भारतीय साम्राज्य स्थापित करने में महापद्मनन्द को पूर्णतः नहीं तो आंशिक सफलता अवश्य ही मिली । जैन लेखकों ने नन्द के मन्त्री द्वारा समुद्रपर्यन्त पृथिवी जीते जाने की चर्चा की है ।[1] पुराणों में महापद्म को 'एकच्छत्र' और 'अनुल्लंघित रूप से पृथिवी को भोगने वाला' (स चैकच्छत्रामनुल्लङ्घितशासनो महापद्मः पृथिवीं भोक्ष्यते), 'कलि से उत्पन्न (कलिकाङ्शजः) तथा 'एकराट्' कहा गया है। इनमें यह भी कहा गया है कि वह दूसरा परशुराम (द्वितीय इव भार्गवः) था और उसने परशुराम के समान सब क्षत्रियों का विनाश किया था (परशुराम इवापरोखिल क्षत्रान्तकारी) । इसका अर्थ यह लगाया गया है कि उसने इक्ष्वाकु, पञ्चाल, काशेय, हैहय, कलिंग, अश्मक, कुरु, मैथिल, शूरसेन तथा वीतिहोत्र आदि उन क्षत्रिय वंशों का उन्मूलन किया था, जिन्होंने पुराणों के अनुसार शैशुनागों के साथ भारत के विभिन्न भागों पर शासन किया था (तुल्यकालं भविष्यन्ति सर्वेह्यते महीक्षितः) । पुराणों में उल्लिखित मैथिल क्षत्रिय मिथिला के शासक थे । मिथिला की पहिचान नेपाल राज्य में स्थित जनकपुर से (जो उस स्थल से, जहाँ दरभंगा और मुजफ्फरपुर जिले मिलते हैं, कुछ उत्तर की ओर स्थित है) की जाती है। छठी शती ई० के 'सुमतितन्त्र' नामक ग्रन्थ के अनुसार नन्दों ने स्वयं नेपाल अर्थात् काठमाड़ी की घाटी पर भी शासन किया था ।[2] लेकिन इस परम्परा के समर्थन अथवा विरोध में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है ।

पुराणों में उल्लिखित कुरु जन आधुनिक देहली-पानीपत-थानेसर प्रदेश में रहते थे, पञ्चाल गंगा-यमुना दोआब के उपरले भाग में, शूरसेन मथुरा प्रदेश में, काशेय आधुनिक वाराणसी प्रदेश में और इक्ष्वाकु कोसल या अवध में । स्थूलतः ये पाँचों राज्य उस भूखण्ड में स्थित थे जिसमें आधुनिक उत्तर प्रदेश और देहली राज्य हैं । नन्दों ने कोसल को अधिकृत किया था इसका एक सूक्ष्म-सा संकेत 'कथासरित्सागर' में उपलब्ध है जिसमें कोसल के सुप्रथित नगर अयोध्या में नन्दराज के सैनिक शिविर की स्थिति का उल्लेख हुआ है । काशी राज्य, जो कोसल के दक्षिण में था, मगध के साम्राज्य के प्रभावान्तर्गत बिम्बिसार और अजातशत्रु के युग में ही आ गया था । शिशुनाग ने भी राजसत्ता पर अधिकार करके वहाँ अपने पुत्र को वायसराय नियुक्त किया था (वाराणस्यां सुतं स्थाप्य श्रयिष्यति गिरिव्रजम्) । महापद्मनन्द ने इस राजकुमार को अथवा उसके किसी उत्तराधिकारी को पराजित करके 'काशेयों' को अधिकृत किया होगा । पालि साहित्य में नन्द को काशी का राजा प्रायः बताया गया है ।[3] कुरु, पञ्चाल और शूरसेन जनपदों पर नन्द युग के पूर्व मगध के अधिकार

---

[1]परिशिष्टपर्वण, 7.81; पो० हि० ए० इं०, पृ० 234, टि० 2 में उद्धृत ।

[2]रेग्मी, एन्श्येण्ट नेपाल, पृ० 68; दे०, गोयल, श्रीराम, प्राचीन नेपाल का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 46 ।

[3]सन्दर्भों के लिए दे०, प्रकाश, स्टडीज, पृ० 106 ।

का कोई प्रमाण नहीं मिलता,[1] परन्तु क्लासिकल लेखकों का साक्ष्य यह प्रमाणित करता है कि ये सब भूखण्ड नन्दों के अधिकार में थे। कर्टियस के अनुसार जब सिकन्दर व्यास नदी के तट पर पहुँचा तो फेगेलस नामक भारतीय नरेश ने उसे बताया था कि व्यास नदी के परे "विशाल रेगिस्तान हैं···उसके बाद गंगा नदी है जो समस्त भारत की सबसे बड़ी नदी है और उसके परे स्थित प्रदेश में गेंगेरीडाई (Gangaridae) तथा प्रासाई (Prasii) नाम की जातियाँ रहती हैं जिनका राजा एग्रेम्मिज़ (Agrammes) है।"[2] उसकी राजधानी पाटलिपुत्र (पालिम्बोथ्रा) बताई गई है। डायोडोरस का विवरण भी ऐसा ही है, इस अन्तर के अतिरिक्त कि वह राजा का नाम एग्रेम्मिज़ के स्थान पर ज़ेण्ड्रेमिज़ (Xandrames) बताता है।[3] इसलिए नन्द साम्राज्य पश्चिम में कुरु देश तक विस्तृत था इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। सिकन्दर के भय से कनीयस् पुरु (Younger Poros) का, जो पंजाब में शासन करता था, भाग कर गेंगेरीडाई राज्य में जाना (डोयोडोरस) भी यही संकेत देता है। क्लासिकल लेखकों का गेंगेरीडाई से आशय गंगा की उपरली घाटी में रहने वाली जातियों से था। 'प्रासाई' का तो अर्थ ही होता है 'प्राच्य' अर्थात् पूर्व के निवासी। लेकिन मेगास्थनिज़ ने गेंगेरीडाई का अर्थ 'गंगा के मुहाने वाले प्रदेश के निवासी' बताया है। उस अवस्था में आधुनिक उत्तर प्रदेश और बिहार को 'प्रासाई' में परिगणित करना होगा।

हैहय और वीतिहोत्र वंश मालवा के थे और परस्पर घनिष्ठतः सम्बन्धित थे। नन्दों के द्वारा हैहयों और वीतिहोत्रों का उन्मूलन असम्भव नहीं लगेगा अगर हम ध्यान रखें कि (1) पुराणों के अनुसार नन्दों के पूर्व शैशुनाग राजवंश ने अवन्ति के प्रद्योतों के यश का विनाश किया था (हत्वा तेषां यशः कृत्स्नं शिशुनागो भविष्यति)। कुछ पुराणों में वीतिहोत्रों का अवसान प्रद्योतों के उदय के समय बताया गया है। परन्तु असम्भव नहीं है कि शिशुनाग ने प्रद्योतों का उन्मूलन करके वीतिहोत्रवंशीय कुछ राजाओं को पुनः प्रतिष्ठापित कर दिया हो और उन्हीं का उन्मूलन नन्दों ने किया हो। स्वयं पुराणों द्वारा शिशुनाग राजाओं के समकालीन क्षत्रिय वंशों में वीतिहोत्रों की गणना से[4] यही संकेत मिलता है। (2) मालवा और गुजरात नन्दों के बाद शासन करने वाले चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य का अंग थे। इसलिए नन्दों द्वारा माहिष्मती तक शासन करना कदापि असम्भव नहीं कहा जा सकता। (3) जैन लेखकों अनुसार भी नन्दों ने अवन्ति पर शासन किया था।

कलिंग देश (आधुनिक उड़ीसा राज्य और कुछ निकटवर्ती भूखण्ड) पर नन्दों के आधिपत्य का निश्चय रूप से समर्थन खारवेल के हाथिगुम्फा-अभिलेख से होता है। इसमें दो स्थलों पर 'नन्दराज' का उल्लेख किया गया है। एक स्थल पर कहा गया है

[1]'महाभारत' में गंगा के तट पर स्थित महापद्मपुर नगर का उल्लेख है।

[2]क्ला० एका०, पृ० 128।

[3]वही, पृ० 172।

[4]द्र०, डा० क० ए०, पृ० 24, 69।

कि खारवेल 'तीन सौ साल पूर्व नन्दराज द्वारा खुदवाई गई नहर को अपने शासन के पाँचवें वर्ष तनसुलियवाट से राजधानी में लाया ।'[1] इसके बाद खारवेल के शासन के बारहवें वर्ष की चर्चा करते हुए कहा गया है कि खारवेल उस जिन प्रतिमा को ले आया था जो नन्दराज कलिंग से उठाकर ले गये थे ।[2] इस 'नन्दराज' को रायचौधुरी, सरकार तथा अन्यान्य अधिकांश विद्वानों ने मगध का प्राङ्-मौर्ययुगीन नन्द सम्राट् ही माना है । बरुआ[3] का आग्रह था कि यह नन्दराज अशोक के पूर्व शासन करने वाला नरेश नहीं हो सकता क्योंकि अशोक के अभिलेखों में यह दावा किया गया है कि उसके द्वारा जीते जाने के पूर्व तक कलिंग 'अविजित' देश रहा था । लेकिन जैसा कि रायचौधुरी ने ध्यान दिलाया है कि इस प्रकार के दावे विश्वसनीय नहीं होते । उदाहरणार्थ, जहाँगीर ने यह स्पष्टतः गलत दावा किया है कि उसके पूर्व कांगड़ा पर किसी भी सुल्तान ने विजय प्राप्त नहीं की थी ।[4] जायसवाल का कहना है कि हाथिगुम्फा-लेख में चर्चित नन्दराज नन्दवंशीय न होकर शैशुनाग वंश का नन्दिवर्धन था । परन्तु शिशुनाग-वंशीय नरेशों का कलिंग से सम्बन्ध सर्वथा अज्ञात है ।

अश्मक जाति या वंश का निवास दक्षिणापथ में गोदावरी की घाटी के एक भाग में था । उनकी राजधानी पोतलि, पोतन या पोदन थी जिसकी पहिचान गोदावरी और मंजीरा के संगम के समीप स्थित बोधन स्थल (निजामाबाद के निकट) से की जाती है । (अ) गोदावरी नदी के तट पर नौ-नन्द देहरा (आधुनिक नान्देड़) नामक नगर की स्थिति, (आ) संगमयुगीन तमिल ग्रन्थों में 'पाटिलपुत्र' के 'अत्यधिक धनी' नन्दों के उल्लेख[5] तथा (इ) मैसूर से प्राप्त कई मध्यकालीन अभिलेखों में (12वीं शती ई०) कुन्तल देश को नन्द साम्राज्य में सम्मिलित बताये जाने से लगता है कि दक्षिण भारत के कुछ भाग नन्दों के अधिकार में थे । अगर हम यह ध्यान रखें कि चन्द्रगुप्त मौर्य के जमाने से ही कृष्णा के दक्षिणवर्ती कुछ प्रदेश मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित थे तो नन्दों का कुन्तल तक शासन एकदम असम्भव धारणा नहीं लगेगी । इस प्रकार हमारे साक्ष्य नन्दों को आधुनिक उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल तथा उड़ीसा राज्य के काफी बड़े भूभाग का स्वामी सिद्ध करते हैं । इनके अतिरिक्त उनका मालवा

---

[1]स० इ०, पृ० 215, 220 ।

[2]स० इ०, पृ० 217, 220 ।

[3]आई० एच० क्यु०, 14, 1938, पृ० 259 अ० ।

[4]पो० हि० ए० इं०, पृ० 230, टि० 2 ।

[5]जैन ग्रन्थ 'भगवती सूत्र' (15.1) में विन्ध्य पर्वत की तलहटी में स्थित शतद्वार नामक नगर पर शासन करने वाले एक शक्तिशाली नरेश देवसेन विमलवाहन महापद्म (महापउम) का उल्लेख है जिसका समय मक्खली गोशाल से 'बहुत बाद में' बताया गया है । बरुआ ने 'भगवतीसूत्र' के इस महापद्म को महापद्मनन्द माना है (जे० डी० एल०, 2, 1920, पृ० 67) जबकि बैशम को इसमें शंका है (हिस्ट्री ऑव दि आजीविकज़, पृ० 142-45) ।

तथा अश्मक प्रदेश का स्वामी होना भी पर्याप्त सबल सम्भावना है। कुन्तल पर उनका आधिपत्य मात्र मध्यकालीन अभिलेखों में चर्चित है, परन्तु उस क्षेत्र में मौर्यों की सफलता के प्रकाश में इसकी सम्भावना भी एकदम विस्मृत नहीं की जा सकती।

उग्रसेन-महापद्मनन्द के उत्तराधिकारी तथा उनके शासन की अवधि

पुराणों के अनुसार महापद्मनन्द के उपरान्त (जिसकी मृत्यु 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' के अनुसार 67 वर्ष की आयु में रोगग्रस्त हो जाने से हुई) उसके आठ पुत्रों ने शासन किया। बौद्ध साहित्य में सभी नवनन्दों को परस्पर भाई (नवभातरो) बताया गया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि नन्द वंश की सार्वभौम सत्ता उनके संयुक्त परिवार के हाथों में थी। 'चाणक्य-कथा' नामक ग्रन्थ के अनुसार महापद्म के बाद उसके पुत्र राज्य के उत्तराधिकारी बने। वे सब मिलकर शासन करते थे और उनमें प्रतिवर्ष बारी-बारी से एक को राजा चुन लिया जाता था, पर सार्वभौम सत्ता उन सबके हाथों में सम्मिलित रूप से रहती थी। पुराणों में महापद्मनन्द के उत्तराधिकारियों में केवल सुकल्प का नाम दिया गया है (सुकल्पादि सुता ह्यष्टौ समा द्वादश ते नृपाः)। सुकल्प नाम के सहल्य तथा सुकल्य आदि रूप भी मिलते हैं। सहल्य रूप 'दिव्यावदान' में प्रदत्त सहली नाम से मेल खाता है। पुराणों में उसके अन्य भाइयों के नाम नहीं दिए हैं। 'महाबोधिवंश' के अनुसार उनके नाम थे : पण्डुक, पण्डुगति, भूतपाल, राष्ट्रपाल, गोविषाणक, दशसिद्धक, कैवर्त तथा धन। 'कम्बोडियायी महा-वंश' में इनमें केवल प्रथम दो नाम भिन्न हैं—इसमें उन्हें कनक तथा चन्द्रगुतिक (=चन्द्रगुप्तक) कहा गया है। इनमें धननन्द की पहिचान क्लासिकल लेखकों द्वारा उल्लिखित एग्रेम्मिज (कर्टियस) या ज़ेण्ड्रेमिज़ (डायोडोरस) से की जाती है। कुछ विद्वानों ने ज़ेण्ड्रेमिज (Xandrames) नाम का संस्कृत रूप चन्द्रमस् मान कर उसकी पहिचान स्वयं चन्द्रगुप्त मौर्य से की है।[1] लेकिन एक तो गेंगेरीडाई-नरेश को डायोडोरस ने 'ज़ेण्ड्रेमिज़' अवश्य कहा है, परन्तु अन्य क्लासिकल लेखक उसे एग्रेम्मिज़ ही कहते हैं। दूसरे, प्लुटार्क आदि लेखक एग्रेम्मिज़ तथा एण्ड्रोकोट्टस् (=चन्द्रगुप्त मौर्य) में स्पष्ट अन्तर बताते हैं। जस्टिन भी इस अन्तर से परिचित हैं। तीसरे, ज़ेण्ड्रेमिज़ एक नाई का, जो राजा बन गया था, पुत्र था जबकि सेण्ड्रोकोट्टोस् या एण्ड्रोकोट्टोस् ने एक नए राजवंश की स्थापना की थी।

महापद्मनन्द के सभी उत्तराधिकारियों का व्यक्तित्व एकदम धुँधला है। अन्तिम नन्द राजा धननन्द-औग्रसैन्य के विषय में भी हम केवल इतना ही जानते हैं कि सम्भवतः उसे अपने पिता के समान सम्पत्ति एकत्र करने का शौक था और उसे वह प्रजाहित के लिए व्यय किया करता था। यह सर्वथा सम्भव है कि वह और उसके भाई लोग

---

[1]अय्यर वेंकटेश्वर, आई० ए०, 1915, अंक 44, पृ० 41-52। एफ० डब्ल्यु० टॉमस ने भी एग्रेम्मिज़ के स्थान पर ज़ेण्ड्रेमिज़ नाम सही मान कर उसका संस्कृत रूप चन्द्रमस् माना है, परन्तु उसकी पहिचान उन्होंने नन्द नरेश से ही की है, चन्द्रगुप्त मौर्य से नहीं (दे०, कैं० हि० इं०, पृ० 422)।

उग्रसेन की उस प्रेमिका रानी के गर्भ से उत्पन्न हुए हों जिसके प्रभाव से उग्रसेन अन्तिम शैशुनाग नरेश का विश्वासपात्र बन गया था। कर्टियस का यह कथन भी कि प्रथम नन्द ने अपने स्वामी-नरेश के पुत्रों का वध करके 'वर्तमान राजा को पैदा किया' यही संकेत देता है। इस अनुमान से पुराणों में उल्लिखित शैशुनाग-नन्द वंशों के सम्बन्ध की भी कुछ व्याख्या हो जाती है। हो सकता है कि पुराणकारों ने अन्तिम शैशुनाग राजा की रानी से अन्तिम आठ नन्दों की उत्पत्ति बताने के बजाय गलती से प्रथम नन्द को ही उसके गर्भ से उत्पन्न लिख दिया हो।

जब 326 ई० पू० में सिकन्दर ने पंजाब पर आक्रमण किया और युवक चन्द्रगुप्त ने उससे भेंट की, तब सम्भवतः महापद्म का अन्तिम पुत्र धननन्द ही शासन कर रहा था। इस तिथि के उपरान्त 4-5 वर्ष के अन्दर ही चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्द वंश का विनाश कर डाला। इससे स्पष्ट है कि नन्दों ने चतुर्थ शती ई० पू० के तृतीय पाद में अवश्य ही शासन किया था। लेकिन उनकी निश्चित तिथियाँ अभी तक अज्ञात हैं। आर० डी० बनर्जी जैसे कुछ विद्वानों ने खारवेल के हाथिगुम्फा-अभिलेख में नन्द-संवत् का उल्लेख माना है।[1] परन्तु भारत में संवतों द्वारा तिथि गणना की परम्परा नन्दों के काफी समय बाद विदेशी राजाओं ने चलाई थी।[2] वस्तुतः हाथि-गुम्फा लेख का तिथि विषयक साक्ष्य अत्यन्त विवादास्पद है। इसके आधार पर अधिक से अधिक खारवेल की तिथि निश्चित की जा सकती है, नन्दों की नहीं।[3]

प्रथम नन्द नरेश महापद्मनन्द का शासन काल 'मत्स्य-पुराण' में 88 (अष्टाशीति) वर्ष का बताया गया है। इसकी तुलना में 'वायु-पुराण' में प्रदत्त 28 वर्ष (अष्टाविंशति) अधिक सही संख्या लगती है। शायद मत्स्य० में 'अष्टाविंशति' के स्थान पर 'अष्टा-शीति' पाठ किसी लिपिक की गलती से हो गया हो। इस ग्रन्थ के अनुसार उसके पुत्रों ने 16 वर्ष शासन किया। इस प्रकार इस परम्परानुसार नन्दों के कुल शासन का योग 28+16=44 वर्ष आता है। यहाँ यह तथ्य अत्यन्त रोचक है कि सिंहली अनुश्रुतियों में सब नन्दों का शासन काल मिला कर 22 वर्ष का बताया गया है और कालाशोक के पुत्रों का भी (जब वस्तुतः महापद्म ही सत्ताधारी था) 22 वर्ष। इस प्रकार इस परम्परानुसार भी नन्दों का यथार्थ शासन 22+22=44 वर्ष रहा। अतः हम इस अवधि को सही मान सकते हैं।

---

[1]नन्द संवत् की चर्चा 'सुमतितन्त्र' नामक नेपाली ग्रन्थ में भी हुई है (गोयल, श्रीराम, प्राचीन नेपाल का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 46)। परन्तु इससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि नन्द काल में कोई संवत् प्रचलित था (वही)। दे०, मजूमदार, रीडिंग्स इन पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, 1976, पृ० 36–9।)

[2]सरकार, इण्डियन एपिग्रेफी, पृ० 242 अ०।

[3]एस० कोनो (एक्टा ओरियण्टेलिया, 1, पृ० 22-26) ने 'ति-विस-सत' संख्या को नन्दराज और खारवेल के मध्य की अवधि नहीं वरन् नन्दराज के शासन काल में प्रचलित किसी पूर्वकालीन संवत् की तिथि माना है। परन्तु ऐसे किसी संवत् का अस्तित्व अभी तक सिद्ध नहीं हो पाया है। खारवेल तथा अशोक के लेखों में उनके राज्यकाल के वर्षों का उल्लेख है, किसी संवत् में तिथियाँ नहीं दी गई हैं।

नन्द शासन से भारतीय इतिहास में नवयुग का प्रारम्भ

नन्दों का युग भारतीय इतिहास का एक गौरवमय युग था। यह वह युग था जब प्रथम बार समाज के हीनतर वर्गों ने उच्च वर्णों की सत्ता का सफल विरोध किया और यह सिद्ध किया कि शूद्र भी योग्य तो हो ही सकते हैं, महान् सम्राट् भी बन सकते हैं। सम्भवतः जिस वैचारिक आन्दोलन के परिणामस्वरूप धार्मिक क्षेत्र में बौद्ध और जैन धर्मों का उदय हुआ, उसी ने ऐसा राजनीतिक वातावरण भी पैदा किया जिसका परिणाम शूद्रजातीय साम्राज्यिक वंश की स्थापना के रूप में सामने आया। यह सही है कि नन्द नरेश हीनजातीय होने के कारण अपने समय में बहुत हेय दृष्टि से देखे जाते थे। पंजाब के राजा पोरस ने सिकन्दर को बताया था कि गंगेरीडाई का राजा बिल्कुल निकम्मे चरित्र का था और उसका कुछ भी सम्मान नहीं था। लोग उसे नापित-पुत्र समझते थे। प्लुटार्क के अनुसार भी चन्द्रगुप्त मौर्य कहा करता था कि 'प्रजा नन्द राजा को उसके दुष्ट स्वभाव और नीच जन्म के कारण' घृणा से देखती और हेय समझती थी। पुराणों में नन्दों को 'अधार्मिक' और 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' में नीच कहा जाना भी उनकी अलोकप्रियता का प्रमाण है। आधुनिक विद्वान् भी नन्दों का चित्रण प्रायः प्रजापीड़क और लोभी नृपतियों के रूप में करते हैं। परन्तु नन्दों ने प्रथम बार गंगा की सम्पूर्ण घाटी को ही नहीं उत्तर भारत के अधिकांश तथा दक्षिणापथ के पर्याप्त भूभाग को एकता के सूत्र में आबद्ध किया। उनका युग जनपद युग के अवसान एवं मगध के साम्राज्य के प्रसार की तीसरी अवस्था का सूचक है। इस साम्राज्य का प्रसार बिम्बिसार ने काशी और अंग को तथा अजातशत्रु ने वज्जि संघ को जीतकर प्रारम्भ किया। शैशुनाग राजाओं ने इसको अवन्ति तक विस्तृत किया। अब नन्दों ने इसमें कलिंग और अश्मक आदि तथा उत्तर-पश्चिम में कुरु, पंचाल आदि सम्मिलित करके अखिल भारतीय साम्राज्य की स्थापना के स्वप्न को चरितार्थ करने की ओर अगला कदम उठाया। इतना ही नहीं, उन्होंने इस साम्राज्य की सुरक्षा एवं आगामी प्रसार के हेतु विशाल सेना एकत्र की और राजकोष को भरा। अगर वे ऐसा नहीं करते तो शायद मौर्यों को वे सफलतायें न मिलतीं जिनके कारण उनका नाम इतिहास में इतना प्रसिद्ध है। इस दृष्टि से महापद्मनन्द को भारत का प्रथम ऐतिहासिक नरेश कहना अनुचित नहीं है।

नन्दों की शासन-व्यवस्था के विषय में बहुत कम तथ्य ज्ञात हैं। पौराणिक साक्ष्यानुसार महापद्म निश्चितरूपेण एकतन्त्रात्मक साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। उसका 'सर्वक्षत्रान्तक', 'एकच्छत्र' तथा 'एकराट्' होना यही संकेत देता है। उसका यह प्रयास मगध के साम्राज्य के प्राचीनतर इतिहास (जिसमें वज्जि संघ और मल्लादि जातियों की शक्ति को पूर्णतः तोड़कर उनके राज्यों को साम्राज्य में मिला दिया गया था) तथा इसके मौर्यकालीन विकास के साथ संगत है। लेकिन यूनानी लेखकों ने गंगेरीडाई तथा प्रासाई का पृथक्तः उल्लेख करते हुए उन्हें एक ही नरेश—एग्रेम्मिज़—के अधीन बताया है। इसके आधार पर कल्पना की जा सकती है कि शायद नन्दों

ने (जिनकी राजधानी प्रासाई प्रदेश में स्थित पाटलिपुत्र नगर था) गेंगेरीडाई जाति अर्थात् गंगा के मुहाने वाले प्रदेश में रहने वालों को कुछ आन्तरिक स्वतन्त्रता दे रखी थी। प्लुटार्क के कथन के अंग्रेजी अनुवाद में तो प्रासाई और गेंगेरीडाई के 'नरेशों' का स्पष्टतः उल्लेख हुआ है[1] यद्यपि वह भी उनकी सेना की सम्मिलितरूपेण ही चर्चा करता है।[2] इस स्थिति का परोक्ष रूप से समर्थन एरियन द्वारा प्रदत्त इस सूचना से भी होता है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय व्यास के पूर्व में स्थित प्रदेश में, जो अत्यन्त उर्वर था और जिसके निवासी योग्य कृषक थे, "आन्तरिक प्रशासन की सुन्दर व्यवस्था थी जिसमें जनता पर एक ऐसा कुलीन वर्ग शासन करता था जो अपनी सत्ता का उपयोग बहुत ही न्यायपूर्वक और उदारता के साथ करता था।" यह वर्णन एग्रेम्मिज़ के साम्राज्य के केन्द्रीय भाग के वर्णन से भिन्न है जहाँ सिकन्दर को प्राप्त सूचनानुसार प्रजा अपने राजा से 'घृणा करती थी'। स्पष्ट है कि नन्दों ने अपने साम्राज्य के केन्द्रीय भाग—कोसल (जहाँ उनका एक शिविर था), काशी (जिसके राजा के रूप में वे पालि साहित्य में चर्चित हैं), मगध (जहाँ उनकी राजधानी थी) तथा वृजि प्रदेश (जिसकी राजधानी वैशाली के साथ उनका सम्बन्ध साहित्य में उल्लिखित है) आदि—को अपने पूर्ण नियन्त्रण में रखा हुआ था परन्तु गेंगेरीडाई (गंगा के मुहाने वाले प्रदेश) तथा कुरु, पंचाल आदि पश्चिमी प्रदेशों, और सम्भवतः कलिंग और मालवा को भी, आन्तरिक स्वतन्त्रता प्रदान कर रखी थी।[3] इससे साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्तों पर उनकी पकड़ कुछ दुर्बल हो गई होगी। चन्द्रगुप्त मौर्य-नन्द संघर्ष विषयक कथाओं से भी, जिनमें चन्द्रगुप्त द्वारा सीमान्त प्रदेशों को आसानी से जीतने की चर्चा है, यही संकेत मिलता है।

यह धारणा आजकल प्रायः सर्वसम्मत-सी है कि आर्थिक क्षेत्र में नन्दों का ध्यान केवल धन एकत्र करने की तरफ था और उन्होंने अपनी प्रजा को चूसने के लिए बहुत भारी कर लगाए थे। लेकिन यह धारणा सम्भवतः सही नहीं है। यह हो सकता है कि वे व्यक्तिगत रूप से धनलोलुप रहे हों, लेकिन ध्यान रखना चाहिए कि वे भारतीय इतिहास में पहली बार एक लगभग अखिल भारतीय साम्राज्य स्थापित कर रहे थे। महापद्म-उग्रसेन को बहुत कुछ वैसी ही समस्याओं का सामना करना पड़ा होगा जैसी बाद में समुद्रगुप्त के सामने आई थीं। अपनी सामरिक, प्रशासकीय तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे अतुल धन की आवश्यकता पड़ी होगी। 'महावंस' में कहा गया है कि अन्तिम नन्द राजा ने "अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त पशुचर्मों, गोंद, पेड़ों तथा पाषाणों पर भी कर लगाया था।" परन्तु हम अगर मौर्यों की अर्थ-

---

[1]क्ला० एका०, पृ० 198।

[2]प्लुटार्क ने इन राजाओं की सम्मिलित सेना में हाथियों, घोड़ों और रथों की जो संख्या बताई है वह कर्टियस तथा डायोडोरस द्वारा प्रदत्त संख्या से अधिक है।

[3]यह व्यवस्था समुद्रगुप्त के साम्राज्य के संगठन से सादृश्य रखती है। दे०, गोयल, प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, 3, पृ० 142, 283-4।

व्यवस्था को ध्यान में रखें तो ये कर कदापि अनुचित प्रतीत नहीं होंगे। लेकिन सम्भवतः प्रथम बार लगाए जाने के कारण ये तत्कालीन भारतीयों को अनुचित लगे थे और नन्दों की बदनामी का कारण हो गये थे।

नन्द-मौर्य काल में भारत में जो सिक्के चलते थे उन्हें आजकल आहत सिक्के या 'पंचमार्क्ड क्वायन्स्' कहा जाता है। स्मरणीय है कि 'काशिका' में इस बात का उल्लेख मिलता है कि नन्द वंश के राजाओं ने अपना एक मानदण्ड प्रचलित किया था (नन्दोपक्रमणि मानानि 2.4.21; 6.2.14)।[1]

नन्दों द्वारा किये गये जन-कल्याण के कई कार्य ज्ञात हैं। कलिंग में, जो उनके द्वारा जीता गया प्रदेश था, एक नहर का बनवाया जाना उनका प्रजाहित के प्रति सचेष्ट रहने का प्रमाण है। अगर 'कथासरित्सागर' और 'बृहत्कथामंजरी' का विश्वास किया जाय तो नन्द युग में पाटलिपुत्र में लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का वास था। इन ग्रन्थों के अनुसार वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, कात्यायन तथा वररुचि—ये सभी नन्दों की राजधानी की शोभा बढ़ाते थे। 'काव्यमीमांसा' के लेखक राजशेखर ने भी, जो महेन्द्रपाल प्रतिहार का मन्त्री और कवि था, लिखा है कि 'कहा जाता है कि पाटलिपुत्र समस्त शास्त्रकारों, विभिन्न दर्शन पद्धतियों के संस्थापकों तथा प्रवर्तकों की परीक्षा (शास्त्रकार परीक्षा) का केन्द्र था। यहां पर वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, पिंगल तथा व्याडि जैसे सुविख्यात सृजनात्मक विद्वानों की परीक्षा ली गई। वररुचि तथा पतंजलि ने भी इस नगर में परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद ही विद्वानों के रूप में ख्याति अर्जित की।[2] हो सकता है इन विद्वानों में कुछ नन्दयुगीन रहे हों। अनेक पालि ग्रन्थों में नन्द काल में प्रजा के सुखी होने की चर्चा है।[3] एक ग्रन्थ में कहा गया है कि नन्द राजा के पास कल्पवृक्ष था जिससे उसे और उसकी प्रजा को दैवी वस्त्र मिला करते थे। 'मुद्राराक्षस' में एक स्थल पर चन्दनदास से बातें करते समय चाणक्य चिन्ता प्रकट करता है कि कहीं चन्द्रगुप्त की त्रुटियों से प्रजा को पिछले राजा (अन्तिम नन्द नरेश) के गुण तो याद नहीं आते। इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थल पर राक्षस अपने भूतपूर्व स्वामी (नन्द नरेश) के प्रति नागरिकों के भक्तिभाव का उल्लेख करता है। वह जगह-जगह उसे गुणी व लोकप्रिय भी बताता है। इससे स्पष्ट है कि विशाखदत्त के अनुसार नन्दराज प्रजा के कम-से-कम एक वर्ग में बहुत प्रिय था और उसके मन्त्री भी उसके प्रति निष्ठावान् थे। नन्दों में हुए इस परिवर्तन का संकेत 'परिशिष्टपर्वण' में भी सुरक्षित है जो एक स्थल पर प्रथम नन्द को 'गणिकापुत्र' कहता है परन्तु अन्यत्र बताता है कि अन्तिम नन्द नरेश अपने को क्षत्रिय

[1]मुकर्जी, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० 283।

[2]दे०, वही, पृ० 40।

[3]वण्णवा बलवा सुखी यावता नंदराजस्स।
विजितस्मि पटिच्छादा ततो बहुतरा भन्ते॥ पेतवत्थु, 3.2.18।

मानता था। शायद नन्द वंश के पतन तक जनता के एक वर्ग में उनको क्षत्रिय मानने की परम्परा चल पड़ी थी।

नन्द नरेश बहुत दानी भी थे। 'सुखबोधा' तथा 'आवश्यक सूत्र' आदि ग्रन्थों में प्रदत्त जैन कथाओं के अनुसार नवाँ नन्द राजा कार्त्तिक पूर्णिमा को (कत्तिय पुण्णिमाए) पाटलिपुत्र में बहुत दान दिया करता था। 'वंसत्थप्पकासिनी' नामक बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार तो यह दान प्रतिदिन दिया जाता था। इस ग्रन्थ के अनुसार दान दिये जाने वाले धन की व्यवस्था के लिए (जो प्रतिवर्ष एक करोड़ मुद्राएँ होता था) नन्द राजा ने एक 'दानग्ग' (दान-विभाग) खोल रखा था जिसका संचालन एक 'संघ' करता था। इसके सदस्य विद्वान् ब्राह्मण ही हो सकते थे और उनमें सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण को अध्यक्ष (संघब्राह्मण) चुना जाता था। उससे अधिक विद्वान् ब्राह्मण के आ जाने पर उसे वह पद छोड़ना पड़ता था। स्वयं नन्द नृपति बीच-बीच में आकर दान कार्य की देख-भाल करता था। ऐसे ही एक अवसर पर उसने चाणक्य का, उसके कुरूप होने के कारण, अपमान कर दिया था।[1]

पुराणों में नन्दों को 'अधार्मिक' कहे जाने का कारण नन्दों का जैन तथा आजीविक आदि धर्मों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हो सकता है। ए० एल० बैशम प्रथम नन्द नरेश को आजीविक मानने के पक्ष में प्रतीत होते हैं।[2] ज्ञातव्य है कि प्रथम नन्द को छोड़कर किसी अन्य नन्द नरेश के विरुद्ध जैन ग्रन्थों में कुछ भी नहीं कहा गया है, उल्टे उन्हें क्षत्रिय तक बता दिया गया है। नन्द राजाओं के मन्त्री भी जैन थे। 'आवश्यक सूत्र' के अनुसार उनमें प्रथम कल्पक था जिसे यह पद जबरदस्ती दिया गया था। कहा गया है कि इस मन्त्री की प्रेरणा से ही नन्द सम्राट् ने क्षत्रियों का अन्त करने की योजना बनाई थी। नन्द राजाओं के बाद के मन्त्री कल्पक के ही वंशज थे। नौवें नन्द का मन्त्री शकटाल या शकटार था। उसके दो पुत्र थे स्थूलभद्र और श्रीयक। शकटाल की मृत्यु के बाद स्थूलभद्र को मन्त्री पद दिया गया परन्तु उसने स्वीकार नहीं किया। वह छठे जिन से दीक्षा लेकर जैन साधु हो गया। 'मुद्राराक्षस' में उल्लिखित मन्त्री राक्षस का, अगर वह ऐतिहासिक व्यक्ति है, इस मन्त्री परिवार से सम्बन्ध अज्ञात है। लेकिन इस ग्रन्थ में तत्कालीन समाज पर जैन प्रभाव अवश्य ही परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ, चाणक्य ने इसमें एक जैन को ही अपना गुप्तचर चुना था। खारवेल के हाथिगुम्फा-लेख से, जिसमें नन्दराज के द्वारा एक जैन प्रतिमा को कलिंग से उठा ले जाने की चर्चा है, नन्दों का जैन धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध प्रमाणित होता है।[3] 'परिशिष्टपर्वण' का साक्ष्य भी नन्दों को जैन मानने

---

[1]द्दे०, बी० सी० लाहा वॉल्यूम, 1, पृ० 592 अ०।

[2]बैशम, हिस्ट्री एण्ड डोक्ट्रिन ऑव दि आजीविकज़, 1951, पृ० 144-45।

[3]पटना की पंच पहाड़ियों को, जो वस्तुतः पाँच प्राचीन जैन या बौद्ध स्तूप हैं, एक दन्तकथा में नन्दराजा द्वारा निर्मित बताया गया है (अ० हि० इं०, पृ० 44, टि० 2)।

के पक्ष में है। आजीविक मत से महापद्म का सम्बन्ध 'भगवतीसूत्र' में संकेतित है। 'वंसत्थप्पकासिनी' में कहा गया है कि नन्दराजा के कोप से बचने के लिए भागते समय चाणक्य ने आजीविक वेश ही धारण किया था (आजीविक वेसं गहेत्वा पलायन्तो)। 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' में प्रथम नन्द को बौद्ध बताया गया है। इसमें उसे 24 विहार बनवाने, वररुचि नामक बौद्ध विद्वान् को अपना मन्त्री बनाने, लोकेश से सफलता का मन्त्र प्राप्त करने तथा बौद्ध धर्म स्वीकृत कर लेने का भी श्रेय दिया गया है।[1] अन्य बौद्ध ग्रन्थों का दृष्टिकोण भी नन्दों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण प्रतीत होता है।

नन्द नरेशों ने क्षत्रिय विरोधी नीति का अवलम्बन करने के बावजूद ब्राह्मणों का विरोध नहीं किया था। स्वयं बौद्ध और जैन ग्रन्थों में हमें इस बात की चर्चा मिलती है कि उनकी दानशाला की व्यवस्था ब्राह्मण विद्वानों के संघ के हाथ में थी और उनमें सबसे बड़े विद्वान् को अध्यक्ष माना जाता था। इस विषय में उसका यश सुनकर ही ब्राह्मण चाणक्य उत्तरापथ से चलकर पाटलिपुत्र आया था। 'आर्यमंजु-श्रीमूलकल्प' का बौद्ध लेखक भी शिकायत करता है कि प्रथम नन्द नृपति बौद्ध, उदार तथा न्यायी होते हुए भी झूठा घमण्ड करने वाले ब्राह्मण तार्किकों से घिरा रहता था और उन्हें धन प्रदान करता रहता था।[2] इसमें उसे पाणिनि का मित्र बताया गया है। 'कथासरित्सागर' तथा अनेक जैन ग्रन्थों में भी नन्दों द्वारा अनेक ब्राह्मण विद्वानों को संरक्षण देने की चर्चा है। 'मुद्राराक्षस' में नन्दों का ब्राह्मण मन्त्री राक्षस उनका कट्टर समर्थक दिखाया गया है। स्वयं चाणक्य धननन्द से रुष्ट उसके अधार्मिक होने के कारण नहीं था। उसके रुष्ट होने का कारण था उसे अन्तिम नन्द नरेश द्वारा, जो उससे अपरिचित था, दानशाला में उसकी कुरूपता के कारण अपमानित किया जाना। ऐसा प्रतीत होता है कि नन्दों के उन्मूलन के उपरान्त उनके अवगुणों को पुराणों तथा 'मुद्राराक्षस' जैसे नाटकों के लेखकों ने बहुत बढ़ा-चढ़ाकर लिख दिया था।

[1]इ०हि०इं०, पृ० 14।
[2]ए०न०मौ०, पृ० 11।

अध्याय 3

उत्तरापथ पर सिकन्दर का आक्रमण

सिकन्दर के आक्रमण के समय उत्तरापथ के राज्य

ईरानी सम्राटों का आधिपत्य पश्चिमोत्तर भारत में सम्भवत: 330 ई०पू० तक माना जाता रहा। परन्तु इसके बावजूद इसमें सन्देह नहीं कि चौथी शती ई०पू० के प्रारम्भ से ही यह आधिपत्य नाममात्र का रह गया था और शायद मात्र वार्षिक कर दिए जाने तक सीमित था। इसलिए जब 330 ई०पू० में सिकन्दर ने अन्तिम साखामनीषी सम्राट् तृतीय दारयवहुष को गौगामेला अथवा अर्बेला के युद्ध में निर्णायिकरूपेण परास्त किया, पश्चिमोत्तर भारत के स्थानीय राज्य स्वयमेव पूर्णत: स्वतन्त्र हो गए और उन्हें ईरानी सम्राट् को वह कर देने से भी मुक्ति मिल गई जो वे तब तक देते आए थे। हो सकता है उन्होंने उसे कर देना 330 ई०पू० के भी कुछ पहिले बन्द कर दिया हो। एच० सी० रायचौधुरी ने सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब और सिन्ध के ऐसे अट्ठाइस राज्यों को गिनाया है[1] जिनके पास अपनी-अपनी सेनाएँ तथा मैत्री और युद्ध करने का अधिकार थे। इनकी सही संख्या सम्भवत: तीस से भी अधिक थी। इन राज्यों का कुछ विस्तार से वर्णन[2] सिकन्दर के भारतीय अभियान के प्रसंग में क्लासिकल लेखकों ने किया है। उनके साक्ष्य को पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में उपलब्ध तथ्यों की सहायता से परिवर्द्धित किया जा सकता है।

सिकन्दर के आक्रमण के समय हिन्दुकुश के इस ओर स्थित उत्तरापथ अथवा पश्चिमोत्तर प्रदेश के भारतीय राज्यों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है :—

(अ) कुनार की उपत्यका से लेकर रावी तक के ग्यारह राज्य, जो प्रकृत्या राजाधीन जनराज्य (tribal monarchies) थे, सिवाय एक के जिसकी शासन व्यवस्था कुलीनतन्त्रात्मक (oligarchical) थी;

---

[1]रायचौधुरी, पो०हि०ए०इं०, पृ० 245 अ०; ए०न०मौ०, पृ० 34 अ०।

[2]प्राचीन काल की तुलना में पंजाब की नदियों के प्रवाह मार्ग अब बहुत कुछ बदल गए हैं, इसलिए पंजाब के राज्यों की सही स्थिति का वर्णन उपलब्ध होते हुए भी आधुनिक नक्शों में उनकी पहिचान करना सदैव सम्भव नहीं है। दे०, स्मिथ, अ०हि०इं०, पृ० 95–97।

(आ) चिनाब और झेलम के संगम के दक्षिण तथा रावी के पूर्व में स्थित तेरह गणाधीन राज्य (एक अपवाद को छोड़कर); तथा

(इ) मिथनकोट (सिन्धु और सतलज का संगम स्थल) के दक्षिण में सिन्धु की निचली उपत्यका के सात राजाधीन राज्य जिनमें एक में द्वैराज्य शासन व्यवस्था (diarchy) थी और कुछ में ब्राह्मणों का उल्लेखनीय राजनीतिक प्रभाव था। इन राज्यों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(1) एस्पेसियन (आश्वायन)—एस्पेसियनों (Aspasians या Aspasioi) का दुर्गम पहाड़ी राज्य काबुल नदी के उत्तर में खियोस और यूएस्प्ल (=कुनार) नदियों द्वारा सिंचित प्रदेश में था। इस जाति का नाम संस्कृत शब्द अश्व (=ईरानी अस्प) से व्युत्पन्न है। वह एस्सकेनियन जाति की पश्चिमी शाखा प्रतीत होती है। इसका राजा 'हाइपार्क' उपाधिधारी था। एस्पेसियनों के प्रसिद्ध नगर अन्दक तथा एरिग्एम थे। इस जाति की प्रधान सम्पत्ति पशु थे। सिकन्दर ने उसके 2 लाख 30 हजार पशु पकड़े थे।

(2) गुरियन राज्य—गुरियन (Guraeans) या गौरी जाति पंजकोर की घाटी में एस्पेसियनों और एस्सेकेनोस राज्य के मध्य निवास करती थी।

(3) एस्सेकेनोस राज्य—एस्सेकेनोस (Assakenos) राज्य (=आश्वकायन)[1] स्वात (=स्वास्तु) और बुनेर नदियों की उपत्यकाओं में था[2] और पूर्व में सिन्धु नदी तक विस्तृत था। इसकी राजधानी मस्सग नगर था। मस्सग-नरेश एस्सेकेनोस् के पास 20,000 अश्वारोही, 30,000 पदाति और 30 हाथी थे। उसकी राजधानी मस्सग भी प्रकृति और 35 स्टेडिया लम्बी प्राचीर से सुरक्षित नगर था जिसे जीतने के लिए सिकन्दर को विविध यन्त्रों का प्रयोग करना पड़ा था। उसकी मैत्री अभिसार-नरेश के साथ रही प्रतीत होती है। एस्सेकेनोस् का एक प्रसिद्ध दुर्ग ओर्नोस् नाम से विख्यात था।

(4) न्यसा राज्य—एस्सेकेनोस् राज्य के पड़ोस में तथा सिन्धु नदी के पश्चिम में 'मेरोस् पर्वत' की तलहटी में न्यसा (Nysa) राज्य था। होल्डिख़ ने मेरोस् की पहिचान स्वात की घाटी में कोह-ए-मोर पर्वत से की है।[3] इसके निवासियों ने सिकन्दर से अपने को उन यूनानियों का वंशज बताया था जो यूनानी परम्परानुसार डायोनाइसियस के साथ भारत आए थे। न्यसा वालों के अनुसार उनके नगर को स्वयं डायोनाइसियस ने बसाया था। न्यसा के समीप स्थित पर्वत के नाम 'मेरोस' की व्याख्या भी वे यह कहकर करते थे कि मेरोस् का अर्थ 'जांघ' होता है और डायोनाइसियस जन्म के पूर्व जियस की जांघ में पोषित हुआ था। बुद्ध के काल में

---

[1]एस्सेकेनोस नाम का संस्कृत रूप आश्वकायन है न कि अश्मक जिनकी चर्चा वराहमिहिर ने पश्चिमोत्तर जातियों में की है।

[2]सुवास्तु प्रदेश गुप्त काल में उद्यान या उड्डियान कहलाता था।

[3]अ०हि०इं०, पृ० 57 पर उद्धृत।

भारत की सीमा पर एक यूनानी उपनिवेश के अस्तित्व का ज्ञान 'मज्झिम निकाय' में योन जनपद के उल्लेख से भी होता है। न्यसा की शासन-व्यवस्था कुलीनतन्त्रात्मक (oligarchical) और उसकी शासन-सभा के सदस्यों की संख्या 300 थी।

(5) प्युक्लाओटिस् (एस्टेकेनोई) राज्य—प्युक्लाओटिस् (Peuclaotis) अथवा पुष्कला(रा)वती राज्य सिन्धु नदी के पश्चिम में स्थित आधुनिक पेशावर प्रदेश में था। इसमें गन्धार जनपद का पश्चिमी भाग सम्मिलित था। इसकी राजधानी पुष्कलावती (आधुनिक चारसद्दा तथा मीरजियारत) स्वात के तट पर स्थित था। इसके निवासियों को एस्टेकेनोई (Astakenoi=पाणिनि के हास्तिनायन) कहा गया है। उनका राजा अस्टिज़ (=Astes=हस्ती अथवा अष्टक) 'हाइपार्क' उपाधिधारी था और सिकन्दर के सेनापति हेफाइस्शन से परास्त हुआ था।

(6) तक्षशिला राज्य—सिन्धु और झेलम के मध्य स्थित नगरों में तक्षशिला (Taxila) विशालतम और गन्धार जनपद के पूर्वी भाग की, जो चौथी शती ई०पू० में एक स्वतन्त्र राज्य था, राजधानी था। स्ट्रेबो के अनुसार इसके कानून बहुत अच्छे थे और उसके चारों ओर का प्रदेश घनी आबादी वाला तथा बहुत ही उर्वर था। प्राचीनतम तक्षशिला की पहिचान रावलपिण्डी से 20 मील उत्तर-पश्चिम की ओर सरायकाला के पास स्थित भीर टीले से की गई है।[1] प्राचीन काल में यह विद्या और व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र था। सिकन्दर के समय राज्य करने वाले तक्षशिला नरेश को यूनानियों ने टेक्सिलिज़ (Taxiles) नाम दिया है। प्लुटार्क के अनुसार उसका राज्य मिस्र के बराबर विशाल था और वह अच्छे चरागाहों तथा फलों के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध था। टेक्सिलिज़ ने सिकन्दर को 200 टेलेण्ट चाँदी, बलि देने के लिए 300 पशु, 30 हाथी तथा 10,000 भेड़ें दी थीं और उसके उत्तराधिकारी आम्भी (Omphis) ने सुवर्ण के अनेक मुकुट और 80 टेलेण्ट रजत सिक्के। तक्षशिला के सम्बन्ध न पुष्कलावती से अच्छे थे और न पड़ोस के अभिसार और पुरु राज्यों से। सिकन्दर के आक्रमण के समय तक्षशिला के राजा की उपाधि एरियन ने 'हाईपार्क' बताई है जो उसके किसी के अधीन होने की सूचक है परन्तु स्ट्रेबो ने उसे बैसिलियस अर्थात् 'राजा' कहा है। जैसा कि रायचौधुरी ने ध्यान दिलाया है सम्भवतः वह ईरानी सम्राट् के अधीन रहा था, पर साखामनीषी साम्राज्य के पतन का लाभ उठाकर स्वतन्त्र हो गया था।[2]

(7) अर्सेकिज़ का राज्य—तक्षशिला के उत्तर में अर्सेकिज़ (Arsakes) और अभिसार राज्य थे। अर्सेकिज़ राज्य आधुनिक हजारा जिले में था और संस्कृत में उरशा कहा जाता था। उरशा-नरेश का उल्लेख यूनानियों ने 'हाइपार्क' उपाधि के साथ किया है।

---

[1]तक्षशिला नगर के कई स्तर मिले हैं। इनमें भीर टीला प्राङ्-मौर्य और मौर्य युग का है, सिरकप भारतीय-यूनानी, पार्थियन और कडफिसिज़ युग का तथा सिरसुख प्रथम कनिष्क के युग का।

[2]ए०न०मौ०, पृ० 36।

(8) अभिसार-राज्य—अभिसार (Abisares) राज्य तक्षशिला के उत्तर में तथा झेलम और चिनाब के मध्य कश्मीर के आधुनिक पूंछ और नौशेहरा जिलों वाले पर्वतीय प्रदेश में स्थित था। यूनानियों के वर्णन से लगता है कि इसका राजा अभिसार बड़ा कूटनीतिज्ञ था। पहिले उसने एस्सेकेनोस् को सहायता और उसके भाई को सिकन्दर के विरुद्ध शरण दी। परन्तु बाद में जब सिकन्दर तक्षशिला पहुँचा तो उसने उसे सन्तुष्ट करने के लिए यूनानियों के प्रति वशवर्तिता का दिखावा किया, लेकिन साथ ही सिकन्दर के विरुद्ध पुरु को सहायता देने की योजना भी बनाई। वह स्वयं भी एक शक्तिशाली नरेश था। तशशिला से उसके सम्बन्ध अच्छे नहीं थे और कठों पर उसने आक्रमण किया था।

(9) पोरस का राज्य—झेलम और रावी के मध्यवर्ती प्रदेश में अर्थात् तक्षशिला के दक्षिण-पूर्व में पुरुओं के दो राज्य थे—वृद्ध अथवा ज्येष्ठ पुरु और कनीयस् अथवा कनिष्ठ पुरु के। ये पुरु अथवा पौरव स्पष्टतः वैदिककालीन पुरुओं के वंशज थे। 'बृहत्संहिता' में पौरवों को मद्रकों और मालवों के साथ सम्बद्ध बताया गया है और 'महाभारत' में पौरवों द्वारा रक्षित एक नगर का (पुरं पौरवरक्षितं), जो कश्मीर के समीप था, उल्लेख है। 'वैदिक इण्डेक्स' के लेखकों के अनुसार पौरव या तो मूलतः झेलम के तट पर निवास करते थे और सिकन्दरकालीन पौरव वे पौरव थे जो अन्य पौरवजनों के पूर्व दिशा की तरफ चले जाने के बाद झेलम प्रदेश में शेष रह गये थे अथवा वे सिकन्दर के समय के पहिले कभी पूर्व से आकर पुनः झेलम प्रदेश में बसे होंगे।[1] वृद्ध पुरु का राज्य झेलम और चिनाब की अन्तर्वेदी में आधुनिक गुजरात और शाहपुर जिलों के आस-पास था। स्ट्रेबो के अनुसार यह एक विशाल और उर्वर राज्य था, जिसमें करीब 300 नगर थे। डायोडोरस सूचना देता है कि वृद्ध पुरु की सेना में 50,000 पदाति, 3,000 अश्वारोही, 1,000 रथ तथा 130 हाथी सम्मिलित थे। उसका वर्णन यूनानी इतिहासकारों ने एक ऐसे शेरदिल नरेश के रूप में किया है जिसके सामने अन्य समकालीन राजा नगण्य मालूम होते थे। पश्चिम में तक्षशिला का स्वामी और पूर्व में स्वयं उसका भतीजा अथवा चचेरा भाई कनीयस् या छोटा पुरु उससे डरते थे, कठ आदि स्वतन्त्र जातियाँ उसकी शक्ति का आदर करती थीं, डायोडोरस के अनुसार अभिसार-नरेश के साथ उसकी सन्धि थी और स्पिटासिज़ (Spitaces) नामक 'नोमार्क' ने, जो स्पष्टतः उसके अधीन था, सिकन्दर के विरुद्ध युद्ध में उसे सहायता दी थी।

(10) कनीयस् पुरु का गन्धरी राज्य—स्ट्रेबो के अनुसार वृद्ध पुरु के राज्य के पूर्व में रेचना दोआब में अर्थात् रावी-चिनाव नदियों के मध्य कनीयस् या छोटे पुरु का लघु राज्य था, जो गन्धरी कहलाता था। शायद यह प्राचीन विशाल गन्धार

---

[1]वैदिक इण्डेक्स, 2, पृ० 12-13; जायसवाल (हिन्दू राज्य-तन्त्र, 1, पृ० 107) को सिकन्दरकालीन पुरु को पौरव मानने में आपत्ति है।

महाजनपद का पूर्वी टुकड़ा था।[1] कनीयस् पुरु का एरियन ने 'हाइपार्क' उपाधि के साथ उल्लेख किया है। सम्भवतः वृद्ध पुरु उस पर आधिपत्य का दावा करता था।

(11) सौपीथिज़ का राज्य—पुरुओं अथवा पौरवों के पड़ोस में सौपीथिज़ (सौभूति)[2] का राज्य था यद्यपि उसकी सही स्थिति के विषय में कुछ मतभेद है। स्ट्रैबो लिखता है कि सभी प्राचीन लेखकों के अनुसार सौपीथिज़ का राज्य झेलम अथवा चिनाब के पूर्व में था। लेकिन स्वयं स्ट्रैबो के ही अनुसार सौपीथिज़ के राज्य में नमक का एक ऐसा पर्वत था जिससे सारे भारत की नमक की आवश्यकता पूर्ण हो सकती थी। इसके आधार पर स्मिथ का यह मत रहा है कि सौपीथिज़ 'साल्ट रेंज' वाले प्रदेश का स्वामी था।[3] जो भी हो, स्ट्रैबो ने सौपीथिज़ को एक नोमार्क बताया है जिससे स्पष्ट है कि वह किसी राजा का वायसराय रहा था। हो सकता है मूलतः ईरानी सम्राट् के वायसराय के रूप में रहा हो और बाद में स्वतन्त्र होने के बाद भी उसकी वही उपाधि चलती रही हो। पाणिनि ने सुभूत देश की चर्चा की है। कर्टियस के अनुसार सौपीथिज़ का राज्य उत्तम कानूनों और परम्पराओं से शासित था और उसके नागरिक बुद्धिमान थे। सौपीथिज़ के कुछ सिक्के भी उपलब्ध बताए जाते हैं। इन सिक्कों के राजा का नाम सौफाइटिज़ (Sophytes) है। इनके पुरोभाग पर राजा का सिर दिखाया गया है और पृष्ठभाग पर मुर्गा। बहुत से विद्वान् इन सिक्कों को सिकन्दरकालीन नहीं मानते।[4]

(12) ग्लौगेनीकाई गणराज्य—पौरवों और सौपीथिज़ के राज्यों के पूर्व और दक्षिण में गणाधीन राज्य थे जिनमें सर्वप्रथम ग्लौसियनों अथवा ग्लौगेनीकाई या ग्लौगेनीसियनों के राज्य की चर्चा की जा सकती है। उनका राज्य चिनाब के पश्चिम की ओर वृद्ध पुरु के राज्य के पड़ोस में था और बाद में सिकन्दर ने उसे पुरु के राज्य में ही मिला दिया था। वेबर का अनुसरण करते हुए जायसवाल ने इनकी पहिचान 'काशिका' के ग्लौचुकायनकों से की है। रायचौधुरी को इसमें शंका है।

(13) कथइयोई गणराज्य—कथइयोई (Kathaioi) जाति (संस्कृत नाम कठ)[5] का निवास बारी दोआब, ब्यास और रावी के मध्यवर्ती प्रदेश में था। स्ट्रैबो के अनुसार कुछ प्राचीन लेखक कथइय और सौपीथिज़ के देश को झेलम और चिनाब के बीच में बताते थे और कुछ चिनाब और राबी के 'उस ओर'। यह एक पराक्रमी और युद्धप्रिय जाति थी। इसका प्रमुख स्थल संगल था जिसकी पहिचान कुछ लोग लाहौर से करते हैं, कुछ लोग अमृतसर के पूर्व में स्थित जिण्डयाला से, कुछ ने इसकी

---

[1]मतान्तर के लिए दे०, कैं०हि०इं०, पृ० 332, टि० 2।

[2]सिल्वां लेवी ने सौपीथिज़ का संस्कृत रूपान्तर 'सौभूति' सुझाया था।

[3]अ०हि०इं०, पृ० 94, टि० 1।

[4]स्ट्रैबो के अनुसार सौफाइटिज़ के राज्य के कुत्ते अपने साहस के लिए प्रसिद्ध थे।

[5]कुछ विद्वानों ने 'कथइयोई' शब्द को 'क्षत्रिय' का यूनानी रूपान्तर माना है। परन्तु यूनानियों ने 'क्षत्रिय' नाम के लिए एक्स्थ्रोई (Xathroi) शब्द का प्रयोग किया है।

स्थिति गुरुदासपुर जिले में फथगढ़ के समीप मानी है और कुछ ने इसे झंग जिले में सांगलावाला तीबा माना है। ओनेसिक्रिटस के आधार पर स्ट्रेबो कहता है वे सुन्दरतम पुरुष को अपना राजा चुनते थे और उनके स्त्री-पुरुष अपनी पसन्द से अपना विवाह निर्धारित करते थे।

(14) एड्रेस्टाई गणराज्य—रावी के पूर्व में कठों के समीप एड्रेस्टाई (Adraistai) गण जाति रहती थी। उसका प्रधान स्थल प्रिम्प्रम था। कुछ यूरोपियन विद्वानों ने इसकी पहिचान आरट्टों से की है और जायसवाल ने अरिष्टों से।

(15) फेगेलस का राज्य—बारी दोआब (ब्यास और रावी दोआब) में एक लघुराज्य था जिसके राजा का फेगेलस (Phegelas) नाम संस्कृत भगल की, जिसे गणपाठ में क्षत्रियों के एक राजवंश का नाम बताया गया है, याद दिलाता है।

(16) सिबोई गणराज्य—झेलम और चिनाब के संगम के दक्षिण में रेचना दोआब (रावी-चिनाब दोआब) के शरकोट प्रदेश में सिबोई (Siboi) गणराज्य था जिसकी पहिचान 'ऋग्वेद' के शिव और परवर्ती साहित्य के शिवि जनों से[1] की जाती है। इसके सदस्य हेराक्लिज़ की तरह पशुचर्म-निर्मित वस्त्र पहिनते थे, गदा को आयुध रूप में धारण करते थे एवं अपने पशुओं के शरीर पर उसका चिह्न अंकित करते थे। उन्होंने सिकन्दर का प्रतिरोध करने के लिए 40,000 सैनिक एकत्र किए थे।

(17) एगेलेस्सोई गणराज्य—सिबोई के पड़ोस में एगेलेस्सोई (Agalassoi) गणराज्य था। 'सिन्धु नदी उनके प्रमुख नगर के समीप बहती थी और उसके दक्षिण की तरफ झेलम और चिनाब का संगम था'।[2] एगेलेस्सोई जाति ने सिकन्दर का सामना 40,000 पदातियों और 3,000 अश्वारोहियों से किया था। कुछ विद्वानों ने उनकी पहिचान आर्जुनायनों से की है और जायसवाल ने कौटिल्य द्वारा उल्लिखित 'अग्रश्रेणी' से।

(18–19) मल्लोई और ओक्सीड्रेकाई गणराज्य—रावी के दाहिने तट पर, चिनाब और रावी के मध्य एक अत्यन्त शुष्क प्रदेश के समीप मल्लोई (Malloi) जाति रहती थी। उसका यह नाम संस्कृत नाम 'मालव' का यूनानी रूपान्तर है। पाणिनि ने उनका उल्लेख आयुधजीवी जाति के रूप में किया है। एरियन के अनुसार मल्लोई संख्या में बहुत, स्वतन्त्रता-प्रिय तथा पराक्रमी जन थे। बाद में ये लोग ही राजपूताना और अवन्ति में जाकर बसे थे। पूर्वी भारत के मल्लों से इनका सम्बन्ध सर्वथा अज्ञात है।

मल्लोई की पड़ोसी ओक्सीड्रेकाई (Oxydrakai) गणजाति वही है जिसे संस्कृत

---

[1]जातकों में शिविदेश और उसके अरिट्ठपुर तथा जेतुत्तर नगरों की चर्चा है। पाणिनि ने भी शिवपुर का उल्लेख किया तथा शरकोट से प्राप्त एक लेख में शिविपुर नाम आया है।

[2]वर्तमान नक्शों में किसी नगर की ऐसी स्थिति असम्भव है।

साहित्य में क्षुद्रक कहा गया है। स्ट्रेबो के अनुसार उसका शासन छोटे-छोटे राजाओं के हाथ में था जिनकी तुलना पूर्वी भारत के लिच्छवि और मल्ल गणराज्यों के 'राजाओं' से की जा सकती है। एरियन ने एक स्थल पर उसके नगरों और प्रान्तों के 'नोमार्कों' की चर्चा की है।

मालव और क्षुद्रक जातियों का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ था। सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व वे एरेकोसियनों अर्थात् साखामनीषियों के एरेकोशिया में स्थित गवर्नरों को कर देते थे, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से लगभग पूर्णतः स्वतन्त्र थे। उनका आपस में झगड़ा भी चलता रहता था, परन्तु उन्होंने यूनानी आक्रमणकारी का मिलकर सामना करने का निश्चय किया था। स्मिथ ने ध्यान दिलाया है कि 'महाभारत' में 'मालव-क्षुद्रकों' का सम्मिलितरूपेण उल्लेख कौरव-पक्षधरों के रूप में हुआ है। पतञ्जलि ने भी इस द्वन्द्व की चर्चा की है (क्षुद्रकमालवशब्दः खण्डिकादिषु पठ्यते)। कर्टियस के अनुसार क्षुद्रकों और मालवों ने मिलकर सिकन्दर का सामना करने के लिए 90,000 पदाति, 10,000 अश्वारोही तथा 900 रथ एकत्र किए थे और इस सेना का सेनापति एक क्षुद्रक योद्धा को बनाया था। डायोडोरस ने इसका कुछ भिन्न वर्णन करते हुए बताया है कि दोनों जातियों ने पहिले 80,000 पदाति, 10,000 अश्वारोही और 700 रथ इकट्ठे किए एवं अपनी मित्रता को अपनी-अपनी 10,000 कुमारियों का विवाह दूसरी जाति के पुरुषों से करके दृढ़ किया, लेकिन बाद में उनमें सेनापतित्व के प्रश्न पर मतभेद हो गया और वे अपने-अपने निकटवर्ती शहरों में चले गए। एरियन के कथन से प्रतीत होता है कि सिकन्दर मल्लोई राज्य में उन्हें क्षुद्रकों से सहायता पाने के पूर्व ही पहुँच गया था।

(20) एबेस्टेनोई गणराज्य—एबेस्टेनोई (Abastanoi) जाति, मालवों के दक्षिण में लेकिन चिनाब और सिन्धु के संगम के ऊपर बसी हुई थी। यह वही जाति है जिसका संस्कृत और पालि साहित्य में अम्बष्ठ नाम से[1] शिवि, क्षुद्रक और मालवों के साथ एक महत्त्वपूर्ण जाति के रूप में उल्लेख है।[2] कर्टियस और डायोडोरस दोनों के अनुसार एबेस्टेनोई एक शक्तिशाली जाति थी और उसकी शासन व्यवस्था प्रजातान्त्रिक थी। उसकी सेना में 60,000 पदाति, 6,000 अश्वारोही और 500 रथ थे।

(21) एक्सथ्रोई गणराज्य—चिनाब नदी के रावी तथा सिन्धु के साथ संगमों के मध्य एक्सथ्रोई (Xathroi) और ओस्सादिओई (Ossadioi) जातियों का निवास था। मेक्रिण्डल ने एक्सथ्रोई की पहिचान मनु द्वारा उल्लिखित क्षतृ नामक एक संकर जाति

---

[1]सूर्यकान्त का विचार है कि अम्बष्ठ जाति का नाम था और आम्बष्ठ एक स्थान का। रायचौधुरी को यह सुझाव अनुमानाश्रित लगता है (पो०हि०ए०इं०, पृ० 255, टि० 5; पृ० 256, टि० 2 तथा 4)।

[2]ऐतरेय ब्रा० में एक आम्बष्ठ नरेश का, जिसका पुरोहित नारद था, उल्लेख है। 'महाभारत' में अम्बष्ठों की चर्चा शिवि, क्षुद्रक, मालव आदि के साथ की गई है।

से की है। जायसवाल का विचार है कि यह 'क्षत्रिय' नामक एक विशिष्ट राजनीतिक संघ था, जिसका उल्लेख 'अर्थशास्त्र' में है।

(22) ओस्सादियोई गणराज्य—इस जाति का उल्लेख एरियन ने किया है। कनिंघम का यह विचार कि ओस्सादियोई 'यौधेय' नाम का ही यूनानी रूप है, भाषा-विज्ञान के आधार पर अस्वीकृत किया जाता है। आजकल, वी०द० सेंत मार्तें का यह सुझाव सामान्यतः स्वीकृत किया जाता है कि ओस्सादियोई 'महाभारत' में उल्लिखित वसाति थे।

(23) सौद्रै गणराज्य—पंजाब की पाँच नदियों के दक्षिण में मिथनकोट प्रदेश, सिन्ध प्रान्त के उत्तरी भाग और भूतपूर्व बहावलपुर रियासत वाले प्रदेश में सौद्रै (Sodrai) और मस्सानोई (Massanoi) जातियाँ निवास करती थीं। सम्भवतः सिन्धु नदी इन दोनों की मध्यवर्ती सीमा थी। रायचौधुरी आदि कुछ विद्वानों के अनुसार सौद्रै जाति का उल्लेख पतञ्जलि के 'महाभाष्य' और 'महाभारत' में शूद्र नाम से सरस्वती के तट पर निवास करने वाली आभीर जाति के साथ हुआ है, लेकिन जायसवाल और अग्रवाल ने इसकी पहिचान पाणिनि के गणपाठ में चर्चित शौद्रायणों से की है।

(24) मस्सानोई गणराज्य—सौद्रै के पड़ोसी मस्सानोई (Massanoi) को कनिंघम ने टॉलेमी द्वारा उल्लिखित मौसनैंओई बताया है और अग्रवाल का विचार है कि ये दोनों पाणिनि के गणपाठ में उल्लिखित मसूरकर्ण होने चाहिए।[1]

(25) मूसिकेनोस् का राज्य—सिन्धु का सबसे महत्वपूर्ण राज्य मूसिकेनोस् (Mousikanos) का था। इसकी राजधानी की पहिचान सक्कर जिले के अलोर (प्राचीन रोरुक) स्थल से की गई है। लैसन का अनुकरण करते हुए बेवन ने मूसिकेनोस् नाम का संस्कृत रूप मूषिक माना है और जायसवाल ने मुचुकर्ण। मूसिकेनोस् के राज्य में कुछ उसी प्रकार के सामूहिक भोजन की प्रथा थी जैसी स्पार्टा में। यद्यपि उनके राज्य में सोने और चाँदी की खानें थीं, लेकिन वे इन धातुओं का उपयोग नहीं करते थे। जैसे स्पार्टा वाले हेलोटों का प्रयोग करते थे वैसे ही मूसिकेनोस् के राज्य में नवयुवकों का किया जाता था। वैद्यक के अतिरिक्त वे किसी विज्ञान की तरफ ध्यान नहीं देते थे तथा युद्ध आदि कलाओं में बहुत रुचि लेना वे अनुचित समझते थे। उनके मुसिकेनोस् राज्यों में ब्राह्मणों का बहुत प्रभाव था और उन्होंने यूनानियों के विरुद्ध विद्रोह भड़काया था।

(26) ओक्साइकेनोस् का राज्य—मूसिकेनोस् के दक्षिण में सिन्ध के पश्चिम में ओक्साइकेनोस् (Oxykanos) का राज्य था। कर्टियस ने ओक्साइकेनोस् की प्रजा को प्राइस्टी (Praesti) कहा है जिनके 'महाभारत' में उल्लिखित प्रौष्ठ होने की सम्भावना प्रायः मानी जाती है। एरियन ने इसके शासक को 'नोमार्क' कहा है।

---

[1]अग्रवाल, पूर्वो०।

(27) सेम्बोस् राज्य—सेम्बोस् राज्य (Sambos) मूसिकेनोस् राज्य के पड़ोस में था और एरियन के अनुसार दोनों में शत्रुता थी। यह एक 'पर्वतीय प्रदेश' था और इसकी राजधानी सिन्दिमन (Sindimana) थी जिसकी पहिचान कुछ विद्वान् शेहवान के साथ करते हैं, यद्यपि रायचौधुरी के अनुसार यह सुझाव बहुत सबल नहीं है। ब्राह्मण प्रभाव की दृष्टि से इसकी स्थिति मूसिकेनोस् राज्य से तुलनीय है।

(28-29) ब्राह्मण देश और एम्बिगेरुस् का राज्य—डायोडोरस ने सेम्बोस् के समीप स्थित एक ब्राह्मण राज्य का उल्लेख किया है। पाणिनि ने भी 'ब्राह्मणक' का उल्लेख किया है जिसे पतञ्जलि ने स्पष्टरूपेण एक जनपद कहा है (ब्राह्मणको नाम जनपदः)। 'काशिका' में इसे आयुधजीवी ब्राह्मणों का देश कहा गया है (यत्रायुध-जीविनो ब्राह्मणाः सन्ति)।

(30) पाटलीन (Patalene)—यह राज्य सिन्धु के मुहाने वाले प्रदेश में था। यह सम्भवतः ब्राह्मणाबाद स्थल के समीप स्थित था।[1] डायोडोरस के अनुसार इसका संविधान स्पार्टा के संविधान से मिलता-जुलता था। इसकी सेना का नेतृत्व दो परिवारों के दो राजा करते थे और वृद्धजनों की एक सभा, जिसे सर्वोच्च सत्ता प्राप्त थी, राज्य का संचालन करती थी। सिकन्दर के काल में इसके एक राजा को मोयरज़ (Moeres) कहा गया है यह नाम 'मोरिय' या 'मौर्य' नाम का स्मरण दिलाता है।

(31) आरिइटाई राज्य—यह राज्य सिन्धु प्रान्त के पश्चिम में था। इसकी जाति को यूनानियों ने भारतीय बताया है। यूनानियों के अनुसार टामेरोस (हिंगाल) नदी पार लेने पर सिकन्दर और रासमलान लाँघने पर नियर्कस भारत की सीमा से निकले थे।[2] अग्रवाल ने आरिइटाई जाति की पहिचान पाणिनि द्वारा उल्लिखित वार्तेयों से की है।[3]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जिस समय सिकन्दर ने पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण किया, यह प्रदेश कम से कम तीस से अधिक लघु-राज्यों में विभाजित था। इन राज्यों के विषय में दो तथ्य अत्यन्त रोचक हैं। एक, इनमें कुछ की शासन व्यवस्था स्पार्टा की शासन व्यवस्था से स्थूल सादृश्य रखती थी जैसे मूसिकेनोस् और पाटलीन की। सम्भवतः समान परिस्थितियाँ इस सादृश्य का कारण थीं। दूसरे, इनमें सिन्ध के कुछ राज्यों की राजनीति पर ब्राह्मणों का गम्भीर प्रभाव था और एक राज्य तो था ही ब्राह्मणों का। तीसरे, इन राज्यों में कुछ गणाधीन थे और कुछ राजाधीन। ये अधिकांशतः परस्पर संघर्षरत रहते थे यद्यपि इनमें किसी की भी शक्ति इतनी नहीं थी कि वह सबको जीत कर एक साम्राज्य स्थापित कर पाता।

---

[1]जायसवाल इसे आधुनिक हैदराबाद (सिन्ध) मानते हैं।

[2]दे०, विद्यालंकार, जयचन्द्र, भारतीय इतिहास की रूपरेखा, 2, पृ० 624, टि०।

[3]अग्रवाल, पाणिनि, पृ० 458।

ऐसी स्थिति में यह सोचना कि ये मिलकर यूनानी आक्रमणकारी का सामना कर सकते थे, एक कल्पना मात्र है। ये राज्य ईरानी प्रभाव के ह्रास काल में अस्तित्व में आये होंगे और इनमें अधिकांश सिकन्दर के आक्रमण के कुछ पहिले तक साखामनीषियों के प्रभुत्व को कम से कम नाम के लिए मानते आए थे। स्ट्रेबो द्वारा सिकन्दर के आक्रमण के समय ईरानी आधिपत्य के सिन्ध तक होने की चर्चा, मालव क्षुद्रकों द्वारा एरेकोशियनों को कर देने का उल्लेख, इन राज्यों के नरेशों द्वारा प्रायः हाइपार्क और नोमार्क जैसी पराधीनतासूचक उपाधियाँ धारण करना तथा तृतीय दारयवहुष को सिकन्दर के विरुद्ध भारतीय सहायता मिलना इसका प्रमाण हैं।

सिकन्दर की भारत में सिन्धु तक विजय

साखामनीषी साम्राज्य जिस प्रकार पूर्व में भारत तक विस्तृत था उसी प्रकार पश्चिम में यूनानी नगर-राज्यों को छूता था। कुरुष महान्, प्रथम दारयवहुष और क्षयार्षा ने यूनानी नगर-राज्यों को जीतने का प्रयास किया था परन्तु असफल रहे थे। चौथी शती ई०पू० के मध्य स्थिति बदली। तब तक साखामनीषी साम्राज्य की शक्ति बहुत घट गई लेकिन यूनान के उत्तर में स्थित अर्ध-यूनानी राज्य मकदूनिया, जो अब पूर्णतः यूनानी बन गया था, एक सबल राज्य के रूप में उभड़ा। इसके स्वामी द्वितीय फिलिप (359–336 ई०पू०) ने सम्पूर्ण यूनान को अपने अधीन कर लिया और 338 ई०पू० में ईरान के विरुद्ध एक यूनानी संघ की स्थापना की।[1] उसके बाद उसका पुत्र तृतीय अलक्ज़ान्दर, जो भारतीय इतिहास में सिकन्दर नाम से विख्यात है, बीस वर्ष की आयु में मकदूनिया का राजा और तदुपरान्त यूनानी संघ का नेता बना। उसने 334 ई०पू० में हेलेस्पोण्ट पार करके एशिया माइनर में प्रवेश किया और एकाधिक युद्धों में तृतीय दारयवहुष को परास्त करके 330 ई०पू० की शीत ऋतु तक सीस्तान पहुँच गया और बसन्त ऋतु तक एरेकोशिया में। 329 ई०पू० की शीत ऋतु तक वह काबुल की घाटी के पश्चिमी छोर में प्रविष्ट हो चुका था।[2] मई 328 और मई 327 ई०पू० के बीच में उसने हिन्दुकुश पार करके बैक्ट्रिया और सीर दरिया (=Jaxartes नाम की नदी) तक सुग्ध (=सोग्डियाना) पर विजय प्राप्त की। इसी समय उसने बैक्ट्रिया के ओक्सियार्टिज़ की पुत्री रुख़्साना से विवाह किया। 327 ई० पू० के मई मास के प्रारम्भ में उसने कुशान अथवा खावक दर्रे के मार्ग से हिन्दुकुश पर्वत को पार किया। यहीं से उसकी भारत पर चढ़ाई शुरू होती है।

प्लुटार्क के अनुसार उस समय उसके पास 1,20,000 पदाति और 15,000 अश्वारोही थे।[3] स्मिथ ने इस सेना में यूरोपियनों की संख्या करीब पचास-साठ

---

[1]ईरान-यूनान के संघर्ष एवं मकदूनिया के अभ्युत्थान के लिए दे०, ब्यूरी, हिस्ट्री ऑव ग्रीस, अध्याय 6–7, 16; गोयल, श्रीराम, विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ, पृ० 432 अ०।

[2]हमने सिकन्दर के अभियान की स्मिथ द्वारा प्रदत्त तिथियाँ दी हैं।

[3]मजूमदार, क्ला० एका०, पृ० 203।

हजार मानी है।[1] इस सेना का एक सबल पक्ष उसके योग्य सेनापति—हेफाइस्शन, टॉलेमी, नियर्कस, लियोनाट्स् आदि थे जो उसके प्रति पूर्णतः निष्ठावान् थे। लेकिन सिकन्दर की सेना की एक बहुत बड़ी दुर्बलता भी थी—इसके सैनिक अनेक जातियों के थे और अनेक भाषायें बोलते थे। इनमें यूरोप से आए भारी शस्त्रधारी, मकदूनी पदाति और अश्वारोही, यूनानी नगर-राज्यों के वेतनभोगी सैनिक और बल्कान तथा थ्रेस के पहाड़ी योद्धा भी थे तथा अनेक एशियायी जन भी जैसे ईरान के अश्वारोही, हिन्दुकुश के पर्वतीय प्रदेश के लड़ाके, घोड़ों की पीठ से ही अचूक निशाना लगाने वाले मध्य एशियायी धनुर्धर, फिनीशिया के कुशल नाविक और अपनी प्राचीन सभ्यता में गर्व करने वाले मिस्त्री योद्धा। सिकन्दर को इस सेना में अनुशासन बनाये रखना अवश्य ही दुष्कर कार्य लगा होगा।

अपने पृष्ठप्रदेश और संचार-व्यवस्था को सुरक्षित करने के उपरान्त सिकन्दर निकाइया की ओर गया। वहाँ से उसने तक्षशिला और अन्य प्रदेशों के राजाओं के पास दूतों द्वारा सन्देश भेजा कि अगर वे उसके आक्रमण से बचना चाहते हैं तो उसका प्रभुत्व मान लें और सन्धि की शर्तें तय करने के लिए उससे आकर मिलें। तक्षशिला-नरेश ने उसके पास उस समय ही एक दूतमण्डल भेजकर, जब वह सोग्डियाना (बुखारा प्रदेश) में था, उसका वशवर्ती होना स्वीकार कर लिया था और अपने शक्तिशाली पड़ोसी पोरस के विरुद्ध उससे सहायता माँगी थी। इतिहास में यह पहिला उदाहरण है जब किसी भारतीय राजा ने अपने ही देशवासियों के विरुद्ध विदेशियों की सहायता ली। शशिगुप्त (सिसिकोट्टोस) नाम के भारतीय नरेश ने भी, जो सम्भवतः हिन्दुकुश प्रदेश के किसी लघु पर्वतीय राज्य का स्वामी था और सिकन्दर के विरुद्ध बैक्ट्रिया की सहायता करने गया था, बैक्ट्रिया की पराजय के उपरान्त सिकन्दर का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था।[2] निकाइया में स्वयं तक्षशिला-नरेश सिकन्दर से बहुत-सी बहुमूल्य भेंटों और 25 हाथियों के साथ आकर मिला।

निकाइया में अथवा वहाँ से काबुल नदी की ओर कुछ दूर बढ़ जाने पर सिकन्दर ने अपनी सेना को दो भागों में बाँट दिया—एक भाग उसके अपने नेतृत्व में कुनार अथवा चित्राल और स्वात नदियों की उपत्यकाओं की विजय के लिए गया और दूसरा मकदूनी सेनापति हेफाइस्शन तथा पडिक्कस के नेतृत्व में काबुल नदी के दक्षिण तट के सहारे-सहारे। हेफाइस्शन का मार्ग सरलतर था। वह सम्भवतः खैबर दर्रे के मार्ग से सीधे पूर्व की ओर बढ़ा। मार्ग में केवल एस्टेकेनोई जाति के राजा हस्ती अथवा अष्टक (Astes) ने, जिसकी राजधानी पुष्कलावती थी, उसका गम्भीर प्रतिरोध किया परन्तु तीस दिन के घेरे के उपरान्त पुष्कलावती का पतन हो गया

---

[1]डेल्ब्रुक तथा बेवन ने इस सेना की कुल संख्या 25,000-30,000 आँकी है और आँस्पाख़ ने 85,000 (दे०, कै०हि०इं०, पृ० 314, टि० 2)।

[2]इस शशिगुप्त की पहिचान चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ करना, जैसी कि कुछ लेखकों ने की है, गलत है।

और स्वयं हस्ती मृत्यु को प्राप्त हुआ (अगस्त, 327)। सिकन्दर की सेना का दूसरा भाग स्वयं उसके नेतृत्व में काबुल नदी के उत्तर में कुनार, पंजकोर और स्वात की घाटियों को विजय के लिए गया। उसका सामना सर्वप्रथम कुनार की उपत्यका में बसे एस्पेसियनों अर्थात् आश्वायनों ने किया। उनके साथ स्थल पर हुए संघर्ष में सिकन्दर के कन्धे में घाव लग गया जिसके परिणामस्वरूप विजय पाने के बाद उस नगर के सब निवासियों को, सिवाए उनके जो भाग गये थे, मार डाला गया। एस्पेसियनों से हुए दूसरे महत्त्वपूर्ण युद्ध में 40,000 से ज्यादा एस्पेसियन पकड़े गये और विशाल संख्या में मारे गये। उनके 2 लाख 30 हजार पशु भी सिकन्दर को मिले। इनमें से चुने हुए पशुओं को उसने मकदूनिया भेज दिया। यह तथ्य उसकी संचार-व्यवस्था की उत्तमता का प्रमाण है।

कर्टियस के अनुसार एस्पेसियनों पर विजय पाने के उपरान्त सिकन्दर ने न्यसा राज्य पर आक्रमण किया जबकि एरियन आदि कुछ क्लासिकल लेखकों ने न्यसा-विजय को एस्सेकेनोई के जीते जाने के उपरान्त रखा है। न्यसा वालों ने यूनानियों से अपना रक्त सम्बन्ध बताते हुए सिकन्दर की प्रभुता मान ली और अपने कानूनों और शासन-व्यवस्था को यथावत् रहने देने की प्रार्थना की। सिकन्दर ने उनकी प्रार्थना को सहर्ष स्वीकार कर लिया, मेरोस् की यात्रा करके और वहाँ आनन्द मनाकर अपने थके हुए सैनिकों को प्रसन्न किया, न्यसा से 300 अश्वारोही प्राप्त किए तथा न्यसा को काबुल की निचली उपत्यका के साथ मिलाकर एक नया प्रान्त बनाया जिसका क्षत्रप निकानोर को नियुक्त किया गया।

न्यसा राज्य के बाद गौरी (पंजकोर) नदी की घाटी में स्थित गुरियन राज को जीत कर सिकन्दर एस्सेकेनोई जाति के मस्सग नगर पहुँचा जो 'उस क्षेत्र का विशालतम नगर' था। नगर की रक्षा करने वालों में 7,000 वेतनभोगी सैनिक भी थे। डायोडोरस और प्लुटार्क के अनुसार सिकन्दर ने उनके साथ पृथक्रूपेण सन्धि की थी लेकिन बाद में उन्हें धोखे से मार डाला जो उसकी 'सैनिक कीर्त्ति पर एक भद्दा धब्बा है'।[1] स्वयं मस्सग-नरेश युद्ध में मारा गया और उसकी माता, पुत्री और रानी बन्दी बना ली गईं। कर्टियस के अनुसार विधवा रानी क्लियोफिस (Cleophis=कृपा ?) और उसके शिशु-पुत्र के साथ सिकन्दर ने रानी के 'रूप के कारण' कृपा दिखाई और बाद में उसे जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम अलक्ज़ान्दर रखा गया 'चाहे उसका पिता कोई भी क्यों न रहा हो'।[2] जस्टिन के अनुसार भारतीय जन इस रानी को 'वेश्या रानी' कहते थे। बाद में उसका पुत्र, 'जिसे वह अलक्ज़ान्दर कहती थी', 'भारतीयों का राजा' बना।

मस्सग नगर को जीतने के बाद सिकन्दर ने कोइनोस् को ओरा अथवा नोरा

[1]अ०हि०इं० (पृ० 59) में स्मिथ ने इस हत्याकाण्ड को उचित बताया है।

[2]दे०, अ०हि०इं०, पृ० 58, टि० 1; कैं०हि०इं०, पृ० 316, टि० 6।

(Ora या Nora) नगर जीतने भेजा। अभिसार-नरेश ने ओरा को सहायता देने का प्रयास किया परन्तु सिकन्दर की जागरूकता के कारण इसके पूर्व ही नगर का पतन हो गया।

जिस समय सिकन्दर एस्सेकेनोस् राज्य को जीतने में लगा था, हेफाइस्शन और पर्डिक्कस ने काबुल नदी के सहारे-सहारे सिन्धु तक का प्रदेश जीत लिया। अब सिकन्दर ने स्वयं पुष्कलावती की यात्रा की और वहाँ फिलिप के नेतृत्व में यूनानी सैनिकों की चौकी स्थापित की। उसका अगला लक्ष्य सिन्धु नदी के तट पर पहुँचना था, परन्तु इसके पूर्व एस्सेकेनोई के प्रसिद्ध दुर्ग ओर्नोस को जीतना भी आवश्यक था। ओर्नोस को उस समय एक अजेय दुर्ग माना जाता था और यूनानियों के अनुसार स्वयं हेराक्लिज़ भी उसे नहीं जीत पाया था। इस पर विजय (दिसम्बर, 327) प्राप्त करने के बाद सिकन्दर ने वहाँ एक सैन्यदल नियुक्त किया जिसका नेतृत्व शशिगुप्त को सौंपा गया। इसके बाद सिकन्दर अपनी सेना सहित उस स्थल पर पहुँचा (जनवरी, 326) जहाँ उसे हेफाइस्शन के साथ पुल द्वारा सिन्धु नदी पार करनी थी। पहले इस स्थल की पहिचान अटक से जहाँ सिन्धु की धारा कम चौड़ी है, की जाती थी परन्तु एम० फूशे के अन्वेषण के बाद यह सिद्ध-सा माना जाता है कि यह पुल ओहिन्द स्थल के पास जो अटक से 16 मील उत्तर की ओर है, बनाया गया होगा। यहाँ सिकन्दर ने देवताओं को बलि और सेना को एक माह का आराम दिया तथा उसके मनोरंजन के लिए खेलकूद प्रतियोगितायें आयोजित कीं। एरियन के अनुसार इस स्थल पर ही उसके पास तक्षशिला से दूतमण्डल 700 अश्वारोहियों, 30 हाथियों, 3,000 वृषभों, 10,000 भेड़ों तथा 200 टेलेण्ट चाँदी की भेंट के साथ आकर मिला।[1] फरवरी या मार्च 326 ई० पू० में एक दिन 'शुभ मुहूर्त' में सिकन्दर ने सिन्धु नदी पार की।

सिन्धु से व्यास तक विजय

सिन्धु नदी पार करके सिकन्दर तक्षशिला गया। वहाँ आम्भी ने उसका राजकीय सत्कार किया, उसकी सेना के लिए भोजन की व्यवस्था की और उससे अपना अभिषेक कराया। कर्टियस के अनुसार उसने सिकन्दर को 80 टेलेण्ट रजत सिक्के और सिकन्दर और उसके साथियों के लिए सुवर्ण-मुकुट भेंट किए, लेकिन सिकन्दर ने इस भेंट को न केवल लौटा दिया वरन् आम्भी को अपनी सम्पत्ति में से 1000 टेलेण्ट रजत तथा रजत और सुवर्ण के पात्र एवं बहुमूल्य वस्त्रादि भेंट में दिए। उसकी इस उदारता से उसके कुछ मकदूनी सेनापति अवश्य ही असन्तुष्ट हुए परन्तु इससे आम्भी की श्रद्धा उसमें और गहरी हो गई और यूनानियों को तक्षशिला से

[1]एरियन के अनुसार यह दूत-मण्डल टेक्सिलिज ने भेजा था (क्ला० एका०, पृ० 23)। डायोडोरस के अनुसार राज्याभिषेक के बाद आम्भी ने अपना नाम टेक्सिलिज रख लिया था (वही, पृ० 166)।

5,000 सैनिक भी मिल गये ।[1]

तक्षशिला में सिकन्दर ने एक दरबार आयोजित किया। उसी समय उससे अभिसार-नरेश का दूत-मण्डल, जिसका अध्यक्ष अभिसार-नरेश का भाई था, आकर मिला और उसे विश्वास दिलाया कि उसका स्वामी सिकन्दर का प्रभुत्व मानने के लिए प्रस्तुत है। लेकिन डायोडोरस के अनुसार अभिसार-नरेश अन्दर ही अन्दर पुरु (=पोरस) की सहायता करने का इरादा रखता था। स्वयं पुरु ने सिकन्दर के सन्देश के उत्तर में कहलाया कि वह सिकन्दर से मिलने अवश्य आएगा परन्तु युद्ध के मैदान में अपनी सेना के साथ। इस उत्तर के बाद सिकन्दर के लिए पोरस का सामना करने की तैयारी करना आवश्यक हो गया। उसने कोइनोस को सिन्धु पर बने पुल को तोड़कर झेलम तक लाने के लिए नियुक्त किया, मचातुश के पुत्र फिलिप को तक्षशिला में यूनानी सैन्यदल का अध्यक्ष और रेजिडेण्ट नियुक्त किया और स्वयं अपनी सेना के साथ दक्षिण-पूर्व दिशा में झेलम की ओर बढ़ा। मार्ग में उसने पोरस के भतीजे स्पिटासिज़ को परास्त किया जो भाग कर पोरस के पास चला गया।

पुरु के साथ युद्ध

लगभग 100 मील या इससे कुछ ज्यादा लम्बा सफर करने के बाद सिकन्दर झेलम के तट पर पहुँचा (मई, 326) जिसके दूसरी तरफ पोरस ने अपनी सेना एकत्र की हुई थी। जिस स्थल पर सिकन्दर ने अपना पड़ाव डाला उसको एलफिन्स्टन और कनिंघम आदि कुछ विद्वानों ने जलालपुर के समीप माना है और एबट और स्मिथ आदि कुछ लेखकों ने झेलम नामक स्थल के समीप।[2] इसी प्रकार इस युद्ध की सही तिथि के विषय में भी कुछ मतभेद है जिसका कारण प्राचीन लेखकों द्वारा प्रदत्त सूचनाओं का अंशतः अस्पष्ट और अंशतः परस्पर विरुद्ध होना है। एक मत के अनुसार यह युद्ध 326 ई०पू० के जून माह के अन्त या जुलाई के प्रारम्भ में लड़ा गया था और दूसरे मत के अनुसार मई के मध्य।[3]

झेलम के तट पर पहुँचते ही सिकन्दर को यह स्पष्ट हो गया कि पोरस की सजगता और सबलता के कारण वह नदी को आसानी से पार नहीं कर पाएगा। लेकिन तूफान तथा वर्षा वाली एक रात में अपने पड़ाव से 16–17 मील उत्तर की ओर एक स्थल पर, जो नदी में एक मोड़ आ जाने से पोरस के शिविर से दिखाई नहीं देता था और जहाँ नदी के बीच एक लघु टापू था, नदी को पार कर लिया।

---

[1]तक्षशिला में सिकन्दर ने कुछ भारतीय साधुओं से मिलने का प्रयास किया था और उनमें एक को, जिसका नाम कलानोस (=कल्याण) था, अपने साथ ले गया था।

[2]विवेचन के लिए दे०, स्मिथ, अ०हि०इं०, पृ० 81 अ०।

[3]दे०, अ०हि०इं०, पृ० 89 अ०।

इसकी सूचना मिलते ही[1] पोरस ने, टॉलेमी द्वारा प्रदत्त सूचनानुसार, अपने पुत्र को 2,000 अश्वारोहियों और 120 रथों के साथ[2] यूनानियों को रोकने के लिए भेजा लेकिन यह लघु सेना सिकन्दर का सामना नहीं कर सकी और 400 सैनिक सहित राजकुमार युद्ध में काम आया। एरियन के कथनानुसार इस युद्ध में सिकन्दर घायल हो गया और उसका घोड़ा बुकाफेलोस मारा गया।

इसके बाद पोरस और सिकन्दर का खुले मैदान में (स्मिथ के अनुसार करीं नामक स्थल पर) युद्ध हुआ। एरियन के अनुसार उस समय पोरस की सेना में 30,000 पदाति, 4,000 अश्वारोही, 300 रथ और 200 हाथी थे। यह सेना उस लघु सेना के अतिरिक्त थी जो उसने सिकन्दर को रोकने के लिए भेजी थी। एक लघु सैन्य दल उसने अपने मूल पड़ाव में भी छोड़ा था। अपनी सेना में उसने हाथियों को आगे खड़ा किया। उनकी बगल में और पीछे लम्बे-लम्बे धनुष धारण करने वाले पदाति थे जिनकी रक्षा के लिए बगल में रथ और अश्वारोही दल आगे-पीछे खड़े किए गये थे। यह सैन्य-विन्यास उस व्यूह-रचना से मेल खाता है जिसे कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में 'विजय' नाम दिया है (हस्तिनामुरस्यं रथानां कक्षावश्वानां पक्षाविति मध्यभेदी)। सिकन्दर की सूचनानुसार अभिसार-नरेश पुरु की सहायता के लिए शीघ्र ही पहुँचने वाला था परन्तु तब तक आ नहीं पाया था।[3] सिकन्दर की आक्रमक सेना, जिसमें अनेक जातियों के और अनेक भाषाएँ बोलने वाले सैनिक थे, कितनी बड़ी थी इस विषय में मतभेद है। जिस समय सिकन्दर भारत आया था उसकी सेना में प्लुटार्क के अनुसार, 120,000 पदाति और 15,000 अश्वारोही थे। 5,000 सैनिक उसे आम्भी से मिले थे—कुछ अन्य फुटकर दलों को छोड़कर जो उसे न्यसा आदि नगरों से प्राप्त हुए। एरियन के अनुसार जिस समय सिकन्दर ने झेलम नदी पार की उसके पास 5,000 अश्वारोही और 6,000 पैदल थे। 17,000 पदाति और 1,800 अश्वारोही उसने क्रेटेरस के पास मूल पड़ाव में छोड़े थे तथा 30,000 पदाति और 2,000 अश्वारोही मेलियेगर के नेतृत्व में शिविर और उस स्थल के मध्य जहाँ उसने झेलम नदी पार की। इस प्रकार उसके पास कुल मिलाकर 53,000 पदाति और 8,800 अश्वारोही थे।[4] लेकिन टार्न का अनुमान है कि इस सेना में लड़ाकू सैनिक 35,000 से अधिक नहीं थे—शेष व्यक्ति व्यापारी, वैज्ञानिक, यूनानी

[1]कर्टियस के अनुसार यह सूचना मिलने पर पोरस को पहिले यह भ्रम हो गया था कि यह उसके मित्र अभिसार-नरेश की सेना है।

[2]कर्टियस ने इस सेना में 100 रथ और 4,000 पदाति बताए हैं और इसका सेनापति पोरस के भाई हेजिज़ (Hages) को।

[3]अलमाकिन के 'विश्व-इतिहास' के अनुसार पोरस ने पड़ोसी राजाओं से पत्र लिखकर सहायता माँगी थी और वे उसकी सहायतार्थ सेना लेकर आए थे (प्रकाश, स्टडीज़, पृ० 46)। लेकिन इस अनुश्रुति में विश्वास नहीं किया जाता।

[4]दे०, कैं०हि०इं०, पृ० 325, टि० 2।

सैनिकों की एशियायी पत्नियाँ और बच्चे आदि थे। जो भी हो, इस विषय में सब साक्ष्य सहमत हैं कि सिकन्दर की अश्वारोही सेना पुरु की अश्वारोही सेना से कहीं अधिक थी।

इस युद्ध में स्थिति प्रारम्भ से ही पोरस के प्रतिकूल रही। क्योंकि पिछली रात में वर्षा हो जाने के कारण मैदान में फिसलन हो गई थी इसलिए पोरस के रथ कीचड़ में धँसने लगे और उसके धनुर्धरों को अपने लम्बे धनुष जमीन पर टिकाना मुश्किल हो गया। सिकन्दर ने युद्ध का प्रारम्भ मध्य एशिया के एक सहस्र धनुर्धर अश्वारोहियों और चुने हुए मकदूनी घुड़सवारों की सहायता से पोरस के वाम पक्ष पर आक्रमण करके किया।[1] इससे पोरस की सेना में जो अव्यवस्था उत्पन्न हुई उसे बढ़ाने के लिए सिकन्दर बाकी सेना लेकर टूट पड़ा। इस गड़बड़ी को दूर करने के लिए पोरस ने अपने दाहिने पक्ष के अश्वारोहियों को बुलाया परन्तु सिकन्दर ने इसका पहले से ही अनुमान करके उनको रोकने के लिए कोइनोस को नियुक्त कर रखा था। भारतीय सैनिक इस दोहरे मोर्चे को न सम्भाल सके और हाथियों की ओट में छिपने की कोशिश करने लगे। इसके बाद पोरस ने हाथियों को आगे बढ़ाया जिससे कुछ समय के लिए यूनानी सेना को कठिनाई हुई परन्तु शीघ्र ही स्थिति पर काबू पा लिया गया और सिकन्दर के आदेश से हाथियों को घेर कर घायल किया जाने लगा और उनके महावतों को मारने की कोशिश की गई। इस पर हाथी बिगड़ खड़े हुए और शत्रु तथा मित्र सब पर समान रूप से हमला करने लगे। क्योंकि यूनानी अपेक्षया कुछ खुले मैदान में थे इसलिए इससे उनकी हानि कम हुई, भारतीयों की ज्यादा। सिकन्दर ने शत्रु को हतोत्साह और स्थिति को अपने पक्ष में देख कर पूर्ण शक्ति से हमला बोल दिया जिसके परिणामस्वरूप भारतीय सेना में भगदड़ मच गई। इसी समय क्रेटेरस ताजी सेना के साथ नदी पार करके आ गया और भारतीयों का भारी संख्या में संहार करके पूर्ण विजय प्राप्त कर ली गई (जुलाई, 326 का प्रारम्भ)।[2]

इस युद्ध में भारतीय सैनिक भारी संख्या में हताहत हुए, इसमें सन्देह नहीं। पोरस के दो पुत्र, स्पिटासिज़ (जो उसका भतीजा कहा गया है) और सब भारतीय सेनापति मृत्यु को प्राप्त हुए। उनके हाथी या तो मारे गए अथवा पकड़ लिए गए। लेकिन एरियन का यह कथन कि मृत भारतीय पदाति सैनिकों की संख्या 20,000 से और अश्वारोहियों की 3,000 से कुछ ही कम थी जबकि सिकन्दर के केवल 80 पदाति और कुल मिलाकर 230 अश्वारोही मारे गए, स्पष्टतः अतिरंजित, यूनानियों

---

[1]जस्टिन के अनुसार आक्रमण पहले पोरस ने किया। परन्तु अन्य सभी क्लासिकल लेखकों ने सिकन्दर को यह श्रेय दिया है।

[2]झेलम के युद्ध के विस्तृत अध्ययन के लिये दे०, फुलर, जे० एफ० सी०, दि जेनेरलशिप ऑव अलेक्ज़ेण्डर दि ग्रेट, देहरादून, 1977, पृ० 180–99।

के प्रति पक्षपातपूर्ण और यूरोपियनों के युद्धकौशल को श्रेष्ठतर सिद्ध करने के लिए किया गया झूठा प्रचार है।[1] झेलम के युद्ध के बाद यूनानी सैनिकों का भारत में युद्ध करने से अनिच्छा प्रकट करना पोरस की सेना द्वारा दिखाई गई बहादुरी का संकेत है। स्वयं पोरस, जो हाथी पर सवार था, दारयवहुष के समान रणक्षेत्र छोड़कर नहीं भागा वरन् मनु के 'संग्रामेष्वनिवर्तितत्वं' आदर्श (मनुस्मृति, 7.88) के अनुसार अन्तिम समय तक डटा रहा। वह वापिस लौटने को तभी उद्यत हुआ जब उसकी पराजय निश्चित हो गई और वह स्वयं कन्धे पर लगे गम्भीर घाव (अथवा नौ घावों) के कारण अतिशय दुर्बल हो गया। सिकन्दर उसकी वीरता से बहुत प्रभावित हुआ। उसने आम्भी को उसके पास भेजा लेकिन अपने शत्रु को देखते ही पोरस ने अपनी दुर्बल अवस्था में भी वार किया और आम्भी ने भाग कर अपनी जान बचाई। इसके बाद सिकन्दर ने पोरस के 'पुराने मित्र' मेरोस् (Meroes) को भेजा। मेरोस् के समझाने पर पोरस सिकन्दर के पास आया और एक दुभाषिए की सहायता से यह पूछे जाने पर कि उसके साथ कैसा बर्ताव किया जाए उसने स्वाभिमान के साथ उत्तर दिया : "जैसा राजा करते हैं।"[2]

जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि पोरस की पराजय गौरवपूर्ण पराजय थी। निश्चित रूप से वह अपने समय का एक अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी, शक्तिशाली परन्तु स्वाभिमानी नरेश था। सिकन्दर के भारतीय रंगमञ्च पर अवतीर्ण होने के कुछ ही पहिले उसने अपने आक्रमणों से ग्लौगेनीकाई तथा मालव-क्षुद्रकों को आतंकित किया था। तक्षशिला-नरेश तथा कनीयस् पुरु उसके प्रताप से शंकित रहते थे तथा अभिसार-नरेश उसके प्रति मैत्री को व्यावहारिक रूप देते समय संकोच करता था। इस प्रकार चारों ओर से शत्रुओं और प्रतिस्पर्धियों से घिरा होने के बावजूद उसने अपने स्वाभिमानपूर्ण अस्तित्व को बनाए रखा और साथ ही विस्तारवादी नीति का भी अनुसरण किया। सिकन्दर ने भी पोरस को न केवल उसका राज्य लौटा दिया वरन् उसमें उसकी पूर्वी सीमा पर स्थित बहुत से प्रदेश भी मिला दिए। इस प्रकार पोरस ने अपने प्रतिद्वन्द्वी आम्भी के साथ सिकन्दर के विश्व-साम्राज्य में स्थान पाया।[3] शायद सिकन्दर का अनुमान था कि ये दोनों एक दूसरे की महत्त्वाकांक्षा पर नियन्त्रण सिद्ध होंगे। सिकन्दर ने पोरस के ऊपर प्राप्त विजय की स्मृति में सिक्के भी ढाले प्रतीत होते हैं जिनमें पुरोभाग पर उसे घोड़े पर आरूढ़ होकर हाथी पर सवार एक योद्धा

[1]डायोडोरस के अनुसार सिकन्दर के 280 अश्वारोही तथा 700 पदाति मारे गये थे।

[2]सूडो-केलिस्थेनिज के इथियोपियायी रूपान्तर तथा फिरदौसी के 'शाहनामा' के अनुसार पोरस की सेना ने सिकन्दर की सेना को खदेड़ दिया था। इस पर सिकन्दर ने युद्ध-विराम और पोरस के साथ द्वन्द्व-युद्ध की याचना की जिसमें पोरस मारा गया (प्रकाश, पूर्वो०, पृ० 60)।

[3]रोमक सीनेटर सिसेरो और सेनेका ने भी पोरस के साथ सिकन्दर के व्यवहार की प्रशंसा की थी।

(सम्भवतः पोरस) का पीछा करते दिखाया गया है और उल्टी तरफ सिकन्दर को ही ईरानी शिरस्त्राण और वज्र धारण किए हुए। इन सिक्कों के दो नमूने उपलब्ध हैं। उसने इस विजय की स्मृति में दो नगर भी बसाए थे। युद्धक्षेत्र वाले स्थल पर निकाइया (अर्थात् विजयनगर) नाम का नगर और उस स्थल पर जहाँ उसने झेलम नदी पार की थी बुकेफाला नगर (आधुनिक झेलम नगर) क्योंकि उस स्थल पर उसके प्रिय अश्व बुकेफेलोस् की मृत्यु हो गई थी।

झेलम के युद्ध के बाद ग्लौगेनीकाई जाति पर आक्रमण किया गया और उसके आत्म-समर्पण कर देने पर उसके राज्य को पोरस के राज्य में मिला दिया गया। यहाँ से तक्षशिला-नरेश अपने राज्य को लौट गया। इसी समय अभिसार-नरेश ने, जो पोरस की मदद के लिए नहीं आ पाया था, अपने भाई को 40 हाथियों और धनादि की भेंट के साथ भेजा और अपने आपको और अपने राज्य को सिकन्दर को समर्पित करने की घोषणा की। कनीयस् पोरस के, जो वृद्ध पोरस का भतीजा परन्तु शत्रु था, पास से भी एक दूत-मण्डल सिकन्दर से आकर मिला और यूनान-नरेश से अनुग्रह की याचना की। कुछ अन्य लघु जातियों ने भी ऐसा ही किया। लगभग इसी समय उसको ईरान से थ्रेसवासी सैनिकों के एक ताजे सैन्यदल के आने से भी बहुत राहत मिली।

सिकन्दर ने जिस अगली नदी को पार किया वह चिनाब थी। तब वह चिनाब से लेकर रावी तक विस्तृत प्रदेश को जीतने में सफल हो गया। इसे भी उसने ज्येष्ठ पोरस के राज्य में मिला दिया। लेकिन तभी उसे सूचना मिली कि उसके द्वारा ज्येष्ठ पुरु के साथ किए गए सम्मानपूर्ण व्यवहार से असन्तुष्ट होकर कनीयस् पुरु अपने कुछ साथियों सहित गेण्डेरेडाई (गंगा की घाटी) की ओर चला गया है (डायोडोरस)। सिकन्दर ने कनीयस् पुरु के प्रदेश भी वृद्ध पोरस के राज्य में मिला दिये।

रावी पार करने के बाद दो दिन के अन्दर ही एड्रेस्टाई (अरिष्ट जाति ?) के नगर प्रिम्प्रम ने सिकन्दर के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया। लेकिन कथइयोई (=कठ) जाति ने, जिसने सिकन्दर के आक्रमण के कुछ ही पहिले वृद्ध पोरस और अभिसार-नरेश के संयुक्त आक्रमण को विफल कर दिया था, अपनी दो लघु सहायक जातियों के साथ[1] अपने नगर संगल के बाहर रथों की तिहरी पंक्ति का शकटव्यूह बनाकर डट कर मुकाबला किया और फिर नगर में शरण ली। भयंकर युद्ध के उपरान्त नगर का पतन हुआ। इस युद्ध में कठ तो भारी संख्या में मारे (17,000) या पकड़े (70,000) ही गए, आक्रमणकारी सैनिक भी अत्यधिक संख्या में हताहत हुए (1300)। संगल नगर को पूर्णतः ध्वस्त कर दिया गया (अगस्त, 326)।

कठ राज्य को पोरस के राज्य में मिला कर सिकन्दर ब्यास नदी की तरफ बढ़ा।

---

[1]मतान्तर के लिए दे०, कैं०हि०इं०, पृ० 332, टि० 6।

मार्ग में उसके प्रभुत्व को फेगेलस राज्य ने स्वीकृत किया। ब्यास के परे, फेगेलस द्वारा उसे प्रदत्त सूचनानुसार, बहादुर कृषकों का एक अत्यन्त उर्वर देश (कुरु-पंचाल) था। उसकी उत्कृष्ट शासन-व्यवस्था एक कुलीन वर्ग के हाथ में थी जो अपनी शक्ति का उदारता और न्याय के साथ उपयोग करता था। पोरस ने इस सूचना का समर्थन किया। लेकिन सिकन्दर ब्यास नदी तक ही पहुँच पाया, इसको पार नहीं कर सका, क्योंकि उसके सैनिकों ने इसके आगे बढ़ने से बिल्कुल इन्कार कर दिया (सितम्बर, 326)।

सिकन्दर की भारत से वापसी और उसके कारण

बहुत से भारतीय इतिहास-लेखकों का विचार है कि यूनानी सैनिकों की ब्यास के तट से लौट जाने की जिद के आवरण में प्राचीन यूरोपियन इतिहासकारों ने इस सत्य को छिपाने की चेष्टा की है कि सिकन्दर पोरस के हाथों परास्त होकर भारत से लौटने के लिए बाध्य हो गया था।[1] सुधाकर चट्टोपाध्याय जैसे अपेक्षया संयत इतिहासकार का भी अनुमान है कि पोरस से युद्ध करने के बाद, जिसमें दोनों पक्ष बराबर रहे थे, सिकन्दर वापिस लौट गया था और उसकी झेलम से लेकर ब्यास तक की विजय-यात्रा का वर्णन यूनानी लेखकों की कल्पना की उड़ान है।[2] बुद्धप्रकाश के अनुसार इस युद्ध का अन्तिम निर्णय होने के पहिले ही दोनों पक्षों में सन्धि हो गई थी।[3] परन्तु ये अनुमान सभी प्राचीन साक्ष्य के विरुद्ध हैं। डायोडोरस, एरियन, कर्टियस, प्लुटार्क तथा जस्टिन (जिनके ग्रन्थ सिकन्दर के सेनापति नियर्कस, उसके सेनाध्यक्ष ओनेसिक्रिटस, उसी के एक अन्य साथी एरिस्टोबुलस तथा क्लीटार्कस और मेगास्थेनिज़ आदि के ग्रन्थों पर आधृत हैं) इस विषय में सहमत हैं कि सिकन्दर ब्यास नदी तक अवश्य ही पहुँचा था। यह तर्क कि अगर सिकन्दर को पोरस के विरुद्ध सफलता मिली होती तो वह उसे उसका राज्य नहीं लौटाता, सिकन्दर की नीति को न समझे जाने का प्रमाण है। परवर्ती काल के गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के समान सिकन्दर ने प्रतिद्वन्द्वी राजाओं को, अगर वे उसके प्रभुत्व को मान लेते थे, अपने अधीन उच्च पद प्रदान किए थे। शशिगुप्त को, जिसने बैक्ट्रिया में सिकन्दर के शत्रुओं को सहायता दी थी, सिकन्दर ने ओर्नोस् जैसे महत्त्वपूर्ण दुर्ग का रक्षक बनाया था।

'क्लासिकल' इतिहासकारों के वर्णन से यह सर्वथा स्पष्ट है कि सिकन्दर ब्यास

---

[1]दे०, सेठ, एच०सी०, पी०आई०एच०सी०, इलाहाबाद, 1939, पृ० 85–91। सेठ का मत 'लाइफ एण्ड एक्सप्लोयट्स् ऑव अलेक्ज़ान्दर' (इ०ए०डब्ल्यु० बैज का अनुवाद, पृ० 123) के इथियोपियायी संस्करण पर आधृत है। परन्तु इस ग्रन्थ की तिथि अज्ञात है और यह सभी क्लासिकल लेखकों के साक्ष्य के विरुद्ध है।

[2]एखियमिनाइड्स् इन इण्डिया, पृ० 15–18।

[3]बुद्धप्रकाश, पूर्वो०, 62।

नदी के पार स्थित भू-प्रदेश को भी जीतना चाहता था। उसकी आकांक्षा समस्त सभ्य विश्व को जीतने की थी और उसके भौगोलिक ज्ञान के अनुसार जिस समय वह ब्यास के तट पर पहुँचा वह दुनिया के पूर्वी छोर के करीब आ पहुँचा था। उसे दक्षिण भारतीय प्रायद्वीप का बिल्कुल ज्ञान नहीं था और चीन तथा साइबेरिया आदि के अस्तित्व का तो अनुमान तक भी न था। उसका विचार था कि जैसे अटलांटिक समुद्र विश्व का पश्चिमी छोर है, वैसे ही वह समुद्र, जिसमें गंगा नदी गिरती है विश्व का पूर्वी सिरा है। इतना ही नहीं, उसके ज्ञानानुसार यह समुद्र हिन्दुकुश तथा पामीर के परे उत्तर में भी फैला था और कैस्पियन से जाकर मिल जाता था।[1] नियर्कस के अनुसार सिकन्दर की धारणा थी कि चिनाब नदी ही आगे जाकर मिस्र की नील नदी बन जाती है। ऐसी स्थिति में ब्यास तक पहुँचने के बाद वहाँ से अपनी ही सेना द्वारा वापिस लौटने का आग्रह किए जाने पर उसे जो निराशा हुई, उसका क्लासिकल लेखकों द्वारा प्रदत्त वर्णन हमें बड़ा ही स्वाभाविक और विश्वसनीय प्रतीत होता है।

सिकन्दर ने अपने सैनिकों को आगे बढ़ने से इंकार करते देखकर उनका उत्साह जगाने के लिए एक ओजस्वी भाषण दिया, उनकी शानदार सफलताओं की, जो उन्होंने हेलेस्पोण्ट से लेकर ब्यास तक पाई थीं, याद दिलाई और सारे विश्व के स्वामी बनने से उनको कितना यश प्राप्त होगा इसके सब्जबाग दिखाए। लेकिन उसके सैनिकों ने अपने स्वभाव के विपरीत पूर्णतः खामोश रहकर उसके साथ असहमति प्रकट की। अन्त में कोइनोस ने, जो अश्वारोही सेना का अध्यक्ष और सिकन्दर का विश्वासपात्र था, हिम्मत करके 'सेना की तरफ से' सिकन्दर को याद दिलाई कि उन यूनानी और मकदूनी सैनिकों में से, जो उसके साथ आठ वर्ष पहले चले थे, 'बहुत से घर लौट चुके हैं, बहुत से घायल और अपंग पड़े हैं, बहुतों को उनकी इच्छा के विपरीत नए देशों में बसना पड़ा है और सबसे ज्यादा संख्या तो उन लोगों की है जो युद्ध में अथवा बीमारी से मर चुके हैं। जो बचे हैं उनका भी स्वास्थ्य खराब हो गया है, वे यूनानी वस्त्रों के स्थान पर भारतीय वस्त्र पहनने को बाध्य हो गए हैं और उनके हथियार भोंथरे हो चुके हैं तथा मन निराशा से भरा हुआ है। उनकी यह स्वाभाविक इच्छा है कि वे घर लौटें, अपने माता-पिता तथा स्त्री-बच्चों से मिलें और स्वदेश का दर्शन करें जहाँ से चलते समय वे गरीब थे लेकिन लौटते समय अमीर होंगे।' कोइनोस ने सिकन्दर से आग्रह किया कि वह सैनिकों को उनकी इच्छा के विपरीत आगे न ले जाये, वरन् यूनान वापिस लौट चलें। बाद में अगर चाहे तो फिर एक नई सेना खड़ी करे और शेष विश्व को जीतने निकले।[2] कोइनोस के इस भाषण का सैनिकों ने तुमुल हर्षध्वनि और तालियों की

[1]दे०, क्ला० एका०, पृ० 52।

[2]कोइनोस के इस भाषण का कम से कम सार ऐतिहासिक सत्य लगता है।

गड़गड़ाहट से स्वागत किया। इस पर सिकन्दर ने नाराज होकर सभा भंग कर दी। अगले दिन उसने फिर सभा बुलाई और घोषणा की कि वह आगे अकेला ही जाएगा। जो उसका साथ देना चाहें दें, जो न देना चाहें वे वापिस लौट जाएँ और स्वदेश जाकर बता दें कि वे अपने राजा को शत्रु देश में अकेला छोड़ आएँ हैं। इसके बाद वह अपने तम्बू में चला गया और तीन दिन तक बाहर नहीं निकला। परन्तु सैनिकों का हृदय फिर भी परिवर्तित नहीं हुआ। इस पर उसने देवताओं को बलि दी और ज्योतिषियों के यह कहने पर कि शकुन आगे बढ़ने के विपरीत हैं, उसने प्रत्यावर्त्तन की घोषणा कर दी जिसका सैनिकों ने हर्षध्वनि से स्वागत किया। इससे स्पष्ट है कि सिकन्दर के सैनिकों को वापिस लौटने की इच्छा का कारण जो सर्वथा स्वाभाविक लगता है, उनका स्वदेश से दीर्घ काल से बिछुड़ा होना था। लेकिन यहाँ इतना अवश्य ही माना जा सकता है कि भारतीयों की बहादुरी देखकर उसके मन में गंगा की घाटी को जीतने की, जहाँ के निवासी 'समृद्ध' थे और 'जिनके हाथी पोरस के हाथियों से बड़े और संख्या में अधिक थे', कोई इच्छा नहीं रह गई। प्लुटार्क के अनुसार पोरस से लड़ने के बाद मकदूनी सैनिक अत्यन्त हतोत्साह हो गए थे। उन्होंने पोरस को ही, जिसकी सेना में (प्लुटार्क के अनुसार) कुल 20,000 पदाति और 2,000 अश्वारोही थे, मुश्किल से हराया था। इसलिए जब उन्होंने फेगेलस से सुना कि गेण्डेरेडाई और पारसाई (=नन्द साम्राज्य) के स्वामी के पास 20,000 अश्वारोही, 2 लाख पदाति, 2,000 रथ तथा 3,000 हाथी (प्लुटार्क के अनुसार 80,000 अश्वारोही, 200,000 पदाति, 8,000 रथ तथा 6,000 हाथी) हैं तो वे भयभीत हो उठे।[1] सिकन्दर के लिए अब लौटने का निश्चय करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं बचा। उसने तय किया कि वह जिस मार्ग से आया है उससे न लौटकर सिन्धु के मुहाने वाले प्रदेश और गेड्रोशिया को जीतता हुआ लौटेगा जिससे उसका प्रत्यावर्त्तन भी विजय-यात्रा बन जाये। वापिस लौटने के पूर्व उसने ब्यास के तट पर क्रीड़ा प्रतियोगिताएं कीं और बारह प्रमुख देवताओं के लिए बारह वेदियाँ बनवाईं जो उसके ब्यास तक विजय प्राप्त करने का स्मारक भी थीं। प्लिनी के अनुसार इन्हें ब्यास के 'इस ओर' (पूर्वी तट पर) बनवाया गया था। परन्तु यह सम्भव नहीं लगता क्योंकि कोई भी क्लासिकल लेखक सिकन्दर द्वारा ब्यास को पार करने का

---

[1]सिकन्दर को उसके सैनिक आगे बढ़ने देते तो वह गंगा की घाटी पर आक्रमण करता या नहीं और अगर वह आक्रमण करता तो उसका क्या परिणाम होता, इन प्रश्नों के अनुमानाश्रित उत्तर ही हो सकते हैं। लेकिन हमें स्मिथ का यह कथन सही लगता है कि कोइनोस और उसके साथियों को, जिन्होंने आगे बढ़ने के विरुद्ध आवाज उठाई, 'मकदूनी सेना को पूर्ण विनाश से बचाने का श्रेय दिया जा सकता है' (अ०हि०इं०, पृ० 116–17)। फिर भी इस विषय में प्लुटार्क का यह कथन स्मरणीय है कि एण्ड्रोकोट्टोस (=चन्द्रगुप्त) कहा करता था कि 'सिकन्दर पूरे देश पर आसानी से अधिकार कर सकता था क्योंकि वहाँ का राजा (स्पष्टतः धननन्द) स्वभाव से दुष्ट था और उसका जन्म नीच कुल में हुआ था और प्रजा उसे घृणा और तिरस्कार से देखती थी।'

उल्लेख नहीं करता। प्लुटार्क का यह कथन कि इन वेदिकाओं पर चन्द्रगुप्त मौर्य भी यूनानी विधि से पूजा किया करता था, अन्य लेखकों द्वारा समर्थित नहीं होता। फिलोस्ट्रेटस के अनुसार इन वेदियों के समीप धातु का एक स्तम्भ भी स्थापित किया गया था जिस पर 'सिकन्दर यहाँ रुका था' यह लेख उत्कीर्ण था।

ब्यास के तट से सिकन्दर की सेना चिनाब के तट पर वापिस लौटी। इसी समय उसके पास अभिसार-नरेश का दूत-मण्डल आया जिसने अभिसार-नरेश की वशवर्तिता प्रकट की। अब सिकन्दर ने अब तक जीते गये भारतीय राज्यों को तीन क्षत्रपों में बाँट दिया—सिन्धु से झेलम तक आम्भी, झेलम से ब्यास तक पोरस और उत्तर के पर्वतीय प्रदेश में अभिसार-नरेश। पुरु और आम्भी में मित्रता बढ़ाने के लिए उसने दोनों में विवाह-सम्बन्ध भी कराया।

इसी समय सिकन्दर को बैबिलोन के क्षत्रप द्वारा प्रेषित 5,000 थ्रेसी अश्वारोहियों और 7,000 पदातियों की कुमुक मिली जिसके साथ रजत-सुवर्ण खचित 25,000 नवीन कवच भी थे जो सेना में तत्काल बाँट दिये गये।[1] इसके बाद वह चिनाब पार करके झेलम के तट पर आया जहाँ निकाइया और बुकाफेला नगरों की मरम्मत और झेलम के मार्ग से सेना ले जाने की तैयारी करवाई गई। इसी समय उसके पास सोपीथिज़ ने स्वयं आकर उसका प्रभुत्व स्वीकृत किया।

झेलम के तट पर सिकन्दर ने अपनी सेना की यात्रा के लिए 800 (या 2000) जलपोत बनवाए। अब उसने अपनी सेना के चार भाग किए—एक भाग उसके साथ नदी के मार्ग से जलपोतों पर चला, दूसरा दाहिने तट से क्रेटेरस के नेतृत्व में, तीसरा (जिसमें हाथी भी थे) हेफाइस्शन के नेतृत्व में बाएँ तट से और चौथा फिलिप के नेतृत्व में हेफाइस्शन के पीछे-पीछे तीन दिन की यात्रा के अन्तर से। जलपोतों का नेतृत्व नियर्कस के हाथ में था और स्वयं सिकन्दर के पोत को ओनेसिक्रिटस चला रहा था। इस प्रकार यह सेना नवम्बर 326 के शुरू (अथवा अक्टूबर के अन्त) में दक्षिण दिशा में समुद्र की ओर बढ़ी[2] और दस दिनों में झेलम और चिनाब के संगम पर पहुँची। यहाँ से उसने सिबोई और एगेलेस्सोई जातियों पर शीघ्रता से आक्रमण किया जिससे वे मालवों और क्षुद्रकों से न मिल पाएँ। सिबोई ने उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया लेकिन एगेलेस्सोई ने डटकर प्रतिरोध किया जिससे खीज कर सिकन्दर ने एक नगर पर विजय पाने के बाद उसके 20,000 में से केवल 3,000 व्यक्ति छोड़े, शेष की या तो हत्या करवा दी या दास बना लिया। तदनन्तर उसने स्वयं चुने हुए अश्वारोहियों (जिनकी संख्या स्मिथ ने 7,000 आँकी है) और टॉलेमी, पीथोन तथा पर्डिक्कस को साथ लेकर मल्लोई जाति पर तेजी से आक्रमण किया

[1]कर्टियस (9.3)। डायोडोरस ने पदातियों की संख्या 30,000 और अश्वारोहियों की 6,000 बताई है तथा 100 टेलेण्ट दवाओं के आने का भी उल्लेख किया है।

[2]इसके आगे सिकन्दर की यात्रा का अध्ययन करने में नदियों के मार्ग परिवर्तन से बहुत बाधा पड़ती है।

और इसके पूर्व कि क्षुद्रक जाति अपने मित्रों की सहायता कर पाती उसकी शक्ति तोड़ डाली। बहुत से मल्लोई खेतों में काम करते समय गाजर-मूली की तरह काट डाले गए। परन्तु मल्लोई नगरों के रक्षकों ने इसके बावजूद उसका वीरता से सामना किया। एक नगर में, जो ब्राह्मणों का था, ब्राह्मणों ने शास्त्र की जगह शस्त्र उठा लिये और लगभग सभी ने लड़ते-लड़ते प्राण दे दिये। एक नगर पर हमले के समय अपने सैनिकों को हिम्मत खोता देखकर सिकन्दर स्वयं बुर्ज पर जा चढ़ा और अन्दर कूद गया। इस साहसपूर्ण कृत्य के परिणामस्वरूप उसकी छाती में गहरा घाव लगा और उसके प्राण मुश्किल से बचाये जा सके। इससे क्रोधित होकर यूनानियों ने उस नगर के आबाल-वृद्ध सभी व्यक्तियों को मार डाला।[1]

मल्लोई के आत्म-समर्पण (जनवरी, 325) के बाद क्षुद्रकों ने भी विविध प्रकार की भेंटादि देकर सिकन्दर के साथ सन्धि कर ली। कर्टियस के अनुसार उनके विशाल-काय गौरवशाली सौ दूत, जो सुवर्ण खचित वस्त्र धारण किए हुए थे, रथों पर चढ़कर आए। सिकन्दर ने उनके द्वारा दी गई सफाई को मान लिया और उनका बहुत सम्मान करके उन्हें लौटा दिया। कुछ दिन उपरान्त वे 300 अश्वारोहियों, चार घोड़ों वाले 1030 रथों, 1000 भारतीय ढालों, 100 टेलेण्ट स्टील, कुछ पालतू शेर-चीते, विशालकाय मगरों की खाल और लिनन के असंख्य बहुमूल्य वस्त्रों की भेंट लेकर लौटे।

मल्लों और क्षुद्रकों की पराजय के उपरान्त सिकन्दर ने एबस्टेनोई (=अम्बष्ठ) एक्स्थ्रोई (=क्षतृ अथवा क्षत्रिय) तथा ओस्सादियोई (=वसाति) जातियों पर प्रभुत्व स्थापित किया और क्षुद्रक, मालव तथा उपर्युक्त जातियों का क्षत्रप फिलिप नामधारी एक अन्य व्यक्ति को नियुक्त किया। इस प्रान्त में सिन्धु और पंजाब की नदियों के संगम तक विस्तृत प्रदेश रखा गया और फिलिप की सहायतार्थ पर्याप्त सेना छोड़ दी गई। सम्भवत: शौद्रे (शौद्रायण) और मस्सानोई (=मसूरकर्ण ?) जातियाँ भी, जिनकी चर्चा डायोडोरस ने की है, इसी प्रान्त में सम्मिलित की गई थीं।

सिन्धु और पंजाब की नदियों के संगम से दक्षिण की ओर बढ़ने पर सिकन्दर सिन्धु की दक्षिणी उपत्यका में प्रविष्ट हुआ जहाँ स्वतन्त्र जातियों के बजाय राजाधीन राज्य थे। इनमें मूसिकेनोस् (=मुचुकर्ण) का राज्य विशालतम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। उसने सिकन्दर के आते ही उसके प्रभुत्व को मान लिया। ओक्साइकेनोस् ने सिकन्दर का सामना किया लेकिन बन्दी बना लिया गया। सेम्बोस् राज्य का स्वामी अपने शत्रु मुचुकर्ण के साथ सिकन्दर की मित्रता के कारण सिकन्दर से असन्तुष्ट होकर अपनी राजधानी सिन्दिमन छोड़ कर चला गया जिससे उसे सिकन्दर का स्वागत न करना पड़े। उसके पीछे उसके सम्बन्धियों ने सही स्थिति बताकर और भेंटादि देकर

[1]सिकन्दर के मल्ल-अभियान के लिए दे०, फुलर, जे०एफ०सी०, दि जेनेरलशिप ऑव अलेक्ज़ेण्डर दि ग्रेट, देहरादून, 1977, पृ० 259–63।

सिकन्दर को सन्तुष्ट किया । इस प्रदेश में सिकन्दर के सबसे बड़े शत्रु ब्राह्मण सिद्ध हुए ।[1] इसी समय मुचुकर्ण ने अपने ब्राह्मण मन्त्रियों के भड़काने पर विद्रोह कर दिया परन्तु पीथोन द्वारा बन्दी बना लिया । सिन्धु के मुहाने वाले प्रदेश में पाटलीन राज्य में द्वैराज्य शासन-व्यवस्था थी । इसका एक राजा आत्म-निवेदन द्वारा सिकन्दर को सन्तुष्ट करने आया । यहाँ से सिकन्दर ने सेना के एक भाग को सब हाथियों सहित क्रेटेरस के नेतृत्व में मूला या मुल्ला दर्रे, कन्धार और सीस्तान के मार्ग से वापिस भेजा और स्वयं शेष सेना के साथ जुलाई 325 ई० पू० में पोट्टल जा पहुँचा । वहाँ उसने पीथोन को सिन्धु प्रान्त के इन सब राज्यों का क्षत्रप नियुक्त किया ।

पाटल में सिन्धु नदी दो प्रमुख धाराओं में बँट जाती है । सिकन्दर ने पश्चिमी धारा को अपने जलपोतों की यात्रा के लिए सुविधाजनक पाया । पाटल की उत्तम स्थिति देखकर सिकन्दर ने वहाँ एक दुर्ग और बन्दरगाह बनवाया । इसके बाद उसने अपनी सेना को दो भागों में बाँटा । इसमें एक भाग समुद्र के मार्ग से नियर्कस के नेतृत्व में लौटा और दूसरा स्वयं सिकन्दर के नेतृत्व में स्थल मार्ग से गेड्रोशिया होते हुए । इनमें पहिले यात्रा सिकन्दर ने प्रारम्भ की (सितम्बर, 325 ई०पू०) जिससे वह जलपोतों से आने वाली सेना के लिए तट पर कुएँ खोदता और भोजन का प्रबन्ध करता चले । मार्ग में ओरिइताई (Oreitai=वार्तेय) जाति को जीतते हुए गेड्रोशिया के रेगिस्तानी प्रदेश की कठोर यात्रा करके मार्ग में क्रेटेरस की सेना को, जो उससे आ मिली थी, साथ लेता हुआ वह बैबिलोन की ओर चला गया । नियर्कस भारत से सितम्बर 325 में चला और अनेक कठिनाइयाँ सहने के बाद सिकन्दर से जा मिला । 324 ई० पू० की बसन्त तक सारी सेना सूसा पहुँच गई । लेकिन इसके अगले ही वर्ष (जून, 323 ई०पू०) बैबिलोन में सिकन्दर की असामयिक मृत्यु से उसकी विश्व-साम्राज्य की योजना भी समाप्त हो गई ।

सिकन्दर के विरुद्ध भारतीयों की असफलता के कारण

सिकन्दर भारत में कुल करीब तीस माह, मई 327 ई०पू० के प्रारम्भ से लेकर अक्टूबर 325 ई० पू० तक, रहा । इस बीच में उसने हिन्दुकुश से लेकर ब्यास तक तथा दक्षिण में सिन्धु के मुहाने तक विस्तृत विशाल भूखण्ड को जीता । भारतीय राज्यों ने उसका प्रतिरोध लगभग सर्वत्र बड़ी बहादुरी से किया । मस्सग के पतन के बाद जब सिकन्दर ने 7,000 वेतनभोगी सैनिकों पर रात में धोखे से हमला किया था तो उनकी स्त्रियों ने भी आक्रमणकारियों से लोहा लिया था । झेलम के युद्ध में पोरस मैदान में अन्तिम समय तक डटा रहा था और पकड़े जाने के बाद भी उसका स्वाभिमान बना हुआ था । सिन्धु की निचली उपत्यका के राज्यों में ब्राह्मणों ने सिकन्दर का प्रत्यावर्त्तन अत्यन्त कष्टकर कर दिया था । मल्लोइयों के तो प्रत्येक नगर में

---

[1]मनु के अनुसार संकट के समय ब्राह्मणों का शस्त्र धारण करना उचित था ।

यूनानियों को लड़ना पड़ा था और एक बार तो स्वयं सिकन्दर को मारने में वे करीब-करीब सफल हो गये थे। वस्तुतः सिकन्दर भारत के उस प्रदेश में आया था जिसके निवासी अपनी बहादुरी के लिए प्रसिद्ध रहे हैं और उस समय भी युद्धकर्म उनका प्रमुख उद्यम था। यद्यपि स्मिथ का यह कथन निश्चित रूप से गलत है कि इस संघर्ष से यह तय हो गया कि एशिया की बड़ी से बड़ी सेनाएँ भी यूरोपियन युद्ध-कौशल और अनुशासन के सम्मुख नहीं ठहर सकतीं[1], क्योंकि सिकन्दर ने अगर मगध पर आक्रमण किया होता तो मकदूनी सेना का शायद पूर्णतः विनाश हो जाता। लेकिन इसके साथ ही हमें मुकर्जी की यह धारणा भी अशुद्ध लगती है कि भारत में सिकन्दर का बड़े-बड़े राज्यों से संघर्ष हुआ ही नहीं, इसलिए उसके अभियान को न तो एशियायी और यूरोपियन युद्ध-कौशल की सही परीक्षा माना जा सकता है और न उसके भारतीय अभिमान को 'शानदार' कहा जा सकता है।[2] संख्या की दृष्टि से भारतीय सेनाएँ यूनानी सेना से बहुत दुर्बल नहीं थीं। अपेक्षया बड़े भारतीय राज्यों ने सिकन्दर का सामना चालीस-पचास हजार सैनिकों से किया था। क्षुद्रक-मालव तथा पोरस के राज्यों की सेनाएं तो निश्चित रूप से सिकन्दर की सेनाओं से बड़ी थीं।। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यूनानी सेना एक अपरिचित देश में लड़ रही थी जबकि भारतीय स्वयं अपने देश में थे। यूनानी सेना में प्रजातीय और भाषात्मक एकता का भी अभाव था जबकि ये कठिनाइयाँ भारतीयों के सम्मुख नहीं थीं। और फिर ठीक ऐसी ही परिस्थिति में डेढ़ शती पहले यूनानी सेनाएँ अगर अपने देश में ईरान के प्रथम दारयवहुष तथा क्षयार्षा जैसे नरेशों को परास्त कर सकती थीं तो वैसी ही सफलता की आशा उत्तरापथ के भारतीयों से क्यों नहीं की जानी चाहिए जिनके राज्य यूनानी नगर-राज्यों से प्रायः बड़े थे। लेकिन शौर्य और संख्या, इन दोनों बातों के होते हुए भी भारतीय परास्त हुए। इसका सबसे बड़ा कारण भारतीयों के मन में देश-प्रेम की तुलना में प्रदेश-प्रेम, जातीय अभिमान तथा आत्म-सम्मान का बलवत्तर होना था। चौथी शती ई० पू० में गंगा-घाटी के नरेश सैन्धव उपत्यका के राज्यों को या तो अपने देश का अंग ही नहीं मानते थे अथवा यह भावना होते हुए भी इस ओर ध्यान नहीं देते थे। स्वयं उत्तरापथ के राज्य भी आपस में लड़ रहे थे—गणाधीन राज्य राजाधीन राज्यों से और राजाधीन राज्य परस्पर। इस दृष्टि से उस युग के उत्तरापथ की स्थिति छठी शती ई० पू० के पूर्वी भारत की स्थिति से तुलनीय है। आम्भी ने अपने शत्रु पोरस के खिलाफ सिकन्दर की तरफ मैत्री का हाथ तभी बढ़ा दिया था जब यूनानी विजेता सोग्डियाना में था। स्वयं पोरस भी, जिसे आजकल सामान्यतः देशभक्ति का आदर्श माना जाता है, सिकन्दर के विरुद्ध हथियार लेकर देशभक्ति की भावना से प्रेरित होकर नहीं वरन् इसलिए

---

[1]अ०हि०इं०, पृ० 117।

[2]ए०इं०यू०, पृ० 51।

खड़ा हुआ था क्योंकि वह आम्भी जैसे राजाओं की तुलना में अधिक स्वाभिमानी था और स्वाभिमान के लिए जान देना जानता था। दूसरे, उसका शत्रु आम्भी सिकन्दर के साथ मिल गया था इसलिए उसके लिए सिकन्दर का प्रतिरोध करना स्वाभाविक था। वह स्वयं उन पड़ोसी राज्यों को, जिन पर सिकन्दर की दृष्टि थी, जीतना चाहता था। इसलिए उसे बाद में कठ आदि जातियों के विरुद्ध सिकन्दर को सहायता देने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। सिकन्दर के आगमन के पूर्व भी वह अभिसार-नरेश के साथ मिलकर कठों पर आक्रमण कर चुका था। यह सही है कि वह इतना बहादुर था कि अपनी सेना के हारने पर उस प्रकार मैदान छोड़ कर नहीं भागा जिस प्रकार ईरानी सम्राट् भागा था, परन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि जबकि दारयवहुष ने एक बार परास्त होने पर हिम्मत नहीं हारी और सेना एकत्र कर बार-बार सिकन्दर का सामना करता रहा, पोरस ने एक बार परास्त होने के बाद फिर यूनानियों के विरुद्ध हथियार नहीं उठाए, उल्टे उनकी मदद की। हो सकता है कि उसके दोबारा प्रयास करने पर यूनानी परास्त हो ही जाते। व्यक्तिगत शौर्य की दृष्टि से पोरस दारयवहुष से बड़ा माना जा सकता है, परन्तु देशहित की दृष्टि से दारयवहुष की ही प्रशंसा करनी होगी।

पोरस में मिलने वाला यह संकुचित दृष्टिकोण अन्य भारतीयों में भी था। उदाहरणार्थ कनीयस् पुरु सिकन्दर से रुष्ट हुआ लेकिन अपने देश-प्रेम के कारण नहीं वरन् सिकन्दर द्वारा उसके शत्रु वृद्ध पोरस के साथ अच्छा व्यवहार किया जाने से। इसी प्रकार सिन्धु की दक्षिणी उपत्यका में सेम्बोस् ने सिकन्दर के प्रति असन्तोष इसलिए व्यक्त किया था क्योंकि सिकन्दर ने उसके शत्रु मुचुकर्ण के साथ सन्धि कर ली थी। सिकन्दर का सामना मिल कर करने का विचार केवल क्षुद्रक और मालव जातियों में आया था।[1] परन्तु उनमें भी जातीय सम्मान की भावना देशप्रेम से सबलतर सिद्ध हुई और उनका प्रस्तावित संघ सेनापतित्व के प्रश्न पर धराशायी हो गया।

भारतीयों की पराजय का दूसरा प्रमुख कारण सिकन्दर का युद्ध-कौशल और शासन प्रबन्ध था। कहने की आवश्यकता नहीं कि सिकन्दर जैसा कुशल सेनानायक तत्कालीन भारत में क्या शायद प्राचीन विश्व के सम्पूर्ण इतिहास में नहीं हुआ। उसकी सेनाएँ कितनी तेजी से बढ़ती थीं इसका अन्दाज इसी बात से लग सकता है कि उनके एक स्थान से कूच करने का समाचार भारतीय जासूसों द्वारा दूसरे स्थान पर पहुँचने के पूर्व ही पूरी यूनानी सेना वहाँ जा धमकती थी। आगे बढ़ते समय विजित राज्यों को अपने अधिकार में बनाए रखने की भी सिकन्दर में अद्भुत क्षमता थी। 334 ई०पू० से 323 ई०पू० तक उसने जितने प्रदेश जीते उनमें हुए विद्रोहों की संख्या आश्चर्यजनक रूप से कम है। उसकी संचार- और रसद-

[1]अभिसार-नरेश ने भी पोरस का साथ देने का विचार किया था, पर दिया नहीं।

प्रणालियों का तो कहना ही क्या ! जबकि भारतीय राज्यों में एक स्थान की खबरें भी दूसरे स्थान तक मुश्किल से पहुँचती थीं सिकन्दर अपने साम्राज्य के दूरस्थ राज्यों से हजारों मील की दूरी तय करके लोहे के 25,000 कवच एक साथ मँगवा सकता था। अगर एक कवच का भार 10 किलोग्राम भी माना जाए तो उनकी कुल तौल 2,500 क्विटल रही होगी। भारत से लाखों की संख्या में पशुओं को यूनान भेज सकना भी उसकी सम्पर्क-व्यवस्था की उत्तमता का प्रमाण है। और यह सब किया उसने उन देशों में जिन पर यूनानियों ने कभी न शासन किया था और न जिनके बारे में उनको कुछ ज्ञान था। कुल मिलाकर इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि उत्तरापथ के भारतीय राज्य राजनीतिक दूरन्देशी और युद्ध-कौशल में यूनानियों के बराबर नहीं थे। उनमें शौर्य था और वे अपनी आन के लिए मर मिटना जानते थे, परन्तु शत्रु के प्राण लेने में कुशल नहीं थे। यह बात विचित्र होते हुए भी पूर्णतः सत्य है कि उनमें से हरेक ने हजारों मील दूर से आने वाले विदेशी आक्रमणकारी का प्रतिरोध तभी किया जब उसने उन पर आक्रमण कर दिया। दूसरे शब्दों में वे लड़े, लेकिन केवल आत्मरक्षा के लिए। इस दृष्टि से उनमें और परवर्ती राजपूतों में कोई विशेष अन्तर नहीं था। हमारे पूर्वज इस बात को प्रायः भूल जाते थे कि विशाल अनुशासित सेना के साथ आने वाले आक्रमणकारी का सामना केवल अपने देश, प्रदेश अथवा कबीले के लिए मर मिटने की भावना से नहीं किया जा सकता।[1]

भारत पर सिकन्दर के आक्रमण के परिणाम

सिकन्दर का उद्देश्य यूनान के प्रभुत्व में समस्त सभ्य विश्व को एक ऐसे साम्राज्य के रूप में परिणत करना था जिसमें यूनानी संस्कृति प्रधान हो परन्तु जिसमें मिस्री और एशियायी संस्कृतियों के अच्छे तत्त्व यूनानी संस्कृति के साथ घुल-मिल जाएँ। इस प्रकार वह एक नवीन सबलतर 'यूनानीसम' (Hellenistic) विश्व-संस्कृति का निर्माण करना चाहता था। जिस समय वह 334 ई०पू० में यूनान से चला था, उसका लक्ष्य ईरानियों से अपने देश के परम्परागत वैर का प्रतिशोध लेना मात्र था, परन्तु 327 ई०पू० में भारत में प्रवेश करने तक उसके मन में विश्व-साम्राज्य की स्थापना का आदर्श न केवल जन्म ले चुका वरन् बहुत कुछ साकार होता दिखाई देने लगा था। इस दृष्टि से उसका भारत पर आक्रमण लूट-पाट के लिए किया गया धावा मात्र नहीं, वरन् भारत को विश्व-साम्राज्य का अंग बनाने के लिए किया गया प्रयास था। विजित भारतीय राज्यों का क्षत्रपीय प्रान्तों के रूप में पुनर्गठन इसी उद्देश्य से किया गया था।

सिकन्दर ने अपने भारतीय साम्राज्य को निम्नलिखित प्रान्तों में बाँटा—

[1]दे०, मा०सा०उ०, पृ० 220–1।

(1) पेरोपेमिसेदाई या हिन्दुकुश से लेकर काबुल नदी तक का प्रदेश जिसकी राजधानी हिन्दुकुश के पादमूल में बसा सिकन्दरिया नगर था। इसका क्षत्रप पहले टाइरियस्पिज़ को बनाया गया और उसके विरुद्ध शिकायतें आने पर ओक्सियार्टिज़ को। (2) सिन्धु के पश्चिम के प्रदेश का क्षत्रप निकानोर को नियुक्त किया गया और उसके मारे जाने पर मचातुस के पुत्र फिलिप को। (3) सिन्धु और पंजाब की नदियों के संगम वाले प्रदेश का क्षत्रप सिकन्दर ने फिलिप को नियुक्त किया। फिलिप का यह प्रान्त उसके पुराने प्रान्त के साथ मिला दिया गया अथवा उसे पुराने प्रान्त को छोड़कर नए प्रान्त में आना पड़ा था, यह स्पष्ट नहीं है। (4) एरियन ने सिसिकोट्टोस को एस्सेकेनियनों का क्षत्रप लिखा है। (5) आम्भी का राज्य, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी, सिन्ध से झेलम तक विस्तृत था। (6) पोरस का राज्य, जिसमें झेलम से ब्यास तक का सम्पूर्ण प्रदेश था। (7) अभिसार-राज्य जिस में उत्तर का पर्वतीय प्रदेश था। अर्सेकिज को भी अभिसार-नरेश के अधीन कर दिया गया था। (8) सिन्धु की दक्षिणी उपत्यका वाला प्रदेश, जो सिन्धु और पंजाब की नदियों के संगम के कुछ दक्षिण से लेकर सिन्धु के मुहाने तक और पश्चिम में हाब नदी तक विस्तृत था। इसका क्षत्रप एगेनोर के पुत्र पीथोन को नियुक्त किया गया। (9) ओरिइटाई प्रदेश पीथोन के प्रान्त के पश्चिम में था। इसका गवर्नर एपोलो-फेनिज़ को नियुक्त किया गया।

विश्व-साम्राज्य की अपनी कल्पना को व्यावहारिक रूप देने के लिए सिकन्दर ने विजित प्रान्तों में (अ) यूनानी और मकदूनी सैनिकों का विवाह एशियायी स्त्रियों से करने तथा (आ) महत्त्वपूर्ण स्थलों पर यूनानी संस्कृति तथा सैन्य शक्ति के केन्द्र स्वरूप नए नगर और छावनियाँ स्थापित करके वहाँ यूनानी और मकदूनी सैनिकों को बसाने की नीति अपनाई। इनमें विवाह-सम्बन्ध की नीति, जिसका पालन उसने बैक्ट्रियायी राजकुमारी रुखसाना से विवाह करके स्वयं भी किया, जाति प्रथा के देश भारत में बहुत सफल नहीं हो सकती थी, परन्तु नए नगर बसाने में कोई बाधा नहीं थी। पेरोपेमिसेदाई में 'हिन्दुकुश के पादमूल में स्थित सिकन्दरिया', झेलम के तट पर बुकाफेला[1] और निकाइया, चिनाब के तट पर हेफाइस्शन द्वारा बसाया गया अथवा प्राचीर द्वारा रक्षित किया गया नगर (जिसका नाम नहीं मिलता), पंजाब की नदियों और सिन्धु के संगम पर बसाया गया नगर और नावांगन (dockyard) तथा सौद्रै राज्य में बसाया गया सिकन्दरिया नगर तथा उसका नावांगन इसके प्रमाण हैं। इनके अतिरिक्त उसने कुछ पुराने नगरों को भी प्राचीर आदि से सुरक्षित करके और वहाँ यूनानी सैनिक बसाकर नया रूप दिया। बाजौर की घाटी में एरिगएम, मूसिकेनोस्

[1]प्लुटार्क के अनुसार सिकन्दर ने एक नगर अपने कुत्ते पेरिटास (Peritas) की स्मृति में भी स्थापित किया था।

राज्य के अनेक नगर, पाटल तथा ओरिइटाई की राजधानी ओरा इसके उदाहरण हैं। ओर्नोस्, तक्षशिला, पुष्कलावती तथा अन्य अनेक नगरों में उसने यूनानी सैनिकों की छावनियाँ स्थापित कीं। पाटल तथा उसके दक्षिण में सिन्धु की पूर्वी धारा के बीच उसने बन्दरगाह भी स्थापित किए अथवा पुराने बन्दरगाहों का पुनर्निर्माण कराया। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि सिकन्दर का इरादा जीते गये भारतीय प्रदेशों को अपने विश्व-साम्राज्य में बनाए रखने का था। लेकिन इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसने जो कदम उठाये उनकी प्रभावशीलता का पता चलने के पूर्व ही, बत्तीस वर्ष कुछ माह की आयु में, जून 323 ई०पू० में उसकी मृत्यु हो गई। अल्पायु में तथा अप्रत्याशित रूप से मरने के कारण वह अपने पीछे कोई स्पष्ट उत्तराधिकारी नहीं छोड़ गया, यद्यपि उस समय उसकी रानी गर्भवती थी।

सिकन्दर की मृत्यु के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो सकने वाले संकट को रोकने के लिए उसके सेनापतियों ने बैबिलोन में एक समझौता किया जिसमें भारत की स्थिति यथावत् छोड़ दी गई। परन्तु यह समझौता सेनापतियों की महत्त्वाकांक्षा पर बन्धन सिद्ध नहीं हुआ। इस पर पर्डिक्कस ने, जो ज्येष्ठ हाइपार्क था और जिसे अश्वारोही तथा हस्ती सेना का समर्थन प्राप्त था प्रस्ताव रखा कि अगर रुखसाना के गर्भ से पुत्र उत्पन्न हो तो उसे सम्राट् घोषित कर दिया जाय। लेकिन मेलियेगर (Meleager) के भड़काने पर पदाति सेना ने सिकन्दर के पिता द्वितीय फिलिप के जारज पुत्र तृतीय फिलिप का समर्थन किया। इस मतभेद के परिणामस्वरूप हुए झगड़े में पर्डिक्कस की हत्या कर दी गई। 321 ई०पू० में त्रिपार्डिसस में साम्राज्य का दूसरा विभाजन हुआ जिसकी नए रीजेण्ट एण्टिपेटर द्वारा की गई घोषणा का डायोडोरस द्वारा प्रदत्त भारत विषयक अंश इस प्रकार है: "तब एण्टिपेटर ने प्रान्तों का पुनर्विभाजन किया और····'इण्डिया', जो पेरोपेमिसेदाय से लगा था, एगेनोर के पुत्र पीथोन को दिया तथा पड़ोस के राज्यों में उसको जो सिन्धु के किनारे-किनारे था उसने पोरस को दिया एवं झेलम के तट वाला राज्य टेक्सिलिज़ (अर्थात् आम्भी) को, क्योंकि किसी योग्य सेनापति के नेतृत्व में निष्ठावान् सैनिकों को भेजे बिना इन राजाओं को हराना असम्भव था" (डायोडोरस)। इस अवतरण में पोरस का उल्लेख सिन्धु के साथ और आम्भी का झेलम के साथ समस्यामूलक हैं। स्मिथ का विचार है कि डायोडोरस की गलती से यहाँ पोरस और आम्भी के नाम अदल-बदल गए हैं।[1] उस अवस्था में मानना पड़ेगा कि इस घोषणा में सिन्ध प्रान्त को, उसका उल्लेख न करके, स्वतन्त्र मान लिया गया है। परन्तु एफ० डब्ल्यु० टॉमस, मार्शल और रायचौधुरी आदि की धारणा है कि एण्टिपेटर ने पीथोन को सिन्ध से पेरोपेमिसेदाय भेजने के बाद सिन्ध प्रान्त को भी पोरस को ही सौंप दिया था।[2] इस

---

[1]अ०हि०इं०, पृ० 115, टि० 2।

[2]मार्शल, टैक्सिला, 1961, 2, पृ० 18; रायचौधुरी, ए०न०मौ०, पृ० 149–50।

दृष्टि से 'झेलम के तटवर्ती प्रदेश का राजा' रूप में आम्भी का उल्लेख भी सही है क्योंकि आम्भी झेलम से सिन्धु तक विस्तृत भूभाग का स्वामी था और स्वयं तक्षशिला नगर झेलम नगर से बहुत दूर नहीं था। एण्टिपेटर द्वारा सिन्ध प्रान्त पोरस को दिये जाने का एक विशेष कारण ज्ञात है। भारत से लौटते समय गेड्रोशिया पार करने के बाद कार्मेनिया में सिकन्दर को सूचना मिली थी कि फिलिप को, जो सिन्धु और पंजाब की नदियों के संगम वाले प्रदेश का क्षत्रप था, यूनानी सैनिकों ने मार डाला है यद्यपि फिलिप के मकदूनी अंगरक्षकों ने हत्यारों का भी वध कर दिया है। तब सिकन्दर ने यूडेमस, जो थ्रेसी सेना का कमाण्डर था, तथा आम्भी को नए क्षत्रप के नियुक्त किए जाने तक उस प्रान्त की देखभाल का भार सौंप दिया था। इस यूडेमस ने सत्ता-संघर्ष में एण्टिपेटर के प्रतिद्वन्द्वी यूमीनिज़ का साथ दिया। इससे रुष्ट होकर एण्टिपेटर ने सिन्धु के क्षत्रप पद पर उसे नियुक्त करने के बजाय पोरस को वह प्रान्त सौंप दिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

त्रिपार्डिसस की सन्धि (321 ई० पू०) के बाद किसी साक्ष्य में भारतीय प्रान्तों पर यूनानी आधिपत्य की चर्चा नहीं मिलती। लेकिन इतना ज्ञात है कि 321 ई०पू० के कुछ ही बाद में एण्टिपेटर के विरुद्ध यूमीनिज़ को सहायता देने के लिए यूडेमस भारत छोड़कर चला गया था। डायोडोरस के अनुसार उस समय उसके साथ 3,000 पदाति, 500 अश्वारोही तथा 120 हाथी थे और इन हाथियों को उसने एक भारतीय राजा को (एक पाठ के अनुसार पोरस) को धोखे से मार कर प्राप्त किया था। जो भी हो, यूडेमस 316 ई०पू० में यूमीनिज़ के वध के पूर्व अवश्य ही भारत से जा चुका था। इसी प्रकार पीथोन भी, जो पेरोपेमिसेदाय का क्षत्रप नियुक्त हुआ था, लगभग 316 ई०पू० में अपने मित्र एण्टिगोनस को, जो उत्तराधिकार के युद्ध में एक प्रत्याशी था, सहायता देने चला और 312 ई०पू० में गाजा के युद्ध में मारा गया। इन घटनाओं के दौरान भारतीय प्रदेश में गम्भीर परिवर्तन हुए और चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिन्धु के इस ओर (पूर्व) का प्रदेश अधिकृत कर लिया। जिस समय (लगभग 305 ई० पू० में) सेल्युकस, जो अन्ततोगत्वा सिकन्दर के एशियायी प्रान्तों का अधिपति बना, और चन्द्रगुप्त मौर्य का संघर्ष हुआ, सिन्धु नदी ही मौर्य और सेल्युकसी साम्राज्यों के बीच सीमा रेखा थी।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सिकन्दर द्वारा विजित सिन्धु पार के भारतीय प्रदेश 321 ई० पू० तक यूनानी आधिपत्य को मानते रहे। इसके कुछ ही वर्षों के उपरान्त सिन्धु के इस पार के प्रदेशों पर चन्द्रगुप्त मौर्य का अधिकार हो गया। सेल्युकस को परास्त करने के बाद चन्द्रगुप्त ने उससे हिन्दुकुश और एराकोशिया तक विस्तृत भूभाग भी छीन लिया। इस प्रकार सिकन्दर की मृत्यु के उपरान्त बीस वर्ष से कम समय में ही न केवल भारत वरन् भारत-ईरान के मध्यवर्ती प्रदेश भी यूनानी आधिपत्य से मुक्त हो गये।

भारत में सिकन्दर का साम्राज्य अस्थायी सिद्ध होने का सबसे बड़ा कारण उसकी

अप्रत्याशित मृत्यु थी। अगर वह जीवित रहता तो शायद भारत और ईरान का ही नहीं विश्व का इतिहास बहुत-कुछ भिन्न होता। उसकी मृत्यु के परिणामस्वरूप (1) भारत में बसाये गये यूनानी और मकदूनी सैनिक घर लौटने के लिए बेचैन हो उठे। सिकन्दर के जीवित रहने पर दस-बीस साल में भारत में उनकी जड़ें शायद जम जातीं, लेकिन भारत-विजय के तत्काल बाद सिकन्दर के मर जाने से उनको भारत में रहने को विवश करना सम्भव नहीं था। (2) सिकन्दर ने भारत में जो सैनिक बसाए थे उनमें भी दलबन्दी थी। उनमें कुछ यूनानी थे और कुछ मकदूनी। उनमें परस्पर झगड़ा रहता था। फिलिप की मृत्यु का कारण उसके यूनानी सैनिक ही थे जो स्वयं फिलिप के अंगरक्षकों द्वारा मारे गये थे। यह दलबन्दी भारत में यूनानी आधिपत्य के लिए दुर्बलता का स्रोत थी। (3) भारत में बसे मकदूनी सैनिक और सेनापति भी उपदलों में विभाजित थे जिनमें सत्ता के लिए खूब संघर्ष हुआ। ऐसी स्थिति में चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए यूनानी आधिपत्य के विरुद्ध सफल युद्ध करना कोई कठिन काम न था।

नीश (Niese) जैसे कुछ विद्वानों के अनुसार सिकन्दर का भारत पर आक्रमण एक अत्यन्त प्रभावशाली घटना थी और भारत का आगामी विकास इसके अनुसार ही हुआ।[1] इसके विपरीत स्मिथ और मुकर्जी आदि का विचार है कि सिकन्दर का आक्रमण भारतीय इतिहास में 'मात्र एक घटना' सिद्ध हुआ जिसके भारत पर प्रभाव को एम० आर्नाल्ड नामक कवि का यह कथन भली-भाँति व्यक्त करता है :

उसने विजयघोष करती सेनाओं को गुजर जाने दिया,
और फिर विचार में डूब गया।

"भारत अपरिवर्तित रहा, युद्ध के घाव शीघ्र भर गए, उजाड़े गए खेत फिर मुस्कराने लगे······भारत का यूनानीकरण नहीं हुआ, वह अपने 'शानदार एकान्त' (splendid isolation) में रहता रहा तथा मकदूनी तूफान को शीघ्र भूल गया। कोई भी भारतीय लेखक—हिन्दू, बौद्ध या जैन—सिकन्दर या उसके कार्यों की जरा भी चर्चा नहीं करता।"[2] लेकिन सिकन्दर का आक्रमण ऐसी मामूली घटना नहीं थी कि उसके बाद भारत फिर वैसा ही हो जाता जैसा पहले था। (1) इस आक्रमण से भारतीयों के सम्मुख यह स्पष्ट हो गया कि सबल अनुशासित सेना के साथ आने वाले आक्रमणकारी का सामना मात्र स्वतन्त्रता-प्रेम से नहीं किया जा सकता। इसके लिए उसी के समान शक्तिशाली अनुशासित सैनिक शक्ति की आवश्यकता होती है। इस पाठ को भारतीयों ने आत्मसात किया या नहीं, यह सर्वथा भिन्न प्रश्न है। उन्होंने यूनानी युद्ध कला से भी स्पष्टतः कुछ नहीं सीखा। (2) सिकन्दर के आक्रमण के परिणामस्वरूप उत्तरापथ के छोटे-छोटे राजा दुर्बल हो गए जिससे

---

[1]अ०हि०इं०, पृ० 118, टि० 1 में उद्धृत।
[2]वही, पृ० 117–18।

मौर्य साम्राज्य की स्थापना में सहायता मिली। एक प्रकार से चन्द्रगुप्त मौर्य का कार्य अगर पूर्व में नन्दों ने आसान किया तो पश्चिम में सिकन्दर ने। (3) सिकन्दर के आक्रमण से चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने प्रत्यक्ष रूप से भी बहुत कुछ सीखा होगा क्योंकि वे उस समय पंजाब में ही थे, यद्यपि स्वयं चन्द्रगुप्त मौर्य पर सिकन्दर के जीवन और सफलताओं का कितना गहरा प्रभाव पड़ा इसकी आज केवल कल्पना ही की जा सकती है। (4) यह सही होते हुए भी कि भारत का ईरान की तरह यूनानीकरण नहीं हुआ, इतना निश्चित है कि सिकन्दर के आक्रमण के कारण परवर्ती युग में बैक्ट्रियायी यूनानियों के आक्रमण हुए और उसके परिणामस्वरूप भारतीय कला (विशेषत: गन्धार कला), मुद्रा-प्रणाली तथा खगोल-विद्या पर न्यूनाधिक यूनानी प्रभाव पड़ा। सिकन्दर के द्वारा स्थापित नगर भी यद्यपि ईरान में बसाए गए नगरों की तरह स्थायी सिद्ध नहीं हुए, परन्तु इनमें कुछ की चर्चा परवर्ती इतिहास में मिलती है। 'महावंस' में अलसंद (सिकन्दरिया) नगर का उल्लेख है तथा 'पेरिप्लस ऑव एरिथ्रीयन सी' में बुकेफाला का। अशोक ने भी पश्चिमोत्तर भारत में स्थित 'योनों' (यवनों) का उल्लेख अपने अभिलेखों में किया है। (5) सिकन्दर के आक्रमण से भारत और यूनान में पहली बार प्रत्यक्ष और घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हुआ। इससे यूनानियों के भारत विषयक ज्ञान में इतनी वृद्धि हुई कि बहुत से विद्वान् तो इसे यूरोप वालों के लिए उसी प्रकार एक नई दुनिया की खोज मानते हैं जैसे कोलम्बस ने बाद में अमरीका की खोज की थी। यह तुलना अति-रंजित हो सकती है क्योंकि भारत और यूनान ईरान के माध्यम से पहले से ही परस्पर परिचित थे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारत के विषय में जितना विश्वसनीय ज्ञान यूनानियों को सिकन्दर के कारण हुआ उतना पहले नहीं था। (6) सिकन्दर द्वारा सिन्धु नदी का अन्वेषण तथा फारस की खाड़ी के मार्ग से अपने जलपोतों को लौटाना भौगोलिक ज्ञान तथा व्यापारिक सम्बन्धों में वृद्धि का कारण सिद्ध हुए। (7) इसके अतिरिक्त सिकन्दर के आक्रमण से भावी विजेताओं को प्रेरणा मिली। उदाहरणार्थ, सेल्युकस ने सिकन्दर की मृत्यु के तत्काल बाद ही उसके अधूरे स्वप्न को चरितार्थ करने की चेष्टा की। उसका तथा बैक्ट्रियायी यूनानियों का भारत पर आक्रमण एक प्रकार से सिकन्दर के आक्रमण का परिशिष्ट थे।

अध्याय 4

मौर्यों की जाति

मौर्यों की जाति विषयक प्राचीनतम अनुश्रुतियाँ

मौर्यों की जाति के प्रश्न पर प्राचीन भारतीय साहित्य में अनेक अनुश्रुतियाँ मिलती हैं और आधुनिक विद्वानों ने उनके आधार पर विभिन्न मतों का प्रतिपादन किया है। इन अनुश्रुतियों को हम अनायास दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—एक तो वे जो अपेक्षया प्राचीन हैं और दूसरी वे जिनका विकास परवर्ती युगों में हुआ। इनमें प्रथम वर्ग की अनुश्रुतियाँ, जो हमें क्लासिकल लेखकों के ग्रन्थों, पुराणों तथा प्राचीनतम बौद्ध साहित्य में मिलती हैं प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः यह प्रमाणित करती प्रतीत होती हैं कि मौर्य जन पूर्वी भारत की एक क्षत्रिय जाति थे। वास्तव में इस जाति की सामाजिक प्रतिष्ठा के विषय में प्रारम्भ में किसी को कोई शंका नहीं थी, परन्तु बाद में अनेक कारणों से ब्राह्मणों की दृष्टि में उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा गिर गई और वे उसे व्रात्य क्षत्रिय से शूद्र तक सिद्ध करने की चेष्टा करने लगे।

मौर्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा के विषय में सबसे अधिक विश्वसनीय और पर्याप्त प्राचीन साक्ष्य 'क्लासिकल' लेखकों का है जिनमें जस्टिन प्रत्यक्षतः और प्लुटार्क परोक्षतः हमारी सहायता करते हैं। जस्टिन (दूसरी शती ई०) ने लिखा है कि सिकन्दर द्वारा स्थापित यूनानी आधिपत्य से भारत को स्वतन्त्र कराने वाला नेता सेण्ड्रोकोट्टोस (=चन्द्रगुप्त) था। 'उसका जन्म एक मामूली (humble) घराने में हुआ था परन्तु एक शकुन के कारण वह राजत्व प्राप्त करने के लिए प्रेरित हुआ।'[1] प्लुटार्क के कथनानुसार 'एण्ड्रोकोट्टोस (=चन्द्रगुप्त), जो उस समय नवयुवक ही था, स्वयं सिकन्दर से मिला था, और बाद में कहा करता था कि सिकन्दर बड़ी आसानी से पूरे देश पर (गेंगेरीडाई और प्रासाई पर, जहाँ नन्दों का शासन था) अधिकार कर सकता था क्योंकि वहाँ का राजा स्वभाव से दुष्ट था और उसका जन्म नीच कुल में हुआ था जिसके कारण उसकी प्रजा उसे घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखती थी।'[2] नन्दों के नीचकुलोत्पन्न होने की चर्चा डायोडोरस आदि

---

[1]मजूमदार, क्ला० एका०, पृ० 193।

[2]वही, पृ० 199।

अन्य क्लासिकल लेखकों ने भी की है। इस साक्ष्य से स्पष्ट है कि (1) 'क्लासिकल' लेखक इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे कि गंगा की उपत्यका पर शासन करने वाला नन्द नरेश हीनजातीय था। (2) जहाँ तक मौर्यों का सम्बन्ध है, जस्टिन ने चन्द्रगुप्त का जन्म मामूली घराने में होने की बात सुनी थी। लेकिन उसके इस कथन का यह आशय मानना आवश्यक नहीं है कि चन्द्रगुप्त हीन जाति में उत्पन्न हुआ था। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि उसकी रगों में किसी राजवंश का रक्त नहीं था, वह एक साधारण जन था। (3) लेकिन प्लुटार्क द्वारा प्रदत्त इस सूचना से कि स्वयं चन्द्रगुप्त यह कहा करता था कि नन्दों के नीचकुलोत्पन्न होने के कारण प्रजा उन्हें तिरस्कार और घृणा की दृष्टि से देखती थी, यह सबल संकेत मिलता है कि चन्द्रगुप्त स्वयं नीच कुल में पैदा नहीं हुआ होगा। एक ऐसा व्यक्ति जिसने इस बात का राजनीतिक लाभ उठाया कि उसका प्रतिद्वन्द्वी हीनजातीय था, स्वयं हीन जाति में उत्पन्न नहीं हो सकता था।[1]

मौर्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा के विषय में पौराणिक साक्ष्य पर्याप्त उपयोगी है। यद्यपि ये ग्रन्थ उस युग में लिखे गए जब 'अर्थशास्त्र' के लेखक को गलती से चन्द्रगुप्त का गुरु चाणक्य माना जाने लगा था, परन्तु इनमें दी गई मूल सूचना सही है। इन ग्रन्थों में शैशुनाग वंश के उपरान्त नन्दों का वर्णन है और उन्हें शूद्र तथा अधार्मिक बताया गया है। इसके उपरान्त इनमें कहा गया है कि नव नन्दों का विनाश कौटिल्य (अर्थात चाणक्य) नामक ब्राह्मण करेगा जो चन्द्रगुप्त को राजपद पर अभिषिक्त करेगा।[2] इस वर्णन से स्पष्ट है कि पुराणकारों को केवल नन्दों के

---

[1]कुछ विद्वानों के अनुसार (जैसे, मुकर्जी, आर० के०, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० 28) चन्द्रगुप्त मौर्य की सामाजिक प्रतिष्ठा के विषय में कुछ परोक्ष संकेत कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से भी मिलता है। इस ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि अर्थशास्त्र विषयक 'इस ग्रन्थ की रचना उस (विष्णुगुप्त) ने की जिसने शास्त्र, शस्त्र और नन्दराज के अधीनस्थ भूमि का क्रोधपूर्वक शीघ्र उद्धार किया।' अब, इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि इसका लेखक परम्परागत वर्ण-व्यवस्था का कट्टर समर्थक था और केवल क्षत्रियों को ही राजसत्ता का अधिकारी मानता था। वह कहता है : 'जो राजा उच्चकुलोत्पन्न (अभिजात) होता है वह चाहे दुर्बल भी क्यों न हो, प्रजाजन (प्रकृति) अपने आप उसके सामने झुक जाते हैं क्योंकि उनमें कुलोत्पत्ति अर्थात् कुलीनता एवं ऐश्वर्य की योग्यता के प्रति स्वाभाविक सम्मान की भावना होती है। इसके प्रतिकूल वे नीच कुलोत्पन्न (अनभिजात) राजा का, चाहे वह बलवान् ही क्यों न हो, विराग के कारण विरोध करते हैं क्योंकि अनुराग ही सब गुणों का आश्रय है।' राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार इसे पढ़कर ऐसा लगता है मानो कौटिल्य अपनी सफाई दे रहे हों कि उन्होंने शक्तिशाली और धनवान् परन्तु शूद्र नन्द राजा की तुलना में चन्द्रगुप्त जैसे साधारण व्यक्ति को, जो एक कुलीन क्षत्रिय था, राजपद के लिए अधिक उपयुक्त क्यों समझा। परन्तु प्रस्तुत लेखक के विचार से 'अर्थशास्त्र' का लेखक कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मन्त्री चाणक्य से भिन्न था और उसने अपने ग्रन्थ की रचना लगभग 300 ई० में की थी। अतः 'अर्थशास्त्र' का साक्ष्य प्रस्तुत समस्या के विषय में सर्वथा अनुपयोगी है (दे०, पीछे, इतिहास-स्रोत विषयक अध्याय, परिशिष्ट 2 तथा 3)।

[2]उद्धरिष्यति तान् सर्वान् कौटिल्यो वै द्विजर्षभः।
कौटिल्य चन्द्रगुप्तं तु ततो राज्येभिषेक्ष्यति ॥

नीचकुलोत्पन्न होने का ज्ञान था, वे मौर्यवंशीय नरेशों को इस कोटि में नहीं रखते। उल्टे, शूद्र नन्दों के विनाश एवं चन्द्रगुप्त के अभिषेक की चर्चा करके वे यह स्पष्ट संकेत देते हैं कि स्वयं चन्द्रगुप्त शूद्रजातीय नहीं था।

प्राचीनतम बौद्ध परम्परायें

मौर्यों के मूलतः क्षत्रिय होने का सबसे सबल प्रमाण प्राचीनतम बौद्ध साहित्य में सुरक्षित है। 'महापरिनिब्बानसुत्त' में जो बौद्धों के प्राचीनतम और सर्वाधिक विश्वसनीय ग्रन्थों में एक है, एक स्थल पर पिप्फलिवन की मोरिय जाति का उल्लेख मिलता है जिसने बुद्ध के परिनिर्वाणोपरान्त मल्लों के पास सन्देश भेजकर यह तर्क देते हुए कि 'भगवान बुद्ध भी क्षत्रिय थे, हम भी क्षत्रिय हैं' (भगवापि खत्तियो मयम्पि खत्तिया) बुद्ध के अस्थि अवशेषों में एक भाग पाने का दावा किया था। यह तथ्य कि साम्राज्यिक मौर्य वंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त पिप्फलिवन या मोरिय नगर की मोरिय गणजाति में ही उत्पन्न हुआ था 'महावंस' (5वीं शती ई०) में स्पष्टतः उल्लिखित है। अपेक्षया परवर्ती ग्रन्थ 'महाबोधिवंस' भी चन्द्रगुप्त को मोरिय जाति का क्षत्रिय (मोरियनं खत्तियनं वंसे जातं) तथा राजाओं के कुल में उत्पन्न (नरिन्दकुलसम्भव) कहता है। अन्य बौद्ध ग्रन्थों में भी मौर्यों के क्षत्रिय होने की परम्परा सुरक्षित मिलती है। उदाहरणार्थ, 'दिव्यावदान' (तीसरी शती ई०) में बिन्दुसार और अशोक को क्षत्रिय कहा गया है।[1] इसीलिए मुकर्जी, लाहा, रायचौधुरी, चटर्जी तथा अन्य अनेक आधुनिक विद्वान् मौर्यों को पिप्फलिवन की मोरिय नामक क्षत्रिय जाति का सदस्य ही मानते हैं।[2] चौथी शती ई०पू० तक यह जाति मागध साम्राज्य में विलीन होकर अपना महत्त्व खो चुकी थी, इसलिए इसमें उत्पन्न युवक चन्द्रगुप्त अगर 'क्लासिकल' लेखकों को 'मामूली घराने' में उत्पन्न लगा तो कोई आश्चर्य नहीं।[3]

बहुत सी पाण्डुलिपियों में 'द्विजर्षभः' के स्थान पर 'द्विरष्टभिः' पाठ है। जायसवाल (आई० ए०, 1914, पृ० 124) ने इसे 'वीरष्ट्राभिः' पढ़ने का सुझाव दिया है और 'वीरष्ट्रों' की पहिचान पंजाब के आरट्टों से की है। लेकिन जैसा कि पार्जिटर ने (डा०क०ए०, पृ० 26, टि० 35) कहा है, यहाँ सही पाठ 'द्विजर्षभः' (=द्विजोत्तम) ही प्रतीत होता है।

[1]इस ग्रन्थ में एक स्थल पर बिन्दुसार एक स्त्री से कहता है, 'त्वं नापिनी अहं राजा क्षत्रियो मूर्धाभिषिक्तो। कथं मया सार्धं समागमो भविष्यति ?' अन्यत्र इस ग्रन्थ में अशोक अपनी रानी से कहता है : देवि ! अहं क्षत्रियः। कथं पलाण्डुं परिभक्ष्यामि ?

[2]रायचौधुरी, पो०हि०ए०इं०, पृ० 194; लाहा, ए०इं०यू०,पृ० 17; मुकर्जी, च० मौ० का०, पृ० 33–34।

[3]कुछ मध्यकालीन अभिलेखों में खानदेश के मौर्यों को मान्धातृ नामक सूर्यवंशी नरेश का वंशज कहा गया है और उत्तरी मैसूर के कुछ लेखों में चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय (इ०आई०, 2, पृ० 222)। 'राजपुताना गजेटियर' में मोरी नामक जाति की, जिसे टॉड ने मौर्य माना है, गणना राजपूतों में की गई है। क्षेमेन्द्र ने भी अशोक को सूर्यवंशी बताया है तथा 'अवदानकल्पलता' में अशोक को 'सौर्यमौर्यमहावंश पंचानन श्रीमदशोकदेव' कहा गया है।

मोरिय जाति का यह नाम सम्भवतः 'टॉटमिस्टिक' था और 'मयूर' या 'मोर' शब्द से सम्बन्धित था। बुद्धघोष सम्भवतः सबसे पहिला लेखक है जो बताता है कि मोरियों का यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि उनके राज्य में मयूरों की बहुतायत थी ('महापरिनिब्बानसुत्तन्त' की टीका)। बाद में इसकी व्याख्या करने के लिए बहुत सी कहानियाँ गढ़ी गईं (दे०, आगे)। प्राचीन काल में बहुत-सी जातियों या वंशों के नाम वृक्षों (जैसे, पल्लव, कदम्ब, ओदुम्बर आदि) अथवा पशु-पक्षियों (जैसे, अज, कुलिंग, आश्वायन आदि) के नामों पर रखे गये मिलते हैं। हो सकता है मोरिय भी इसी प्रकार का नाम रहा हो। कम से कम यह कल्पना करने के लिए कुछ पुरातात्विक आधार उपलब्ध हैं कि मौर्य नरेश अपने वंश के नाम का कुछ सम्बन्ध मोर पक्षी से मानते थे। लौरिया-नन्दनगढ़ में अशोक स्तम्भ के निचले सिरे पर 'मोर' की करीब 4 इंच लम्बी मूर्त्ति तक्षित है। साँची के स्तूप में पूर्वी तोरण के बाहरी भाग में, जहाँ अशोक के द्वारा बोधिवृक्ष की यात्रा का दृश्य उत्कीर्ण है, मोर के चित्र उकेरे मिले हैं। ग्रुनवैडेल का मत है कि ये चित्र इस बात का द्योतक हैं कि मोर मौर्यों का वंश चिह्न था। मार्शल, फूशे, मुकर्जी तथा अन्य अनेक विद्वान् इस मत से सहमति रखते हैं।[1] यहाँ यह ध्यान दिलाना अनुचित नहीं होगा कि एलियन के अनुसार[2] मौर्यों के पाटलिपुत्र स्थित राजप्रासाद के उद्यान में मोर भी पाले जाते थे।[3]

मौर्यों की जाति विषयक ब्राह्मण अनुश्रुतियों का परवर्ती विकास

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ इस तथ्य का या तो स्पष्टतः उल्लेख करते हैं कि मौर्य नरेश क्षत्रिय जातीय थे अथवा उनके साक्ष्य से इसका सबल संकेत मिलता है। लेकिन परवर्ती युगों में सर्वथा भिन्न अनुश्रुतियाँ प्रचलित हो गईं। इनमें हमारे विचार से कुछ के जनक ब्राह्मण लेखक थे और कुछ के बौद्ध तथा जैन। ब्राह्मणों का मौर्यों के प्रति दृष्टिकोण दो तथ्यों से विशेषतः प्रभावित हुआ प्रतीत होता है : एक, मौर्य नरेशों का बौद्ध और जैन धर्मों के प्रति प्रायः सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखना और दूसरा, उनका यूनानियों के साथ विवाह सम्बन्ध करके वर्ण व्यवस्था का उल्लंघन करना। 'मार्कण्डेय-पुराण' में मौर्यों को

---

[1]दे०, मुकर्जी, पूर्वो०, पृ० 34।

[2]मेक्रिण्डल, ए०इं०डे०क्ला०रा०, पृ० 141–42।

[3]यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि अशोक के प्रथम शिलालेख से ज्ञात होता है कि 'मोर' मौर्य अशोक के प्रिय खाद्य-पक्षियों में था। पंचम स्तम्भ-अभिलेख में रक्षित पक्षियों की सूची में मयूर की गणना किए जाने का भी यही कारण हो सकता है। लेकिन प्रथम शिलालेख में अशोक का अभिप्राय मयूर से ही है, यह कहना कठिन है। बुद्धघोष ने 'मज्झिम-निकाय' के 'भयभेखसुत्त' की टीका में मोर को पक्षी अर्थ में ग्रहण किया हैं। (मोरग्गहेण इधं सब्बं पक्खीगहणं अभिप्पेतम्)। इसलिए प्रथम शिलालेख में 'मोर' से आशय 'मयूर' से ही है, यह कहना दुष्कर हो जाता है।

'असुरों' के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। क्योंकि 'भागवत-पुराण' में बुद्ध द्वारा भ्रमित जनों को 'सुरद्विष' कहा गया है, इसलिए 'मार्कण्डेय-पुराण' के इस कथन का कि मौर्य असुर थे, यही अर्थ मानना उचित होगा कि वे बौद्ध धर्म के जाल में फँसे हुए थे। इन कारणों से ब्राह्मण लेखकों ने चन्द्रगुप्त मौर्य की उत्पत्ति के विषय में मन-मानी कल्पनाएँ कर लीं—यहाँ तक कि उसे नन्दों का वंशज घोषित करके शूद्र सिद्ध करने का प्रयास भी किया। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप बौद्ध लेखकों ने, जिनके मन में मौर्यों के प्रति सहानुभूति थी, मौर्य वंश की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए उन्हें स्वयं भगवान् बुद्ध की जाति शाक्य की एक शाखा घोषित कर दिया। इन अनुश्रुतियों में बहुत से आधुनिक विद्वानों को भी न्यूनाधिक श्रद्धा रही है।

मौर्यों के नन्दों से सम्बन्ध और तदनुसार उनके शूद्रत्व की धारणा के प्रचलन में 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक का परोक्षतः बड़ा योग रहा प्रतीत होता है, यद्यपि स्वयं इसका लेखक विशाखदत्त सम्भवतः यह नहीं मानता था कि मौर्य नरेश चन्द्रगुप्त नन्द-वंशोत्पन्न अथवा शूद्र था। वस्तुतः इस ग्रन्थ में चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में जो बातें कही गई हैं वे पूर्णतः स्पष्ट नहीं हैं। एक तरफ इसमें चन्द्रगुप्त को निश्चित रूप से 'नन्दान्वय' (5.5) कहा गया है, नन्दों के मन्त्री राक्षस के मुख से उसका वर्णन (5.19) 'स्वामिपुत्र' (मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः) रूप में तथा चाणक्य के मुख से राक्षस का वर्णन चन्द्रगुप्त के पैतृक प्रधान मन्त्री (अयं ते पैतृकोऽमात्य मुख्यः) रूप में कराया गया है जिससे लगता है कि विशाखदत्त चन्द्रगुप्त को नन्द राजा का पुत्र मानता था। लेकिन इसके साथ ही विशाख कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग करता है जिनसे संकेतित है कि वह चन्द्रगुप्त को नन्द राजा का या तो अवैध पुत्र मानता था अथवा उसका विचार था कि चन्द्रगुप्त नन्द-नरेश का पुत्र नहीं किसी प्रकार उसका पुत्रवत् हो गया था। उदाहरणार्थ, एक स्थल पर वह कहता है: 'नन्दकुलमनेन पितृकुलभूतं कृतघ्नेन घातितम्।' अगर चन्द्रगुप्त मौर्य नन्दराज का वैध पुत्र होता तो विशाख यहाँ पर 'पितृकुल' शब्द का प्रयोग करता। 'पितृकुलभूतं के प्रयोग का तो अर्थ यह कि नन्द कुल यथार्थतः चन्द्रगुप्त का पितृकुल नहीं था, किसी प्रकार पितृकुल के समान हो गया था। चन्द्र-गुप्त के लिए प्रयुक्त 'नन्दान्वयायएवायमिति' ('यह नन्द वंश के लिए है') वाक्यांश से भी ध्वनित है कि वह नन्दवंशीय न होकर नन्द वंश का पक्षपाती मात्र था। पुनश्च, एक स्थल पर विशाख लिखता है कि नन्द राजा 'सान्वय' (सम्पूर्ण वंश के साथ) नष्ट हो गया था।[1] यदि चन्द्रगुप्त स्वयं नन्दपुत्र होता तो नन्दों के 'सान्वय' नष्ट होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। विशाखदत्त द्वारा चन्द्रगुप्त के लिए 'मौर्यपुत्र' विशेषण के प्रयोग से भी चन्द्रगुप्त का नन्दों से पृथक्त्व संकेतित है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि विशाख चन्द्रगुप्त मौर्य को नन्दों से भिन्न कुल का परन्तु उनसे घनिष्ठतः सम्बद्ध,

---

[1]इष्टात्मजः सपदि सान्वय एव देवः शार्दूलपोतमिव यं परिपुष्य नष्टः।
—मुद्राराक्षस, 2.8।

नन्द राजा के पुत्र के समान, मानता था ।[1]

लेकिन चन्द्रगुप्त नन्द-नरेश के लिए पुत्रवत् था, मात्र इस तथ्य से यह सिद्ध नहीं होता कि विशाख की दृष्टि में चन्द्रगुप्त हीनजातीय था क्योंकि विशाख के अनुसार नन्द नरेश शूद्र न होकर 'प्रथितकुलजाः' और 'अभिजन' (उच्चैरभिजनम्) थे । चन्द्रगुप्त की सामाजिक प्रतिष्ठा के विषय में विशाख का दृष्टिकोण उसके लिए प्रयुक्त 'कुलहीन' शब्द के प्रयोग से[2] भी पूरी तरह स्पष्ट नहीं होता । इस शब्द को कुछ विद्वान् शूद्रजातीय अर्थ में लेते हैं और मुकर्जी जैसे इतिहासकार 'वैभवहीन', 'साधारण', या 'असम्पन्न' अर्थ में । हमें इनमें दूसरा मत सत्य लगता है और 'कुलहीन' शब्द जस्टिन द्वारा चन्द्रगुप्त की 'सामान्य कुल में उत्पत्ति' (humble origin) की चर्चा एवं स्वयं 'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त के लिए प्रयुक्त 'अप्रथितकुल' विशेषण की याद दिलाता है ।

चन्द्रगुप्त के लिए 'मुद्राराक्षस' में प्रयुक्त उपाधियों में 'वृषल' सर्वाधिक समस्यामूलक है । मनु के अनुसार क्रियालोप और ब्राह्मण अदर्शन से क्षत्रिय वृषलत्व अर्थात् शूद्रत्व को प्राप्त होते थे । मनु के इस कथन पर टीका करते हुए मेधातिथि ने लिखा है कि मिथ्यादर्शी ब्राह्मण को भी वृषल समझना चाहिए । इसका अर्थ है कि क्षत्रिय ही नहीं ब्राह्मण भी वृषलत्व को प्राप्त हो सकते थे । स्पष्टतः वृषलत्व की प्राप्ति जात्यपकर्ष और सामाजिक अनादरता की सूचक थी । अपने 'अर्थशास्त्र' में कौटिल्य ने वृषलों को अत्यन्त हेय माना है । इस ग्रन्थ में कहा गया है कि देवपितृकार्य में शाक्य (बौद्ध), आजीविक, वृषल तथा प्रव्रजित को आमन्त्रित करने वाले व्यक्तियों पर 100 पण दण्ड लगाया जाय (शाक्याजीविकादीन् देवपितृकार्येषु वृषल प्रव्रजितान् भोजयेत् । शत्योदण्डः) । स्पष्ट है कि विशाख ने, जो कौटिल्य के इस विचार से अवश्य ही परिचित था,[3] अगर कौटिल्य के मुख से चन्द्रगुप्त को वृषल कहलाया है तो वहाँ उसने उसका प्रयोग सामाजिक अनादरता प्रकट करने के लिए ही किया होगा । मुकर्जी का कहना है कि 'मुद्राराक्षस' में वृषल शब्द बल या सम्मानसूचक अर्थ में अथवा चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त के लिए प्यार के नाम रूप में प्रयुक्त हुआ है । परन्तु यह धारणा भ्रान्त है । इस नाटक में एक स्थल पर कंचुकी चाणक्य के घर की निर्धनता देखकर सोचता है कि चाणक्य इतना निस्पृह है इसीलिए उसे अपना स्वामी भी तिनके की तरह दिखाई

---

[1]रायचौधुरी का यह विश्वास कि 'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त की उत्पत्ति नन्दों से बताई गई है (ए०न०मौ०, पृ० 141), पूर्णतः सही नहीं है ।

[2]पृथिव्यां किं दग्धाः प्रतिथ कुलजाभूमिपतयः ।
पतिं पापे मौर्यं यदसि कुलहीनं वृतवती ॥
—मुद्राराक्षस, 2.7 ।

[3]'मुद्राराक्षस' के रचयिता का 'अर्थशास्त्र' से घनिष्ठ परिचय था । दे०, देवस्थली, जी०बी०, इण्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑव अर्थशास्त्र, पृ० 105 अ० ।

देता है और इसीलिए वह उसे 'वृषल' कहकर पुकार सकता है।[1] इस नाटक में एक अन्य स्थल पर नन्द का मन्त्री राक्षस अफसोस प्रकट करते हुए कहता है कि नन्द जैसे अभिजन भुवनेश्वर को छोड़कर दुराचारिणी राजलक्ष्मी चरित्रहीना शूद्रा की भाँति छल से वृषल के पास जाकर स्थिर हो गई है।[2] इन तथ्यों से स्पष्ट है कि 'मुद्राराक्षस' के रचयिता की दृष्टि में चन्द्रगुप्त मौर्य किसी ऐसे कुल में उत्पन्न हुआ था जिसकी सामाजिक प्रतिष्ठा केवल उसके शत्रुओं की दृष्टि में ही अपमानजनक नहीं थी, उसका उल्लेख करके चाणक्य भी यह संकेतित करता रहता था कि चन्द्रगुप्त उसकी दृष्टि में तिनके के समान है। हमारे विचार से 'वृषल' का अर्थ व्रात्य क्षत्रिय (ऐसे क्षत्रिय जो ब्राह्मण दृष्टिकोण से पतित थे) मानने से 'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त के विषय में कही गई सब बातों की सर्वथा स्वीकार्य मीमांसा हो जाती है। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि 'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त मौर्य को 'वृषल' कहे जाने से अन्य ब्राह्मण लेखकों की दृष्टि में, जो नन्दों को शूद्र मानते थे, चन्द्रगुप्त और नन्दों के घनिष्ठ सम्बन्ध और तदनुसार चन्द्रगुप्त के शूद्रजातीय होने से सम्बन्धित धारणा को बल मिला होगा।

एक बार यह जनश्रुति फैल जाने के बाद कि चन्द्रगुप्त मौर्य का सम्बन्ध नन्दों से था, उसका परिवर्धन मनमाने ढंग से करने में कोई बाधा नहीं थी। इस विषय में ब्राह्मण लेखकों को अतिरिक्त आधार मिला स्वयं पुराणों से जिनमें महापद्मनन्द के हाथों शैशुनाग नरेशों के उन्मूलन का वर्णन करते समय कहा गया है कि 'तब से शूद्र-जातीय राजा राज्य करेंगे' (ततः प्रभृति राजानो भविष्याः शूद्रयोनयः)।[3] यहाँ पुराणकारों का आशय स्पष्टतः मात्र नन्दों से है, शैशुनाग वंश के बाद राज्य करने वाले सब राजवंशों से नहीं क्योंकि नन्दों के बाद राज्य करने वाले वंशों में तो शुंग और कण्वादि भी हैं जो निश्चित रूप से ब्राह्मण थे। लेकिन कट्टर ब्राह्मण परम्परा के अनुयायी लेखकों के लिए इस वाक्य के आधार पर मौर्यों को भी शूद्र मान लेना कठिन नहीं था। 'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त मौर्य को 'वृषल' (जिसका अर्थ 'शूद्र' लगाया जा सकता था) कहे जाने से इस धारणा को बल मिला होगा। इस पृष्ठभूमि में

---

[1]ततः स्थाने खल्वस्य वृषलो देवश्चन्द्रगुप्तः इति। कुतः ?
स्तुवन्त्यश्रान्तास्याः क्षितिपतिमभूतैरपि गुणैः
प्रवाचः कार्पण्याद्यदवितथ वाचोऽपि कृतिनः।
प्रभावस्तृष्णायाः स खलु सकलः स्यादितरथा
निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषयः॥
—मुद्राराक्षस, 3.16।

[2]पतिं त्यक्त्वा देवं भुवनपतिमुच्चैरभिजनम्।
गताच्छिद्रेण श्रीर्वृषलमविनीतेव वृषली।
—मुद्राराक्षस, 6.6।

[3]पार्जिटर, डा०क०ए०, पृ० 25।

'विष्णु-पुराण' के रत्नगर्भ नामक टीकाकार ने, जिसकी तिथि अज्ञात है,[1] चन्द्रगुप्त को शूद्रजातीय सिद्ध करने के लिए 'मौर्य' शब्द को 'मुरा का पुत्र' अर्थ में ग्रहण किया और मुद्रा को नन्दराज की पत्नी मानकर उसे नन्दपुत्र घोषित कर दिया (चन्द्रगुप्तं नन्दस्यैव पत्यन्तरस्य मुरासंज्ञस्य पुत्रं मौर्य्याणां प्रथमं)। लेकिन जैसा कि सर्वथा स्पष्ट है रत्नगर्भ का यह कथन पूर्णतः अनुमानाश्रित है। (1) 'मुरा' नाम प्राचीन साहित्य में सर्वथा अज्ञात है। (2) अगर चन्द्रगुप्त का पूर्ववर्ती नन्द राजा से कोई सम्बन्ध होता तो उसका पुराणों में उसी प्रकार उल्लेख होता जिस प्रकार अन्तिम शिशुनाग राजा का प्रथम नन्द-नरेश से बताया गया है। जैसा कि सी०डी० चटर्जी तथा रा०कु० मुकर्जी ने ध्यान दिलाया है, व्याकरण की दृष्टि से भी यह कथन अशुद्ध है क्योंकि मुरा से व्युत्पन्न शब्द 'मौर्य' न होकर 'मौरेय' होगा। मौर्य शब्द केवल पुल्लिग 'मुर' से बन सकता है जिसका उल्लेख पाणिनि के गणपाठ (4.1.151) में एक गोत्र के रूप में किया गया है।[2] (3) अगर चन्द्रगुप्त नन्द-नरेश का पुत्र रहा होता तो जस्टिन उसे 'मामूली घराने में' उत्पन्न नहीं बताता। (4) चन्द्रगुप्त मौर्य के नन्द-पुत्र होने की अफवाह फैलने का एक कारण आसानी से सुझाया जा सकता है। स्मरणीय है कि नवनन्दों में एक का नाम चन्दगुतिक या चन्दगतिक था।[3] हो सकता है परवर्ती युगों में इस चन्द्रगुप्त को चन्द्रगुप्त मौर्य से अभिन्न मान लिया गया हो। यह भी सम्भव है कि परवर्ती युगों में किसी प्राचीन ग्रन्थ में चन्द्रगुप्त के लिए प्रयुक्त 'नरिन्द कुल सम्भव' पद को गलती से 'नन्दकुलसम्भव' पढ़ लिया गया हो।

चन्द्रगुप्त मौर्य के नन्दों से सम्बन्ध की अफवाह को लेकर बाद में अन्य अनेक कल्पनाएँ की गईं। इनमें 'मुद्राराक्षस' के टीकाकार ध्रुण्ढिराज (18वीं शती ई०) ने अपनी टीका के उपोद्घात में जो कुछ लिखा है वह 'मुद्राराक्षस' की कथा की रत्नगर्भ के उपर्युक्त कथन के प्रकाश में व्याख्या करने का प्रयास मात्र लगता है। वह बताता है कि सर्वार्थसिद्धि नामक राजा के दो पत्नियाँ थीं—क्षत्रिया सुनन्दा और वृषलात्मजा

---

[1]विलसन, विष्णु-पुराण, भू०, पृ० 72। सी०डी० चटर्जी को यह रचना 18वीं शती ई० के पूर्वार्द्ध से प्राचीनतर नहीं लगती (बी०सी० लाहा वॉल्यूम, 1, पृ० 596, टि०)।

[2]रा० कु० मुकर्जी का कहना है कि 'विष्णु-पुराण' के इस टीकाकार को चन्द्रगुप्त की जाति में किसी कलंक का ज्ञान नहीं था क्योंकि वह उसकी माता को शूद्रा या नन्द नरेश की रखैल नहीं कहता। लेकिन इस लेखक के यह कहने से कि चन्द्रगुप्त शूद्रजातीय नन्द नरेश का पुत्र था यह प्रमाणित है कि वह चन्द्रगुप्त को भी शूद्र मानता था। एफ०डब्ल्यु०टॉमस (कैं०हि०इं०, 1, पृ० 470) का यह कहना कि मुरा को नन्द राजा की रखैल बताया गया है, स्पष्टतः गलत है। मुरा का उल्लेख सर्वत्र नन्द नरेश की पत्नी या रानी के रूप में मिलता है।

[3]यह नाम मोग्गल्लान के 'महावंस' में मिलता है। 'महाबोधिवंस' में नवनन्दों के वही नाम मिलते हैं जो मोग्गल्लान के 'महावंस' में—सिवाय कनक और चन्दगतिक के जिन्हें 'महाबोधिवंस' में 'पाण्डुक' और 'पाण्डुगति' कहा गया है। शायद कनक अर्थात् सुवर्ण तथा चन्द्र के पाण्डु अर्थात् पीले रंग के होने के कारण इन नामों को इस प्रकार बदल दिया गया है।

(=शूद्रा) मुरा ।[1] सुनन्दा के नौ पुत्र नवनन्द कहलाए और मुरा का पुत्र मौर्य । चन्द्रगुप्त इसी मौर्य के सौ पुत्रों में एक था । सर्वार्थसिद्धि ने अपना सेनापति नन्दों में से किसी को न बनाकर मौर्य को बनाया था । इस पर नन्द बन्धुओं ने छल से मौर्य तथा उसके सब पुत्रों को मरवा डाला—केवल चन्द्रगुप्त अपनी जान बचाने में समर्थ हुआ । महादेव ने अपनी 'मुद्राराक्षसकथा' में तथा रविनर्तक ने 'चाणक्यकथा' में धुण्ढिराज के इस वर्णन को स्वीकार किया है । लेकिन सोमदेव के ग्रन्थ 'बृहत्कथामंजरी' (11वीं शती) तथा क्षेमेन्द्र के 'कथासरित्सागर' (11वीं शती) में उपलब्ध कश्मीरी परम्परा में चन्द्रगुप्त का नन्दों से सम्बन्ध सर्वथा भिन्न प्रकार से प्रदर्शित किया गया है । इन ग्रन्थों में न तो सर्वार्थसिद्धि का उल्लेख है और न नौ नन्दों का । इनमें केवल दो नन्दों का उल्लेख है : एक पूर्वनन्द जो चन्द्रगुप्त का पिता बताया गया है और दूसरा योगनन्द जो हिरण्यगुप्त अथवा हरिगुप्त का पिता था । इनमें योगनन्द, जिसका शरीर तो पूर्वनन्द का था और आत्मा इन्द्रदत्त नामक एक अन्य व्यक्ति की, चाणक्य की कृत्या के फलस्वरूप मृत्यु को प्राप्त हुआ था । जायसवाल ने पूर्वनन्द और नवनन्द में अन्तर मान कर दो नन्द वंश माने हैं—एक नवनन्द वंश (नव को नवीन के अर्थ में लेकर) अर्थात् महापद्मनन्द का वंश तथा पूर्वनन्द वंश (महानन्दि और नन्दिवर्धन का वंश) । हरिकृष्णदेव और उनका अनुसरण करते हुए स्मिथ ने चन्द्रगुप्त मौर्य को इन्हीं पूर्व-नन्दों का वंशज माना है ।[2] इस मत का कल्पनाप्रसूत होना स्वतः स्पष्ट है ।[3]

बौद्ध और जैन अनुश्रुतियों का परवर्ती विकास

ब्राह्मणों द्वारा मौर्यों को इस प्रकार शूद्र सिद्ध करने की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप बौद्धों ने, जो अशोकादि नरेशों की उदारता के कारण मौर्यों के बहुत प्रशंसक थे, उनके वंश को अपनी सामाजिक व्यवस्था में उच्चतम स्थान देने के लिए स्वयं भगवान् बुद्ध की जाति शाक्य की एक शाखा सिद्ध करने का प्रयास किया । 'महावंस' की 'वंसत्थप्पकासिनी' नामक टीका (9वीं शती ई०) के अनुसार कोसल-नरेश प्रसेनजित् के उत्तराधिकारी विडूडभ ने जब शाक्यों का विनाश किया तो उनकी एक शाखा पर्वतीय प्रदेश की तरफ भाग गई और वहाँ एक ऐसे रमणीय भूखण्ड में बस गई जहाँ पिप्पली वृक्षों का वन था । वहाँ उसने प्राचीरों से सुरक्षित एक सुन्दर नगर का निर्माण किया जिसमें मोरों की ग्रीवा के रंग की ईंटों का प्रयोग किया था और जो मोरों के स्वर से गुंजित रहता था । इसलिए इस नगर के निवासी शाक्य मोरिय

---

[1]राज्ञः पत्नी सुनन्दासीज्ज्येष्ठान्या वृषलात्मजा ।
मुराख्या सा प्रिया भर्तुः शीललावण्यसम्पदा ।।

[2]अ०हि०इं०, पृ० 44, टि० 1, पृ० 123 ।

[3]कुछ विद्वानों का विचार था कि यह कथा गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' में भी रही होगी । लेकिन सी०डी० चटर्जी का कहना है कि चन्द्रगुप्त के नन्दों से सम्बन्ध की कथा गुणाढ्य को सम्भवतः ज्ञात नहीं थी (आई०सी०, 1, पृ० 1 अ०) ।

कहलाए।[1] इस ग्रन्थ में ही मोरिय शब्द की एक अन्य व्युत्पत्ति भी दी गयी है जिसके अनुसार उपर्युक्त नगर के निवासी उसके सौन्दर्य से मुदित होने के कारण 'मोदिय' कहलाए, परन्तु इस नाम में 'द' का स्थान 'र' द्वारा ले लिये जाने पर यह नाम 'मोरिय' हो गया।[2] मोग्गल्लान के 'महावंस' में, जो 'कम्बोडियायी महावंस' भी कहलाता है (10वीं शती ई०), मोरियों की शाक्यों से उत्पत्ति की उपर्युक्त कथा दी गई है और 'महाबोधिवंस' (10वीं--11वीं शती ई०) का वर्णन भी मूलतः वैसा ही है। इस अनुश्रुति में आजकल सी०डी०चटर्जी, रा०कु० मुकर्जी तथा अन्यान्य अनेक विद्वान् श्रद्धा रखते हैं और मौर्यों को शाक्यों की शाखा मानते हैं।[3] सी०डी० चटर्जी का कहना है कि शाक्यों ने 'मोरिय' नाम आत्मरक्षा के हेतु अपना परिचय छिपाने के लिए रखा होगा। एक बर्मी अनुश्रुति में मौर्य नगर (मोरिय नगर) की स्थापना का श्रेय वैशाली के उन कुछ भगोड़े राजाओं को दिया गया है जिन्होंने अद्ज़तथत् (=अजातशत्रु) के आक्रमण के समय भाग कर अपनी जान बचाई थी।[4] यहाँ स्पष्टतः गलती से शाक्यों के स्थान पर वैशाली के राजाओं का और विडूडभ के स्थान पर अजातशत्रु का उल्लेख कर दिया गया है।

लेकिन बौद्ध कथाओं का यह कथन कि विडूडभ के आक्रमण से भयभीत शाक्यों की एक शाखा ही पिप्फलिवन में बस जाने के उपरान्त मोरिय नाम से विख्यात हुई, निश्चित रूप से गलत है क्योंकि मोरिय जनों का अस्तित्व विडूडभ के राज्यारोहण के पूर्व भी था। 'महापरिनिब्बानसुत्त' के अनुसार गौतम बुद्ध की मृत्यु 80 वर्ष की आयु में हुई और 'मज्झिम-निकाय' के 'धम्मचेतियसुत्त' के अनुसार जिस समय विडूडभ का पिता प्रसेनजित् गौतम बुद्ध से अन्तिम बार मिलने के लिए आया था, उसने बातचीत में गौतम बुद्ध को बताया था कि उस समय उन दोनों की आयु 80 वर्ष की थी। उस भेंट के दौरान ही उसके मन्त्री दीघचारायण ने प्रसेनजित् से विश्वासघात किया और जब कोसल-नरेश भगवान् बुद्ध से वार्तालाप कर रहा था, वह उसका राजमुकुट तथा तलवार लेकर श्रावस्ती चला गया और विडूडभ को राजा बना दिया। इस विद्रोह का समाचार सुनकर प्रसेनजित् राजगृह आया जहाँ नगर-द्वार पर उसकी मृत्यु हो गई। राजा बनने के बाद विडूडभ ने शाक्यों पर आक्रमण किया। उसके आक्रमण

---

[1]तं मयूरगीवसकासछदानिट्ठकपासादपतिकं च मयूरकेकानादेहि पूरितमुग्घोसितं च अहोसि। तेन तस्स नगरस्स सामिनो साकिया च तेसं पुत्तपपुत्ता च सकलजंबुदीपे मोरिया नामा ति पाकटा जाता।

—वंसत्थप्पकासिनी, (मललसेकर द्वारा सम्पादित), 1, पृ० 180।

[2]वही, पृ० 180। मोरियनं ति अत्तानं नगरसिरिया मोदापीति एत्थ संजाता ति दुकारस्स च रकारं कत्वा मोरिया ति लद्धवोहारानं खत्तियानं ति अत्थो।

[3]चटर्जी, बी०सी० लाहा वॉल्यूम, 1, पृ० 596; मुकर्जी, च० मौ० का०, पृ० 33।

[4]दे०, ए०न०मौ०, पृ० 143। कुछ सिंहली कथाओं में मौर्यों को सिंहली जन बताया गया है (दे०, 'डिक्शनरी ऑव पालि प्रोपर नेम्स्, 2, पृ० 673)।

का समाचार सुनकर गौतम बुद्ध कपिलवस्तु आए। उनकी उपस्थिति से अभिभूत होकर विडूडभ को लौट जाना पड़ा। ऐसा तीन बार हुआ। क्योंकि प्रसेनजित् से भेंट होने के समय गौतम बुद्ध के जीवन का अस्सीवाँ वर्ष चल रहा था और अस्सी वर्ष की आयु में ही उनकी मृत्यु हुई, इसलिए ये सब घटनाएँ बुद्ध के जीवन के अन्तिम वर्ष में ही घटी होंगी। चौथी बार जब विडूडभ ने आक्रमण किया, उसे सफलता मिली क्योंकि गौतम बुद्ध इस बार कपिलवस्तु नहीं आए थे। इसका स्पष्ट कारण उनकी मृत्यु होनी चाहिए। इस विवेचन से, जिसका आधार 'धम्मपद अट्ठकथा' है, सिद्ध है कि विडूडभ ने शाक्यों का विनाश भगवान् बुद्ध की मृत्यूपरान्त किया था। इस तथ्य का एक सबल प्रमाण यह भी है कि जब बुद्ध के अस्थि-अवशेषों का बँटवारा हुआ था, शाक्य भी एक दावेदार के रूप में विद्यमान थे। भगवान् बुद्ध ने अपने अन्तिम उपदेश में भी शाक्यों के विनाश का उल्लेख नहीं किया है जबकि यह घटना अगर उनके जीवनकाल में घटी होती तो वह उस उपदेश में इसकी चर्चा अवश्य करते। इन तथ्यों से प्रमाणित है कि शाक्यों का विनाश बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद में हुआ। परन्तु हम पाते हैं कि भगवान् बुद्ध के अवशेषों में एक भाग माँगने स्वयं पिप्फलिवन के मोरिय जन भी आए थे। इससे सिद्ध हो जाता है कि मोरियों का अस्तित्व विडूडभ के शाक्यों पर आक्रमण के पूर्व भगवान् बुद्ध के जीवन काल में भी था। दूसरे शब्दों में शाक्य मोरियों से सर्वथा भिन्न थे। इस निष्कर्ष का समर्थन इस तथ्य से भी होता है कि बुद्धघोष ने 'महापरिनिब्बानसुत्त' की टीका में शाक्यों और मोरियों का कोई सम्बन्ध नहीं बताया है यद्यपि इसमें इस बात की चर्चा की गई है कि मोरिय-जन अपने राज्य में मयूरों की बहुतायत के कारण मोरिय नाम से विख्यात थे। स्पष्टत: बुद्धघोष के समय तक शाक्यों और मोरियों में सम्बन्ध की कल्पना प्रचलित नहीं हुई थी।

मोरिय जनों का भगवान् बुद्ध के जीवन काल में अस्तित्व अन्य अनेक साक्ष्यों से प्रमाणित है। 'अंगुत्तर-निकाय' की टीका में एक भिक्षु द्वारा मोलियगाम (=मोरिय-ग्राम) जाने का उल्लेख है। 'अंगुत्तर-निकाय' तथा 'संयुत्त-निकाय' में मोलियसीवक नामक परिव्राजक का उल्लेख है जो वेलुवन में गौतम बुद्ध से मिलने आया था और जिसने भाग्यवाद पर उनसे कुछ प्रश्न पूछे थे। उसके नाम से लगता है कि वह मोलिय (=मोरिय) गाम का निवासी रहा होगा। इसी प्रकार जैन 'कल्पसूत्र' में महावीर के ग्यारह गणधरों का उल्लेख है। ये सब ब्राह्मण थे। इनमें छठे गणधर का नाम मण्डित था और सातवें का मोरियपुत्त। ये दोनों मोरिय सन्निवेश के निवासी कहे गए हैं।[1] क्योंकि इन गणधरों की मृत्यु भगवान् महावीर के जीवन काल में हुई थी तथा महावीर की मृत्यु बुद्ध के पूर्व, इसलिए ये गणधर भगवान् बुद्ध के समकालीन भी अवश्य रहे होंगे। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि यह बौद्ध अनुश्रुति कि मोरिय जन

---

[1]सन्दर्भों के लिए दे०, प्रकाश, बी०, स्टडीज, पृ० 78।

शाक्यों की शाखा थे और शाक्यों के विनाश के अनन्तर मोरिय नाम से विख्यात हुए, निश्चयतः गलत है। मोरिय जनों का अस्तित्व शाक्यों के विनाश के पूर्व भी था। स्पष्ट है कि बौद्धों ने, जिन्हें मौर्य नरेशों का संरक्षण प्रायः मिला था, उनको स्वयं भगवान् बुद्ध की जाति का सिद्ध करने के लिए यह कथा गढ़ी होगी।

'मौर्य' नाम की 'मयूर' शब्द से व्युत्पत्ति मानकर परवर्ती जैन ग्रन्थों में भी मौर्यों की उत्पत्ति विषयक एक अनुश्रुति दी गई है। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य नन्द नरेश के राज्य में रहने वाले मयूरपोषकों के ग्राम के मुखिया (मयहर) का दौहित्र था।[1] 'मयूरपोषकाः' शब्द का, जो 'परिशिष्टपर्वण' में मिलता है,[2] प्राकृत रूप 'मोरपोसगा' है जो 'आवस्सयचूण्णि' तथा 'सुखबोधा' में उपलब्ध है।[3] इस अनुश्रुति में मौर्यों को क्षत्रिय के बजाय पेशे से मयूरपोषक बताने की गलती की गई है परन्तु इसका यह कथन स्पष्टतः सही है कि वे पहिले नन्दों के अधीन रहे थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ चन्द्रगुप्त मौर्य को क्षत्रिय बताते हैं। लेकिन परवर्ती युगों में ब्राह्मण लेखकों ने या तो भ्रमवशात् अथवा जान-बूझ कर उसका सम्बन्ध नन्दों से सिद्ध करने की चेष्टा की। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप बौद्धों ने मौर्यों का सम्बन्ध स्वयं भगवान् बुद्ध की जाति शाक्य से जोड़ने के प्रयास किया। लेकिन परवर्ती ब्राह्मण और बौद्ध लेखकों के प्रयास प्राचीन साक्ष्य के विरुद्ध होने के कारण त्याज्य हैं।[4]

---

[1]नन्दस्स मोरपोसगा तेसिं गामे गाओ परिवाय गालिं गेण। तेसिं च मयहर धूयाए चंदपियणम्मि-दोहलो।

[2]चणेश्वरीकुक्षिजन्मा द्विजन्मा सोऽन्यदा ययौ।
मयूरपोषकायतरावात्सुर्नन्द महीपतेः॥

[3]'महाभारत' में भी मयूरक नामक जाति का उल्लेख मिलता है जिसकी स्थिति मध्य देश के पश्चिम और उत्तरापथ के दक्षिण में बताई गई है।

[4]रोमिला थापर ने सुझाव रखा है कि मौर्य नरेश वैश्यजातीय थे (अशोक एण्ड दि डेक्लाइन ऑव दि मौर्यज, पृ० 12–13)। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि शक महाक्षत्रप प्रथम रुद्रदामा के जूनागढ़-लेख में चन्द्रगुप्त मौर्य के गवर्नर वैश्य पुष्यगुप्त का उल्लेख है (मौर्यस्य राज्ञः चन्द्रगुप्तस्य राष्ट्रियेण वैश्येन पुष्यगुप्तेन कारितं ···· स० इं०, पृ० 177) जो कीलहॉर्न के अनुसार (इ०आई०, 7, पृ० 46, टि० 7) चन्द्रगुप्त का साला था। परन्तु (1) 'राष्ट्रिय' शब्द का, जिसके आधार पर कीलहॉर्न ने पुष्यगुप्त को चन्द्रगुप्त का साला बताया है एक अन्य अर्थ 'राजा' या 'गवर्नर भी होता है और यहाँ यही अर्थ उपयुक्त है। (2) रोमिला थापर का यह कहना कि चन्द्रगुप्त के नाम में गुप्त शब्द के प्रयोग से उसका वैश्य होना संकेतित है, विशेष सबल तर्क नहीं है क्योंकि उस काल में ब्राह्मण और क्षत्रिय जन भी गुप्तान्त नाम धारण करते थे। स्वयं कौटिल्य का एक नाम विष्णुगुप्त था। (3) यह भी स्मरणीय है कि थापर का मत मौर्यों की जाति विषयक सभी प्राचीन परम्पराओं के विरुद्ध है। (4) अगर चन्द्रगुप्त मौर्य पुष्यगुप्त का बहनोई भी था तब भी पुष्यगुप्त के वैश्य होने से भी चन्द्रगुप्त का वैश्य होना प्रमाणित नहीं होगा क्योंकि तत्कालीन युग में अनुलोम विवाह प्रायः होते थे।

मौर्यों का आदि निवास-स्थल

मौर्यों का उदय किस प्रदेश में हुआ, यह समस्या उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा की समस्या से घनिष्ठतः सम्बन्धित है। इस विषय में सर्वप्रथम स्पूनर के इस मत की चर्चा की जा सकती है कि मौर्य नरेश पारसी थे।[1] इस अनुमान का आधार मौर्यकालीन भारतीय संस्कृति पर ईरानी प्रभाव है। परन्तु इस प्रभाव की सीमा को स्पूनर ने बहुत बढ़ाकर बताया है। दूसरे, इसकी व्याख्या मौर्यकालीन भारत के साथ ईरान के घनिष्ठ सम्बन्ध से भी अनायास हो जाती है। इसके लिए मौर्यों को ईरानी मानना आवश्यक नहीं है। इसलिए स्पूनर के इस मत का कीथ, स्मिथ और टॉमस आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी विरोध किया है।[2]

एच० सी० सेठ का मत है कि चन्द्रगुप्त मौर्य उत्तरापथ के गन्धार प्रदेश का निवासी था। इस मत के समर्थन के हेतु उन्होंने सिकन्दर के इतिहासकारों द्वारा उल्लिखित एक भारतीय राजा शशिगुप्त को, जिसे सिकन्दर ने आश्वकायनों के राज्य में ओर्नोस् का गवर्नर नियुक्त किया था, चन्द्रगुप्त मौर्य से अभिन्न माना है। लेकिन स्वयं यूनानी लेखक सिसिकोट्टोस् (=शशिगुप्त) और सेण्ड्रोकोट्टोस् (=चन्द्रगुप्त) के पृथक्त्व से भलीभाँति परिचित हैं। शशिगुप्त भारत में यूनानियों का एजेण्ट था जब कि चन्द्रगुप्त ने यूनानियों के विरुद्ध स्वतन्त्रता संग्राम का नेतृत्व किया था। सेठ ने अपने मत को सिद्ध करने के लिए उस सिंहली अनुश्रुति का सहारा लिया है जिसके अनुसार कोसलराज विड़ूडभ द्वारा आक्रान्त होने पर शाक्यों की एक शाखा ने अन्यत्र भाग कर एक नगर बसाया था जो मोरियनगर कहलाया और उसके निवासी होने के कारण वे शाक्य मोरिय कहे गए। इस अनुश्रुति को सेठ ने शुआन-च्वांग द्वारा उल्लिखित एक कथा से जोड़ा है। इस कथा के अनुसार[3] विड़ूडभ के द्वारा आक्रान्त होने पर एक शाक्य जन भाग कर उद्यान (=गन्धार) देश आ गया था और वहाँ राजा बन बैठा था। उसके पुत्र उत्तरसेन से मिलने स्वयं गौतम बुद्ध उद्यान आए थे और उन्हीं के आदेश से उत्तरसेन भगवान् के परिनिर्वाणोपरान्त उनके अस्थि-अवशेषों में एक भाग की मांग करने के लिए मगध आया था तथा देवताओं के आदेश दिए जाने पर पवित्र अवशेषों का प्रथम भाग प्राप्त करने में सफल हुआ था। परन्तु सिंहली अनुश्रुति में कहीं यह नहीं कहा गया है कि मोरिय नगर उत्तरापथ के उद्यान प्रदेश में स्थित था। दूसरी तरफ शुआन-च्वांग ने भी उद्यान का राज्य पाने वाले शाक्य को मौर्य नहीं बताया है। शुआन-च्वांग द्वारा प्रदत्त कथा 'महापरिनिब्बानसुत्त' के इस कथन के भी विपरीत है कि मोरिय जन अस्थियों का विभाजन होने के बाद

---

[1]स्पूनर, जे०आर०ए०एस०, 1915, पृ० 63–89।

[2]स्मिथ, जे०आर०ए०एस०, 1915, पृ० 800–02; कीथ, वही, 1916, पृ० 138–43; टॉमस, वही, पृ० 362–66।

[3]बील, रिकार्ड्स, 1, पृ० 128–33।

पहुँचे थे और इसलिए उन्हें केवल भस्म से सन्तोष करना पड़ा था। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि फा-शिएन ने बुद्ध की उद्यान यात्रा की तो चर्चा की है परन्तु उत्तर-सेन का जिक्र नहीं किया है।[1] स्पष्टतः शुआन-च्वांग ने उद्यान के विषय में जो कथा सुनी थी वह फा-शिएन के समय तक प्रचलित नहीं हुई थी।

सेठ ने मौर्यों का गन्धार से सम्बन्ध जोड़ने के लिए तर्क रखा है कि 'राजतरंगिणी' में शकुनि को अशोक का प्रपितामह बताया गया है और 'महाभारत' से (जिसमें शकुनि को गन्धार का राजा बताया गया है) संकेत मिलता है कि यह गन्धार नरेशों में प्रचलित नाम था। लेकिन शकुनि नाम भारत के अन्य प्रदेशों में भी प्रचलित था। उदाहरणार्थ, 'वायु-पुराण' (89.29) में इस नाम का राजा विदेह की राजसूची में परिगणित है। स्मरणीय है कि 'मुद्राराक्षस' में गान्धारों को चन्द्रगुप्त मौर्य के विरोधियों में परिगणित किया गया है, उसके समर्थकों में नहीं (दे०, आगे)।

सेठ के समान बी०एम० बरुआ ने भी मौर्यों को मूलतः पश्चिमोत्तर प्रदेश का निवासी माना है। उनके अनुसार वह स्वयं तक्षशिला का नहीं तो गन्धार का निवासी तो अवश्य ही था। बरुआ ने ध्यान दिलाया है कि चन्द्रगुप्त की शिक्षा तक्षशिला में हुई थी, उसके समर्थक अधिकांशतः पश्चिमोत्तर प्रदेश के थे, अशोक के कुछ लिपिक उत्तरापथ की खरोष्ठी लिपि के अभ्यस्त थे और उसके कलाकार ईरानी कला परम्परा में निष्णात थे।[2] लेकिन ये तर्क स्पष्टतः अत्यन्त दुर्बल हैं क्योंकि जिन साक्ष्यों से चन्द्रगुप्त मौर्य का तक्षशिला से 'सम्बन्ध' ज्ञात होता है वे ही उसे मूलतः पूर्वी प्रदेश का निवासी बताते हैं। मौर्य अभिलेखों और कला पर ईरानी प्रभाव तो मौर्यों का पश्चिमोत्तर प्रदेश से सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए अपर्याप्त है ही।[3]

वस्तुतः मौर्यों का सम्बन्ध पूर्वी भारत के साथ था। हमारे सभी साक्ष्य—जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण—इस विषय में एकमत हैं। इनमें मौर्यों को या तो नन्दवंश से सम्बन्धित बताया गया है, या पिप्फलिवन के पास निवास करने वाली मोरिय जाति में उत्पन्न और या उन मयूरपोषकों का एक परिवार जो नन्दों के राज्य में रहते थे। इस साक्ष्य में परस्पर मतभेद केवल मौर्यों की जाति के विषय में है जिस पर पीछे विचार किया जा चुका है।

---

[1]लेगे, ट्रैवेल्स् ऑव फा-शिएन, पृ० 33।

[2]बरुआ, आई० सी०, 10, पृ० 34 अ०।

[3]कर्टियस ने सिन्धु की दक्षिणी उपत्यका के पाटलीन (पाटल) राज्य के दो राजाओं में एक का उल्लेख 'मोएरिस' नाम से किया है। आर० के० मुकर्जी का (चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० 35) सुझाव है कि यह नाम 'मोरिय' का यूनानी रूपान्तर है। लेकिन मेक्रिण्डल (इन्वेजन, पृ० 256) ने इसे 'महाराज' शब्द का यूनानी रूपान्तर बताया है। जो भी हो, इस नाम का सम्बन्ध 'मौर्य' वंश से नहीं जोड़ा जा सकता।

अध्याय 5

चन्द्रगुप्त मौर्य : प्रारम्भिक जीवन

नाम और उपाधियाँ

चन्द्रगुप्त का उसके इस नाम से प्राचीनतम आभिलेखिक उल्लेख प्रथम रुद्रदामा के जूनागढ़-अभिलेख में हुआ है और साहित्य में सम्भवतः पतञ्जलि के 'महाभाष्य' में जिसमें 'चन्द्रगुप्त सभा' की चर्चा है। इसके अतिरिक्त अनेक अन्य भारतीय ग्रन्थों में उसका इसी नाम से उल्लेख है। क्लासिकल लेखकों ने इस नाम का यूनानी रूपान्तर विविध प्रकार से किया है—स्ट्रेबो, एरियन और जस्टिन ने सेण्ड्रोकोट्टोस (Sandrocottos) तथा एप्पियन और प्लुटार्क ने एण्ड्रोकोट्टोस (Androcottos)। इनके अतिरिक्त तीसरा रूप सेण्ड्रोकोप्टोस (Sandrocoptos) फिलार्कस द्वारा प्रयुक्त है (एथेनियस द्वारा उद्धृत)। यह मूल संस्कृत नाम चन्द्रगुप्त के निकटतम है।[1] स्ट्रेबो का यह भी कहना है कि चन्द्रगुप्त ने पालिबोथ्रोस (Palibothros) उपाधि (=पाटलिपुत्रक ?) धारण की थी। 'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त को चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त चन्द्रश्री, वृषल, वृषभ तथा पिअदंसण (प्रियदर्शन) द्वारा भी सम्बोधित किया गया है। इनमें चन्द्रश्री तो उसके व्यक्तिगत नाम चन्द्र में आदरसूचक 'श्री' जोड़कर बनाया गया है[2] जबकि 'प्रियदर्शन' उसकी उपाधि हो सकती है। 'राजधर्मकौस्तुभ' में उद्धृत 'विष्णुधर्मोत्तर' में इसे राजकीय उपाधि ही माना गया है। अशोक के अभिलेखों में अशोक का प्रायः इसी उपाधि से उल्लेख है। 'वृषल' और 'वृषभ' में 'वृषभ' का प्रयोग निश्चयतः बल-सूचक है। शेष बचा 'वृषल' शब्द, इसका सही अर्थ बड़ा विवादास्पद है। एच० सी० सेठ जैसे कुछ विद्वानों ने सुझाव रखा है कि यह यूनानी उपाधि 'बेसिलियस' का, जिसका अर्थ राजा होता था, संस्कृत रूप हो सकता है।[3] परन्तु जैसा कि रायचौधुरी ने ध्यान दिलाया है,[4] प्राचीन भारतीय साहित्य में 'वृषल' शब्द का प्रयोग सामाजिक प्रतिष्ठा

---

[1]ए०न०मौ०, पृ० 139।

[2]आदरसूचक 'श्री' प्रायः नाम के पूर्व लगाया जाता है। परन्तु इसमें उल्टी प्रथा भी प्राचीनकाल में प्रचलित थी जैसे अशोकश्री (परिशिष्टपर्वण), खारवेलश्री (हथिगुम्फा-लेख), शक्तिश्री, स्कन्दश्री, बलश्री (विविध सातवाहन लेख), चन्द्रश्री तथा कुमारदेवीश्री (गुप्त मुद्राएँ)।

[3]आई०एच०क्यु०, 13, पृ० 651।

[4]ए०न०मौ०, पृ० 140।

सूचित करने के लिए किया गया है, राजनीतिक उपाधि के रूप में नहीं । मनु ने एक स्थल पर कहा है कि वृष भगवान् धर्म को कहते हैं और जो धर्म से हट जाता है वह वृषल कहलाता है ।[1] अन्यत्र वह कुछ जातियों का नाम बताकर कहता है कि वे पहिले क्षत्रिय थीं, बाद में धर्म से च्युत और ब्राह्मण सम्पर्क से विहीन हो जाने पर वृषल हो गयीं ।[2] बौद्ध साहित्य में भी 'वस्सल' या 'वृषल' शब्द का प्रयोग सामाजिक प्रतिष्ठा सूचित करने के लिये किया गया है। इसलिए 'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त के लिए इसके प्रयोग को कुछ विद्वानों ने उसके शूद्रजातीय होने का प्रमाण माना है । इस समस्या पर हम पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं ।

चाणक्य और चन्द्रगुप्त की भेंट और उनकी प्रारम्भिक गतिविधियाँ

चन्द्रगुप्त मौर्य के पिता का नाम अज्ञात है । 'राजतरंगिणी' में अशोक के प्रपितामह का नाम शकुनि दिया गया है, परन्तु चन्द्रगुप्त के पिता का वस्तुतः यही नाम था, कहना दुष्कर है। इस विषय में हमें अन्य किसी साक्ष्य से सूचना नहीं मिलती । उसके आरम्भिक जीवन के विषय में भी क्लासिकल लेखकों से केवल तीन सूचनाएँ मिलती हैं ।

(1) जस्टिन के अनुसार चन्द्रगुप्त का जन्म एक 'मामूली' परिवार में हुआ था ।[3]

(2) जस्टिन के ही अनुसार उसने अपने उद्दण्ड व्यवहार से नन्द (Nandrum) को अप्रसन्न कर दिया था और राजा ने उसको प्राणदण्ड दिये जाने की आज्ञा दे दी थी जिसके कारण उसे भाग कर अपनी जान बचानी पड़ी थी ।[4] जस्टिन के इस उद्धरण की कुछ प्रतियों में 'नेण्ड्रम' के स्थान पर 'अलेक्ज़ेण्ड्रम' पाठ मिलता है। कुछ पुराने इतिहासकार प्रायः 'अलेक्ज़ेण्ड्रम' पाठ को सही मानते थे। सर्वप्रथम गुटिड ने 'नेण्ड्रम' पाठ को सही माना। मेक्रिण्डल, मजूमदार, ट्रॉटमान तथा बोंगार्ड-लेविन ने 'नेण्ड्रम' पाठ को सही स्वीकार किया है ।[5] वास्तव में अधिकांश पाण्डुलिपियों में 'नेण्ड्रम' पाठ ही मिलता है। पाठालोचन सिद्धान्तानुसार भी 'नेण्ड्रम' पाठ सही होना चाहिए। क्लासिकल लेखकों के लिए यह पाठ अस्वाभाविक था, इसलिए मूल पाठ अगर 'अलेक्ज़ेण्ड्रम' होता तो वे उसके स्थान पर 'नेण्ड्रम' नहीं लिखते ।

---

[1]वृषोहि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद् धर्मं न लोपयेत् ॥
—मनुस्मृति, 8.16 ।

[2]शनकैस्तु क्रियालोपादिमा क्षत्रिय जातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ 10.43 ।

[3]मजूमदार, क्ला० एका०, पृ० 193 ।

[4]वही ।

[5]मजूमदार, वही; गुटिड, मजूमदार द्वारा उद्धृत; मेक्रिण्डल, पूर्वो०; ट्रॉटमान, ए० बी० ओ० आर० आई०, 51, पृ० 240; बोंगार्ड-लेविन, जी० एम०, स्टडीज़ इन इण्डिया एण्ड सेण्ट्रल एशिया, पृ० 79 अ० ।

(3) प्लुटार्क के अनुसार चन्द्रगुप्त सिकन्दर के आक्रमण के समय पश्चिमोत्तर प्रदेश में था और स्वयं सिकन्दर से मिला था।[1]

जहाँ तक भारतीय साक्ष्य का प्रश्न है, इसमें चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रारम्भिक जीवन तथा चाणक्य के साथ उसके मिलन और सहयोग के विषय में विश्वसनीय जानकारी कम उपलब्ध है, दन्तकथाएँ अधिक। वस्तुत: प्राचीन काल में जो भी व्यक्ति साधारण अवस्था से ऊपर उठकर महत्ता अर्जित कर लेता था उसके विषय में ऐसी अनुश्रुतियाँ प्राय: फैल जाती थीं जिनमें सत्यांश को छाँटना बड़ा मुश्किल होता है। चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन एवं चाणक्य के साथ उसके मिलन के विषय में दो सर्वथा भिन्न अनुश्रुतियाँ मिलती हैं। इनमें एक परम्परा में, जिसे ब्राह्मण परम्परा कहा जा सकता है, यह माना गया है कि वह अन्तिम नन्द नृपति का पुत्र था अथवा उसका प्रारम्भिक जीवन नन्दों के साथ व्यतीत हुआ था। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, 'मुद्राराक्षस' नाटक का रचयिता विशाखदत्त चन्द्रगुप्त को नन्द नरेश का पुत्र तो नहीं मानता, परन्तु उससे घनिष्ठत: सम्बन्धित—नन्द नृपति का पुत्रवत्—अवश्य समझता है। इस परम्परा का परिवर्धन करते हुए 'मुद्राराक्षस' के टीकाकार धुण्ढिराज ने नन्द की शूद्रा पत्नी मुरा के अस्तित्व की कल्पना की। उस सन्दर्भ में वह चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन का वर्णन इस प्रकार करता है : मुरा के पुत्र मौर्य तथा उसके सौ पुत्रों से (जिनमें चन्द्रगुप्त एक था) नन्द की क्षत्रिया पत्नी सुनन्दा के गर्भ से उत्पन्न पुत्र ईर्ष्या करते थे। उन्होंने छल से चन्द्रगुप्त को कैद कर लिया और शेष सब मौर्यों को मार डाला। लेकिन चन्द्रगुप्त बहुत बुद्धिमान था। एक बार सिंहल-नरेश ने नन्द राजसभा में एक पिंजड़े में मोम का सिंह बन्द करके भेजा और कहा कि बिना पिंजड़ा तोड़े इस सिंह को निकालने वाला व्यक्ति सबसे बुद्धिमान होगा। कोई भी नन्दकुमार ऐसा नहीं कर सका, लेकिन चन्द्रगुप्त ने लोहे की एक गर्म शलाका से मोम के सिंह को गला कर उसे बाहर निकाल दिया। उसके बुद्धिकौशल को देखकर सब दंग रह गये। इसके बाद किसी प्रकार नन्दों की कैद से छुटकारा पाने के उपरान्त चन्द्रगुप्त ने नन्दों के विनाश का उपाय सोचना शुरू किया। एक बार उसकी भेंट एक ऐसे क्रोधी ब्राह्मण से हुई जिसने पैर में कुश गड़ जाने से रुष्ट होकर सम्पूर्ण कुशसमूह को उखाड़ फेंका था। वह ब्राह्मण नीतिशास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित चाणक्य था। एक बार वह नन्दों की भुक्ति-शाला में प्रमुख आसन पर जा बैठा। नन्दों ने उसे वहाँ से उसकी चोटी खींच कर उतरवा दिया। इस पर कुपित होकर चाणक्य ने प्रतिज्ञा की कि वह तब तक अपनी शिखा नहीं बाँधेगा जब तक नन्द वंश को समूल नष्ट नहीं कर देगा। कम से कम यह तथ्य कि नन्दराज ने चाणक्य को उसके सम्मानित पद से हटाकर दरबार में अपमानित किया था और चाणक्य ने नन्द वंश को निर्मूल करने की प्रतिज्ञा की थी स्वयं 'मुद्राराक्षस' में भी उल्लिखित है।

---

[1]मजूमदार, क्ला० एका०, पृ० 199।

चाणक्य और चन्द्रगुप्त के मिलने की धुण्ढिराज (18वीं शती ई०) द्वारा प्रदत्त कथा का आधार सम्भवतः 'कथासरित्सागर' और 'बृहत्कथामंजरी' (11वीं शती ई०) नामक ग्रन्थ थे। इनमें बताया गया है कि पूर्वनन्द का मन्त्री शकटार योगनन्द और उसके पुत्र हिरण्यगुप्त को मारकर पूर्वनन्द के पुत्र चन्द्रगुप्त को राजा बनाना चाहता था। एक दिन उसने मार्ग में चाणक्य को देखा जो सम्पूर्ण कुशसमूह को इसलिए उखाड़ कर फेंक रहा था क्योंकि एक कुश से उसका पैर क्षत हो गया था। शकटार ऐसे क्रोधी ब्राह्मण की ही तलाश में था। उसने चाणक्य से निवेदन किया कि वह अगले दिन नन्दराज के श्राद्ध में पधारे। निश्चित समय पर चाणक्य वहाँ जा पहुँचा और प्रमुख पुरोहित के स्थान पर जा बैठा। लेकिन नन्द-नरेश ने उसे वहाँ से उठाकर वह पद सुबन्धु नामक ब्राह्मण को दे दिया। इसे अपना अपमान समझ कर चाणक्य ने सात दिन के अन्दर नन्दों का विनाश करने की प्रतिज्ञा की। इसके बाद उसने अपनी कृत्या से योगनन्द का विनाश किया और चन्द्रगुप्त को राजा बनाकर उसका महामन्त्री बना।

चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रारम्भिक जीवन के विषय में 'महावंसटीका' अर्थात् 'वंसत्थप्प-कासिनी' (9वीं शती ई० का मध्य), 'कम्बोडियायी महावंश' (10वीं शती) तथा 'महा-बोधिवंश (10वीं–11वीं शती ई०) नामक बौद्ध ग्रन्थों में (जिन्हें प्रथम शती ई० के लगभग रचित 'उत्तरविहारट्ठकथा' पर आधारित बताया जाता है) सर्वथा भिन्न सूचनाएँ मिलती हैं। इनके अनुसार चन्द्रगुप्त का जन्म मोरिय नामक जाति में, जो शाक्यों की एक शाखा थी, हुआ था। उसका पिता मोरिय जाति का राजा था। दुर्भाग्य से वह एक सीमान्त युद्ध में मारा गया।[1] चन्द्रगुप्त की माता को भाग कर अपने भाइयों के साथ पुप्फपुर (=पुष्पपुर=पाटलिपुत्र) नगर में जान बचानी पड़ी। चन्द्रगुप्त के मामाओं ने उसे एक गौशाला में छोड़ दिया जहाँ एक गडरिये ने उसका पुत्र की तरह लालन-पालन किया और बड़ा होने पर एक शिकारी के हाथ बेच दिया जिसने उसे गाय और भैंस चराने का काम सौंपा। उस समय बालक चन्द्रगुप्त अपने सहयोगियों के साथ 'राजकीलम्' खेल खेला करता था जिसमें वह राजसभा जुटाकर स्वयं राजा की भूमिका अदा करता और न्याय करता था। ऐसी ही एक 'राजसभा' में चाणक्य ने उसे प्रथम बार देखा था। चाणक्य तक्षशिला नगर का निवासी (तक्कसिला नगरवासी) एक विद्वान् ब्राह्मण था। वह शास्त्रार्थ में भाग लेने के उद्देश्य से पुष्पपुर (=पाटलिपुत्र) गया था (वादं परियेसंतो पुप्फपुरं गंत्वा)। उस समय पाटलिपुत्र में नन्द-राजा की ओर से एक दानशाला (दानग्ग) खुली हुई थी जिसकी व्यवस्था एक 'संघ' के हाथ में थी। इसका अध्यक्ष (संघ ब्राह्मण) कोई ब्राह्मण होता था। कोई व्यक्ति अध्यक्ष पद पर तभी तक रह पाता था जब तक वह शास्त्रार्थ में अपराजित रहे—पराजित होने पर उसे पदत्याग करना होता था। नियमानुसार वह एक करोड़ मुद्राओं तक का दान कर सकता था और संघ का सबसे छोटा सदस्य एक लाख मुद्राओं तक का।

[1]तस्मिं बलवाहनसम्पन्नेन सामन्तरञ्जा मोरियराजानं घातेत्वा रज्जे गहिते।

अपनी विद्वत्ता से चाणक्य इस संघ का अध्यक्ष बन गया परन्तु उसके उद्धत स्वभाव एवं कुरूपता के कारण नन्द-नरेश ने उसे पदच्युत कर दिया। इस पर क्रुद्ध होकर चाणक्य ने नन्द वंश को निर्मूल करने की प्रतिज्ञा की और एक नग्न आजीविक साधु के वेश में भाग निकला। उसी समय घूमते-फिरते उसने बालक चन्द्रगुप्त को 'राजकीलम्' खेल खेलते हुए देखा था। वह चन्द्रगुप्त की जन्मजात प्रतिभा और नेता बनने के गुणों से अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसने चन्द्रगुप्त के पालक-पिता को 1,000 कार्षापण देकर चन्द्रगुप्त को खरीद लिया। वहाँ से वह चन्द्रगुप्त को अपने तक्षशिला नगर ले गया और सात-आठ वर्ष तक शिक्षा दिलाकर समस्त विद्याओं और कलाओं में पारंगत कराया।[1]

बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध उपर्युक्त कथा का स्थूलतः समर्थन 'उत्तरज्झयण' पर देवेन्द्रगणी की टीका 'सुखबोधा', भद्रबाहु की 'आवस्स्यनिज्जुति' की 'चुण्णि', हरिभद्रसूरि की 'आवश्यकवृत्ति' तथा हेमचन्द्र के 'परिशिष्टपर्वण' प्रभृति परवर्ती जैन ग्रन्थों से होता है। इनके अनुसार चन्द्रगुप्त नन्द राज्य के मयूरपोषकों के एक ग्राम के मुखिया (मयहर) का दौहित्र था। जिस समय मुखिया की पुत्री चन्द्र का पान करने की गर्भकालीन इच्छा से बेचैन थी, चाणक्य वहाँ आया। उसने इस शर्त पर कि अगर मुखिया की लड़की ने पुत्र को जन्म दिया तो वह उसे चाणक्य को सौंप देगी, उसकी वह इच्छा किसी चतुराई से शान्त कर दी। इन ग्रन्थों में चाणक्य के विषय में बताया गया है कि वह गोल्ल प्रदेश के चणय या चणिय नामक ग्राम का निवासी था।[2] उसके पिता का नाम चणक था जो जाति से ब्राह्मण परन्तु धर्म से जैन (सावओ) था।[3] क्योंकि जन्म के समय चाणक्य के मुख में पूर्ण दन्तपंक्ति थी इसलिए कुछ जैन साधुओं (साहू) ने भविष्यवाणी की थी कि वह राजसुख का उपभोग करेगा। उसके पिता द्वारा वह दन्तावली तोड़ दिये जाने पर[4] उन्होंने घोषित किया कि चाणक्य राजसुख का उपभोग किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से करेगा (एत्ताहे वि बिबंतरीओ राया भविस्सइत्ति)। बाद में एक बार युवक चाणक्य के सम्बन्धियों के घर उसकी पत्नी

---

[1]कुमारं गहेत्वा अत्तनो वसनटठानं नेत्वा सतसहस्सग्घनिकं सुवण्ण पणालियावुतं कम्बलसुत्तवठ्ठिं तस्स कण्ठे पिलन्धापेसि ······ सत्तटठवस्सिकं एव उग्गहितसिप्पकञ्च बाहुसच्च भावञ्च अकासि।

—वंसत्थपकासिनी।

याचित्वा चन्द्रगुत्तं तं उद्दिसापयितुं ततो।
गहेत्वान कुमारां सो उद्दिसापियसिक्खति॥

—कम्बोडियायी महावंस।

[2]हो सकता है तक्षशिला गोल्ल प्रदेश में स्थित रहा हो।

[3]जैन 'बृहत्कथाकोष' में चाणक्य का पैतृक निवास स्थान पाटलिपुत्र और पिता का नाम कपिल बताया गया। इस मत के समर्थन के लिए दे०, राव, एम० वी० कृष्ण, स्टडीज़ इन कौटिल्य, देहली, 1958, पृ० 20 अ०।

[4]बौद्ध साक्ष्यानुसार दन्तावली स्वयं चाणक्य ने तोड़ी थी।

को दरिद्रता के कारण बहुत अपमान सहना पड़ा जिसके कारण चाणक्य धन प्राप्ति की अभिलाषा से पाटलिपुत्र आया।[1] उस समय नन्द-नरेश कार्त्तिक पूर्णिमा के दिन ब्राह्मणों को बहुत दान दिया करता था। उस दिन चाणक्य राजप्रासाद में प्रवेश करके उस आसन पर बैठ गया जो राजपरिवार के सदस्यों के लिए सुरक्षित था। जब नन्द-नरेश अपने पुत्र सिद्धपुत्र के साथ वहाँ आया तो दासी ने चाणक्य को वह आसन खाली कर देने को कहा और कई बार अनुरोध किये जाने पर भी जब चाणक्य ने वह आसन नहीं छोड़ा तो दासी ने उसे धक्का देकर हटा दिया। इस पर चाणक्य ने नन्द वंश को समूल नष्ट कर देने की प्रतिज्ञा की[2] और पाटलिपुत्र छोड़कर परिव्राजक के वेश में घूमता फिरने लगा। उसी समय उसने मोर पालने वालों (मोरोपोसगा) के मुखिया की पुत्री की इच्छा शान्त कर उससे उपर्युक्त वचन लिया था। समय आने पर उस स्त्री के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम चन्द्रगुप्त रखा गया। गाँव के अन्य बालकों के साथ पलते हुए चन्द्रगुप्त ने अपनी भावी महत्ता का परिचय दिया। इस बीच में चाणक्य ने धातुशास्त्र में अपने ज्ञान का लाभ उठाकर बहुत-सा सुवर्ण एकत्र कर लिया था। जब वह मयूरपोषकों के गाँव में लौटा तो उसने कुछ बच्चों को क्रीड़ा करते हुए देखा। उनमें एक बच्चा, जो राजा बना हुआ था, बहुत प्रतिभा-शाली जान पड़ा। यह मालूम होने पर कि वह वही बच्चा है जिसकी माँ से उसने वचन लिया था, वह चन्द्रगुप्त को अपने साथ ले गया। इसके बाद उसने नन्दों पर आक्रमण करने की तैयारी की।

उपर्युक्त कथाओं से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन और चाणक्य के साथ उसके मिलन के विषय में दो प्रमुख परम्पराएँ प्रचलित थीं। एक परम्परा, जिसे ब्राह्मण परम्परा कहा जा सकता है, चन्द्रगुप्त को नन्द का पुत्र (धुण्ढिराज, सोमदेव, क्षेमेन्द्र, रत्नगर्भ) अथवा नन्द के पुत्र के समान ('मुद्राराक्षस') मानती थी। इस परम्परा में चाणक्य का पूर्वजीवन नहीं दिया गया है, लेकिन क्रोधी स्वभाव की चर्चा है और प्रायः कुशसमूह उखड़ने के प्रयास वाली घटना को चन्द्रगुप्त और चाणक्य का मिलन-बिन्दु बताया गया है। इस कथा के इस अंश की निराधारता कि चन्द्रगुप्त नन्द-पुत्र था, हम पीछे सिद्ध कर आए हैं। लेकिन कुछ आधुनिक लेखक इस अनुश्रुति में श्रद्धा रखते हैं कि चन्द्रगुप्त नन्द राजा का 'पुत्रवत्' था और उसका प्रारम्भिक जीवन नन्दों के पास व्यतीत हुआ था। उदाहरणार्थ, बुद्धप्रकाश ने इसके आधार पर कल्पना की है कि मागध साम्राज्य का अंग बन जाने के बाद बहुत-से मोरिय जनों ने नन्दों के राज्य में नौकरी कर ली थी। ऐसे ही किसी पदाधिकारी का

[1]'बृहत्कथाकोष' में उसकी पत्नी का नाम यशोमती दिया गया है। बौद्ध और ब्राह्मण ग्रन्थ चाणक्य के विवाह का उल्लेख नहीं करते।

[2]कोशेन भृत्यैश्च निबद्धमूलं पुत्रैश्च मित्रैश्च विवृद्धशाखम्।
उत्पाट्य नन्दं परिवर्तयामि महाद्रुमं वायुरिवोग्रवेगः॥

पुत्र चन्द्रगुप्त नन्द-नरेश का 'पुत्रवत्' हो गया था। लेकिन नन्दों के अत्याचार से असन्तोष की लहर फैली तो उससे चन्द्रगुप्त का परिवार भी प्रभावित हुआ। इसीलिए चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को, जो नन्दों के सब रहस्य जानता था, अपनी तरफ मिलाया।[1] लेकिन हमारे विचार से चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन विषयक यह कल्पना अत्यन्त परवर्ती साक्ष्य पर निर्भर है और अपेक्षया प्राचीनतर और अधिक विश्वसनीय 'क्लासिकल' साक्ष्य एवं बौद्ध तथा जैन कथाओं के सर्वथा विरुद्ध होने के कारण त्याज्य है (दे०, आगे)।

चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन के विषय में बौद्ध और जैन ग्रन्थों में प्रदत्त अनुश्रुतियाँ एक दूसरे का स्थूलत: समर्थन करती हैं। इनमें बताई गई बातें अपने विस्तृत रूप में निश्चयत: सही नहीं हैं, परन्तु इनसे ज्ञात मुख्य घटनाएँ पर्याप्त विश्वसनीय जान पड़ती हैं। एक, इन कथाओं के अनुसार चन्द्रगुप्त मोरिय जाति के स्वर्गवासी राजा का दरिद्रावस्था में पला पुत्र (बौद्ध ग्रन्थ) अथवा मयूरपोषक जाति के मुखिया का दौहित्र (जैन ग्रन्थ) था। यह परम्परा जस्टिन के इस कथन से मेल खाती है कि चन्द्रगुप्त का जन्म एक 'मामूली घराने' में हुआ था। इसके विपरीत जस्टिन का यह कथन इस ब्राह्मण परम्परा के सर्वथा विरुद्ध है कि चन्द्रगुप्त का पिता स्वयं नन्द नृपति अथवा नन्दों का कोई उच्च पदाधिकारी था। दूसरे, बौद्ध अनुश्रुति में चाणक्य चन्द्रगुप्त को अपने साथ तक्षशिला ले गया था। दूसरे शब्दों में अपनी नवयुवावस्था में चन्द्रगुप्त तक्षशिला में मौजूद था। यह परम्परा प्लुटार्क के इस कथन के साथ सर्वथा संगत है कि जब 326 ई०पू० में सिकन्दर अपनी विजय-यात्रा के दौरान पंजाब आया था तब चन्द्रगुप्त, जो उस समय एक नवयुवक ही था, सिकन्दर से मिला था।[2] इस प्रकार चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन के विषय में बौद्ध कथा का शुरू का और तक्षशिला विषयक भाग 'क्लासिकल' लेखकों से समर्थित होते हैं। जहाँ तक मध्यवर्ती भाग का सम्बन्ध है, इसमें बौद्ध और जैन लेखकों ने कुछ नाटकीयता का समावेश अवश्य कर दिया है परन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि जस्टिन ने एक स्थल पर चन्द्रगुप्त की 'एक विशालकाय सिंह' और 'विशालकाय जंगली हाथी' से मुठभेड़ की चर्चा की है (दे०, आगे)। इससे लगता है कि 'क्लासिकल' लेखकों के कानों में भी चन्द्रगुप्त के शिकारियों के साथ सम्बन्ध की कुछ भनक पड़ी थी। ये सब तथ्य चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन के विषय में बौद्ध कथाओं की अपेक्षया अधिक विश्वसनीयता के प्रमाण हैं।

चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन में चाणक्य का प्रवेश एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी। दो महान् व्यक्तियों के इस मिलन से तत्कालीन भारतीय इतिहास को एक नया मोड़ मिला। यह सही है कि 'क्लासिकल' लेखकों ने चाणक्य का कहीं उल्लेख नहीं किया है, परन्तु वे तो चन्द्रगुप्त के किसी भी मन्त्री का उल्लेख नहीं करते। विदेशी होने के कारण उनकी रुचि मौर्य नरेशों के मन्त्रियों में न होना सर्वथा स्वाभाविक था।

[1] बुद्धप्रकाश, स्टडीज, पृ० 121–3।
[2] मजूमदार, क्ला० एका०, पृ० 199।

इस विषय में स्मरणीय है कि भारतीय साहित्य शुरू से ही चाणक्य को नन्द वंश का उन्मूलन करने वाला बताता है। 'महावंस' के अनुसार (पांचवीं शती ई०) ब्राह्मण-चाणक्य ने नवें नन्द नरेश धननन्द का विनाश करके चन्द्रगुप्त को सकल जम्बूद्वीप का सम्राट् बनाया था।[1] इससे स्पष्ट है कि पर्याप्त प्राचीन भारतीय साहित्य चन्द्रगुप्त को सहायता देने वाले चाणक्य नामक ब्राह्मण से परिचित था। इसका समर्थन करने वाले 'मुद्राराक्षस' तथा 'परिशिष्टपर्वण' जैसे अपेक्षया परवर्ती ग्रन्थों की चर्चा पहिले की ही जा चुकी है।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त करने तक चन्द्रगुप्त के जीवन की रूपरेखा कुछ स्पष्ट हो जाती है। उसका जन्म पूर्वी भारत की मोरिय नामक जाति में हुआ था। क्योंकि 326 ई०पू० में सिकन्दर से भेंट के समय वह एक 'नवयुवक' था, इसलिए उसका जन्म 350 ई०पू० के आस-पास हुआ होगा। 'मुद्राराक्षस' में भी नन्दों के उन्मूलन के समय उसे 'कम उमर' का कहा गया है।[2] उसका पिता मौर्य जाति का कोई प्रमुख व्यक्ति रहा प्रतीत होता है, यद्यपि किसी कारणवश चन्द्रगुप्त को अपने बाल्यकाल में बहुत दरिद्रता का सामना करना पड़ा। लेकिन चन्द्रगुप्त बहुत प्रतिभाशाली बालक था। उसकी प्रतिभा से चाणक्य, जो नन्दों का विनाश करने के लिए कटिबद्ध था, बहुत प्रभावित हुआ और उसे अपने साथ तक्षशिला ले गया जहाँ उसने चन्द्रगुप्त को विविध विद्याओं और कलाओं की शिक्षा दिलायी। सिकन्दर के आक्रमण के समय चन्द्रगुप्त तक्षशिला में ही विद्यमान था।[3]

सिकन्दर के आक्रमण के समय तक्षशिला में उपस्थिति का चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन और व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव पड़ा। प्लुटार्क के अनुसार "एण्ड्रोकोट्टोस् (=चन्द्रगुप्त) जो उस समय नवयुवक ही था, स्वयं सिकन्दर से मिला था और बाद में कहा करता था कि सिकन्दर बड़ी आसानी से पूरे देश पर (गेंगेरीडाई तथा प्रासाई पर) अधिकार कर सकता था क्योंकि वहाँ का राजा स्वभावतः दुष्ट था और उसका

---

[1]मोरियनं खत्तियानं वंसे जातं सिरीधरं।
चन्द्रगुत्तोति पञ्जजात्तं चणक्यो ब्राह्मणो ततो॥
नवं धननन्दन्तं घातेत्वा चण्डकोधसा।
सकले जम्बूद्वीपम्हि रज्ज समभिसिंचि सो॥

[2]धुरं तामेवोच्चैर्नववयसि वोढुं व्यवसितो
मनस्वी दम्यत्वात् स्खलति न च दुःखं वहति च ॥3॥
—मुद्राराक्षस, 3.3।

[3]गन्धार प्रदेश ब्राह्मण और उपनिषद्-काल में भी विद्या का एक प्रमुख केन्द्र था। छठी शती ई०पू० में इसका यश पूर्वी भारत तक फैला हुआ था। वहाँ से आकर तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त करने वालों में पसेनदि जैसे राजकुमार, जीवक जैसे वैद्य, बन्धुल जैसे सेनापति तथा अंगुलिमाल जैसे डाकू सम्मिलित हैं। वहाँ के एक सैनिक विद्यालय में 103 राजकुमार तथा एक अन्य विद्यालय में 101 राजकुमार अध्ययन करते थे। ध्यातव्य है कि सिकन्दर ने भी तक्षशिला में ही भारतीय दार्शनिकों से मिलने की चेष्टा की थी। दे०, मुकर्जी, एन्श्येण्ट इण्डियन एजूकेशन, अध्याय 19।

जन्म नीच कुल में हुआ था और इसलिए उसकी प्रजा उसे घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखती थी।"[1] इस प्रसङ्ग में यह भी ध्यान दिलाया जा सकता है कि एरियन के अनुसार झेलम के युद्ध में पोरस के घायल हो जाने के बाद सिकन्दर ने उसे समझाने के लिए आम्भी को भेजा था और आम्भी के असफल हो जाने के बाद मेरोएस् (Meroes) नामक व्यक्ति को जो पोरस का 'पुराना दोस्त' था। मेरोएस् को अपने उद्देश्य में सफलता मिली और उसके प्रयास से पोरस सिकन्दर से भेंट करने के लिए प्रस्तुत हो गया जिसके परिणामस्वरूप सिकन्दर और पोरस में सन्धि हो गई। हमारे विचार से इस मेरोएस् की पहिचान चन्द्रगुप्त मौर्य से की जा सकती है क्योंकि (1) मेरोएस् या मेरो नाम 'मौर्य' नाम का यूनानी रूपान्तर हो सकता है। (2) मेरोएस् का उल्लेख सिकन्दर द्वारा तक्षशिला की विजय के उपरान्त होता है। यह तथ्य इस निष्कर्ष से सर्वथा संगत है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय चन्द्रगुप्त तक्षशिला में था और उस समय उससे मिला था। (3) मेरोएस् को 'क्लासिकल' लेखकों ने पोरस का मित्र कहा है। इसी प्रकार भारतीय साहित्य में पर्वतेश्वर को, जिसकी पहिचान विद्वान् लोग पोरस से प्रायः करते हैं (दे०, आगे), चन्द्रगुप्त का वह मित्र बताया गया है जिसकी सहायता से चन्द्रगुप्त ने मगध को जीता था। (4) सिकन्दर से भेंट होने के समय तक चन्द्रगुप्त राजा नहीं बना था और मेरोएस् का उल्लेख भी राजा के रूप में नहीं है। इन तथ्यों के प्रकाश में मेरोएस् की पहिचान चन्द्रगुप्त मौर्य से करना कदापि असंगत नहीं होगा।[2] यह सही है कि क्लासिकल लेखकों ने यहाँ उसका उल्लेख करते समय यह नहीं कहा है कि वही वह सेण्ड्रोकोट्टोस् है जो बाद में भारत सम्राट् बना, परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि सिकन्दर के साथ आये इतिहासकार जिनके वर्णन को परवर्ती 'क्लासिकल' लेखकों ने अपना आधार बनाया, मेरोएस् की (जो उनके जमाने में एक 'मामूली' आदमी था) भावी महत्ता से परिचित नहीं हो सकते थे और परवर्ती 'क्लासिकल' इतिहासकारों को चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन की घटनाओं का बहुत ज्ञान नहीं था। अतः कोई आश्चर्य नहीं अगर परवर्ती 'क्लासिकल' लेखक यह कभी नहीं समझ पाये कि पोरस को समझाने वाला मेरोएस् या मौर्य ही भारत का भावी सम्राट् चन्द्रगुप्त था।

चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर से क्यों भेंट की थी, इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वह सिकन्दर के पास अपने देश पर होने वाले आक्रमण के विरुद्ध अपना रोष प्रकट करने गया था। परन्तु असन्तोष प्रकट करने के लिए प्रदर्शन करने की प्रथा आधुनिक प्रजातान्त्रिक युग की देन है, प्राचीन काल के निरंकुश राजतन्त्रों के युग में यह न सम्भव थी और न प्रचलित। इसी प्रकार यह धारणा भी कि चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर के साथ नन्दों के विरुद्ध सन्धि की थी स्पष्टतः निराधार ही है क्योंकि सिकन्दर से भेंट करते समय चन्द्रगुप्त एक उत्साही

[1]मजूमदार, क्ला०एका०, पृ० 199।

[2]बुद्धप्रकाश, स्टडीज, पृ० 131–34।

नवयुवक मात्र था, किसी प्रदेश का राजा नहीं। हमारे विचार से यह कल्पना कि सिकन्दर जैसे विजेता ने इस राज्यविहीन नवयुवक से 'सन्धि' की होगी, कदापि युक्तियुक्त नहीं कही जा सकती। जैसा कि रायचौधुरी ने कहा है[1] सम्भवत: चन्द्रगुप्त का सिकन्दर से भेंट करने का उद्देश्य उसे मगध पर आक्रमण करने के लिए उकसाना मात्र था। उसके इस कार्य की तुलना राणा संग्रामसिंह द्वारा इब्राहीम लोदी के शासन का अन्त करने के लिए बाबर को निमन्त्रित करने की याद दिलाता है। राजनीति में इस प्रकार एक शत्रु—सिकन्दर—की सहायता से दूसरे शत्रु—नन्द वंश—का विनाश निन्दनीय नहीं था। प्लुटार्क के इस कथन में कि चन्द्रगुप्त बाद में यह कहा करता था कि सिकन्दर बड़ी आसानी से सारे देश पर अधिकार कर सकता था क्योंकि वहाँ का राजा स्वभाव से दुष्ट और नीचकुलोत्पन्न था, सम्भवत: वह तर्क सुरक्षित है जो चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर के सामने उसे नन्दों पर आक्रमण करने के लिए उकसाते समय रखा होगा। अगर यह सुझाव कि वही पोरस का वह पुराना मित्र मेरोएस् है जिसने झेलम के युद्ध में पोरस को समझाने में सफलता पाई थी, सही है तो अनुमान किया जा सकता है कि उसने मगध पर आक्रमण के लिए पोरस से बातचीत पहिले ही चलाई हुई थी। इससे झेलम के युद्ध के दौरान सिकन्दर के शिविर में एक ऐसे व्यक्ति की उपस्थिति, जो पोरस का भी विश्वासपात्र था, बोधगम्य हो जाती है। लेकिन नन्दों के उन्मूलन में सिकन्दर की सहायता लेने का चन्द्रगुप्त द्वारा किया गया प्रयास यूनानी सैनिकों की यूनान लौटने की जिद के कारण असफल हो गया।

---

[1] पो०हि०ए०इं०, पृ० 268; ओझा, फॉरेन रूल इन एन्श्येण्ट इण्डिया, पृ० 47।

अध्याय 6

चन्द्रगुप्त मौर्य : साम्राज्य की स्थापना और प्रसार

प्रथम विजित प्रदेश : मगध या पञ्जाब ?

क्योंकि पुराणों तथा बौद्ध ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का सम्बन्ध नन्दों के उन्मूलन से है, इसलिए उसके शासन काल के इन ग्रन्थों में उल्लिखित 24 वर्ष, जो 321 ई०पू० में प्रारम्भ होते हैं, स्पष्टतः उसके मगध पर शासन की अवधि के द्योतक हैं। लेकिन इस तिथि के कुछ ही पहिले हम चन्द्रगुप्त को पंजाब में सिकन्दर से भेंट करता पाते हैं, इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि मगध पर आक्रमण करने के पूर्व चन्द्रगुप्त पंजाब को जीत चुका था। इस मत के समर्थन में जस्टिन के साक्ष्य को प्रस्तुत किया जाता है। इन विद्वानों के अनुसार सिकन्दर (सही पाठ के अनुसार नन्द) के सम्मुख निर्भयतापूर्वक वार्तालाप करने के परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त को मृत्युदण्ड दिये जाने की आज्ञा एवं चन्द्रगुप्त द्वारा जान बचाकर भाग जाने की चर्चा (दे०, पीछे) करने के बाद जस्टिन कहता है : "जब वह (सैण्ड्रोकोट्टोस्) थक कर सो रहा था, उस समय एक विशालकाय सिंह उसके पास आया और उसके शरीर से बहता पसीना चाट कर धीरे से उसे जगाया और चला गया। सबसे पहिले इस अनहोनी घटना से चन्द्रगुप्त के मन में राजत्व का सम्मान प्राप्त करने की आशा जाग्रत हुई और उसने अपने पास वेतनभोगी सैनिक (एक अनुवादानुसार लुटेरों का गिरोह) एकत्र करके भारत-वासियों को अपनी नई राजसत्ता का समर्थन करने के लिए प्रेरित किया (novitatem regni sollicitavit)" (एक अन्य अनुवाद के अनुसार "तत्कालीन शासन का तख्ता उलट देने के लिए भड़काया")। इसके कुछ समय पश्चात्, (deinde) जब वह सिकन्दर के सेनापतियों से लड़ने जा रहा था तो एक विशालकाय जंगली हाथी अपने आप उसके सामने आकर खड़ा हो गया और सहसा पालतू हाथी के समान शील स्वभाव का होकर उसने चन्द्रगुप्त को अपनी पीठ पर बैठा लिया तथा युद्ध में उसका पद-प्रदर्शक बन गया एवं रणक्षेत्र में आगे-आगे रहा। इस प्रकार राज-सिंहासन पर अधिकार करके सेण्ड्रोकोट्टोस ने भारत को अपने अधीन किया। इसी समय सेल्युकस अपनी भावी महत्ता की नींव डाल रहा था।"[1] इस वर्णन में

---

[1]जस्टिन के साक्ष्य का वाटसन द्वारा प्रदत्त अनुवाद (ए० न० मौ०, पृ० 137); दे०, मजूमदार क्ला० एका०, पृ० 193।

सेण्ड्रोकोट्टोस् (=चन्द्रगुप्त) द्वारा यूनानियों की पराजय को भारत-विजय के पूर्व घटी घटना माना गया है इसलिए टार्न, टॉमस, हैवेल तथा मुकर्जी प्रभृति विद्वान् चन्द्र-गुप्त के हाथों यूनानियों के पराभव को नन्दों के उन्मूलन के पूर्व रखते हैं ।[1]

लेकिन मुकर्जी प्रभृति विद्वानों के इस निष्कर्ष को स्मिथ तथा रायचौधुरी[2] इत्यादि ने स्वीकृत नहीं किया है । जैसा कि इन विद्वानों ने ध्यान दिलाया है जस्टिन के उपर्युक्त कथन में चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण के पूर्व सिकन्दर के सेनापतियों की पराजय का उल्लेख अवश्य है परन्तु सिकन्दर के सेनापतियों से युद्ध होने के पूर्व चन्द्रगुप्त द्वारा राजसत्ता प्राप्त कर लेने और भारतवासियों को उसकी नई राजसत्ता का समर्थन करने के लिए उकसाये जाने की चर्चा भी है । उसके उपरान्त (deinde) ही उसने सिकन्दर के सेनापतियों से युद्ध किया था । इससे स्पष्ट है कि जस्टिन ने चन्द्रगुप्त के जीवन की घटनाओं का क्रम इस प्रकार बताया है : नन्द (सिकन्दर) से भेंट, नन्द (सिकन्दर) द्वारा मृत्युदण्ड की आज्ञा और चन्द्रगुप्त का पलायन, राज्य-प्राप्ति का शकुन, भारत में नई राजसत्ता की स्थापना, सिकन्दर के सेनापतियों की पराजय तथा चन्द्रगुप्त की भारत-विजय । स्पष्टत: जस्टिन ने अपने कथन के अन्त में 'राज्यसिंहासन पर अधिकार' करने की बात कहकर पिछली सब घटनाओं का सार देने की चेष्टा की है ।

इस मत के समर्थन में कि चन्द्रगुप्त ने यूनानियों को बाद में परास्त किया और नन्दों का उन्मूलन उसके पहिले, कुछ और तथ्यों की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है :—

(1) जस्टिन के अनुसार नन्द (सिकन्दर) के पास से भाग कर अपनी जान बचाने के बाद चन्द्रगुप्त ने वेतनभोगी सैनिक (या लुटेरे और डाकू) एकत्र किये और 'नए राजत्व' की स्थापना की (अथवा 'विद्यमान शासन तन्त्र का तख्ता उलटा') । इसी प्रकार 'वंसत्थप्पकासिनी' तथा 'परिशिष्टपर्वण' में कहा गया है कि चाणक्य ने धन एकत्र करके चन्द्रगुप्त की सेना में नन्दों के उन्मूलन के हेतु सैनिक भर्ती किये (दे०, आगे) । भारतीय ग्रन्थों के इस कथन के प्रकाश में जस्टिन द्वारा 'नए राजत्व' की स्थापना का अर्थ मगध में नन्दों का उन्मूलन करके मौर्य शासन की स्थापना माना जा सकता है ।[3]

(2) यह सर्वथा निश्चित है कि पंजाब और सिन्ध पर यूनानियों का अधिकार 323 ई० पू० में सिकन्दर की मृत्यु तक अवश्य बना हुआ था । दूसरी तरफ यह भी निश्चित है कि चन्द्रगुप्त ने 321 ई०पू० में मगध पर शासन करना शुरू किया ।

---

[1]टार्न, ग्रीक्स् इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, पृ० 47, टि० 2; मुकर्जी, च०मौ०का०, पृ० 43; टॉमस, कै०हि०इं०, पृ० 423–4 ।

[2]रायचौधुरी, ए०न०मौ०, पृ० 137 अ०; स्मिथ, अ० हि० इं०, पृ 46 ।

[3]जस्टिन द्वारा 'नए राजत्व' की स्थापना की चर्चा 'मुद्राराक्षस' में 'मौर्य नवे राजनि' शब्दों का (4.14) स्मरण दिलाती है ।

इसलिए यह मानने पर कि चन्द्रगुप्त ने पहिले पंजाब को जीता, यह स्वीकार करना पड़ता है कि 323 तथा 321 ई० पू० के बीच के कुल दो वर्षों में चन्द्रगुप्त ने पंजाब तथा मगध दोनों जीत लिये थे। यह एकदम असम्भव था—विशेषत: एक ऐसे नवयुवक के लिए जो 326 ई० पू० में अपनी जान बचाता घूम रहा था और जो किसी राजवंश से सम्बन्धित न होकर एक सामान्य व्यक्ति मात्र था। इसके विपरीत यह मानने पर कि चन्द्रगुप्त ने पंजाब को मगध-विजय के उपरान्त बाद में जीता था, उसकी सफलताओं का क्रम बोधगम्य हो जाता है : 326 ई०पू० में नन्द (सिकन्दर) के हाथों से बच निकलने के बाद उसने कुछ वर्ष तैयारी की और 321 ई०पू० तक मगध को जीता होगा और तदुपरान्त पंजाब को।

(3) यह भी स्मरणीय है कि चन्द्रगुप्त मूलत: पूर्वी भारत का निवासी था। वहाँ उसे अपनी मोरिय जाति के सदस्यों तथा नन्दों से असन्तुष्ट अन्य जनों की सहायता मिल सकती थी, जबकि पंजाब में वह इस प्रकार के सहायक पाने की आशा नहीं कर सकता था।

(4) यूनानी साक्ष्य से स्पष्ट है कि सिकन्दर के लौटने के बाद ही नहीं त्रिपार्डिसस की सन्धि तक (321 ई०पू०) झेलम से लेकर ब्यास तक विस्तृत भू-प्रदेश पर पोरस नामधारी राजा का शासन था, चन्द्रगुप्त का नहीं। यह पोरस सिकन्दर का समकालीन पोरस या उसका पुत्र रहा होगा।

(5) यूडेमस नामक यूनानी सेनापति की पंजाब में 317 ई०पू० तक विद्यमानता भी यह प्रमाणित करती है कि उस वर्ष तक यूनानी सेनापतियों का पूर्णत: विनाश नहीं हुआ था। लेकिन चन्द्रगुप्त तो इसके पहिले ही 321 ई०पू० में राजा बन गया था। इसलिए चन्द्रगुप्त की मगध-विजय को पंजाब-विजय से पहिले रखना होगा।

(6) चन्द्रगुप्त ने नन्दों पर आक्रमण पर्वतेश्वर नामक किसी राजा के साथ मिलकर किया था। उस राजा की पहिचान स्वयं मुकर्जी ने पोरस के साथ की है। इससे स्पष्ट है कि उस समय तक पोरस जिन्दा था। उस अवस्था में यह कैसे माना जा सकता है कि पंजाब पर चन्द्रगुप्त का अधिकार मगध-विजय के पहिले हो गया था ?

(7) 'मुद्राराक्षस' में बताया गया है कि चन्द्रगुप्त और पर्वतेश्वर शक, यवन, किरात, काम्बोज, पारसीक तथा बाह्लीक की भारी सेनाओं के साथ आए थे,[1] लेकिन पर्वतेश्वर की मृत्यु के बाद स्वयं उसका पुत्र मलयकेतु[2] तथा अन्य अनेक विदेशी राजा

---

[1]अस्ति तावत्शकयवनकिरातकाम्बोज पारसीकबाह्लीकप्रभृतिभिश्चाणक्यमति परिगृहीतैश्चन्द्रगुप्त पर्वतेश्वरबलैरुदधिभिरिव प्रलयकालचलितसलिलैः समन्तादुपरुद्धं कुसुमपुरम्—

—मुद्राराक्षस, अंक 2।

[2]इस मत के लिए कि मलयकेतु की पहिचान डायोडोरस द्वारा उल्लिखित केटियस (Keteus) नामक उस भारतीय सेनापति से की जानी चाहिए जो यूमीनिज़ और एण्टिगोनस के बीच हुए युद्ध में मारा गया था, दे०, बुद्धप्रकाश, स्टडीज, पृ० 137 अ०। लेकिन केटियस एक सेनापति मात्र था जबकि मलयकेतु का उल्लेख एक राजा के रूप में है।

कुलूट का नरेश चित्रवर्मा, मलय का स्वामी सिंहनाद, कश्मीर का राजा पुष्कराक्ष, सैंधवराज सिंधुषेण तथा पारसीकों का स्वामी मेघाक्ष—चन्द्रगुप्त के विरुद्ध हो गये थे ।[1] स्वयं मलयकेतु की सेना में खश, मागध, गान्धार, यवन, शक, चेदि तथा हूण सैनिकों को सम्मिलित बताया गया है । अपने समग्र रूप में ये तथ्य निश्चयतः विश्वसनीय नहीं हैं । परन्तु इन्हें स्थूलतः इस परम्परा के प्रचलित रहने का प्रमाण माना जा सकता है कि मगध पर आधिपत्य होने तक चन्द्रगुप्त की सत्ता पंजाब में स्थापित नहीं हुई थी ।

नन्दों का अन्त

भारतीय साहित्य में चन्द्रगुप्त की सिकन्दर से भेंट तथा उसके द्वारा यूनानियों के शासन का अन्त, दोनों ही अनुल्लिखित हैं । हमारे ज्ञान का यह स्रोत केवल चन्द्रगुप्त और चाणक्य के सम्मिलित प्रयास से नन्दों के उन्मूलन की ही चर्चा करता है । 'महावंश-टीका' से पता चलता है कि चाणक्य ने चाँदी के असंख्य नकली कार्षापण बनाए थे और उन्हें विन्ध्याटवि में कहीं छिपा दिया था । चन्द्रगुप्त की शिक्षा समाप्त हो जाने के बाद वह और चन्द्रगुप्त दोनों विभिन्न स्थानों से सेना एकत्र करने के लिए (बलं संगण्हित्वा) निकले । इस सेना को चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के सेनापतित्व में रख दिया (महाबलकायं संग हेत्वा तं तस्स पटिपादेसि) । जैन 'परिशिष्टपर्वण' में भी कहा गया है कि चाणक्य ने धातुशास्त्र की सहायता से धन एकत्र करके नन्दों का विनाश करने के लिए सैनिक भर्ती किए । जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, जस्टिन के अनुसार भी सेण्ड्रोकोट्टोस् ने अपने 'नए राजत्व की स्थापना' अथवा 'विद्यमान शासन को उलटने' के लिए 'वेतनभोगी सैनिक' (अथवा लुटेरों के गिरोह) एकत्र किए। जैसा कि मैक्रिण्डल[2] ने कहा है 'लुटेरे' शब्द से जस्टिन का आशय पंजाब की उन आयुधजीवी गण-जातियों से होगा जिन्हें 'आरट्ट' या 'अराष्ट्रक' कहा जाता था । बौधायन ने अपने 'धर्मसूत्र' में (लग० 400 ई०पू०) पंजाब को आरट्टों का देश बताया है (1.1.2.13-15) । 'महाभारत' में भी आरट्टों को पंचनद और वाहीक अर्थात् पंजाब का निवासी कहा गया है । इसलिए रीज़ डेविड्स का यह कथन कि "जिस सेना के बल पर चन्द्र-गुप्त ने धननन्द को घेर कर परास्त किया उसका मूल पंजाब से भरती किए गए सैनिक थे"[3], सही प्रतीत होता है ।

---

[1]कौलूतश्चित्रवर्मा मलयनरपतिः सिंहनादो नृसिंहः
काश्मीरः पुष्कराक्षः क्षतरिपुमहिमा सैन्धवः सिन्धुषेणः ।
मेघाक्षः पञ्चमोऽस्मिन् पृथुतुरगबलः पारसिकाधिराजो
नामान्येषां लिखामि ध्रुवमहमधुना चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टु ॥ 19 ॥
—मुद्राराक्षस, 1. 20 ।

[2]इनवेजन ऑव इण्डिया बाई अलेक्जेण्डर, पृ० 406 ।

[3]डेविड्स्, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 267 ।

चाणक्य और चन्द्रगुप्त द्वारा पश्चिमोत्तर प्रदेशों के सैनिकों को भरती करके नन्दों पर आक्रमण करने की बात 'मुद्राराक्षस' में भी कही गयी है (दे०, पीछे)। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने हिमालय के पर्वतीय प्रदेश के पर्वतक या पर्वतेश अथवा पर्वतेश्वर नामक राजा से मैत्री की थी और उसे नन्दों का आधा राज्य देने का वचन दिया था। बाद में चाणक्य ने अपनी कूटनीति से उस विषकन्या द्वारा, जो राक्षस ने चन्द्रगुप्त को मारने के लिए भेजी थी, पर्वतेश्वर को मरवा डाला और 'यह हत्या नन्दों के मन्त्री राक्षस ने करवाई है' यह परिवाद फैला दिया[1] जिससे पर्वतेश्वर के पुत्र मलयकेतु तथा राक्षस में हुई मैत्री दृढ़ होने के पूर्व ही टूट गई। जैन ग्रन्थ 'परिशिष्टपर्वण', 'आवश्यकनिर्युक्ति' पर देवेन्द्रगणी की 'सुखबोधा' तथा हरिषेणाचार्य के 'बृहत्कथाकोश' में भी कहा गया है कि चाणक्य हिमवत्कूट गया और उस प्रदेश के राजा पर्वतक से सन्धि की।[2] परवर्ती युगों में इर्वी चाक्यर उर्फ रविनर्तक (लग० 1615 ई०) ने अपनी 'चाणक्य-कथा' में, अनन्त कवि (लगभग 1660 ई०) ने 'मुद्राराक्षसपूर्वसंकथा' में तथा धुण्ढिराज (1713–14 ई०) ने अपनी 'मुद्राराक्षसव्याख्या' में पर्वतेश का उल्लेख किया और उसके राज्य को पाटलिपुत्र से सौ योजन उत्तर में स्थित बताया (पाटलिपुत्राद्उदीच्यां शतयोजने)। इन लेखकों के अनुसार पर्वतेश एक म्लेच्छ राजा था। 'मुद्राराक्षस' के अनुसार पर्वतेश्वर की सेना में यवन, शक, काम्बोज, पारसीक, किरात, खस, कुलूट, शबर, बाह्लीक तथा हूण आदि सम्मिलित थे। यह पर्वतेश कोई ऐतिहासिक पात्र है या नहीं, इस विषय में मतभेद है। हमारे विचार से इस विषय में 'मुद्राराक्षस' आदि ग्रन्थों का साक्ष्य अपने समग्र रूप में सही नहीं हो सकता, परन्तु इस सम्भावना को कि चन्द्रगुप्त ने इस नाम से पुकारे जाने वाले किसी राजा से सन्धि की थी, एकदम अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।

हरमान जैकोबी का मत था कि चन्द्रगुप्त मौर्य का मित्र पर्वतेश नेपाल के किरात वंश का 'बौद्ध पार्वतीय वंशावली' में उल्लिखित पर्व नाम का राजा हो सकता है। क्योंकि इस वंश के सातवें राजा जितेदास्ती को बुद्ध का तथा 14वें राजा स्थुंक को (जो पर्व का प्रपौत्र था) चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक का समकालीन बताया गया है, इसलिए जैकोबी के अनुसार पर्व चन्द्रगुप्त का समकालीन रहा होगा। लेकिन जैसा कि सी०डी० चटर्जी ने साग्रह कहा है[3] अगर यह पर्व ऐतिहासिक नरेश है तब भी यह

---

[1]अत्र तावद् वृषलं पर्वतकयोरन्यतरविनाशेन चाणक्यस्यापकृतं भवतीति विषकन्यकया राक्षसेनास्माकमत्यन्तोपकारि मित्रं घातितस्तपस्वी पर्वतेश्वर इति संचारितो जनापवादः।

[2]'वंसत्थप्पकासिनी' तथा 'कम्बोडियायी महावंस' नामक बौद्ध ग्रन्थों में भी पर्वत नामक राजकुमार का उल्लेख मिलता है जिससे चाणक्य ने धननन्द से अपमानित होने के बाद सहायता माँगी थी। लेकिन इनमें उसे धननन्द का पुत्र बताया गया है।

[3]बी० सी० लाहा वॉल्यूम, 1, पृ० 67।

कल्पना करना दुष्कर है कि चाणक्य जैसा बुद्धिमान राजनीतिज्ञ शक्तिशाली नन्दों के विरुद्ध युद्ध करते समय तत्कालीन नेपाल जैसे लघु और गौण राज्य के स्वामी पर निर्भर रहा होगा। हमारे विचार से पर्वतेश के विषय में (अगर वह ऐतिहासिक व्यक्ति था तो) टॉमस द्वारा प्रतिपादित और मुकर्जी तथा अन्य अनेक विद्वानों द्वारा समर्थित यह मत सही होना चाहिए कि यह पर्वतेश्वर पोरस नाम का वह सुप्रथित नरेश था[1] जिसने झेलम के युद्ध में सिकन्दर का सामना किया था। इस प्रसंग में ये तथ्य उल्लेखनीय हैं कि सातवीं शती ई० में भारत की यात्रा करने वाला शुआन-च्वांग झेलम के पूर्ववर्ती प्रदेश को (जहाँ पोरस का शासन था) पर्वत नाम से पुकारता है तथा प्राचीन भारतीय साहित्य में पुरु जाति और पर्वतीय जनों का घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है। उदाहरणार्थ, 'महाभारत' के अनुसार पौरवों पर आक्रमण करते समय अर्जुन को पर्वतीय जनों के प्रतिरोध का सामना करना पड़ा था और पर्वतीय जनों को जीतने के बाद ही वह पौरव नरेश द्वारा रक्षित राजधानी को आक्रान्त कर सका था।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि पर्वतीय जनों का स्वामी होने के कारण पौरव नरेश (पोरस) को 'पर्वतेश' भी कहा जाता था, लेकिन परवर्ती लेखकों ने इस 'पर्वतेश' उपाधि का गलत अर्थ लगाकर उसे हिमालय प्रदेश का राजा लिख दिया। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि पोरस का एक सम्बन्धी, जिसे यूनानी लेखकों ने कनिष्ठ या कनीयस् पोरस कहा है और जो वृद्ध या ज्येष्ठ पोरस से शत्रुभाव रखता था, सिकन्दर द्वारा ज्येष्ठ पोरस के साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार किए जाने के कारण सिकन्दर से असन्तुष्ट होकर नन्द राज्य में भाग गया था। इसलिए नन्दों पर आक्रमण की योजना में पोरस ने उनके राज्य का एक भाग हड़पने की इच्छा के कारण तो हाथ बँटाया ही होगा, कनीयस् पोरस को नन्द राज्य में शरण मिलने के कारण वह नन्दों को अपना स्वाभाविक शत्रु भी समझता होगा।[3]

---

[1]टॉमस, कैं०हि०इं०, पृ० 471; मुकर्जी, च०मौ०का०, पृ० 50; बुद्धप्रकाश, स्टडीज़, पृ० 65 अ०; सेठ, आई०एच०क्यु०, 1941, पृ० 173। रायचौधुरी को इस पहिचान में शंका है (ए०न०मौ०, पृ० 147)।

[2]स तैः परिवृतः सर्वैर्विश्वगश्वं नराधिपम्।
अभ्यगच्छन्महातेजाः पौरवं पुरुषर्षभः ॥
विजित्य चाहवे शूरान्पर्वतीयान्महारथान्।
जिगाय सेनया राजन् पुरं पौरव रक्षितम् ॥

[3]पर्वतेश की पोरस के साथ पहिचान में सबसे बड़ी बाधा यह है कि डायोडोरस के अनुसार पोरस की हत्या यूडेमस ने की थी जबकि पर्वतेश विषकन्या से सम्बन्ध करने के कारण मरा था। परन्तु जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, डायोडोरस ने यहाँ पोरस का ही उल्लेख किया है यह निश्चित नहीं है। एक अन्य मतानुसार हो सकता है मगध-अभियान में यूडेमस ने भी भाग लिया हो। 'मुद्राराक्षस' में यवन सैनिकों का उल्लेख है भी। उस अवस्था में सम्भव है कि चाणक्य ने यूडेमस के हाथों पोरस की हत्या करवाई हो लेकिन बाद में 'विषकन्या' सम्बन्धी कथा फैल गई हो या फैला दी गई हो। दे०, कैं० हि० इं०, पृ० 424। यह भी सम्भव है कि यूडेमस ने जिस पोरस को मारा हो उस पोरस का पुत्र

लेकिन चन्द्रगुप्त, चाणक्य और पर्वतेश्वर जिस शत्रु को उन्मूलित करना चाहते थे वह कोई सामान्य शत्रु नहीं था। नन्दों के पास भी विपुल शक्ति और साधन थे। परन्तु तीन बातें नन्दों की स्थिति को दुर्बल करने वाली थीं। एक, वे हीनकुलोत्पन्न थे जिसके कारण भारत के कुलीन जनों को वे शूल की भाँति प्रतीत होते थे।[1] दूसरे, नन्दों ने साम्राज्य-स्थापन का जो प्रयोग किया था उसके कारण उन्हें भारी कर लगाने पड़े। किसी भी अन्य वंश को उस स्थिति में वैसे कर लगाने पड़ते और बाद में स्वयं मौर्यों ने यही किया, लेकिन करों को बढ़ाने का अलोकप्रिय कार्य चूँकि नन्दों ने सर्वप्रथम किया इसलिए वे बहुत बदनाम हो गए थे। तीसरे, नन्दों के कुछ मन्त्री तथा अन्य अनेक प्रतिष्ठित नागरिक उनसे असन्तुष्ट थे।[2] इन कारणों से अन्ततोगत्वा चन्द्रगुप्त की विजय और नन्दों की पराजय हुई।

बौद्ध साहित्य में नन्द-मौर्य संघर्ष पर प्रकाश देने वाली कुछ सामग्री मिलती है। इसके अनुसार चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने नन्दों के विरुद्ध रणनीति में दो बार गलतियाँ कीं। इस विषय में 'महावंसटीका' में प्रदत्त एक कहानी इस प्रकार है: एक बार चन्द्रगुप्त का एक गुप्तचर एक गाँव में किसी घर में ठहरा हुआ था। वहाँ एक स्त्री ने अपने बच्चे को रोटी पका कर दी। बच्चे ने रोटी के किनारे छोड़कर बीच का भाग खा लिया और किनारे वाले अंश को फेंककर और रोटी माँगने लगा। इस पर वह स्त्री बोली: यह लड़का तो बिल्कुल वैसी ही बात कर रहा है जैसी चन्द्रगुप्त ने की है। चन्द्रगुप्त ने राज्य प्राप्त करने की लालसा के वशीभूत होकर सीमान्त प्रदेशों और मार्ग में पड़ने वाले नगरों पर अधिकार किए बिना सीधे देश के मध्यवर्ती भाग पर आक्रमण कर दिया है। वैसे ही यह लड़का रोटी का किनारे वाला भाग छोड़कर बीच का भाग

और उत्तराधिकारी रहा हो जो सिकन्दर का समकालीन था और जिसकी पहिचान हमने पर्वतेश से की है। स्मरणीय है कि यूनानी लेखकों ने आम्भी और उसके पिता दोनों को प्रायः टेक्सिलिज लिखा है। हो सकता है उसी प्रकार उन्होंने पोरस के पुत्र को पोरस लिखा हो। इस प्रसंग में यह तथ्य रोचक है कि सूडो-कैलेस्थेनिज के अनुसार पोरस की मृत्यु सिकन्दर के हाथों द्वन्द्व युद्ध में हुई थी (स्मिथ, अशोक, पृ० 12, टि०)।

[1]समुत्खाता नन्दा नव हृदय शल्या इव भुवः

—मुद्राराक्षस, 1.13।

[2]नन्दोऽपि नृपतिः श्रीमान् पूर्वकर्मापराधतः।
विरागयामास मन्त्रीणाम् नगरे पाटलाह्वये॥
विरक्त मन्त्रवर्गस्तु सत्यसंधो महाबलः।
पूर्वकर्मापराधेन महारोगी भविष्यति॥

—आ०मू०क०; इं०हि०इ०, पृ० 31।

ततश्च केचित्सामन्ता मदेनान्धम्भविष्णवः।
नन्दस्य न नतिं चक्रुरसौ नापित सूरति॥

—परिशिष्टपर्वण।

खा रहा है ······ । अपने गुप्तचर से यह कथा सुनकर चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने सीमान्त प्रदेशों से विजय-अभियान प्रारम्भ किया (पच्चतंतो पट्ठाय) । परन्तु इस बार उन्होंने विजित प्रदेशों को अपने अधिकार में बनाए रखने के लिए उनमें सैन्यदल न छोड़ने की गलती कर दी जिसके परिणामस्वरूप उनमें विद्रोह होते रहे । तब उन्हें सही रणनीति सूझी । अब वे जैसे-जैसे प्रदेशों को जीतते गए वहाँ अपनी सेनायें नियुक्त करते गए (उग्ग हितनया बलम् संविधाय) । अन्त में उन्होंने पाटलिपुत्र पर घेरा डाला और धननन्द को मार डाला ।

नन्द-मौर्य युद्ध के विषय में जैन ग्रन्थों में भी कुछ ऐसी ही कथा मिलती है । इसके अनुसार भलीभाँति तैयारी कर लेने के उपरान्त चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने नन्दों पर आक्रमण किया और पाटलिपुत्र को अवरुद्ध (रोहियं) कर दिया । लेकिन नन्द-नरेश ने अपनी सबलतर सेना की सहायता से आक्रमणकारियों को पूर्णतः पराभूत कर दिया । चाणक्य और चन्द्रगुप्त की सेना तितर-बितर हो गई और उन्हें स्वयं जान बचाकर भागना पड़ा । दर-दर भटकते हुए वे एक गाँव में पहुँचे । वहाँ उन्होंने एक बच्चे को, जिसने अपनी अंगुली थाली में परोसे गई गर्म 'विलेवी' (सम्भवतः खिचड़ी या राब की तरह का खाद्य पदार्थ) के बीच में डालकर जला ली थी, रोते हुए और उसकी माँ को यह कहते हुए सुना कि वह बच्चा चाणक्य के समान मूर्ख है (चाणक्क मंगुल ! भौत्तुं पि न जाणसि) । चाणक्य के पूछने पर उसने इस तुलना को इस प्रकार समझाया कि जिस प्रकार चाणक्य ने सीमान्त प्रदेशों को अपने कब्जे में किये बिना शत्रु के सुदृढ़ मध्यवर्ती क्षेत्र पर आक्रमण करने की मूर्खता की वैसे ही यह बच्चा किनारे के ठण्डे भोजन को खाए बिना बीच के गर्म भोजन को खाना चाहता है । इस बात से सीख लेकर चाणक्य हिमवत्कूट गया और वहाँ के राजा पर्वतक से सन्धि की । इसके बाद चन्द्रगुप्त ने प्रान्तों को जीतते हुए विजय अभियान प्रारम्भ किया और 'नन्ददेश' को विध्वंस कर डाला । पाटलिपुत्र पर पुनः घेरा डाला गया (पाडलि पुत्तं तओ रोहियं) और अन्ततोगत्वा नन्द ने आत्मसमर्पण कर दिया । लेकिन विजेताओं ने नन्द को मारा नहीं वरन् उसे उसकी दो पत्नियों तथा एक पुत्री के साथ, एक रथ में जितना सामान आए उतना लेकर चले जाने की अनुमति दे दी । परन्तु नन्द की पुत्री दुर्धरा (अथवा सुप्रभा) चन्द्रगुप्त से प्रेम करने लगी और अपने पिता की सहमति से वह चन्द्रगुप्त के पास चली गई । नन्द के महल में प्रवेश करने के बाद चन्द्रगुप्त और पर्वतक ने नन्दों के राज्य और सम्पत्ति को आधा-आधा बाँट लिया । परन्तु तभी एक विषकन्या से विवाह करते समय पर्वतेश्वर मृत्यु को प्राप्त हुआ । इस विषकन्या को चाणक्य ने नहीं भेजा था, परन्तु उसने मृत्युन्मुख पर्वतेश्वर को बचाने की भी कोई चेष्टा नहीं की । इस प्रकार उसने चन्द्रगुप्त को नन्द और पर्वतक दोनों के राज्य का स्वामी बना दिया (दो वि रज्जाणि तस्स जायाणि) ।

जैन और बौद्ध साहित्य में प्रदत्त ये सूचनाएँ, जो स्पष्टतः लोकप्रचलित कथाएँ मात्र हैं, बहुत विश्वसनीय नहीं हैं। परन्तु इनसे स्पष्ट है कि नन्द-मौर्य संघर्ष से जनता

में काफी सनसनी फैली थी और इसे लेकर अनेक कहानियाँ फैल गई थीं। इनसे यह भी संकेत मिलता है कि यह युद्ध काफी भयंकर रहा होगा। 'मिलिन्दपञ्हो'[1] में कहा गया है कि इस युद्ध में, जिसमें नन्दों का सेनापति भद्दसाल था, 80 बार 'शव-नृत्य' हुआ था। एक बार शवनृत्य तब हुआ माना जाता था जब एक सौ कोटि पदाति, 5000 रथी, एक लाख अश्वारोही और दस हजार हाथी मारे जाते थे। ये संख्याएँ अत्यधिक अतिरंजित हैं परन्तु इनसे इस युद्ध की भयंकरता की जनमानस में अवशिष्ट स्मृति का अन्दाज़ होता है। 'मुद्राराक्षस' से भी स्पष्ट है कि चाणक्य ने नन्द वंश को समूल नष्ट करने में पूर्ण सफलता पाई थी।[2]

पंजाब से यूनानियों का निष्कासन

सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब में विद्यमान रहने के कारण चन्द्रगुप्त और चाणक्य विदेशी शासन के दोषों से व्यक्तिगतरूपेण परिचित हो गए थे। अतः यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वे मगध में अपनी सत्ता स्थापित करने के उपरान्त सिन्धु की घाटी को यूनानी प्रभुत्व से मुक्त करने की चेष्टा करते। 305-6 ई० में सेल्युकस का आक्रमण होने के पूर्व वे यह सफलता अवश्य ही अर्जित कर चुके थे। लेकिन भारतीय प्रदेशों में यूनानी आधिपत्य के विरुद्ध छिटपुट प्रयास स्वयं सिकन्दर के जीवन काल में ही प्रारम्भ हो गये थे। जिस समय सिकन्दर तक्षशिला में था सेमेक्सस नामक भारतीय नरेश के भड़काने पर कन्धार के क्षत्रप ने विद्रोह किया था। इसके बाद झेलम के युद्ध के उपरान्त किसी समय एस्सेकोनोई जाति ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और अपने यूनानी गवर्नर निकानोर को मार डाला। सिन्ध प्रदेश में तो अनेक स्थलों पर ब्राह्मणों के नेतृत्व में भारतीय जनों ने विद्रोह किए ही थे। लेकिन ये सभी प्रयास भलीभाँति नियोजित न होने के कारण असफल हो गए।

सिकन्दर के लौट जाने के बाद भारत में यूनानी शासन को पहिला गहरा आघात लगा 325 ई०पू० के अन्त अथवा 324 ई०पू० के प्रारम्भ में। जब सिकन्दर गेड्रोशिया के मार्ग से भारत से वापिस बैबिलोन की तरफ जा रहा था, उसे सूचना मिली कि पंजाब की नदियों और सिन्धु के संगम के उत्तर में स्थित भारतीय प्रदेश के क्षत्रप फिलिप की हत्या हो गयी है। रा० कु० मुकर्जी के अनुसार "इतनी गम्भीर घटना के

---

[1]एस०बी०इ०, 36, पृ० 147।

[2]जैसा कि स्पष्ट है बौद्ध और जैन कथाओं में नन्द-मौर्य संघर्ष का सामरिक पक्ष उभड़ा है और 'मुद्राराक्षस' में कूटनीतिक पक्ष। इनको एक दूसरे का विरोधी न मानकर पूरक भी माना जा सकता है। इस भेद के आधार पर चाणक्य-कथा में शंका करना कदापि उचित नहीं है। 'मुद्राराक्षस' भी नन्दों के विरुद्ध बल-प्रयोग से एकदम अपरिचित नहीं है। इसमें एक स्थल पर 'राक्षस के देखते-देखते अहंकारी नन्दों के पशुओं की तरह मारे जाने' (नन्दाः पर्याय सूनाः पशव इव हताः पश्यतो राक्षसस्य) का उल्लेख मिलता है।

पीछे और भी गहरा कारण था; विदेशी शासन के प्रति जनता में असन्तोष।''[1] लेकिन यह सिद्ध करने के लिए बिल्कुल प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं कि फिलिप की हत्या के पीछे भारतीय विद्रोहियों का कोई हाथ था। एरियन ने स्पष्ट लिखा है कि यह हत्या यूनानी तथा मकदूनी सैनिकों के आपसी झगड़ों का परिणाम थी। मुकर्जी का यह भी विचार है कि यह हत्या सिकन्दर के लिए एक चुनौती थी और इस समाचार को सुनकर उसका भारत वापिस न लौटना यह सिद्ध करता है कि वह इस चुनौती को स्वीकार करने की स्थिति में नहीं था।[2] लेकिन सिकन्दर को यह सूचना गेड्रोशिया को पार करने के बाद मिली थी। अगर मुकर्जी महाशय यह स्मरण रखते कि सिकन्दर को गेड्रोशिया का रेगिस्तान पार करने में कितनी भयंकर मुसीबतों का सामना करना पड़ा था तो शायद वह ऐसा मत अभिव्यक्त न करते। और फिर सिकन्दर किससे बदला लेने लौटता ? फिलिप के यूनानी हत्यारों को उसके मकदूनी सैनिक दण्डित कर ही चुके थे। जितने विशाल साम्राज्य का स्वामी वह था उसमें विविध प्रान्तों में समय-समय पर ऐसी घटनाएँ घटित होना सामान्य बात थी। इसलिए सिकन्दर ने इस घटना को उतना ही महत्त्व दिया जितना दिया जाना चाहिए था—उसने थ्रेसी सेना के पंजाब स्थित कमाण्डर यूडेमस तथा तक्षशिला-नरेश आम्भी को लिख दिया कि जब तक कोई नया क्षत्रप न भेज दिया जाय वे फिलिप की क्षत्रपी का शासन भार भी सम्भाल लें।

सिकन्दर का विचार फिलिप के स्थान पर कब और किसे नियुक्त करने का था यह सम्भवतः हम कभी नहीं जान पाएँगे। उपर्युक्त घटना के बाद बैबिलोन पहुँचते ही उसकी मृत्यु हो गई (जून, 323 ई०पू०)। उसकी मृत्यु से भारतीय प्रान्तों में, जो उसके विशाल साम्राज्य के पूर्वी छोर पर स्थित थे और कुल दो वर्ष पहिले जीते गए थे, यूनानी आधिपत्य की स्थिति डाँवाडोल हो जाना बड़ी स्वाभाविक बात थी। उसके सेनापतियों ने उसकी मृत्यु के तत्काल बाद बैबिलोन में एक सभा करके साम्राज्य को आपस में बाँट लेने का फैसला किया। इसमें भारत के बारे में तय किया गया कि उसकी स्थिति यथावत् छोड़ दी जाए। 321 ई०पू० में त्रिपार्डिसस में दूसरा समझौता हुआ जिसमें सिकन्दर के श्वसुर ओक्सियार्टिज़ को पेरोपेमिसेदाय अर्थात् काबुल की उपत्यका का तथा पीथोन को (जो तब तक सिन्धु प्रान्त में था) 'पेरोपेमिसेदाय से लगे प्रदेश' अर्थात् एरेकोशिया से लेकर सिन्धु तक के प्रदेश का क्षत्रप बनाया गया तथा सिन्धु की घाटी तथा पंजाब को क्रमशः पोरस तथा आम्भी के अधिकार में छोड़ दिया गया 'क्योंकि किसी योग्य सेनापति के नेतृत्व में निष्ठावान् सैनिकों को भेजे बिना इन राजाओं को हटाना असम्भव था'। इस व्यवस्था से स्पष्ट है कि 321 ई०पू० में (1) यूनानियों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण केवल सिन्धु नदी तक था। (2)

---

[1]मुकर्जी, च०मौ०का०, पृ० 54।

[2]वही।

सिन्धु के इस पार पंजाब पर भी वे नाममात्र का प्रभुत्व का दावा कर रहे थे परन्तु व्यवहार में आम्भी और पोरस स्वतन्त्रप्राय हो चुके थे। (3) इस चित्र में चन्द्रगुप्त मौर्य का व्यक्तित्व बिल्कुल अनुपस्थित है और न ही उसके लिए इसमें कोई स्थान है। पता नहीं इन तथ्यों के आधार पर, या कहा जाय कि इन तथ्यों के बावजूद, मुकर्जी जैसे विद्वानों ने यह निष्कर्ष कैसे निकाल लिया है कि 323 और 321 ई०पू० के बीच चन्द्रगुप्त मौर्य पंजाब और मगध का शासक बन गया था।[1]

वस्तुत: 321 ई०पू० तक चन्द्रगुप्त की गतिविधि का केन्द्र पंजाब नहीं, मगध था। सब साक्ष्य से मगध में नन्दों के उन्मूलन की यही तिथि ज्ञात होती है (दे०, पीछे)। इसके उपरान्त उसे कुछ वर्ष मगध में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में लगे होंगे। मुकर्जी का सुझाव है कि चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर की मृत्यु अर्थात् जून 323 ई०पू० के बाद से लेकर 322 ई०पू० तक पंजाब और मगध दोनों को जीत लिया था और 322 ई०पू० में उसने सार्वभौम नरेश के रूप में अपना अभिषेक करवाया था।[2] लेकिन केवल डेढ़ वर्ष में गंगा और सिन्धु की घाटियों को जीतना, वह भी एक ऐसे नवयुवक के लिए जो एक 'मामूली घराने' में पैदा हुआ था, सर्वथा असम्भव था। किसी लेखक के लिए ऐसे सुझाव लिख देना आसान होता है, यथार्थ जीवन में ऐसी चमत्कारी घटनाएँ नहीं घटा करतीं। वस्तुत: मगध-विजय के उपरान्त चन्द्रगुप्त ने पहिले पंजाब पर ही आक्रमण किया था, यह मानना भी आवश्यक नहीं है। स्वयं पंजाब की स्थिति भी यही संकेत देती है। यूडेमस नाम का एक यूनानी सेनापति कम से कम लगभग 317 ई०पू० तक पंजाब में अवश्य ही विद्यमान था। उसकी उपस्थिति इस बात का प्रमाण है कि तब तक पंजाब से यूनानियों का पूर्णत: निष्कासन नहीं हुआ था। दूसरे, अगर वह पंजाब से आम्भी अथवा पोरस या पोरस के इसी नाम के उत्तराधिकारी का वध करके गया था तो इसका मतलब भी यही हुआ कि पंजाब पर पोरस या उसके उत्तराधिकारी का आधिपत्य 317 ई०पू० तक बना हुआ था।[3] तीसरे, यह भी स्मरणीय है कि 'क्लासिकल' लेखकों ने भारत से यूनानी आधिपत्य के अन्त करने का श्रेय चन्द्रगुप्त को दिया है, आम्भी के या पोरस के वंश के नरेशों को नहीं। इसलिए, पोरस नामधारी राजा का अस्तित्व अगर 317 ई०पू० तक था तो, पंजाब से यूनानी आधिपत्य का अन्त इस तिथि के उपरान्त ही हुआ होगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त ने पंजाब से यूनानियों का निष्कासन

---

[1] मुकर्जी, पूर्वो०, पृ० 56–57।

[2] वही, पृ० 71।

[3] 317 ई०पू० में या इसके आसपास यूडेमस ने 'अपने भारतीय साथी नरेश पोरस' (अथवा एक अन्य पाठानुसार 'अपने एक भारतीय साथी', जिसकी पहिचान कुछ विद्वान् आम्भी से करते हैं) का वध किया और सिकन्दर के बाद होने वाले उत्तराधिकार के युद्ध में 120 हाथियों तथा एक छोटी-सी सेना के साथ एण्टिपेटर के विरुद्ध यूमीनिज़ को सहायता देने चला गया। वहीं वह एण्टिपेटर के हाथों मारा गया।

317 ई०पू० के बाद और 305 ई०पू० में सेल्युकस का आक्रमण होने के पूर्व किया था। इस घटना की सही तिथि 317 ई०पू० के निकटतर मानना सम्भवत: अधिक उचित होगा। इस सफलता के परिणामस्वरूप पश्चिमोत्तर दिशा में उसका साम्राज्य सिन्धु नदी तक फैल गया। प्लिनी ने, सम्भवत: मेगास्थेनिज़ के आधार पर, लिखा है कि "प्रासाई जाति के साम्राज्य (अर्थात् मागध साम्राज्य) की सीमा सिन्धु नदी है"।[1] क्योंकि चन्द्रगुप्त के पूर्व शासन करने वाले नन्द नरेशों का पंजाब पर अधिकार नहीं था और चन्द्रगुप्त के सेल्युकस से युद्ध के बाद मौर्य साम्राज्य हिन्दुकुश तक विस्तृत हो गया था, इसलिए सिन्धु नदी तक मागध साम्राज्य का विस्तार चन्द्रगुप्त के शासन काल में सेल्युकस से लड़े गये युद्ध के पूर्व ही रहा होगा। इस निष्कर्ष का प्रत्यक्षत: समर्थन एप्पियन के इस कथन से भी होता है कि सेल्युकस ने 312-11 ई०पू० में बैबिलोन पर पुन: अधिकार करने के बाद अपने को "फ्रिगिया (एशिया माइनर) से सिन्धु (इण्डस) तक का स्वामी बना लिया" तथा बाद में "सिन्धु नदी को पार करके भारतीयों के राजा एण्ड्रोकोट्टोस (=चन्द्रगुप्त) से, जो सिन्धु के तट पर शासन करता था, युद्ध किया।"[2]

सेल्युकस पर विजय

जिस समय भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य का अभ्युदय हो रहा था, पश्चिमी एशिया में सेल्यूकस निकाटोर अपनी भावी महत्ता की नींव डाल रहा था। सेल्युकस सिकन्दर के सर्वाधिक योग्य सेनापतियों में एक था। एण्टिपेटर के रीजेण्ट बनने पर वह, 321 ई०पू० की त्रिपार्डिसस की सन्धि के अनुसार, बैबिलोन प्रान्त का क्षत्रप नियुक्त हुआ। एण्टिपेटर की हत्या के बाद पोलाइपाकोन रीजेण्ट बना। उसके काल में एण्टिगोनस और यूमीनिज़ में एशिया में सर्वोच्च सत्ता पाने के लिए संघर्ष हुआ। इस युद्ध में सेल्युकस ने एण्टिगोनस का साथ दिया, लेकिन विजय पाने और एशियायी प्रान्तों का स्वामी बन जाने के बाद एण्टिगोनस ने सेल्युकस से अपना पिण्ड छुड़ाने की कोशिश की। इस पर सेल्युकस मिस्र पर अधिकार कर लेने वाले यूनानी विजेता टॉलेमी से जा मिला जो कैसेण्डर (यूनान तथा मकदूनिया का स्वामी) तथा लाइसीमेचस (थ्रेस और एशिया माइनर का स्वामी) के साथ मिलकर एण्टिगोनस को पराजित करने का उपाय कर रहा था। जिस समय एण्टिगोनस टॉलेमी से लड़ने पश्चिम की तरफ गया और उसकी सेना वहाँ लगातार चलने वाले युद्धों के कारण दुर्बल हो गई, सेल्युकस ने बैबिलोन पर पुन: अधिकार कर लिया (312 ई०पू०)। कुछ ही समय में उसने पूर्वी प्रान्तों में अपनी स्थिति दृढ़ कर ली और 306 ई०पू० में 'राजा' उपाधि धारण

---

[1]मेक्रिण्डल, एन्श्येण्ट इण्डिया एज़ डेस्क्राइब्ड बाई मेगास्थेनिज़ एण्ड एरियन, पृ० 143।
[2]एप्पियन, रोमन हिस्ट्री, 2, रायचौधुरी द्वारा ए० न० मौ० के पृ० 151 पर उद्धृत।

की।[1] इस पृष्ठभूमि में हमें चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ उसके संघर्ष का अध्ययन करना चाहिए।

जिस समय सेल्युकस ने बैबिलोन पर अधिकार किया पूर्वी प्रदेशों में स्थिति उसके अनुकूल थी। पीथोन, जिसे त्रिपार्डिसस की सन्धि में 'पेरोपेमिसदाय से लगा' प्रान्त मिला था, एण्टिगोनस का समर्थक था। वह लगभग 316 ई०पू० में अपना प्रान्त छोड़कर एण्टिगोनस की सहायता करने चला गया और इसके चार वर्ष बाद गाजा के युद्ध में मारा गया। सेल्युकस ने इस स्थिति का लाभ उठाया और मीडिया, सूसियाना, पर्सिया तथा बैक्ट्रिया को जीतने के उपरान्त सिकन्दर द्वारा विजित भारतीय प्रदेशों को फिर से यूनानियों के अधिकार में करने के लिए सिन्धु पार कर पंजाब पर आक्रमण कर दिया। इस विषय में जस्टिन द्वारा प्रदत्त सूचना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वह बताता है कि "सिकन्दर के साम्राज्य का उसके सेनापतियों में विभाजन होने के बाद सेल्युकस ने पूर्व में बहुत से युद्ध लड़े। उसने पहिले बैबिलोन को जीता और फिर इस विजय के परिणामस्वरूप परिवर्धित सेना की सहायता से बैक्ट्रियाना को अपने अधीन किया। इसके बाद वह भारत गया.........(वहाँ) उसके (=चन्द्रगुप्त मौर्य के) साथ एक सन्धि करके और पूर्व में सब मामलों को निपटा कर वह एण्टिगोनस से युद्ध करने के लिए स्वदेश वापिस लौट गया।"[2] क्योंकि एण्टिगोनस की मृत्यु 301 ई०पू० में सेल्युकस के हाथों इप्सस के पास लड़े गये युद्ध में हुई थी इसलिए चन्द्रगुप्त और सेल्युकस का युद्ध 312 ई०पू० (सेल्युकस द्वारा बैबिलोन-विजय की तिथि) के बाद और 301 ई०पू० के पूर्व लड़ा गया होगा। गुटिड ने इस युद्ध की तिथि लगभग 302 ई०पू० मानी है। लेकिन एक तरफ क्योंकि सेल्युकस को बैबिलोन से मीडिया, सूसियाना, पर्सिया तथा बैक्ट्रिया को जीतते हुए सिन्धु तक पहुँचने में तीन-चार वर्ष लगे होंगे और दूसरी तरफ चन्द्रगुप्त से सन्धि करने के बाद कप्पेडोशिया में स्थित इप्सस तक (जहाँ उसका एण्टिगोनस से युद्ध हुआ) पहुँचने में भी कम से कम दो-तीन साल लग गये होंगे,[3] इसलिए उसके चन्द्रगुप्त के साथ युद्ध की तिथि 306–305 ई०पू० मानना सत्य के निकटतर होगा। किसी भी अवस्था में इस युद्ध को 304 ई०पू० के बाद रखना उचित नहीं होगा। स्मिथ, मैक्डूनाल्ड तथा अन्य अधिकांश विद्वान् इसकी तिथि 306 से 304 ई०पू० के मध्य ही रखते हैं।

सेल्युकस और चन्द्रगुप्त के इस संघर्ष का स्ट्रेबो आदि 'क्लासिकल' लेखकों ने विस्तार से वर्णन नहीं किया है। जस्टिन तो इसके परिणामस्वरूप हुई सन्धि का भी मात्र उल्लेख करता है, उसकी शर्तें नहीं बताता। उनके इस मौन के कारण मैक्डू-

---

[1]उसे सामान्यतः 'सीरिया का राजा' कहा जाता है परन्तु वस्तुतः वह सम्पूर्ण पश्चिमी और मध्य एशिया का स्वामी था।

[2]क्ला० एका०, पृ० 192–93।

[3]सिन्धु नदी से इप्सस करीब 2,500 मील दूर है।

नाल्ड आदि अधिकांश पाश्चात्य लेखकों का विचार है कि चन्द्रगुप्त और सेल्युकस की सेनाओं में शायद मुठभेड़ ही नहीं हुई थी। लेकिन कम से कम एप्पियन ने दोनों पक्षों के परस्पर संघर्षरत होने का स्पष्ट उल्लेख किया है। वह बताता है कि सेल्युकस ने "सिन्धु नदी को पार करके भारतीयों के राजा एण्ड्रोकोट्टोस् से, जो सिन्धु के तट पर शासन करता था, युद्ध किया। यह युद्ध तब तक चलता रहा जब तक कि उन दोनों (सेल्युकस और चन्द्रगुप्त) में परस्पर समझौता और विवाह-सम्बन्ध (kedos) नहीं हो गया।"[1] इस युद्ध के परिणामस्वरूप हुई सन्धि की चर्चा 'क्लासिकल' लेखकों ने अनेकत्र की है, लेकिन प्रायः संक्षेप में। इस विषय में प्लुटार्क मात्र इतना कहता है कि चन्द्रगुप्त ने 'सेल्युकस को 500 हाथी भेंट में दिए' और एप्पियन ने सिर्फ युद्धोपरान्त हुई विवाह-सन्धि (kedos) की चर्चा की है। परन्तु स्ट्रेबो ने इसका कुछ विस्तार से उल्लेख किया है। वह कहता है : "सिन्धु नदी के सहारे-सहारे पेरोपेमिसेदाय प्रदेश (Paropamisadae) है, जिसके परे पेरोपेमिसस पर्वत है; फिर दक्षिण की तरफ एरेकोटी (Arachoti) है; उसके बाद दक्षिण की तरफ गेड्रोसेनी (Gedroseni) और अन्य जातियाँ हैं जो समुद्रतटीय प्रदेश में रहती हैं; सिन्धु नदी इन सब प्रदेशों के सहारे-सहारे बहती है; इन प्रदेशों के कुछ भागों पर भारतीयों का अधिकार है, यद्यपि वे पहिले ईरानियों के नियन्त्रण में थे। सिकन्दर ने इन्हें एरियनों (Arians) से छीना और वहाँ अपने उपनिवेश[2] स्थापित किए, लेकिन सेल्युकस निकाटोर ने इन्हें पाँच सौ हाथियों के बदले में अन्तर्विवाह की शर्त पर (epigamia) सेण्ड्रोकोट्टोस् को दे दिया।"[3] अन्यत्र भी वह कहता है कि "सिन्धु नदी इण्डिया और एरियाना के बीच सीमा थी और एरियाना भारत से पश्चिम की तरफ था और उस समय (सिकन्दर के आक्रमण के समय) ईरानियों के अधिकार में था; लेकिन बाद में मकदूनियनों से प्राप्त कर लेने के बाद एरियाना के बहुत से हिस्सों पर भारतीयों का अधिकार हो गया।"[4]

इस विषय में प्लिनी का साक्ष्य इस प्रकार है :

"लेकिन बहुत से लेखक सिन्धु नदी को भारत की पश्चिमी सीमा नहीं मानते। वे इसमें गेड्रोशिया, एरेकोटाई, एरियाई तथा पेरोपेमिसदाई इन चार क्षत्रपियों को भी शामिल करते हैं और कोफिज (=काबुल) नदी को इसकी अन्तिम सीमा मानते हैं।"[5] क्योंकि इस स्थल पर प्लिनी ने सेल्युकस और चन्द्रगुप्त का उल्लेख नहीं किया है इसलिए रायचौधुरी जैसे कुछ विद्वानों की इस साक्ष्य में श्रद्धा नहीं है। उनका कहना

[1]एप्पियन, पूर्वो०।
[2]टार्न के अनुवादानुसार 'सरकार' या 'प्रान्त'।
[3]क्ला० एका०, पृ० 97–98।
[4]वही, पृ० 247।
[5]वही, पृ० 345।

है कि हो सकता है प्लिनी का कथन मौर्यकाल के उपरान्त किसी अन्य युग की स्थिति का द्योतक हो ।[1] लेकिन (1) प्लिनी ने अपना ग्रन्थ 77 ई० में प्रकाशित कराया । उसके पूर्व मौर्यों के अतिरिक्त किसी अन्य भारतीय वंश ने इन चारों प्रान्तों पर शासन नहीं किया । यहाँ तक कि किसी शक और प्रारम्भिक कुषाण राजाओं के जमाने में भी ये चारों प्रदेश एक साथ भारत में शामिल नहीं थे । (2) प्लिनी ने ठीक उन्हीं चारों प्रान्तों का उल्लेख किया है जो स्ट्रैबो के अनुसार सेल्युकस ने चन्द्रगुप्त को दिए थे । इसलिए हमें स्मिथ का यह कथन सही लगता है कि प्लिनी के साक्ष्य में भी सेल्युकस-चन्द्रगुप्त युद्ध के परिणामस्वरूप भारत की सीमा विस्तृत हो जाने का वर्णन है ।[2]

चन्द्रगुप्त और सेल्युकस के युद्ध के परिणाम विषयक उपर्युक्त सूचनाओं से स्पष्ट है कि इस संघर्ष में चन्द्रगुप्त को विजय प्राप्त हुई थी और सेल्युकस को मात्र 500 हाथियों के बदले अपने चार प्रान्तों—एरिया, एरेकोशिया, पेरोपेमिसदाई तथा गेड्रोशिया—से, कम से कम इनके अधिकांश से, हाथ धोना पड़ा । क्योंकि इसके फौरन बाद सेल्युकस को एण्टिगोनस से संघर्ष करना था, इसलिए ये हाथी उसके बहुत काम आए । स्ट्रैबो के इस कथन का सहारा लेते हुए कि पेरोपेमिसदाई इत्यादि के कुछ भाग चन्द्रगुप्त को मिले थे, टार्न ने निष्कर्ष निकाला है कि सेल्युकस ने पेरोपेमिसेदाई, एरेकोशिया तथा गेड्रोशिया के केवल वे ही भाग चन्द्रगुप्त को सौंपे थे जो सिन्धु नदी के किनारे-किनारे थे । इस मत के अनुसार चन्द्रगुप्त को गेड्रोशिया का वह हिस्सा मिला जो सिन्धु और पुरली नदियों के मध्य है, पेरोपेमिसेदाय का वह भाग जो सिन्धु और कुनार के बीच में है और एरेकोशिया का वह हिस्सा जो कुनार से क्वेटा तक खींची जाने वाली काल्पनिक रेखा के पूर्व में पड़ेगा ।[3] लेकिन (1) अशोक पाँचवें और तेरहवें शिलालेखों में गन्धार को ही नहीं 'योन' को भी अशोक के साम्राज्य में सम्मिलित बताया गया है । इस योन जनपद का उल्लेख 'महावंस' में भी है । इसकी राजधानी अलसंदा नगरी थी जिसकी पहिचान पेरोपेमिसदाय के सिकन्दरिया नगर से की जाती है । इससे स्पष्ट है कि मौर्य साम्राज्य हिन्दुकुश तक विस्तृत था । (2) अशोक के एक एरेमाइक अभिलेख का, स्वयं लमगान से जो काबुल की घाटी में स्थित है, उपलब्ध होना तथा उसके एक द्विभाषीय अभिलेख का कन्धार के समीप मिलना यह प्रमाणित करते हैं कि उसका अधिकार काबुल की घाटी और कन्धार दोनों प्रान्तों पर था । (3) स्ट्रैबो ने स्पष्ट लिखा है कि 'एरियाना के बहुत से हिस्से' भारतीयों को मिल गए' ।

---

[1] ए०न०मौ०, पृ० 153 ।

[2] अ० हि० इं०, पृ० 159 ।

[3] टार्न, ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, पृ० 100 । मार्शल भी कहता है : "इस बात को मानने के लिए कोई आधार नहीं है कि सेल्युकस ने पेरोपेमिसदाय को दे दिया था; एरिया के बारे में तो ऐसे आधार और भी कम हैं" (टैक्सिला, 1, पृ० 20, टि० 2) ।

इस कथन के प्रकाश में यह कहना कि चन्द्रगुप्त को सिन्धु के पश्चिम तथा कुनार-क्वेटा-पुरली के पूर्व में स्थित लघु प्रदेश ही मिला था, गलत होगा। (4) जैसा कि पीछे देखा जा चुका है प्लिनी के अनुसार भी एरिया, एरेकोशिया, पेरोपेमिसदाय तथा गेड्रोशिया भारत में शामिल माने जाते थे। इन तथ्यों के प्रकाश में स्मिथ का यह कथन कि चन्द्रगुप्त को प्राप्त पेरोपेमिसदाय में हिन्दुकुश तक का प्रदेश, एरिया में हिरात प्रदेश, एरेकोशिया में कन्धार प्रदेश तथा गेड्रोशिया में कम से कम इस प्रान्त का पूर्वी भाग सम्मिलित थे, स्वीकृत किया जाना चाहिए। इस इतिहासकार के अनुसार इस युद्ध के परिणामस्वरूप हिन्दुकुश पर्वत चन्द्रगुप्त के हिरात और काबुल प्रान्तों तथा सेल्युकस के बैक्ट्रिया प्रान्त के मध्य सीमा बन गया। "भारत के प्रथम सम्राट् ने अब से दो सहस्र से भी अधिक वर्ष पूर्व उस 'वैज्ञानिक सीमा' पर अधिकार कर लिया जिसको पाने के लिए उसके अंग्रेज उत्तराधिकारी (अर्थात् आधुनिक अंग्रेज शासक) असफल आहें भरते रह गये और जिसे सोलहवीं तथा सत्रहवीं शती ई० के मुगल शहन्शाह भी कभी पूरी तरह नियन्त्रित नहीं कर पाए।"[1] एफ० डब्ल्यु० टॉमस ने भी चन्द्रगुप्त का साम्राज्य हिन्दुकुश तक विस्तृत हो गया माना है।[2]

चन्द्रगुप्त ने उपर्युक्त चार प्रान्तों के बदले में सेल्युकस को केवल 500 हाथी दिए। इससे स्पष्ट है कि यह सन्धि सेल्युकस के लिए बहुत ही अपमानजनक रही थी। 6 लाख पदातियों और 9,000 हाथियों के स्वामी चन्द्रगुप्त से लोहा लेने का परिणाम और कुछ हो भी नहीं सकता था। लेकिन बहुत से आधुनिक यूरोपीय इतिहासकार ज्ञात तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि इस युद्ध में सेल्युकस को विजय प्राप्त हुई थी। कम से कम इतना तो ज्यादातर यूरोपीय लेखक मानते ही हैं कि इस युद्ध का परिणाम अनिर्णीत रहा था। ड्रॉयसन ने सेल्युकस को विजयी सिद्ध करने के लिए प्लिनी के साक्ष्य की सहायता ली है। प्लिनी ने एक स्थल पर भारत के उन 'राष्ट्रों' और 'नगरों' का उल्लेख किया है जिनका ज्ञान यूनानियों को 'सिकन्दर, सेल्युकस तथा एण्टियोकस के आक्रमण' तथा भारत की यात्रा करने वाले या मेगास्थेनिज़ और डायोनाइसियस जैसे राजदूतों की यात्राओं के कारण हुआ।[3] इसके आगे वह सेल्युकस निकाटोर के लिए भारत के दूरस्थ अन्तवर्ती प्रान्तों (जमुनिज़ =यमुना नदी, पालिम्बोथ्रा=पाटलिपुत्र, तथा गंगा के मुहाने तक) के खोजे जाने की चर्चा करता है (नेचुरल हिस्ट्री, 6.63)।[4] इसके आधार पर ड्रॉयसन ने निष्कर्ष निकाला है कि सेल्युकस ने न केवल सिकन्दर द्वारा जीते गये भारतीय प्रदेशों का फिर से जीत लिया था वरन् वह पूर्व में पाटलिपुत्र तक बढ़ आया था और वहाँ से उसने

---

[1]अ०हि०इं०, पृ० 126।
[2]कैं०हि०इं०, पृ० 425।
[3]क्ला०एका०, पृ० 340।
[4]वही।

गंगा नदी के मार्ग से समुद्र अर्थात् बंगाल की खाड़ी तक की यात्रा की थी। लेकिन (1) जैसा कि मैक्डूनाल्ड ने ध्यान दिलाया है प्लिनी का कथन इस मत को पर्याप्त आधार प्रदान नहीं करता। प्लिनी ने जिन अभियानों द्वारा भारत के अन्तर्वर्ती प्रदेशों के खोजे जाने का उल्लेख किया है वे सैनिक अभियान ही थे, यह मानना आवश्यक नहीं है। उसका आशय वस्तुतः उन यात्राओं से लगता है जो बाद में प्रेषित मेगास्थेनिज़ और डायोनाइसियस आदि यूनानी राजदूतों ने की थी।[1] (2) अगर सेल्युकस पाटलिपुत्र तक बढ़ आया होता तो इसका 'क्लासिकल' लेखक बड़े विस्तार से उल्लेख करते क्योंकि उसकी यह सफलता सिकन्दर की भारत में प्राप्त उपलब्धियों से कई गुना अधिक शानदार होती। (3) सेल्युकस पाटलिपुत्र तक तभी बढ़ सकता था जब वह चन्द्रगुप्त को निर्णयकरूपेण हरा देता। लेकिन हमारे सभी साक्ष्य संकेत देते हैं कि इस युद्ध के परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त का साम्राज्य ईरान की सीमा तक विस्तृत हो गया था। अतः ज्ञान की वर्तमान अवस्था में यह निष्कर्ष सम्भवतः सही होगा कि सेल्युकस ने सिन्धु अवश्य पार की थी (एप्पियन) लेकिन चन्द्रगुप्त ने उसका वहीं सफल प्रतिरोध कर दिया था।

नीख़ नामक जर्मन इतिहासकार ने इस युद्ध में चन्द्रगुप्त की पराजय विषयक धारणा का अनुमोदन करते हुए कहा है कि चन्द्रगुप्त ने अपने 500 हाथी सेल्युकस को अधीन राजा द्वारा दी जानेवाली भेंट के रूप में दिए थे। इस मत के समर्थन में उन्होंने उस अनुश्रुति की ओर भी ध्यान दिलाया है जिसके अनुसार चन्द्रगुप्त सिकन्दर द्वारा ब्यास के तट पर निर्मित वेदिकाओं की पूजा किया करता था। हाल ही में वुडकॉक ने इस समस्या का कि सेल्युकस भारत में विजयी हुआ या पराजित, उल्लेख करते हुए लिखा है कि दोनों ही मतों के पक्ष में निर्णायक प्रमाणों का अभाव है।[2] उनके कथन से लगता है मानो यह सम्भावना कि चन्द्रगुप्त पराजित हुआ था और सेल्युकस विजयी, एकदम अस्वीकृत नहीं की जा सकती। मैक्डूनाल्ड ने भी यह कहकर कि सम्भवतः इस युद्ध का कोई निश्चत परिणाम नहीं हुआ, यह दर्शाने की चेष्टा की है कि चन्द्रगुप्त ने सेल्युकस को परास्त नहीं किया था।[3] परन्तु इन मतों की हास्यास्पदता स्वतः स्पष्ट है। (1) इतिहास में इस बात का कोई और उदाहरण नहीं मिलता जब विजेता पक्ष पराजित पक्ष को चार प्रान्त भेंट में दे दे और बदले में मात्र 500 हाथी लेकर सन्तुष्ट हो जाए। (2) मेगास्थेनिज़, जिसे सेल्युकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में दूत के रूप में नियुक्त किया, 'चन्द्रगुप्त का उल्लेख अत्यन्त सम्मान के साथ करता है और ऐसा प्रदर्शन कहीं नहीं करता जिससे लगे कि वह किसी अधीन राजा

[1] कैं०हि०इं०, पृ० 387। दे०, ए०न०मौ०, पृ० 152, टि०।

[2] वुडकॉक, दि ग्रीक्स् इन इण्डिया, पृ० 48। नीख़ के मत को स्मिथ और वुडकॉक ने उद्धृत किया है।

[3] कैं०हि०इं०, पृ० 387-88।

के दरबार में नियुक्त रीजेण्ट था।'[1] (3) जहाँ तक चन्द्रगुप्त द्वारा वेदीपूजन विषयक अनुश्रुति का सम्बन्ध है, ये तथ्य स्मरणीय हैं कि ये वेदियाँ केवल विजय स्मारक ही नहीं थीं पूजा-स्थल भी थीं और चन्द्रगुप्त के परिवार में कोई यूनानी राजकुमारी विद्यमान थी। इन दोनों तथ्यों के प्रकाश से यह अनुमान करना सर्वथा उचित माना जाएगा कि वह यूनानी राजकुमारी उन वेदियों की पूजा के लिए जाती होगी और चन्द्रगुप्त ने कभी अपनी इस रानी अथवा पुत्रवधू के साथ वहाँ की यात्रा की होगी। वैसे इन अनुश्रुतियों की विश्वसनीयता स्वयं सन्दिग्ध है। वस्तुत: विचारणीय प्रश्न यह है कि अगर सेल्युकस चन्द्रगुप्त से पराजित होकर उपर्युक्त चार प्रदेशों को भारतीय नरेश को देने के लिए विवश नहीं हो गया था तो उसने ये प्रान्त चन्द्रगुप्त को क्यों दिए थे ? क्या नीख़ आदि विद्वानों का ख्याल है कि सेल्युकस ने इन प्रान्तों को 500 हाथियों के बदले में बेच दिया था ? हमारे विचार से ड्रॉयसन, नीख़ और वुककॉक जैसे यूरोपीय इतिहासकार ही भारतीयों के मन में यह धारणा पैदा होने के लिए जिम्मेदार हैं कि यूरोपीय लेखकों का भारत के प्रति दृष्टिकोण विद्वेषपूर्ण होता है।

जहाँ तक विवाह-सन्धि का प्रश्न है एप्पियन ने इसके लिए kedos शब्द का प्रयोग किया है और स्ट्रैबो ने epigamia का। यूनानी भाषा में इन शब्दों के अर्थ कुछ भिन्न हैं। इनमें अगर kedos को सही माना जायेगा तो निष्कर्ष निकलेगा कि दोनों पक्षों में यथार्थ में विवाह-सम्बन्ध हुआ था जबकि epigamia को सही मानने का मतलब है कि दोनों पक्षों में विवाह-सम्बन्धों की प्रथा मात्र को स्वीकृति प्रदान की गई थी। वास्तव में कोई विवाह हुआ था या नहीं यह epigamia शब्द से तय नहीं होता। मैक्डूनाल्ड ने इनमें epigamia शब्द को सही माना है क्योंकि (1) सेल्युकस के परिवार में कोई व्यक्ति विवाह योग्य नहीं था और (2) जातिभेद के देश भारत में इस प्रकार का विवाह अकल्पनीय था।[2] स्मिथ ने एक स्थल पर सुझाव दिया है कि सेल्युकस ने अपनी पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया था[3] और अन्यत्र इस धारणा का खण्डन किया है।[4] लेकिन (1) प्राचीन भारत में विदेशी राजाओं से विवाह-सम्बन्ध की प्रथा मौर्योत्तर युग में भी प्रचलित रही थी, मौर्य युग की तो बात ही क्या ? किसी सातवाहन नरेश ने शक-नरेश प्रथम रुद्रदामा की पुत्री से विवाह किया था, यह सर्वज्ञात था। इसी प्रकार दक्षिण के इक्ष्वाकु राजा वीरपुरुषदत्त ने शक राजकुमारी रुद्रधर भट्टारिका को अपनी पत्नी बनाया था। (2) यह विवाह-सन्धि चन्द्रगुप्त के शासन के अन्तिम वर्षों में हुई थी। उस समय तक चन्द्रगुप्त जैन धर्म के प्रभावान्तर्गत आ चुका था जिससे उसके अन्तरजातीय विवाह सम्बन्धी

---

[1] अ०हि०इं०, पृ० 125, टि० 3।
[2] कैं०हि०इं०, पृ० 387।
[3] अ०हि०इं०, पृ० 125।
[4] अशोक, पृ० 15, टि० 1।

विचारों में भी कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया होगा। (3) यह तर्क कि सेल्युकस के परिवार में विवाह योग्य आयु का कोई सदस्य नहीं था बड़ा भ्रमपूर्ण है क्योंकि जिस राजकुमारी को उसने भारतीय-नरेश को दिया वह उसकी पुत्री ही थी यह मानना आवश्यक नहीं है। हो सकता है वह उसकी भांजियों या भतीजियों में कोई एक रही हो। (4) यहाँ यह भी स्मरणीय है कि स्वयं स्ट्रैबो के इस कथन से कि सेल्युकस ने उपर्युक्त प्रान्त "विवाह-प्रथा (epigamia) की शर्त पर" दिये थे यह ध्वनित होता है कि सेल्युकस ने अपने परिवार की किसी राजकुमारी का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ अथवा उसके परिवार के किसी राजकुमार के साथ किया था और वे प्रदेश वर पक्ष को भेंट के रूप में दिए थे। इस व्याख्या को न मानने का अर्थ यह होगा कि चन्द्रगुप्त से भारतीय राजपरिवार के साथ 'विवाह-सम्बन्ध की प्रथा की स्वीकृति' पाने के लिए सेल्युकस इतना अधिक इच्छुक था कि वह इसके बदले अपने साम्राज्य के चार प्रान्त देने को प्रस्तुत हो गया था। चूँकि यह दूसरा विकल्प एकदम हास्यास्पद है इसलिए पहिला विकल्प कि ये प्रदेश सेल्युकस ने यूनानी राजकुमारी को विवाह के समय भेंट में दिये थे, सही माना जायेगा। भारतीय इतिहास में कोसलादेवी को दहेज में काशी ग्राम की आय मिलने की कथा तथा इंग्लैण्ड के इतिहास में केथेराइन को बम्बई नगर मिलने की घटना ऐसे ही अन्य उदाहरण हैं।[1]

चन्द्रगुप्त और सेल्युकस के मध्य 305 ई०पू० के लगभग हुई इस सन्धि के परिणामस्वरूप मौर्य साम्राज्य का पश्चिमी एशिया के सर्वाधिक शक्तिशाली यूनानी राजवंश से घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध हो गया। बाद में बिन्दुसार तथा अशोक के शासन काल में इस मैत्री की परिधि के अन्तर्गत अन्य पश्चिमी यूनानी राजवंश भी आ गए। एथेनियस ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने सेल्युकस के पास कुछ प्रभावशाली कामोत्तेजक दवाएँ एवं अन्य वस्तुएँ भेंट स्वरूप भेजी थीं। सेल्युकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगास्थेनिज़ को राजदूत बनाकर भेजा था। मेगास्थेनिज़ इसके पूर्व ऐरेकोशिया के क्षत्रप सिबाईटियस (Sibyrtious) के पास रह चुका था और पोरस से भेंट कर चुका था। पाटलिपुत्र में नियुक्ति के बाद वह कई बार मौर्य नृपति से मिला। अपने भारत-प्रवास का लाभ उठाकर उसने 'इण्डिका' नाम की पुस्तक लिखी जो बाद में यूनानियों के लिए भारत विषयक ज्ञान का प्रमुख स्रोत बनी।

---

[1]जयचन्द्र विद्यालंकार ने (भारतीय इतिहास की रूपरेखा, 2, पृ० 633) 'भविष्य-पुराण' (3.1.6.43) में प्रदत्त एक श्लोक उद्धृत किया है जिसके अनुसार सुलूव (सेल्युकस) ने अपनी पुत्री विजेता को दी थी :

चन्द्रगुप्तस्तस्य सुतः पौरसधिपतेः सुताम् ।
सुलूवस्यतथोद्वाह्य यावनी बौद्धतत्पर ॥

कहना कठिन है कि यह पौराणिक अनुश्रुति कितनी विश्वसनीय है।

पश्चिमी भारत पर विजय

हिरात से लेकर बंगाल तक का प्रदेश जीत लेने के बाद चन्द्रगुप्त ने भारत के अन्य अधिकांश प्रदेशों को जीता। प्लुटार्क के कथनानुसार चन्द्रगुप्त ने '6 लाख सेना लेकर सारे भारत को रौंद डाला और अपने अधीन कर लिया'। इसी प्रकार जस्टिन भी सूचना देता है कि 'चन्द्रगुप्त का भारत पर अधिकार' था। यूनानी लेखकों के इस सामान्य कथन से भारतीय साहित्य में सुरक्षित वह परम्परा स्मरण हो आती है जिसके अनुसार चन्द्रगुप्त ने सारे भारत पर शासन किया था। 'मुद्राराक्षस' में कहा गया है कि हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्र तक के राजा भयभीत और नतशीश होकर चन्द्रगुप्त के चरणों में झुकाया करते थे[1] और चारों समुद्रों के पार से आये राजागण चन्द्रगुप्त की आज्ञा को अपने सिरों पर माला की तरह धारण करते थे।[2] इसी प्रकार 'महावंसटीका' में उसे 'सकल जम्बूद्वीप' का शासक बताया गया है (पीछे उद्धृत)। इन साक्ष्य से संकेतित है कि चन्द्रगुप्त ने पूर्वी और उत्तरी भारत के अतिरिक्त पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत को भी जीता था।

चन्द्रगुप्त की पश्चिमी भारत पर विजय कई तथ्यों से ज्ञात है—(1) शक महाक्षत्रप प्रथम रुद्रदामा के जूनागढ़-लेख से (दूसरी शती ई० का मध्य) ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के 'राष्ट्रिय' अर्थात् गवर्नर वैश्य पुष्यगुप्त ने ऊर्जयत पर्वत से नीचे की ओर बहने वाली सुवर्णसिकता और पलाशिनी आदि नदियों पर बाँध बंधवा कर सुदर्शन तडाग का निर्माण करवाया था। इस बाँध के जोड़ इतने मजबूत थे कि उनमें से पानी बिल्कुल नहीं निकल सकता था। अशोक के काल में यवनराज तुषास्फ ने इस जलाशय से बहुत सी नहरें निकलवाईं। इस साक्ष्य से निश्चित है कि चन्द्रगुप्त का अधिकार पश्चिम में सुराष्ट्र तक था।[3] (2) इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि बौद्ध

---

[1]चाणक्यः। पाणौ गृहीत्वा। उत्तिष्ठवत्स।
आ शैलेन्द्राच्छिलान्तः स्खलितसुरनदीशीकरा सारशीता-
दा तीरान्नैकरागस्फुरितमणिरुचो दक्षिणस्यार्णवस्य।
आगत्यागत्य भीतिप्रणतनृपशतैः शश्वदेव क्रियन्तां
चूडारत्नांशुगर्भास्तिव चरणयुगस्याङ्गुलीरन्ध्रभागाः ॥ 19 ॥
राजा। आर्यप्रसादादनुभूयत एवैतद्।

—मुद्राराक्षस, अंक 3 ।

[2]आम्भोधीनीं तमालप्रभवकिसलयश्यामवेलावनाना-
मापारेभ्यश्चतुर्णां चटुलतिमिकुलक्षोभितान्तर्जलानाम्।
मालेवाज्ञा सुपुष्पा तवनृपति शतैरुह्यते या शिरोभि :
सा मय्येवस्खलन्ती प्रथयति विनयालंकृत ते प्रभुत्वं ॥ 24 ॥

—मुद्राराक्षस, अंक 3 ।

[3]मौर्यस्य राज्ञः चन्द्रगुप्तस्य राष्ट्रियेण वैश्येन पुष्यगुप्तेन कारितं अशोकस्य मौर्यस्य कृते यवनराजेन तुषास्फेनाधिष्ठाय प्रणालीभिरलंकृतम्।

—प्रथम रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख। स०इं०, पृ० 177।

ग्रन्थ 'पेतवत्थु' तथा उसकी टीका 'परमत्थदीपनी' में सुरट्ठ (सुराष्ट्र) के पिंगल नामक शासक का उल्लेख मिलता है जो बिन्दुसार के शासन काल के सोलहवें वर्ष में गद्दी पर बैठा था। उसका नन्दक नामक सेनापति था जिसके प्रभाव से वह नास्तिक ('नत्थिकदिट्ठि' का अनुयायी) हो गया। धर्माशोक को भी अपने मत का अनुयायी बनाने के उद्देश्य से पिंगल अपने परिचारिकों सहित पाटलिपुत्र गया (पिंगलो राजा धम्मासोकस्सरञ्ञो ओवादं दातुंगतो) लेकिन वहाँ पहुँच कर स्वयं बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया।[1] (3) स्वयं अशोक के शिलालेखों के गिरनार तथा महाराष्ट्र में थाणा (थाना) जिले के सोपारा स्थल से मिलने से रुद्रदामा के लेख के इस साक्ष्य का समर्थन होता है कि मौर्यों का अधिकार पश्चिमी भारत पर था। (4) सुराष्ट्र पर चन्द्रगुप्त के अधिकार का मतलब है कि वह अवन्ति प्रदेश का भी अवश्य ही स्वामी रहा होगा। जैसा कि हमने अन्यत्र दिखाया है जैन ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त का उल्लेख अवन्ति के शासकों के अन्तर्गत किया गया है। इन ग्रन्थों में उसके राज्यारोहण की तिथि 312 ई०पू० दी गई है। इसे उसकी अवन्ति की विजय की तिथि माना जा सकता है (दे०, पृ० 331)।[2] (5) उसके उत्तराधिकारियों के काल में उज्जैन का उल्लेख एक प्रान्तीय राजधानी के रूप में मिलता है।

दक्षिण भारत पर विजय

चन्द्रगुप्त का कलिंग के साथ सम्बन्ध समस्यामूलक है। नन्द वंश के काल में कलिंग मागध साम्राज्य का अंग बन गया था। लेकिन इसके बाद हम पाते हैं कि अशोक ने कलिंग को जीतकर फिर से मागध साम्राज्य का अंग बनाया। प्रश्न उत्पन्न होता है कि नन्दों द्वारा जीत लिये जाने के बाद कलिंग किस समय स्वतन्त्र हुआ था। इस विषय में निम्नलिखित स्थूल सम्भावनाएँ हैं :—

(1) कलिंग स्वयं नन्दकाल में अथवा चन्द्रगुप्त द्वारा नियोजित क्रान्ति के समय हुई उथल-पुथल का लाभ उठाकर स्वतन्त्र हो गया और अशोक के द्वारा फिर जीते जाने तक स्वतन्त्र रहा। बनर्जी ने यही विकल्प माना है और इस युग में शासन करने वाले कलिंग के अज्ञात राजवंश को वहाँ का दूसरा राजवंश कहा है (वह खारवेल के वंश को तीसरा वंश मानते थे)।[3]

(2) चन्द्रगुप्त ने नन्दों के राजनीतिक उत्तराधिकारी के रूप में कलिंग पर अधि-

---

[1]दे०, सी०डी०चटर्जी, डी०आर०भाण्डारकर वॉल्यूम, पृ० 329-30। इस अनुश्रुति में पूर्णतः विश्वास करना दुष्कर है क्योंकि जूनागढ़-लेख से स्पष्ट है कि मौर्यों ने इस प्रान्त का शासन राष्ट्रिय (=गवर्नर) की सहायता से किया था न कि अधीन राजाओं की सहायता से। इस कथा के आधार पर मात्र इतना माना जा सकता है कि मौर्यों का सुराष्ट्र पर अधिकार था।

[2]दे०, थापर, रोमिला, पूर्वो०, पृ० 16।

[3]हिस्ट्री ऑव उड़ीसा, 1, पृ० 62।

कार किया था परन्तु या तो उसके शासन के अन्तिम वर्षों में अथवा बिन्दुसार के जमाने में और/या अशोक के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में यह प्रदेश स्वतन्त्र हो गया और अशोक को इसे पुनः जीतना पड़ा।

हमारे विचार से इन दोनों में दूसरा विकल्प सही है, क्योंकि चन्द्रगुप्त मौर्य ने अगर मैसूर तक विस्तृत भू-भाग जीता था तो उसको कलिंग का विजेता मानना भी अनिवार्य-सा है। इस विषय में यह तथ्य विचारणीय है कि दक्षिणापथ का अधिकांश भाग पठारी है और इसकी पर्वतीय श्रृंखलाओं का रुख पूर्व से पश्चिम की ओर है। इसलिए प्राचीन काल में पूर्वी घाट को छोड़कर, जिसमें बड़ी-बड़ी नदियों के मुहाने स्थित होने के कारण मैदानी प्रदेश की काफी विस्तृत पट्टी है, आक्रमणकारी सेनाओं का संचालन दुष्कर रहता था। दक्षिणापथ पर सीधे आक्रमण करने वाली सेनाएँ विशाल होने पर तो भूखों मरने लगती थीं और लघु होने पर पराजित हो जाती थीं।[1] महाराष्ट्र विजय करते समय मुगलों को अनुभव होने वाली कठिनाइयाँ इतिहास के सभी विद्यार्थी जानते हैं। इसलिए दक्षिणापथ पर आक्रमण करने वाले उत्तर भारतीय नरेश प्रायः कलिंग को जीतते हुए दक्षिण की ओर बढ़ते थे जैसा कि गुप्त-काल में समुद्रगुप्त ने किया।[2] इसलिए चन्द्रगुप्त मौर्य ने अगर मैसूर तक विजय प्राप्त की थी तो ऐसा उसने कलिंग-विजय के उपरान्त ही किया होगा।

लेकिन चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा दक्षिण भारत की विजय कुछ विवादग्रस्त है। हमारे विचार से उसकी दक्षिण विजय को अशोक के अभिलेख परोक्षतः प्रमाणित करते हैं। अशोक के अभिलेख दक्षिण भारत में मास्की, गोविमठ, पालकिगुण्ड, सुवर्णगिरि तथा राजुलमण्डगिरि एवं उनके भी दक्षिण में सिद्धपुर, ब्रह्मगिरि तथा जटिंग रामेश्वर स्थलों तक से मिलते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अशोक के काल में मौर्य साम्राज्य दक्षिण में मैसूर के चित्तलदुर्ग जिले तक विस्तृत था। अपने दूसरे शिलालेख में चोल, पाण्ड्य, सत्यपुत्र तथा केरलपुत्र को अपना पड़ौसी बताकर अशोक ने इस बात को और स्पष्ट कर दिया है। लेकिन अपने 13वें शिलालेख में अशोक यह भी बताता है कि उसने अपने राज्यारोहण के बाद केवल कलिंग पर विजय प्राप्त की थी, उसके बाद उसने शस्त्रविजय की नीति छोड़कर धम्मविजय की नीति अपना ली थी। इसका मतलब यह हुआ कि दक्षिणी भारत में मैसूर के चित्तलदुर्ग जिले तक विस्तृत प्रदेश (कलिंग को छोड़कर) उसके पैतृक साम्राज्य में सम्मिलित था। इससे स्पष्ट है कि दक्षिण भारत के इस भू-खण्ड पर विजय या तो बिन्दुसार ने प्राप्त की अथवा चन्द्रगुप्त मौर्य ने। जयचन्द्र विद्यालंकार तथा स्मिथ जैसे कुछ विद्वान् यह श्रेय बिन्दुसार को

---

[1]दे०, सरकार, जे०, मिलिट्री हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० 3; पणिक्कर, ज्योग्रेफिकल फैक्टर्स, पृ० 26 अ०।

[2]दे०, गोयल, ए हिस्ट्री ऑव दि इम्पीरियल गुप्तज़, पृ० *161* अ०।

देते हैं[1] तथा मुकर्जी और रायचौधुरी चन्द्रगुप्त को।[2] यह सही है कि बिन्दुसार अशोक की तरह शान्ति का पुजारी नहीं था। यह बात उसकी उपाधि 'अमित्रघात' से स्पष्ट हो जाती है। लेकिन उसने दक्षिण भारत को जीता था इसका एक अस्पष्ट संकेत मात्र तारानाथ के ग्रन्थ में मिलता है। इसमें कहा गया है कि चाणक्य बिन्दुसार के जमाने में भी जीवित रहा था और उसने सोलह नगरों के सामन्तों और राजाओं को परास्त करके बिन्दुसार को पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रों के मध्य स्थित समस्त प्रदेश का स्वामी बना दिया था। कुछ विद्वानों का मत है कि ये राजा दक्षिण भारत के लघु नरेश रहे होंगे।[3] लेकिन जैसा कि रायचौधुरी ने कहा है, तारानाथ बहुत बाद का (करीब 1400 ई० का) लेखक है। अतः यह कहना कठिन है कि उसके कथन में सत्यांश कितना है। दूसरे, उसका कथन जैन परम्परा, श्रवण बेलगोल से प्राप्त अभिलेखों (जिनकी विस्तृत चर्चा चन्द्रगुप्त के धर्म विषयक अध्याय में की गई है) तथा तमिल साहित्य में 'वम्ब मोरियर' विषयक परम्परा के विरुद्ध है।

मौर्यों के दक्षिण भारत से सम्बन्ध विषयक कुछ अनुश्रुतियाँ प्राचीनतम तमिल साहित्य में सुरक्षित हैं। संगमकालीन तमिल कवियों की तिथियाँ अनिश्चित हैं परन्तु स्थूलतः समग्र तमिल साहित्य को ईसवी सन की प्रथम तीन शतियों में रखा जाता है। इस साहित्य की पाँच कविताओं में नन्दों और मौर्यों का उल्लेख हुआ है। इनमें एक कविता का रचयिता कलिकठिल आत्ति रयैनाड़ है। वह मोरियरों (=मौर्यों) के विजयी बर्छों, गगनचुम्बी छत्रों और रथों का उल्लेख करके कहता है कि प्रकाशमान रश्मियों वाले उनके चक्र ने पृथ्वी के उस छोर पर स्थित एक पर्वत को काट दिया और इस प्रकार बने मार्ग तथा मार्ग के समीप स्थित सूर्य को पार करके चला गया। इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि मोरियर वस्तुतः चक्रवाल अथवा विद्याधर अथवा नाग सम्राट् थे। वे पृथ्वी के स्वामी थे तथा जिस पर्वत को काटकर उन्होंने मार्ग बनाया था वह पृथ्वी को दूसरे लोक से पृथक् करने वाला रजत पर्वत था। यह वर्णन स्पष्टतः कल्पनालोक से सम्बन्धित लगता है। परङ्गोरैनार नामक कवि ने भी मोरियरों का वर्णन इसी प्रकार की भाषा में किया है। लेकिन मामूलनार का वर्णन कुछ अधिक तथ्यात्मक और ऐतिहासिक प्रतीत होता है। अपने 'अह्लानूरु' में एक स्थल पर नन्दों और उनके अपरिमित धन का उल्लेख करने के बाद वह कहता है कि विजयी कोशरों ने अपने कई शत्रुओं को अपने अधीन कर लिया परन्तु मोहूरों ने उनका प्रभुत्व नहीं माना। इस पर मोरिय, जो विशाल रथ, हस्ति और अश्व सेना के स्वामी थे, एक पर्वत को काटकर बनाए गए मार्ग से अपने रथों को लेकर कोशरों की सहायता के लिए आए। अन्यत्र मामूलनार ने लिखा है कि जिस समय मोरियर

---

[1]स्मिथ, अ०हि०इं०, पृ० 157; विद्यालंकार, पूर्वो०, पृ० 641–42।

[2]मुकर्जी, च०मौ०का०, पृ० 64 अ०; रायचौधुरी, ए०न०मौ०, पृ० 155, 167–68।

[3]जे०बी०ओ०आर०एस०, 2, पृ० 79।

दक्षिण भारत आए युद्धप्रिय वडुगर, जो अपने दूरगामी तीरों से लड़ते थे, उनकी सेना के आगे-आगे थे। इस स्थल पर भी मामूलनार एक गगनचुम्बी हिमाच्छादित पर्वत को काटकर रास्ता बनाये जाने का उल्लेख करता है। के० ए० एन० शास्त्री के अनुसार "यद्यपि इन कविताओं में कल्पना का पुट अत्यधिक है, विशेषत: प्रथम दो कवियों की रचनाओं में, और यद्यपि इनकी रचना मौर्य वंश के तीन सौ से पाँच सौ वर्ष उपरान्त हुई, लेकिन इनमें यथार्थ घटनाओं की कुछ स्मृति अवश्य ही सुरक्षित है। ये कविताएँ संकेत देती हैं कि तमिल राज्य मौर्यों के प्रभावान्तर्गत थे और कम से कम एक अवसर पर मौर्य नरेश विद्रोही मोहुर सरदारों के दमनार्थ कोशरों को सहायता देने गए थे; वडुगरों ने भी इस अभियान में भाग लिया था।"[1] कोशरों की पहिचान शास्त्री महोदय ने अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित सतियपुतों से (जो उनके अनुसार आधुनिक सलेम और कोयम्बटूर जिलों वाले प्रदेश में रहते थे) की है। उनके कथनानुसार क्योंकि कोशर सत्य की प्रतिष्ठा और अपने वचन का पालन करने के लिए प्रसिद्ध थे इसलिए हो सकता है अशोक ने उनका उल्लेख सतिय(=सत्य)पुत नाम से कर दिया हो।[2] वडुगरों से तात्पर्य उन्होंने कन्नड़-तेलगु प्रदेश के निवासियों से, जो अशोक के साम्राज्य में निश्चयत: सम्मिलित थे, माना है। इस पहिचान के आधार पर शास्त्री का अनुमान है कि जब मौर्य नरेश कोशरों या सतियपुतों की सहायतार्थ गये थे तो कन्नड़-तेलगु प्रदेश के निवासियों ने उनकी सहायता की होगी।[3]

अभाग्यवश तमिल साहित्य में किसी मौर्य नरेश का नाम नहीं लिया गया है। लेकिन 'वम्ब मोरियर' पद के प्रयोग से, जिसका अर्थ 'नवोत्थित मौर्य' है,[4] यह संकेतित है कि यहाँ आशय चन्द्रगुप्त मौर्य से ही है।[5] इस प्रकार कुल मिलाकर हमारे प्रमाण इस विकल्प के समर्थक हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में ही दक्षिण

---

[1]ए०न०मौ०, पृ० 255; कैं०हि०इं०, पृ० 501–2।

[2]वही।

[3]कोशरों के लिए दे०, आई० ए०, 1, पृ० 97 अ०। दे०, आयंगर, एस० के०, दि बिगिनिंग्स ऑव साउथ इण्डियन हिस्ट्री, पृ० 69, 81, 103। आयंकर का विचार था कि मौर्य दक्षिण में तिन्नेवेली जिले के पोदियिल पहाड़ी तक बढ़ गए थे। इस मत को आजकल सामान्यत: अस्वीकृत किया जाता है (दे०, को०हि०इं०, 2, पृ० 8–9)।

[4]'मुद्राराक्षस' में 'नवे राजनि' वाक्यांश का प्रयोग और जस्टिन द्वारा चन्द्रगुप्त के 'नए राजत्व' की चर्चा इससे तुलनीय हैं।

[5]बार्नेट (कैं०हि०इं०, पृ० 540) का विचार है कि यहाँ 'वम्ब मोरियर' से आशय कोंकण के मौर्यों से है। लेकिन (1) कोंकण के मौर्य इतिहास के रंगमंच पर पाँचवीं शती ई० में आए जबकि तमिल साहित्य की उपरली सीमा तीसरी शती ई० मानी जाती है और (2) कभी भी तमिल देश की सीमा तक नहीं पहुँचे थे। (3) इसी स्थल पर तमिल साहित्य 'पाटलिपुत्र के नन्दों' और उनकी अकूत सम्पदा का उल्लेख करता है। इसलिए यहाँ उल्लिखित मौर्य उत्तर भारत के मौर्य ही माने जाने चाहिए।

भारत पर विजय प्राप्त कर ली गई थी। यह सही है कि चन्द्रगुप्त का दक्षिण पर शासन बताने वाले ये सब प्रमाण अपेक्षया अस्पष्ट और परवर्ती हैं, परन्तु तमिल साहित्य, जैन ग्रन्थ, मध्यकालीन अभिलेख, प्लुटार्क, जस्टिन तथा 'मुद्राराक्षस'—इन सबका समवेत अध्ययन करने से उसके काल में दक्षिण विजय की सम्भावना पर्याप्त सबल प्रतीत होने लगती है। इसके विपरीत बिन्दुसार द्वारा दक्षिण की विजय का संकेत देने वाला साक्ष्य केवल एक है और वह भी उतना ही अस्पष्ट तथा चन्द्रगुप्त विषयक प्रमाणों की तुलना में बहुत बाद का है। यहाँ यह ध्यान दिलाना असंगत नहीं होगा कि नन्द वंश के काल में मागध साम्राज्य कम से कम गोदावरी तक तथा सम्भवत: स्वयं कुन्तल तक विस्तृत हो गया था। इसलिए दक्षिण के बहुत से भूखण्डों में चन्द्रगुप्त का प्रभुत्व या तो अनायास मान लिया गया होगा अथवा उन पर आधिपत्य का उसने नन्दों का राजनीतिक उत्तराधिकारी होने के कारण दावा किया होगा जिसे व्यावहारिक रूप देना उसके जैसे विजेता के लिए बहुत कष्टसाध्य नहीं था।

अध्याय 7

चन्द्रगुप्त मौर्य का धर्म

चन्द्रगुप्त मौर्य के धर्म का प्रश्न कुछ विवादग्रस्त है। जैन साहित्य में उपलब्ध अनुश्रुतियों से प्रतीत होता है कि वह जैन धर्म का अनुयायी था। लेविस राइस के अनुसार इसका समर्थन भूतपूर्व मैसूर राज्य में स्थित श्रवण बेलगोल नामक स्थल से प्राप्त कुछ मध्यकालीन अभिलेखों से भी होता है।[1] अधिकांश आधुनिक विद्वान् राइस के मत को मानते हैं।[2] परन्तु जॉन फ्लीट[3] तथा वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार[4] ने इन अनुश्रुतियों और अभिलेखों के साक्ष्य को अविश्वसनीय बताया है। दीक्षितार के अनुसार तो चन्द्रगुप्त जैन धर्मावलम्बी न होकर वैदिक धर्म को मानता था। इस समस्या के समाधान के लिए पहिले मूल साक्ष्य से परिचय आवश्यक है।

दिगम्बर परम्परा

जैन अनुश्रुतियों में चन्द्रगुप्त मौर्य को जैन कहा गया है। परन्तु इस विषय में दिगम्बर व श्वेताम्बर परम्पराओं में मौलिक भेद भी हैं। दिगम्बर परम्परा में सामान्यत: बताया गया है कि चन्द्रगुप्त नामक नरेश ने श्रुतकेवली भद्रबाहु से जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी और अपने जीवन के अन्तिम वर्ष दक्षिण में गुरु की सेवा करते हुए बिताये थे और वहीं अपने प्राणों का त्याग किया था जबकि श्वेताम्बर परम्परा में न तो भद्रबाहु का उल्लेख है और न चन्द्रगुप्त की दक्षिण यात्रा का। हरिषेण कृत 'बृहत्कथाकोश' (931 ई०) में बताया गया है कि भद्रबाहु पुण्ड्रवर्द्धन देश के रहने वाले एक ब्राह्मण के पुत्र थे। बाल्यावस्था में उन्होंने एक दिन खेल-खेल में एक के ऊपर एक करके चौदह गट्टु रख दिये। चतुर्थ श्रुतकेवली गोवर्द्धन ने उन्हें ऐसा करते हुए देख लिया। वह भद्रबाहु को उसके पिता से माँग कर ले गए और उसे शिक्षा देकर विद्वान् बनाया। बाद में भद्रबाहु ने गोवर्धन से दीक्षा ली और पाँचवें श्रुतकेवली

---

[1]राइस, लेविस, मैसूर एण्ड कुर्ग फ्रॉम इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० 31।

[2]दे०, मुकर्जी, रा० कु०, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० 64–66; स्मिथ, वी० ए०, ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० 75–6; रायचौधुरी, पो०हि०ए०इं०, पृ० 295।

[3]फ्लीट, आई०ए०, 21, पृ० 156 अ०।

[4]दीक्षितार, पी०आई०एच०सी०, 3 (1939), पृ० 520 अ०; वही, 14 (1951), पृ० 80 अ०; मौर्य पोलिटी, पृ० 262–75।

बने। एक बार वह घूमते हुए उज्जयिनी गए जहाँ चन्द्रगुप्त नामक राजा शासन करता था। वहाँ एक गृह में उनके प्रवेश करते ही एक शिशु ने कहा, 'शीघ्र यहाँ से चले जाओ'। भद्रबाहु दिव्यदृष्टि प्राप्त थे। वह समझ गये कि वहाँ बारह वर्ष तक अकाल पड़ने वाला है।[1] उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाया और उनको समझाया कि वे वहाँ से चले जाएँ और समुद्र के समीप कहीं निवास करें। वह स्वयं उज्जयिनी से नहीं गये क्योंकि उनकी आयु थोड़ी ही शेष बची थी। भद्रबाहु के आदेशानुसार मुनि संघ दक्षिण की ओर चला गया और पुन्नाट विषय में आश्रय ग्रहण किया। जब चन्द्रगुप्त को बारह वर्ष के दुर्भिक्ष का समाचार ज्ञात हुआ तो उसने भी भद्रबाहु से मुनिव्रत की दीक्षा ले ली। मुनि होने के पश्चात् उसका नाम विषखाचार्य रखा गया और उसे संघ का अधिपति नियुक्त कर दिया गया।[2] उसे जैनों के 'दस पूर्वियों' (वे आचार्य जिन्हें बारहवें अंग के दसों 'पूर्वों' का ज्ञान था) में प्रथम गिना जाता है।

उपर्युक्त कथा का कुछ भिन्न रूप रत्ननन्दी के 'भद्रबाहुचरित्र' (लगभग 1450 ई०) में मिलता है। इसमें बताया गया है कि अवन्ति-नरेश चन्द्रगुप्ति ने एक बार भावी अनिष्ट के सूचक सोलह स्वप्न देखे। उसने उनका फल 'गण के अग्रणी' आचार्य भद्रबाहु से पूछा। भद्रबाहु की व्याख्या से सन्तुष्ट होकर चन्द्रगुप्ति ने अपना राज्य अपने पुत्र को सौंप दिया और स्वयं भद्रबाहु से मुनिव्रत की दीक्षा ली। उनका मुनिनाम विशाखाचार्य रखा गया। कुछ दिनों बाद भद्रबाहु ने श्रेष्ठी जिनदास के घर में साठ दिन के शिशु को 'जाओ, जाओ' कहते सुना और यह समझकर कि बारह वर्षीय दुर्भिक्ष पड़ने वाला है, वह 500 मुनियों के साथ दक्षिण की ओर चले गए। वहाँ उन्होंने अपनी मृत्यु निकट आई देखकर विशाखाचार्य को अपने स्थान पर नियुक्त कर दिया एवं एक गुफा में एकान्तवास करते हुए अनशन द्वारा प्राण त्याग किए। उनके अन्तिम समय में विशाखाचार्य ने उनकी बड़ी सेवा की और

---

[1]बृहत्कथाकोश, कथा 131।

[2]वही, श्लोक 35–40।

एतस्मिन् विषये नूनमनावृष्टिर्भविष्यति।
तथा द्वादशवर्षाणि दुर्भिक्षं च दुरुत्तमम् ॥35॥
अयं देशो जनाकीर्णो धनधान्यसमन्वितः।
शून्यो भविष्यति क्षिप्रं नृपतस्करलुण्ठनैः ॥36॥
अहमत्रैव तिष्ठामि क्षीणमायुर्ममाधुना।
भवन्तः साधवो यात लवणाब्धिसमीपताम् ॥37॥
भद्रबाहुवचः श्रुत्वा चन्द्रगुप्तो नरेश्वरः।
अस्यैव योगिनः पार्श्वे दधौ जैनेश्वरं तपः ॥38॥
चन्द्रगुप्तिमुनिः शीघ्रं प्रथमो दशपूर्णिताम्।
सर्वसंघाधिपो जातो विषखाचार्यसंज्ञकः ॥39॥
अनेन सह संघोऽपि समस्तो गुरुवाक्यतः।
दक्षिणापथदेशस्थ पुन्नाटविषयं ययौ ॥40॥

उनकी मृत्यु के बाद उसी गिरिगुहा में निवास करने लगे जहाँ उनके गुरु ने प्राण त्यागे थे ।[1] दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ 'तिलोयपण्णति' में भी बताया गया है कि चन्द्रगुप्त ने प्रव्रज्या ग्रहण कर मुनित्व की दीक्षा ली थी और ऐसा करने वाले मुकुटधारी नरेशों में वह अन्तिम थे । उनके बाद कोई मुकुटधारी नरेश ऐसा नहीं हुआ जिसने प्रव्रज्या ली हो ।[2]

इस कथा का लगभग इसी रूप में विवरण नेमिदत्त द्वारा लिखित 'आराधना-कोष' में भी मिलता है । जब बारह वर्ष के दुर्भिक्ष की सम्भावना के कारण भद्रबाहु ने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया तो यतियों (=मुनियों) के वियोग से दुःखित होकर उज्जयिनीनाथ चन्द्रगुप्त भी भद्रबाहु से दीक्षा लेकर मुनि बन गया था ।[3] लेकिन 'पुण्याश्रवकथा' नामक ग्रन्थ में प्रदत्त कथा मूलतः समान होते हुए भी एक बात में भिन्न है । इस ग्रन्थ में जिस उज्जयिनीनाथ चन्द्रगुप्त की चर्चा है वह अशोक का पौत्र था, पितामह नहीं । इसके अनुसार चाणक्य ने नन्दों का उन्मूलन करके एक निर्धन क्षत्रिय युवक चन्द्रगुप्त को राजा बनाया था । चन्द्रगुप्त ने बहुत काल तक राज्य करने के उपरान्त अपने पुत्र बिन्दुसार को अभिषिक्त करके चाणक्य के साथ जिन दीक्षा ग्रहण की । कुछ वर्ष उपरान्त बिन्दुसार भी अपने पुत्र को राज्य सौंप कर महामुनि बना । अशोक का पुत्र कुनाल था जो मन्त्री द्वारा अशोक की एक आज्ञा को गलत समझ लिये जाने के कारण अन्धा कर दिया गया । कुनाल का पुत्र चन्द्रगुप्त था जिसे अशोक ने अपना उत्तराधिकारी बनाया । एक दिन चन्द्रगुप्त ने सोलह स्वप्न देखे जिनका फल उसे आचार्य भद्रबाहु ने बताया । इसके आगे की कथा वैसी ही है जैसी 'भद्रबाहुचरित्र' में मिलती है ।[4] 19वीं शती में रचित कन्नड़ ग्रन्थ 'राजावलिकथे' के अनुसार भी जिस चन्द्रगुप्त ने दक्षिण में अनशन करके प्राण त्यागे थे वह अशोक का पौत्र था, पितामह नहीं । लेकिन इस ग्रन्थ में चन्द्रगुप्त को 'पाटलिपुत्र का राजा' कहा गया है, उज्जयिनी का नहीं ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में चन्द्रगुप्त नामक नरेश

---

[1]अवन्ती विषयेत्राथ विजिताखिलमण्डले ।।5।।
चन्द्रगुप्तिर्नृपस्तत्राचकाशच्चारुगुणोदयः ।।8।।
शरदद्वादशपर्यन्तं दुर्भिक्षं मध्यमण्डले ।।61।।
इति निर्वेदमाधाय भवभ्रमणभीतधीः ।
राज्यं स्वसूनवे दत्त्वा गेहे गेहेऽतिसंभ्रमात् ।।62।।

[2]मउडधरेसुं चरियो जिणदिक्खं धरदि चंदगुत्तो य ।
तत्तो मउडधरा दुप्पवज्जं णेव गेण्हंति ।।1481।।
— तिलोयपण्णति ।

[3]ततश्चोज्जयिनीनाथश्चन्द्रगुप्तो महीपतिः ।
वियोगात् यतिनां भद्रबाहुं नत्वाभवन्मुनिः ।।

[4]पुण्याश्रवकथा, नन्दिमित्र की कथा, नाथूराम प्रेमी द्वारा अनूदित ।

को जैन बताया गया है, यद्यपि कुछ ग्रन्थ उसे अशोक का पितामह न मानकर पौत्र बताते हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने की है कि उपर्युक्त ग्रन्थों में से किसी में भी ('राजावलिकथे' को छोड़कर) चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध पाटलिपुत्र और मगध से नहीं बताया गया है।

अभिलेखों का प्रमाण

दिगम्बर ग्रन्थों में भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के विषय में जो कथा मिलती है उसको श्रवण-बेलगोल अभिलेखों में कुछ अन्तर के साथ दोहराया गया है।[1] ये अभिलेख संस्कृत और कन्नड़ दोनों भाषाओं में हैं और छठी शती ई० से लेकर 15वीं शती ई० तक हैं। इनमें सर्वत्र समान कथा नहीं दी गई है। अभिलेख संख्या 1 में, जो लगभग 600 ई० का है, दी गई कथा इस प्रकार है—

भद्रबाहुस्वामी आठों प्रकार के शकुनों की व्याख्या करने में समर्थ और त्रिकाल-दर्शी थे। एक बार उन्होंने एक शकुन से निष्कर्ष निकाला कि उज्जयिनी में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ने वाला है। इस पर उनके आदेश से मुनिसंघ उत्तर से दक्षिण की ओर चला आया और पृथिवी के धनधान्य से परिपूर्ण एक सुन्दर स्थान पर निवास करने लगा। तब प्रभाचन्द्र नामक एक आचार्य ने यह देखकर कि उनके अपने जीवन के थोड़े ही दिन शेष रह गए हैं कटवप्र नामक स्थान पर निवास करने का निश्चय किया और समस्त संघ को विदा करने के बाद केवल एक शिष्य के साथ वहाँ रहते हुए समाधि लेकर प्राणों का त्याग किया।[2] ध्यातव्य है कि इस अभिलेख में न तो चन्द्रगुप्त का उल्लेख है, न भद्रबाहु द्वारा दक्षिण की यात्रा का और न प्रभाचन्द्र द्वारा भद्रबाहु के पास रहकर उनकी सेवा करने का।

लेकिन श्रवण बेलगोल से प्राप्त अन्य कुछ अभिलेख में चन्द्रगुप्त का नाम से उल्लेख है।[3] उदाहरणार्थ लेख सं० 17 को लीजिए। इस अभिलेख की भाषा कुछ

---

[1]एपिग्रेफिया कर्नाटिका, 2।

[2]अथ खलु सकलजगदुदयकरणो दितातिशय गुणास्पदीभूत परमजिन शासनसरस्समभिवर्धितभ-व्यजन कमल विरसन वितिमिरगुण किरणसहस्र महोति महावीर सवितरिनिर्वृत्त भगवत्परमर्षि गौतम गणधर साक्षाच्छिष्य लोहार्य जम्बु विष्णु देवापराजित गोवर्धन भद्रबाहु विशाख पुराष्ठिलक्कलिकार्य-जयनाथसिद्धार्थ धृतषेण बुद्धिलादिगुरुपरम्परीणक्रमाभ्यागतमहापुरुषसन्ततिसमन द्योतितान्वयभद्र-भद्रबाहु स्वामिना उज्जयिन्याम् अष्टांग महानिमित्त तत्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादश-संवत्सरकालवैषम्नमुपलभ्य कथिते सर्वसंघ उत्तरापथात् दक्षिणापथं प्रस्थित: आर्षेणैव जनपद अनेक ग्रामशतसंख्यमुदितजनधन कनकं शस्यगोमहिषाजाविकलसमाकीर्णं प्राप्तवान् अत: आचार्यं प्रभाचन्द्रेण अवनितलललामभूते यास्मिन् कटवप्रनामोलक्षिते-शिखरिणि जीवितशेषम् अल्पतरकालं अवबुदध्यमान: सुचकित: तप: समाधिम् आराधयितुम् आपृच्छय निरवशोषेण संघ विसृज्य शिष्येणैकेन पृथुलकास्तीर्ण-तलासु शिलाषु शीतलासु स्वदेहं संन्यस्य आरधितवान् क्रमेण सप्तशतम् ऋषीणाम् आराधितुम् इति जयतु जिनशासनम्।

[3]इन अभिलेखों के लिए दे०, राइस, पूर्वो०।

अस्पष्ट और तिथि अनिश्चित हैं। परन्तु किसी प्रकार भी यह छठी-सातवीं शती ई० के पूर्व का नहीं हो सकता। इसमें बताया गया है कि शान्तिसेन मुनीश की पत्नी ने पर्वत पर प्राणत्याग किया था क्योंकि वह यह मानती थी कि भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त मुनि द्वारा अनुसरित धर्म ही सच्चा धर्म था। राइस ने सेरिंगपटम के समीप गौतम क्षेत्र से प्राप्त दो अभिलेखों की ओर भी ध्यान दिलाया है। ये लेख नवीं शती ई० के हैं। इनसे ज्ञात होता है कि कल्वप्पुगिरि के शिखर पर भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के पदचिह्न अंकित थे। अभिलेख सं० 108 में, जो 1433 ई० का है, 'अन्तिम श्रुतकेवली, सम्पूर्ण ज्ञान के अभिप्राय का प्रतिपादन करने में समर्थ, विद्वानों में मूर्धन्य' भद्रबाहु एवं उनके शिष्य चन्द्रगुप्त का उल्लेख मिलता है जिसकी तपस्या की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। यहाँ चन्द्रगुप्त को 'समग्रशीलानतदेववृद्धः' कहा गया है।[1] लेख सं० 54 में, जो 1128 ई० का है, एवं लेख सं० 40 में भी, जो 1163 ई० का है, चन्द्रगुप्त को अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य बताया गया है और कहा गया है कि चन्द्रगुप्त और उसके 'मुनिगण' ने इतना पुण्य अर्जित कर लिया था कि वनदेवता भी उसकी पूजा करने लगे थे।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त अभिलेखों में चन्द्रगुप्त को भद्रबाहु का शिष्य बताया गया है और कम से कम कुछ लेखों में भद्रबाहु को अन्तिम श्रुतकेवली।

चन्द्रगुप्त मौर्य का सम्बन्ध भद्रबाहु से जोड़ने वाले कुछ स्मारकों की चर्चा भी की जाती है। ध्यान दिलाया गया है कि श्रवण बेलगोल में एक छोटी-सी पहाड़ी का नाम 'चन्द्रगिरि' है जिसके विषय में कहा जाता है कि उसका यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि वहाँ चन्द्रगुप्त नामक महात्मा ने तपस्या की थी। इसी पर्वत पर भद्रबाहु नामक गुफा है और एक प्राचीन मन्दिर भी जिसका नाम 'चन्द्रगुप्तबस्ती' है। विश्वास किया जाता है कि उसका निर्माण चन्द्रगुप्त ने करवाया था। इसके अतिरिक्त इस बस्ती अर्थात् मन्दिर के अग्रभाग पर, जो जाली के रूप में बना हुआ है, भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त कथा से सम्बन्धित 90 दृश्य पत्थर पर उत्कीर्ण हैं।[3]

राइस व दीक्षितार के मत

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर राइस ने निष्कर्ष निकाला है कि इस स्थान (श्रवण

---

[1]यो भद्रबाहुः श्रुतकेवलीनां मुनीश्वराणामिह पश्चिमोऽपि।
अपश्चिमोऽभूत् विदुषां विनेता सर्वश्रुतार्थप्रतिपादनेन॥
यदीय शिष्योऽजनि चन्द्रगुप्तस्समग्रशीलानतदेववृद्धः।
विवेश यत्तीव्रतपः प्रभावात् प्रभूतकीर्तिर्भुवनान्तराणि॥

[2]श्रीभद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः।
श्रुतकेवलिनाथेषु चरमः परमो मुनिः॥
चन्द्रप्रकाशोज्वलसान्द्रकीर्तिः श्री चन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः।
यस्य प्रभावाद्वनदेवताभिराराधितः स्वस्थगणो मुनीनाम्॥

[3]मुकर्जी, च०मौ०का०, पृ० 66।

बेलगोल) पर जैनों को अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा बसाया गया था। भद्रबाहु ने इसी स्थान पर प्राणत्याग किया था। अशोक के पितामह मौर्य राजा चन्द्रगुप्त ने, जिसे यूनानियों ने सैण्ड्रोकोट्टोस लिखा है, अन्तिम समय में इस (भद्रबाहु) की सेवा की थी।[1] जैसाकि पीछे कहा जा चुका है, राइस के इस मत को स्मिथ तथा रा०कु० मुकर्जी प्रभृति अधिकांश इतिहासकार मानते हैं। परन्तु रावबहादुर आर० नरसिंहचर एवं सत्यकेतु विद्यालङ्कार ने इस समस्या पर ज्ञान की वर्तमान अवस्था में कोई निर्णय न लेने का आग्रह किया है[2] तथा फ्लीट और वी०आर०आर० दीक्षितार आदि ने राइस के निष्कर्षों की गम्भीर आलोचना की है। दीक्षितार का कथन है कि न तो चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैन धर्म स्वीकार किया था और न वह भद्रबाहु के साथ दक्षिण भारत आया था। उनके तर्कों को समवेत इस प्रकार रखा जा सकता है :—

(1) अभी तक यह प्रमाणित किया जाना शेष है कि चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था। उल्टे, कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से, जिसमें त्रयी धर्म को ही राजा और राज्य के लिए मंगलकारी माना गया है तथा अवैदिक सम्प्रदायों की अवहेलना की गई है, चन्द्रगुप्त मौर्य का ब्राह्मण धर्मानुयायी होना प्रमाणित होता है।[3]

(2) श्रवण बेलगोल से प्राप्त प्रथम लेख में भद्रबाहु और प्रभाचन्द्र का उल्लेख है और भद्रबाहु के उज्जयिनी में ही ठहर जाने की बात कही गई है। राइस का कथन है कि प्रभाचन्द्र चन्द्रगुप्त का मुनिनाम रहा होगा। परन्तु राइस का यह पूर्वाग्रह सर्वथा निराधार है। इस परम्परा का कि चन्द्रगुप्त ने मुनित्व ग्रहण करके प्रभाचन्द्र नाम धारण किया था, कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है।

(3) श्रवण बेलगोल से प्राप्त अन्य जिन-जिन अभिलेखों में भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मुनि का उल्लेख हुआ है उनमें इनके लेखकों का आशय चन्द्रगुप्त मौर्य से ही है, यह प्रमाणित करना असम्भव है। मात्र चन्द्रगुप्त नाम से ही इतना बड़ा निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा।

(4) दीक्षितार ने फ्लीट का अनुसरण करते हुए ध्यान दिलाया है कि 'श्रावस्ती-गच्छ पट्टावली' के अनुसार भद्रबाहु नाम का एक अंगी (श्रुतकेवली नहीं) 53 ई०पू० में संघाध्यक्ष बना था। उसका एक शिष्य गुप्तिगुप्त था। फ्लीट व दीक्षितार के अनुसार यह गुप्तिगुप्त श्रवण बेलगोल अभिलेखों का चन्द्रगुप्त है और इसलिए उसका गुरु द्वितीय भद्रबाहु अंगी रहा होगा। इस प्रकार ये अभिलेख जिस भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त युग्म की चर्चा करते हैं वह प्रथम शती ई०पू० के उत्तरार्द्ध में रखा जाना चाहिए।

---

[1]राइस, वही।

[2]नरसिंहचर, एपिग्रेफिया कर्नाटिका, 2, पृ० 42 (1923 का संशोधित संस्करण); विद्यालङ्कार, सं०, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 454–55।

[3]लेकिन हम स्वयं 'अर्थशास्त्र' को चन्द्रगुप्त मौर्य के काल की रचना नहीं मानते।

परन्तु फ्लीट व दीक्षितार के मत को मानने में कई कठिनाइयाँ आती हैं। एक, इससे प्रभाचन्द्र की समस्या सुलझने से रह जाती है। अगर इन विद्वानों का आग्रह है कि प्रभाचन्द्र का ही मूल नाम गुप्तिगुप्त रहा होगा तो फिर उसका मूल नाम चन्द्रगुप्त मानने में ही क्या दोष है? दूसरे, इस सुझाव में यह जबरदस्ती मान लिया गया है कि 'श्रावस्तीगच्छ पट्टावली' का गुप्तिगुप्त श्रवण बेलगोल अभिलेखों का चन्द्रगुप्त है। इसे सिद्ध करने के लिए कोई भी प्रमाण नहीं दिया गया है। तीसरे, इस सुझाव से अभिलेखों और दिगम्बर परम्परा के भद्रबाहु श्रुतकेवली की समस्या नहीं सुलझ पाती क्योंकि 'श्रावस्तीगच्छ पट्टावली' का भद्रबाहु केवल अंगी था जबकि दिगम्बर परम्परा व श्रवण बेलगोल अभिलेखों के चन्द्रगुप्त के गुरु को श्रुतकेवली कहा गया है।

एक नवीन सुझाव

प्रस्तुत लेखक के विचार से श्रवण बेलगोल के भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त एवं भद्रबाहु-प्रभाचन्द्र युग्मों एव दिगम्बर परम्परा के भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त युग्म की समस्या का सही समाधान दो बातों पर ध्यान देने से हो सकता है। एक, प्राचीन काल में चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु सामान्य नाम थे। भद्रबाहु नाम के कई आचार्य जैन संघ के इतिहास में मिलते हैं। स्वयं श्रवण बेलगोल अभिलेख सं० 1 में भद्रबाहु नाम के दो आचार्यों का उल्लेख है।[1] दूसरे, हमें स्मरण रखना चाहिए कि दिगम्बर परम्परा एवं श्रवण बेलगोल अभिलेखों में चन्द्रगुप्त के गुरु पाँचवें और अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे, कोई सामान्य आचार्य नहीं। इसलिए पहिले हम श्रुतकेवली भद्रबाहु की तिथि पर विचार करेंगे क्योंकि श्रुतकेवली भद्रबाहु की तिथि पर ही जैन परम्परा के चन्द्रगुप्त की तिथि निर्भर है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में महावीर की शिष्य परम्परा और जैन गुरुओं के काल का उल्लेख मिलता है। दिगम्बर परम्परानुसार इन गुरुओं और उनके काल को इस प्रकार बताया गया है: गौतम गणधर 12 वर्ष, सुधर्मा स्वामी 11 वर्ष और जम्बुस्वामी 39 वर्ष। ये तीनों केवली अर्थात् कैवल्य ज्ञान प्राप्त थे। उनके बाद मोक्ष और कैवल्य ज्ञान मनुष्यों को मिलने बन्द हो गये। उनके उपरान्त क्रमशः पाँच श्रुतकेवली आचार्य (जिन्हें कैवल्य ज्ञान तो प्राप्त नहीं था, परन्तु शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान था) हुए—विष्णुकुमार 14 वर्ष, नन्दिमित्र 16 वर्ष, अपराजित 22 वर्ष, गोवर्धन 19 वर्ष और भद्रबाहु 29 वर्ष। इस प्रकार भद्रबाहु श्रुतकेवली का गुरुपद काल महावीर के 133 वर्ष उपरान्त प्रारम्भ हुआ और 162 वर्ष उपरान्त तक रहा। यहाँ यह तथ्य स्मरणीय है कि भद्रबाहु को श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी गुरुपद प्राप्त है और उसमें उनका समय महावीर के 156 से 170 वर्ष उपरान्त माना गया है।

---

[1]पूर्वो०।

इस प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही भद्रबाहु श्रुतकेवली को महावीर की मुक्ति के करीब डेढ़ शती उपरान्त रखते हैं। यह तथ्य इस श्वेताम्बर परम्परा के साथ पूर्णतः संगत है कि चन्द्रगुप्त मौर्य महावीर की मुक्ति के 155 वर्ष उपरान्त (यह संख्या सी० डी० चटर्जी के अनुसार वस्तुतः 165 रही होगी)[1] गद्दी पर बैठा।[2]

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि महावीर की मुक्ति (मृत्यु) तिथि क्या है। इस विषय में विद्वानों में गम्भीर मतभेद हैं। इस प्रश्न पर हमने बिस्तार से विचार अन्यत्र किया है और निष्कर्ष निकाला है कि महावीर की मृत्यु बुद्ध के निर्वाण (483 ई०पू०) के तीन वर्ष पूर्व अर्थात् 486 ई०पू० में (जब अजातशत्रु और लिच्छवि संघ का युद्ध चल रहा था) हुई थी।[3] यदि यह मत सही है तो भद्रबाहु का काल दिगम्बर परम्परानुसार 353–324 ई०पू० होगा और श्वेताम्बर परम्परानुसार 330 ई०पू० से 316 ई०पू०। श्वेताम्बर परम्परानुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का भी यही समय होगा (486–155=331 ई०पू०)। सी० डी० चटर्जी का सुझाव मानकर 155 संख्या को संशोधित करके अगर 165 माना जाये तो चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि 486–165=321 ई०पू० होगी। लेकिन हर अवस्था में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का समय 320 ई०पू० के आस-पास होगा और उन्हें चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन मानना होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर परम्परा में भद्रबाहु के शिष्य चन्द्रगुप्त को अशोक का पौत्र गलती से बता दिया गया है। अशोक का पौत्र सम्प्रति निष्ठावान् जैन था, इसलिए बाद में असावधानी से अगर भद्रबाहु का शिष्य चन्द्रगुप्त को मान लिया गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन भद्रबाहु और अशोक के पौत्र की तिथियों में एक शती का अन्तर पड़ेगा चाहे उस पौत्र का नाम कुछ भी रहा हो, क्योंकि भद्रबाहु की तिथि 320 ई०पू० के लगभग मानना अनिवार्य है और अशोक के पौत्र को अशोक की मृत्यु (लगभग 235 ई०पू०) के कुछ वर्ष उपरान्त ही रखा जा सकता है। इसलिए श्वेताम्बर परम्परा का वह अंश, जिसमें भद्रबाहु श्रुतकेवली के शिष्य चन्द्रगुप्त को अशोक का पौत्र बताया गया है, त्याज्य मानना पड़ता है।

दिगम्बर परम्परा में उल्लिखित चन्द्रगुप्त को चन्द्रगुप्त मौर्य मानने में एक बाधा श्रवण बेलगोल का लेख सं० 1 बताया जाता है जिसमें भद्रबाहु के शिष्य का नाम प्रभाचन्द्र दिया गया है और भद्रबाहु के दक्षिण जाने की कोई बात नहीं कही गई है। राइस ने इस प्रभाचन्द्र को चन्द्रगुप्त मौर्य सिद्ध करने के लिए बड़ी खींचतान की है जबकि दीक्षितार आदि ने इसके आधार पर भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त परम्परा को ही

---

[1]बी०सी० लाहा वॉल्यूम, 1, पृ० 607, टि० 1।

[2]एवं च श्रीमहावीरमुक्तेर्वर्षशते गते।
पंचपंचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः ॥ —परिशिष्टपर्वण, 8.339।

[3]दे०, मागध साम्राज्य का उदय, अध्याय 12।

अविश्वसनीय ठहरा दिया है। परन्तु हमारे विचार से राइस की खींचतान और दीक्षितार का शंकावाद दोनों अनावश्यक हैं। ये विद्वान् भूल गये हैं कि इस लेख में महावीर, गौतम, लोहार्य, जम्बु, विष्णुदेव, अपराजित और गोवर्द्धन (स्पष्टतः चतुर्थ श्रुतकेवली) के उपरान्त पंचम और अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का नाम है और इस भद्रबाहु के शिष्य के रूप में (विषखा विशाखाचार्य) का उल्लेख है जिसको दिगम्बर परम्परा में चन्द्रगुप्त का मुनि नाम माना गया है। विशाख के बाद इस लेख में कृतिकार्य, जय, सिद्धार्थ, धृतिषेण और बुद्धिल नामक आचार्यों का उल्लेख करके कहा गया है कि उनकी परम्परा में वह भद्रबाहु हुए जिनके शिष्य का नाम प्रभाचन्द्र था। पता नहीं राइस और दीक्षितार आदि ने इस लेख के इस अंश को क्यों नजरअन्दाज़ कर दिया और परवर्तीयुगीन भद्रबाहु और उसके शिष्य प्रभाचन्द्र को श्रुतकेवली भद्रबाहु व उनका शिष्य चन्द्रगुप्त मानने का प्रश्न ही क्यों उठाया ?

श्रुतकेवली भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त युग्म (जिसकी चर्चा दिगम्बर परम्परा व अधिकांश श्रवण बेलगोल अभिलेखों में है) तथा भद्रबाहु-प्रभाचन्द्र युग्म (जिसकी चर्चा श्रवण बेलगोल लेख सं० 1 में है) का पृथक्त्व प्रमाणित होते ही एक बड़ा दिलचस्प प्रश्न उत्पन्न होता है और वह यह कि द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी किस भद्रबाहु ने की थी क्योंकि उपर्युक्त दोनों ही भद्रबाहुओं के विषय में कहा गया है कि उन्होंने उज्जयिनी में पड़ने वाले द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष का आगमन एक शकुन के आधार पर जान लिया था। इस प्रश्न का निश्चित उत्तर देना कठिन है, लेकिन यह मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि यह घटना दोनों भद्रबाहुओं के जीवन में नहीं, किसी एक के जीवन में घटी होगी और दूसरे के ऊपर इसे असावधानीवश अथवा जानबूझकर आरोपित कर दिया होगा। हमारे विचार से यह घटना प्रभाचन्द्र के गुरु भद्रबाहु के साथ घटी होगी। इस अनुमान के समर्थन में कई संकेत प्राप्य हैं। एक, बेलगोल सं० 1 लेख काफी पुराना और भद्रबाहु-प्रभाचन्द्र युग्म से कुछ ही शती बाद का होने के कारण पर्याप्त विश्वसनीय है। इसके विपरीत आजकल दिगम्बर परम्परा जिस रूप में उपलब्ध है वह कालक्रमेण परवर्ती है। अतः दिगम्बर परम्परा के लेखकों से गलती होने की सम्भावना अधिक है, श्रवण बेलगोल लेख सं० 1 के लेखक के द्वारा गलती होने की सम्भावना कम। दूसरे, चन्द्रगुप्त मौर्य एक महान् सम्राट् था और उसका गुरु भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली। उनके विषय में प्रचलित कथाओं का परिवर्धन होना स्वाभाविक बात मानी जायेगी जबकि उनसे सम्बन्धित कथा का किसी मामूली जैन आचार्य और उसके शिष्य लागू कर दिया जाना अपेक्षया अस्वाभाविक मान्यता होगी। तीसरे, चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में अगर द्वादश-वर्षीय दुर्भिक्ष पड़ा होता तो यह बात समस्त भारत के इतिहास की एक मुख्य घटना होती और इसकी चर्चा अन्य साक्ष्य में भी मिलती। चौथे, स्मरणीय है कि दिगम्बर परम्परा में भी द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष को उज्जयिनी में पड़ा बताया गया है, पाटलिपुत्र में नहीं। यह तथ्य इस बात का संकेत माना जा सकता है कि यहाँ दिगम्बरों ने उस

दुर्भिक्ष को भद्रबाहु श्रुतकेवली-चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में पड़ा बता दिया है जो वास्तव में उज्जैन प्रदेश में बहुत बाद में पड़ा था। इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है कि श्वेताम्बर परम्परानुसार भी जैन संघ ने दक्षिण की यात्रा उज्जैन से की थी, मगध से नहीं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि (1) चन्द्रगुप्त मौर्य अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य तो था। (2) परन्तु उसके शासन काल में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष नहीं पड़ा था। (3) द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की कथा को चन्द्रगुप्त मौर्य से पृथक् करते ही उसके काल में जैन संघ का दक्षिण भारत की ओर प्रयाण भी सन्दिग्ध हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य और पाँचवें श्रुतकेवली दक्षिण भारत तो गये थे परन्तु व्यक्तिगत कारणों से। अत: जैन संघ का दक्षिण की ओर प्रयाण परवर्ती भद्रबाहु और उनके शिष्य प्रभाचन्द्र के काल में हुआ होगा, चन्द्रगुप्त के काल में नहीं। बाद में परवर्ती भद्रबाहु की कथा को भद्रबाहु श्रुतकेवली की कथा पर आरोपित किये जाने से चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की कथा विकसित हुई होगी।

चन्द्रगुप्त मौर्य को भद्रबाहु श्रुतकेवली का शिष्य मानने से उसके जैन धर्म ग्रहण करने के विषय में श्वेताम्बर परम्परा को सत्य मानना भी सम्भव हो जाता है। जैसाकि हमने अन्यत्र प्रदर्शित किया है, चन्द्रगुप्त को राजसत्ता दिलाने वाला चाणक्य एक जैन ब्राह्मण था और 'अर्थशास्त्र' के प्रणेता कौटिल्य से भिन्न था।[1] अब, श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य को मिथ्या दृष्टि वाले पाषण्डियों (अर्थात् जैनेतर धर्मों) के प्रभाव से मुक्त करके जैन धर्म की ओर उन्मुख करने का कार्य स्वयं चाणक्य ने किया था। हेमचन्द्र के 'परिशिष्टपर्वण' के अनुसार चाणक्य को चन्द्रगुप्त पर पाषण्ड मतों का प्रभाव पसन्द नहीं था। उसने चन्द्रगुप्त को समझाया कि इन सम्प्रदायों के आचार्य असंयमी, दुराचारी तथा स्त्री-लम्पट होते हैं। वे पूजा और सम्मान के योग्य नहीं हैं। उनको दान देना ऊसर भूमि पर जल वर्षा करने के समान है। चन्द्रगुप्त ने चाणक्य से कहा कि मुझे गुरुवचन में श्रद्धा है परन्तु वे पाषण्डी आचार्य संयमी नहीं हैं इसका मैं प्रमाण चाहता हूँ। इस पर चाणक्य ने घोषणा करवाई कि राजा सब पाषण्डियों से धर्म का श्रवण करना चाहते हैं। पाषण्डी आचार्यों ने यह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। चाणक्य उन्हें एक ऐसे स्थान पर ले गया जो अन्त:पुर के समीप था और अन्त:पुर के सामने की भूमि पर एक ऐसा चूर्ण डलवा दिया जो सूक्ष्म होने के कारण दिखायी नहीं देता था। राजा के आने में अभी देर थी अत: वे स्त्री-लम्पट आचार्य अन्त:पुर की खिड़कियों के पास जा खड़े हुए और छिद्रों से रानियों को देखने लगे। ज्योंही चन्द्रगुप्त वहाँ आया वे दौड़कर अपने-अपने स्थानों पर बैठ गये

[1]विस्तार से अध्ययन के लिए, दे०, गोयल, एस०आर०, कौटिल्य एण्ड मेगास्थेनिज, मेरठ, 1985, अध्याय 2; दे०, इसी ग्रन्थ में अन्यत्र।

और उसे धर्मोपदेश देने लगे। उनके चले जाने पर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को सूक्ष्म चूर्ण पर बने पदचिह्न दिखाकर उनकी लम्पटता सिद्ध की। अगले दिन उसने जैन मुनियों को बुलाया। उनके लिए भी सूक्ष्म चूर्ण बिखेरा गया। परन्तु जैन मुनि यथा-स्थान बैठे रहे और राजा की प्रतीक्षा करते रहे। इससे चन्द्रगुप्त को विश्वास हो गया कि जैन मुनि अन्य धर्मों के आचार्यों से भिन्न और सदाचारी हैं। इसके बाद उसने अन्य पाषण्डों का परित्याग करके जैन धर्म स्वीकार कर लिया।[1] हेमचन्द्र ने न तो भद्रबाहु का उल्लेख किया है और न मुनि संघ के दक्षिण प्रवास का, लेकिन उसने इतना अवश्य ही लिखा है कि चन्द्रगुप्त के शासन काल में द्वादशवर्षीय अकाल पड़ा था[2] और उसने समाधि द्वारा अपने जीवन का अन्त किया था।[3]

---

[1]चन्द्रगप्तं तु मिथ्यादृक् पाषण्डिमतभावितम्।
अनुशासितुमारेभे हितस्तस्य पितेव सः ॥415॥
असंयता ह्यमी पापाः प्रकृत्या स्त्रीषु लम्पटाः।
अपि संभाषितुं नार्हास्तत्पूजायां तु का कथा ॥416॥
तेषु निष्फलं दानमूषरेष्वम्बुवृष्टिवत् ॥417॥
मौर्योऽवादीन्मम ह्यार्य त्वद्वचो गुरुसंमितम्।
नैते संयमिन इति प्रत्यायय तथापि माम् ॥419॥
पुरे प्रघोषं चाणक्यस्ततश्चैवमकारयत्।
धर्मं श्रोष्यति सर्वेषामपि पाषण्डिनां नृपः ॥420॥
ततश्चाहूय तान् सर्वान्शुद्धान्तस्यादवीयसि।
देशे निवेशयामास स विविक्ते विविक्तधीः ॥421॥
शुद्धान्तासन्नदिग्भागे चाणक्येनाग्रतोऽपि हि।
अक्षेप्यलक्ष्यं श्लक्षणं च लोष्ट चूर्णं महीतले ॥422॥
तत्रोपदेशनार्थं ते चाणक्येन प्रवेशिताः।
ज्ञात्वा विविक्तं स्थानं तच्छुद्धान्ताभिमुखं ययुः ॥423॥
स्त्रीलोलास्ते स्वभावेन नृपस्त्रैणमसंयताः।
गवाक्षविवरैर्द्रष्टुमुपचक्रमिरे ततः ॥424॥
ते राजपत्नीः पश्यन्तस्तावस्थुर्दुराशयाः।
न यावदाययौ राजा निषेदुस्तु तदागमे ॥425॥
ततश्च चन्द्रगुप्ताय धर्ममाख्याय ते ययुः।
पुनरागममिच्छन्तोऽन्तःपुर स्त्री दिदृक्षया ॥426॥
धर्ममाख्यातुमाहृवाताः तत्र जैनमुनीनपि ॥430॥
निषेदुस्ते प्रथमतोऽप्यासनेष्वेव साधवः।
स्वाध्यायावश्यकेनाथ नृपागममपालयन् ॥431॥
उत्पन्न प्रत्ययः साधून् गुरुन्मेनेऽथ पार्थिवः।
पाषण्डिषु विरक्तोऽभूद्विषयेष्विव योगवित् ॥435॥
—परिशिष्टपर्वण, अष्टम सर्ग।

[2]इतश्च तस्मिन् दुष्काले द्वादशाब्दके।
आचार्यः सुस्थितो नाम चन्द्रगुप्त पुरेऽवसत्॥ —परिशिष्टपर्वण, 8.377।

[3]समाधिमरणं प्राप्य चन्द्रगुप्तो दिवं ययौ। —परिशिष्टपर्वण, 8.444।

जैसाकि पीछे कहा जा चुका है 'पुण्याश्रवकथा' नामक जैन ग्रन्थ में भी कहा गया है चन्द्रगुप्त ने बहुत काल तक राज्य करने के उपरान्त बिन्दुसार को राज्य देकर चाणक्य के साथ जिन-दीक्षा ग्रहण की थी। अन्य कई और ग्रन्थों में चाणक्य की जैन धर्म में रुचि का विवरण मिलता है।[1] चाणक्य और चन्द्रगुप्त की जैन धर्म में रुचि अस्वाभाविक भी नहीं कही जा सकती। नन्दों के काल में जैन धर्म मगध में जड़ें जमा चुका था और नन्द-नरेश ही नहीं उनके मन्त्री भी जैन धर्म के अनुयायी थे। वास्तव में छठी शती ई०पू० से शुंग वंश की स्थापना होने तक मगध विशेषतः बौद्ध, आजीवक और जैन आदि वैदिकेतर धर्मों का ही क्रीड़ास्थल रहा था। इसलिए चन्द्रगुप्त और चाणक्य का जैन होना परिस्थिति के अनुकूल बात मानी जायेगी।

चाणक्य को जैन धर्मावलम्बी मानने से उसका 'अर्थशास्त्र' के प्रणेता कौटिल्य से पृथक्त्व अतिरिक्तरूपेण प्रमाणित होता है। जैसाकि सर्वज्ञात है 'अर्थशास्त्र' का लेखक वैदिक धर्म का कट्टर समर्थक था। उसके मत से त्रयी (वैदिक) धर्म से रक्षित होकर ही राज्य फलते-फूलते हैं।[2] उसने राजा के महल में इज्या स्थान (यज्ञशाला) बनाने का विधान किया है[3] और राजा के अपने अग्न्यागार (वह स्थान जहाँ अग्नि का आधान किया जाता था) का उल्लेख किया है।[4] उसकी प्रशासन व्यवस्था में राजकीय ऋत्विक या पुरोहित का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। इसके विपरीत वह वैदिकेतर धर्मों को निश्चय ही अच्छी दृष्टि से नहीं देखता था। उसने व्यवस्था दी है कि पाषण्डों (वैदिकेतर धर्मों के अनुयायियों) व चाण्डालों को श्मशान के समीप स्थान दिया जाये।[5] उसके अनुसार केवल ऐसे व्यक्तियों को परिव्रजित होने का अधिकार था जिनकी सन्तानोत्पत्ति की क्षमता नष्ट हो चुकी हो और जिन्होंने अपने परिवार के प्रति कर्त्तव्यों का पालन कर लिया हो। एक स्थल पर उसने लिखा है कि जो व्यक्ति शाक्य, आजीवक और वृषल प्रव्रजितों को देवकार्यों व पितृ-कार्यों में भोजन करवाये उसे 100 पण का दण्ड दिया जाये।[6] ऐसे नियमों की व्यवस्था करने वाला व्यक्ति न स्वयं जैन हो सकता था और न जैन राजा द्वारा अपना गुरु माना जा सकता था। यह मान्यता कि चाणक्य पहिले वैदिक धर्म का अनुयायी रहा होगा और बाद में जैन हो गया होगा सही नहीं होगी क्योंकि जैन साक्ष्य उसे जैन परिवार में ही उत्पन्न बताते हैं। जो भी हो, 'अर्थशास्त्र' के प्रणेता कौटिल्य को चाणक्य से भिन्न मानते ही दीक्षितार आदि का यह तर्क कि चन्द्रगुप्त मौर्य इसलिए

[1]गोयल, कौटिल्य एण्ड मेगास्थेनिज़, अध्याय 2।
[2]अर्थशास्त्र, 1.3।
[3]वही, 2.4।
[4]वही, 1.19।
[5]वही, 2.4।
[6]वही, 3.20।

जैन नहीं हो सकता क्योंकि 'अर्थशास्त्र' में राजा को वैदिक धर्म का अनुयायी बताया जाता है स्वयं निष्प्राण हो जाता है।

लेकिन हमारा आशय यह नहीं है कि चन्द्रगुप्त मौर्य प्रारम्भ से ही जैन था। स्वयं जैन लेखक बार-बार इस बात का उल्लेख करते हैं कि वह जैन धर्म को स्वीकार करने के पूर्व 'मिथ्यादृक्पाषण्डिमतभावितम्' अर्थात् जैनेतर धर्मों में श्रद्धा रखने वाला था। इस प्रसङ्ग में स्ट्रेबो का यह कथन कि राजा (चन्द्रगुप्त) केवल यज्ञ करने, न्यायालय में जाने, युद्ध करने एवं आखेट के हेतु ही महल से निकलता था,[1] सही हो सकता है। हो सकता है स्ट्रेबो द्वारा रक्षित इस अनुश्रुति में उस काल की स्मृति सुरक्षित हो जब चन्द्रगुप्त वैदिक धर्म को मानता था। एक परम्परानुसार उसके मन्त्रियों में एक जटिल साधु भी सम्मिलित था।[2] हमारे विचार से यह मानने से कि पहिले चन्द्रगुप्त की रुचि वैदिक धर्म में थी (स्ट्रेबो व जैन परम्परा) उसके बाद उसने चाणक्य के प्रभाव से जैनधर्म स्वीकार किया (श्वेताम्बर परम्परा) और जीवन के अन्तिम वर्षों में भद्रबाहु श्रुतकेवली का शिष्य बना (दिगम्बर परम्परा), सब साक्ष्य परस्पर संगत हो जाते हैं। स्मरणीय है कि भद्रबाहु श्रुतकेवली के आचार्यत्व तक जैन संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों में नहीं बँटा था। इसलिए चन्द्रगुप्त द्वारा भद्रबाहु को अपना गुरु मानने का अर्थ यह नहीं था कि वह श्वेताम्बर के स्थान पर दिगम्बर सम्प्रदाय का अनुयायी बन गया था।

---

[1]ए०न०मौ०, पृ० 162। लेकिन यहाँ यह स्मरणीय है कि मेगास्थेनिज के अनुसार भारतीय राजा हाइलोबोई (जिन्हें वह 'श्रमणों' का प्रमुखतम वर्ग बताता है), प्रायः मन्त्रणा लिया करता था।

[2]मललसेकर, डिक्शनरी ऑव पालि प्रोपर नेम्स्, 1, पृ० 931।

अध्याय 8

प्रारम्भिक मौर्य सम्राटों का तिथिक्रम

चन्द्रगुप्त के अभिषेक की तिथि : भारतीय तिथिक्रम का मूलाधार

प्राचीन भारत के अन्य अधिकांश नरेशों की तरह चन्द्रगुप्त मौर्य की तिथि भी विवादग्रस्त है। लेकिन इसका सही निर्धारण केवल मौर्य इतिहास के लिए ही नहीं, समस्त भारतीय इतिहास के तिथिक्रम के लिए महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में एक समय चन्द्रगुप्त मौर्य की तिथि ही भारतीय इतिहास के तिथिक्रम का मूल आधार मानी जाती थी। हमारे देश के राजा घटनाओं का उल्लेख प्रायः अपने शासन के वर्षों से करते थे और साहित्यिक ग्रन्थों में भी प्रायः उनके शासन काल की अवधि मात्र लिखी जाती थी—किसी संवत् का प्रयोग करने की प्रथा, जिससे आधुनिक इतिहासकार उनका समय निश्चित कर सकें, बहुत बाद में प्रचलित हुई। इसलिए जब भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना हुई और पाश्चात्य विद्वानों ने प्राचीन भारतीय इतिहास व साहित्य का अध्ययन करना प्रारम्भ किया तो उनके सम्मुख यह भारी समस्या उत्पन्न हुई कि वे भारतीय नरेशों का तिथिक्रम किस प्रकार निर्धारित करें।

इस क्षेत्र में सबसे जबरदस्त खोज सर विलियम जोन्स ने की। उन्होंने 28 फरवरी 1793 को 'बंगाल रॉयल एशियाटिक सोसायटी' के सम्मुख पढ़े गए अपने शोध-पत्र में प्रतिपादित किया कि सेण्ड्रोकोट्टोस नामक व्यक्ति, जो प्लुटार्क के अनुसार सिकन्दर से उसके भारतीय अभियान के दौरान मिला था और जिसने जस्टिन के अनुसार सिकन्दर के प्रत्यावर्तन के उपरान्त भारत को विदेशी दासता से मुक्त करके अखिल भारतीय साम्राज्य स्थापित किया था एवं इसके कुछ वर्षोपरान्त सेल्युकस को परास्त किया था, मौर्य वंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य था। जोन्स ने सेण्ड्रोकोट्टोस की राजधानी पालिब्रोथा की पहिचान पाटलिपुत्र से निर्धारित करने का सुझाव भी रखा।[1] उनके ये सुझाव विल्फोर्ड, मैक्समूलर, लैसन आदि सभी विद्वानों द्वारा स्वीकृत हुए और आजकल लगभग सर्वस्वीकृत हैं। उनके सुझावों से यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो गया कि मौर्य वंश की स्थापना भारत से सिकन्दर के प्रत्यावर्तन के उपरान्त हुई थी और चन्द्रगुप्त मौर्य ने चौथी शती ई०पू० के अन्तिम दशकों में शासन किया था। इस मूलाधार के आश्रय पर ही मौर्यों के पूर्व शासन करने वाले हर्यंक, शैशुनाग और नन्द आदि वंशों एवं मौर्योत्तर युग के मागध नरेशों के तिथिक्रम

[1]एशियाटिक रिसर्चिज, 4, पृ० 10–11।

की रूपरेखा टिकी हुई है। कुछ भारतीय विद्वान् जैसे टी० एस० नारायण शास्त्री, एम० के० आचार्य तथा के० रंगराजम् प्राचीन भारतीय तिथिक्रम की इस आधार-शिला में शंका करते हैं,[1] परन्तु उनकी शंका निराधार है। चन्द्रगुप्त मौर्य और सिकन्दर की समकालीनता (लगभग 325 ई०पू०) इस तथ्य से निर्णायकरूपेण प्रमाणित हो जाती है कि चन्द्रगुप्त का पौत्र अशोक, जिसका राज्यारोहण चन्द्रगुप्त के लगभग पचास वर्ष बाद पड़ेगा, स्वयं अपने अभिलेखों के अनुसार तीसरी शती ई०पू० में शासन करने वाले पाँच यूनानी राजाओं का समकालीन था।

प्रचलित मतों की जाँच

लेकिन चन्द्रगुप्त मौर्य और सिकन्दर की समकालीनता प्रमाणित हो जाने के बावजूद चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की सही तिथि का प्रश्न बना रहता है। इतना तो निश्चित ही है कि उसका राज्यारोहण 325 ई०पू० में सिकन्दर के भारत से प्रत्यावर्तन के बाद एवं लगभग 305 ई०पू० (जब चन्द्रगुप्त व सेल्युकस में युद्ध हुआ) के बीच में कभी हुआ होगा। इस अवधि के बीच में उसके अभिषेक की विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न तिथियाँ सुझाई हैं। कनिंघम, जायसवाल, जे० सेन तथा एच० सी० सेठ ने उसका अभिषेक 325 ई०पू० में रखा है,[2] एस० एन० राय तथा रायचौधुरी ने 324 में,[3] राधा कमल मुकर्जी ने 323 ई० में,[4] कर्न, राधाकुमुद मुकर्जी तथा स्मिथ ने 322 में,[5] बार्नेट, एफ० डब्ल्यु० टॉमस, के० जी० शंकर अय्यर तथा रोमिला थापर ने 321 में,[6] फ्लीट, हूल्त्ज़ तथा सालेटोर ने 320 में,[7] स्टीन ने 318 में,[8] एगरमोन्त ने 317[9] में तथा

---

[1]रंगराजम्, के०, पी०आई०एच०सी०, 1939, पृ० 161–2; शास्त्री, नारायण, 'दि मिस्टेकिन ग्रीक सिन्क्रोनिज़्म इन इण्डियन हिस्ट्री', दि एज ऑव शंकर का परिशिष्ट; आचार्य, एम०के०, दि बेसिक ब्लण्डर इन ओरियण्टलिस्ट्स रिकन्स्ट्रक्शन ऑव इण्डियन हिस्ट्री।

[2]कनिंघम, भीलसा टोप्स्, पृ० 75 अ०; सेन, जे०, आई०एच०क्यु०, 5, पृ० 6 अ०; जायसवाल जे०ए०एस०बी०, 9, पृ० 317 अ०; जे०बी०ओ०आर०एस०, 1915, पृ० 67; सेठ, एच०सी०, पी०आई०एच०सी०, 1939, पृ० 371–76। स्मिथ ने अपने 'अशोक' नामक ग्रन्थ में यही तिथि मानी है।

[3]राय, एस०एन०, आई०एच०क्यु०, 11, पृ० 311 अ०; रायचौधुरी, ए०न०मौ०, पृ० 137–39। ए०इं०यू० (पृ० 58) में रा०कु० मुकर्जी ने भी यही तिथि मानी है।

[4]मुकर्जी, पी०आई०एच०सी०, 1939, पृ० 371–72 पर उद्धृत।

[5]स्मिथ, अ०हि०इं० (तृतीय संस्करण), पृ० 116; कर्न, आई०ए०, 3, पृ० 79 अ०; मुकर्जी, रा०कु०, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० 71।

[6]बार्नेट, एण्टिक्विटीज ऑव इण्डिया, पृ० 39; टॉमस, कै०हि० इं०, 1, पृ० 471; शंकर अय्यर, आई०ए०, 1920, पृ० 49; थापर, रो०, अशोक एण्ड दि डेक्लाइन ऑव दि मौर्यज, पृ० 167।

[7]फ्लीट, जे०आर०ए०एस०, 1906, पृ० 984; हूल्त्ज़, कॉर्पस, 1, पृ० 35; सालेटोर, इण्डियाज डिप्लोमेटिक रिलेशन्स विद दि वैस्ट, बॉम्बे, 1930।

[8]स्टीन, पी०आई०एच०सी०, 1939, पृ० 370 पर उद्धृत।

[9]एगरमोन्त, दि क्रोनोलॉजी ऑव दि रेन ऑव अशोक मोरिय, पृ० 180।

शार्पेण्टियर, पी० एल० भार्गव, एन० भट्टसाली तथा बोंगार्ट-लेविन ने 313-12 में।[1]

चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण 313–12 ई०पू० में रखने वाले भट्टसाली, भार्गव, शार्पेण्टियर आदि विद्वानों का मत प्रधानतः जैन साक्ष्य पर निर्भर है। उनके प्रमाणों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है : (1) मेरुत्तुंग की 'विचारश्रेणी' व अन्य कई जैन ग्रन्थों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का अभिषेक विक्रम संवत् के प्रवर्तन के 255 वर्ष पूर्व अर्थात् 312 ई०पू० में हुआ था। (2) हेमचन्द्र ने 'परिशिष्टपर्वण' में तथा भद्रेश्वर ने 'कहावली' में चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण वीर निर्वाण के 155 वर्ष उपरान्त हुआ बताया है। यह तिथि शार्पेण्टियर के इस मत के साथ संगत है कि महावीर की मृत्यु 467 ई०पू० में हुई। (3) पी०एल० भार्गव का कहना है कि क्लासिकल लेखकों के अनुसार पंजाब में यूनानियों की सत्ता 317 ई०पू० तक बनी हुई थी (जैसा-कि वह उस समय तक यूडेमस नामक यूनानी सेनापति के पंजाब में बने रहने से सिद्ध मानते हैं), इसलिए पंजाब पर चन्द्रगुप्त का अधिकार इस तिथि के उपरान्त हुआ होगा। मगध पर तो चन्द्रगुप्त का अधिकार उनके अनुसार पंजाब-विजय के भी बाद में हुआ। इसलिए चन्द्रगुप्त का अभिषेक 317 ई०पू० के कुछ वर्ष उपरान्त ही रखा जा सकता है। (4) अशोक के अभिलेखों के अन्तःसाक्ष्य से एवं 'महावंस' की इस परम्परानुसार कि अशोक का अभिषेक बुद्ध-निर्वाण (483 ई०पू०) के 218 वर्ष बाद हुआ, अशोक की तिथि 265 ई०पू० निर्धारित होती है। इससे चन्द्रगुप्त व अशोक के मध्य 47 वर्ष का अन्तर आता है जो चन्द्रगुप्त व बिन्दुसार के शासन काल की अवधियों का योग हो सकता है। (5) बोंगार्ट-लेविन की मान्यता है कि क्लासिकल लेखकों ने सिकन्दर के आक्रमण के समय शासन करने वाले एग्रेमिज़ नामक जिस नरेश का उल्लेख किया है उसकी पहिचान महापद्मनन्द से करनी चाहिए। इसलिए उसके पुत्रों ने 325 ई०पू० के उपरान्त शासन किया। उनके शासन की अवधि 12 वर्ष बताई गई है, इसलिए नन्द वंश का पतन 313–12 ई०पू० के पूर्व नहीं हो सकता।

परन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य का अभिषेक 313–12 ई०पू० में रखने के लिए दिए गए ये तर्क अत्यन्त भ्रामक हैं। (1) मेरुतुंग के द्वारा उल्लिखित परम्परा दोषपूर्ण है। इसमें चन्द्रगुप्त मौर्य और विक्रम संवत् के प्रवर्तन के बीच नभोवाहन (=नहपान) को रख लिया गया है जबकि नहपान का समय प्रथम शती ई० के अन्त या द्वितीय शती ई० के प्रारम्भ में पड़ेगा। यह भी सम्भव है कि मेरुतुंग ने, जिसने चन्द्रगुप्त की यह तिथि अवन्ति के सन्दर्भ में दी है, यहाँ चन्द्रगुप्त की अवन्ति-विजय का समय बताया हो। जो भी हो, चन्द्रगुप्त की मगध-विजय 313 ई०पू० में नहीं मानी जा सकती। इस जैन परम्परा की अविश्वसनीयता पर हमने विस्तार से विचार अन्यत्र किया है।[2]

[1]शार्पेण्टियर, कैं०हि०इं०, 1, पृ० 156; भार्गव, पी०एल०, चन्द्रगुप्त मौर्य, 1935, पृ० 8; भट्टसाली, एन०, जे०आर०ए०एस०, 1932, पृ० 279; बोंगार्ट-लेविन, एन्श्येण्ट इण्डिया एण्ड सेण्ट्रल एशिया, पृ० 79 अ०।

[2]दे०, मागध साम्राज्य का उदय, अध्याय 11।

(2) हेमचन्द्र के द्वारा चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण वीर-निर्वाण के 155 वर्ष बाद रखना भी स्वीकार्य नहीं है। जैसाकि हमने अन्यत्र दिखाया है इस परम्परा को मानने से महावीर की मृत्यु 467 ई०पू० में अर्थात् बुद्ध के निर्वाण के उपरान्त रखनी पड़ती है जो असम्भव है।[1] ध्यान रखना चाहिये कि यह तर्क महावीर का निर्वाण 467 ई०पू० में होने का संकेत देता है, महावीर की निर्वाण तिथि 467 ई०पू० मानकर चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण 312 में रखना बिल्कुल उल्टी बात होगी। (4) चन्द्रगुप्त मौर्य ने पंजाब पर चाहे 317 ई०पू० के उपरान्त विजय प्राप्त की हो, परन्तु मगध उसने इस तिथि के पूर्व अवश्य ही जीत लिया था। और उसकी मगध की विजय 317 ई०पू० के पूर्व मानने से शार्पेण्टियर आदि के मत का मूलाधार ही समाप्त हो जाता है। (5) अशोक का अभिषेक 265 ई०पू० में अवश्य हुआ परन्तु 'महावंस' के अनुसार अभिषेक के पूर्व उसने चार वर्ष और शासन किया था। उसके पिता बिन्दुसार ने भी 28 वर्ष शासन किया। इसलिए चन्द्रगुप्त का अभिषेक अशोक के अभिषेक से 24+28+4= 56 वर्ष पूर्व पड़ेगा, 47 वर्ष पूर्व नहीं। (6) यह मान्यता कि क्लासिकल लेखकों का एग्रेमिज़ उग्रसेन-महापद्मनन्द था, सर्वथा अस्वीकार्य है। क्लासिकल लेखकों ने स्पष्टत: बताया है कि एग्रेमिज़ के पिता ने, जो नाई था, भूतपूर्व राजा और राजपुत्रों को मार कर राजसत्ता प्राप्त की थी। दूसरे शब्दों में स्वयं एग्रेमिज़ ने राज्य अपने पिता से प्राप्त किया था। अत: वह नन्द वंश का संस्थापक नहीं माना जा सकता।[2]

एगरमोन्त ने चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण 317 ई०पू० में माना है। स्टीन द्वारा सुझाई गई 318 तिथि भी एगरमोन्त की तिथि के निकट है। एगरमोन्त का मत पूर्णत: क्लासिकल लेखकों के इस साक्ष्य पर निर्भर है कि यूडेमस नाम का यूनानी सेनापति भारत से 317 ई०पू० में गया था। परन्तु जैसाकि बैशम ने कहा है[3] 317 ई०पू० में यूडेमस का भारत से प्रस्थान ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना नहीं थी जिसके कारण चन्द्र-गुप्त का अभिषेक इसके पूर्व नहीं रखा जा सके। हो सकता है चन्द्रगुप्त का अभिषेक इसके बहुत पहिले हो गया हो जब उसने नन्दों के विरुद्ध युद्ध लड़ा हो या पंजाब में स्वतन्त्रता-संग्राम का श्रीगणेश किया हो। शार्पेण्टियर व भार्गव आदि की तरह एगर-मोन्त भी अशोक के राज्यारोहण और राज्याभिषेक के मध्य चार वर्ष का अन्तर मानने के लिए प्रस्तुत नहीं है। परन्तु इस अन्तर को सिंहली परम्पराओं में बहुत बल देकर उल्लिखित किया गया है। इस प्रकार की असामान्य परम्पराओं का अस्तित्व ही प्रकृत्या इनकी विश्वसनीयता का प्रमाण होता है।

जिस प्रकार शार्पेण्टियर तथा एगरमोन्त आदि ने चन्द्रगुप्त के अभिषेक को यूनानी शासन की समाप्ति के बाद रखने का आग्रह किया है वैसे ही कुछ विद्वानों ने उसके अभिषेक को सिकन्दर के भारत-अभियान के दौरान या सिकन्दर के प्रत्या-

---

[1]वही।

[2]इस मत की विस्तृत समीक्षा के लिए दे०, मागध साम्राज्य का उदय, अध्याय 10।

[3]बैशम, ए०एल०, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० 96।

वर्तन के तत्काल बाद निर्धारित किया है। एच०सी० सेठ के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य स्वयं उत्तर-पश्चिम का निवासी था और उसने उस समय ही, जब सिकन्दर भारत में मौजूद था, स्वतन्त्रता-संग्राम प्रारम्भ कर दिया था। मगध पर विजय उसने इसके बाद प्राप्त की। जायसवाल के अनुसार भी भारत से सिकन्दर का प्रत्यावर्तन ही उसके भारतीय साम्राज्य का अन्त था। चन्द्रगुप्त को अपना स्वतन्त्रता-संग्राम प्रारम्भ करने के लिए सिकन्दर की मृत्यु की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं थी। इसके विपरीत स्मिथ, रा०कु० मुकर्जी व हूल्त्ज़ आदि ने माना है कि चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर की मृत्यु की खबर का लाभ उठाकर स्वतन्त्रता-संग्राम प्रारम्भ किया और 322 (स्मिथ व मुकर्जी के अनुसार) अथवा इसके कुछ ही वर्ष बाद स्वतन्त्रता अर्जित कर अपना अभिषेक कराया।

समस्या का सही समाधान

परन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य के अभिषेक की तिथि उसके स्वतन्त्रता-संग्राम की तिथि से तय नहीं की जा सकती। हम यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि उसने यह युद्ध कब प्रारम्भ किया। उसका यूनानियों के विरुद्ध लड़ा गया युद्ध मगध-विजय के पूर्व भी रखा जा सकता है और उपरान्त भी। अतः हमें चन्द्रगुप्त की तिथि अन्य साक्ष्य के आधार पर तय करनी चाहिये।

चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि के विषय में बौद्ध साक्ष्य अधिक विश्वसनीय है। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण के 162 वर्ष बाद हुआ था। अब, गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण की तीन तिथियाँ प्रायः प्रचलित हैं : 544 ई०पू०, 486 ई०पू० तथा 483 ई०पू०।[1] इनमें 544 ई०पू० सामान्यतः अस्वीकृत की जाती है। हमारी प्रस्तुत समस्या की दृष्टि से भी यह तिथि अस्वीकार्य है। इस तिथि को मानने से चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण की तिथि 544–162=382 ई०पू० पड़ेगी जो स्पष्टतः असम्भव है, क्योंकि चन्द्रगुप्त का अभिषेक 325–24 ई०पू० के पूर्व तो कदापि नहीं रखा जा सकता। परिनिर्वाण की शेष दो में से कोई एक तिथि को मानने से चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण 486–162=324 ई०पू० अथवा 483–162= 321 ई०पू० में पड़ेगा। हमारे विचार से इनमें सम्भवतः दूसरा विकल्प सत्य के निकटतर है क्योंकि : (1) बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि लंका में 15वीं शती ई० तक 483 ई०पू० ही मानी जाती थी।[2] आधुनिक काल में भी फ्लीट, गीगर, विक्रमसिंगे तथा अन्यान्य अनेक विद्वान् इसी तिथि को स्वीकृत करते हैं।[3] (2) चन्द्रगुप्त 326–

[1]इस समस्या के विस्तृत अध्ययन के लिए दे०, मागध साम्राज्य का उदय, अध्याय 11।

[2]सेनावर्तने, जॉन एम०, जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी (सीलोन ब्रांच), 67, पृ० 141 अ०।

[3]गीगर, महावंस, भू०, पृ० 22 अ०; फ्लीट, जे०आर०ए०एस०, 1906, पृ० 984–986; 1909, पृ० 1 अ०; चटर्जी, बी०सी० लाहा वॉल्यूम, 1, पृ० 607; विक्रमसिंगे, चटर्जी द्वारा उद्धृत। बुद्ध की निर्वाण तिथि के लिए दे० गोयल, मागध साम्राज्य का उदय, अध्याय 11।

325 ई०पू० तक एक सामान्य जन था, इसलिए उसका राज्यारोहण इसके केवल एक-दो वर्ष बाद 324 ई०पू० में हुआ मानना दुष्कर है। 325 ई०पू० के बाद सेना संग्रह करने और युद्ध करके राज्य प्राप्त करने में उसे चार-पाँच वर्ष अवश्य लग गए होंगे। इसलिए उसके राज्यारोहण को 321 ई०पू० में मानना सत्य के निकटतर होगा। (3) 'दीपवंस' और 'महावंस' से ज्ञात होता है कि अशोक का राज्याभिषेक परिनिर्वाण के 218 वर्ष उपरान्त हुआ। 483 ई०पू० को परिनिर्वाण की तिथि मानने पर अशोक के राज्याभिषेक की तिथि 483—217=265 ई०पू० आती है। पुनः, 'महावंस' का ही कथन है कि अशोक का अभिषेक राज्यारोहण के चार वर्ष उपरान्त हुआ। इसका अर्थ है कि अशोक का राज्यारोहण 265+4=269 ई०पू० में हुआ। इस प्रकार चन्द्रगुप्त और अशोक के राज्यारोहण में 321—269=52 वर्ष का अन्तर आता है। अब, पुराणों से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने 24 वर्ष शासन किया और बिन्दुसार ने 25, 26 अथवा 28 वर्ष। 'दीपवंस' और 'महावंस' में भी चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार का शासनकाल क्रमशः 24 और 28 वर्षों का बताया गया है। अतः 28 वर्ष को बिन्दुसार के शासन काल की सही अवधि मानने से चन्द्रगुप्त मौर्य और बिन्दुसार का कुल शासन 52 वर्ष तय होता है और चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि 269+52=321 ई०पू० निर्धारित होती है। इस प्रकार इस मत के स्वीकार से पौराणिक और बौद्ध साक्ष्य परस्पर संगत हो जाते हैं।

यह निष्कर्ष कि चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण 321 ई०पू० में हुआ और तदनुसार अशोक का अभिषेक 265 ई०पू० में, अशोक के अभिलेखों से भी सर्वथा संगत है।[1] अशोक के 6ठे स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि उसने अपने मुख्य आदेश अपने राज्याभिषेक के 13वें वर्ष से लिखवाने प्रारम्भ किए। अब उसके 13 वें शिलालेख में, जिसकी तिथि 265 ई०पू० के 13 वर्ष बाद अर्थात् 252 ई०पू० के पहिले नहीं पड़ सकती, उसके समकालीन एण्टियोकस, तालेमी (टॉलेमी), एण्टिगोनस, मगस तथा अलेक्ज़ेण्डर, इन पाँच यूनानी राजाओं का उल्लेख है[2] जो, अशोक की सूचनानुसार, उस समय जीवित थे। इन राजाओं की पहिचान क्रमशः सीरिया के राजा द्वितीय एण्टियोकस थियोस (261–256 ई०पू०), मिस्र के द्वितीय टॉलेमी फिलाडेल्फस (285–247 ई०पू०),

---

[1]एगरमोन्त (दि क्रोनोलॉजी ऑव दि रेन ऑव अशोक मोरिय, पृ० 165) ने तर्क रखा है कि 'दिव्यावदान' के अनुसार अशोक द्वारा बौद्ध स्थलों की यात्रा पर जाने के पूर्व एक सूर्यग्रहण पड़ा था। अब, रुम्मनदेई-अभिलेख के अनुसार अशोक उस स्थल की यात्रा पर 21वें वर्ष गया था। एगरमोन्त ने सूर्यग्रहण की तिथि 249 ई०पू० में निश्चित की है और तदनुसार अशोक का राज्याभिषेक उसके 21 वर्ष पूर्व 269–70 ई०पू० में। रोमिला थापर ने इस निष्कर्ष को मान लिया है (अशोक एण्ड दि डेक्लाइन ऑव मौर्यंज, पृ० 15)। लेकिन हमारे विचार से इस प्रकार के सुझाव अनेक अनिश्चित धारणाओं और निष्कर्षों पर आधारित होने के कारण स्वीकार्य नहीं होते।

[2]यत्न अंतियोको नम योनरज परं च तेन अंतियोकेन चतुरे 4 रजनि तुरमये नम अंतिकिनि नम मक नम अलिकसुदरो नम...

—पाण्डेय, अ०अ०, पृ० 58।

मैसीडोन के एण्टिगोनस गोनेटस (276–239 ई०पू०), साइरीन के राजा मगस[1] (लगभग 300–250 ई०पू०) तथा कोरिंथ के राजा अलेक्ज़ेण्डर[2] (252–लग० 244 ई०पू०) से की जा सकती है। इन राजाओं की तिथियों से निश्चित है कि वह समय जब ये सब राजा जीवित थे 252 से 250 ई०पू० है। इसलिए अशोक के तेरहवें शिलालेख की तिथि, जो उसके शासन के 13वें वर्ष में या इसके बाद लिखवाया गया, 252 से 250 ई०पू० के बीच कभी भी मानी जा सकती है। इससे यह निष्कर्ष कि उसका अभिषेक 265 ई०पू० में हुआ था, सत्य सिद्ध होता है।[3] इन तथ्यों के प्रकाश में मौर्य वंश का प्रारम्भिक तिथिक्रम इस प्रकार निर्धारित होता है—

321 ई०पू०	:	चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण
297 ई०पू०	:	बिन्दुसार का राज्यारोहण
269 ई०पू०	:	अशोक का राज्यारोहण
265 ई०पू०	:	अशोक का अभिषेक

---

[1]साइरीन नरेश मगस की अंतिम तिथि अनिश्चित है। हूल्त्ज़ और ब्लाख ने उसकी मृत्यु लग० 250 ई०पू० में मानी थी। मुकर्जी ने च०मौ०का० (पृ० 72) में यही तिथि मानी है। लेकिन टार्न ने कैलीमिचस तथा पोर्फाइरी (Porphyry) के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि मगस की मृत्यु 258 ई०पू० तक अवश्य ही हो गयी थी (टार्न, एण्टिगोनस गोनेटस, पृ० 449अ०)। रायचौधुरी (ए०न०मौ०, पृ० 138) तथा एक स्थल पर मुकर्जी (ए०इं०यू०, पृ० 91–3) ने इस सुझाव को माना है। लेकिन एगरमोन्त (एक्टा ओरियण्टेलिया, 1940, पृ० 103 अ०) ने कैटेलस, एथेनियस तथा समकालीन मुद्राओं के आधार पर यह सिद्ध किया है कि मगस की मृत्यु 252–250 ई०पू० में कभी हुई होगी। रोमिला थापर (अशोक एण्ड दि डेक्लाइन ऑव मौर्यज़, पृ० 41) ने भी इस मत को माना है। मुकर्जी ने भी च०मौ०का० में (पृ० 73) एगरमोन्त से सहमति प्रकट की थी। अतः मगस् की मृत्यु लग० 250 ई०पू० में हुई मानना सत्य से अतिदूर नहीं होना चाहिए।

[2]कुछ विद्वान् अशोक द्वारा उल्लिखित अलिकसुदर की पहिचान एपिरस के राजा अलेक्ज़ेण्डर से करते हैं (एक्टा ओरिण्टेलिया, 1940, भाग 2) क्योंकि एपिरस-नरेश अपेक्षया अधिक प्रसिद्ध है। इस पहिचान को मानने से 13वें शिलालेख की तिथि को कुछ पीछे हटाना जरूरी लगेगा क्योंकि इस अलेक्ज़ेण्डर की मृत्यु 255 ई०पू० ही हो गई थी। लेकिन (1) हो सकता है अशोक के लेख में कोरिंथ के अलेक्ज़ेण्डर का ही उल्लेख हो। उसके लेख में स्पष्टतः उन राज्यों की चर्चा है जहाँ उसको प्रचार-कार्य में मदद मिली थी। यहाँ उन राज्यों के महत्व का प्रश्न उठाना सर्वथा अप्रासांगिक होगा। (2) अगर यह अलेक्ज़ेण्डर एपिरस-नरेश ही था तब भी यह हो सकता है कि 13वें शिलालेख का प्रारूप तैयार किए जाने के समय तक अशोक को उसकी मृत्यु की सूचना नहीं पहुँच पाई हो।

[3]फ्लीट ने अशोक के अभिलेख में आए 'तिष्य' नक्षत्र का सम्बन्ध उसके राज्याभिषेक के दिन से मानकर और परिनिर्वाण की स्वयं द्वारा निर्धारित तिथि 13 अक्टूबर 483 ई०पू० को सही मानकर ज्योतिष-शास्त्र की सहायता से अशोक के राज्याभिषेक की तिथि अप्रैल 25, 264 ई०पू० निर्धारित की थी (जे०आर०एस०, 1909, पृ० 26 तथा 28–34)। ऐसी गणनाएँ अनेक असिद्ध मान्यताओं पर निर्धारित होने के कारण अस्वीकार्य होती हैं।

अध्याय 9

चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व और मूल्यांकन

चक्रवर्ती आदर्श का विकास

भारतीय इतिहास में चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण के पूर्व व्यतीत होने वाली दो शताब्दियाँ राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थीं। इस युग में भारतीय जीवन में विदेशी आक्रमणकारियों एवं नवीन स्वदेशी तथा विदेशी विचारधाराओं के प्रभाव के परिणामस्वरूप गम्भीर उथल-पुथल हुई। विदेशी आक्रमणकारियों और विचारों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा उत्तरापथ पर, जो तत्कालीन विश्व की सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति (साखामनीषी साम्राज्य) द्वारा आक्रान्त हुआ। साखामनीषियों ने सिन्ध व गन्धार को जीतकर अपने साम्राज्य का बीसवाँ प्रान्त बना डाला। लेकिन उन्होंने स्थानीय जातियों और राज्यों को पूर्णतः विनष्ट नहीं किया। वे उनसे कर और सैनिक-सेवा प्राप्त करके ही सन्तुष्ट रहे।

जिस समय ईरान के सम्राट् उत्तरापथ की ओर अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे, प्राच्य में बौद्धिक-राजनीतिक क्रान्ति हो रही थी। इस प्रदेश में वैदिक सभ्यता की जड़ें पूरी नहीं जम पाई थीं इसलिए यहाँ के निवासी निवृत्तिपरक बौद्ध और जैन धर्मों को अनायास स्वीकार कर सके। इस धार्मिक क्रान्ति का राजनीतिक जीवन पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। यह तथ्य अत्यन्त रोचक है कि बौद्ध धर्म का उदय और प्रसार मागध साम्राज्य के उदय और प्रसार का समकालीन था। जिस समय तथागत का जन्म हुआ उत्तर भारत में अनेक जनपद थे। 'अंगुत्तर निकाय' की प्रसिद्ध सूची के अनुसार उस समय सोलह महाजनपद विशेषतः उल्लेखनीय थे। इनमें कुछ राजाधीन थे और कुछ गणाधीन। लेकिन बुद्ध के जीवन काल में ही इन महाजनपदों की संख्या कम होनी आरम्भ हो गयी थी। जहाँ उपनिषदों और जातकों में काशी एक बलवान और स्वतन्त्र राज्य के रूप में दिखाई देता है, बुद्ध के समय में वह कोशल के साम्राज्य का अंग बन चुका था। बुद्ध के काल में ही मागध बिम्बिसार ने अंग जनपद को बलात् हस्तगत कर लिया और उसके पुत्र अजातशत्रु ने लिच्छवि और मल्ल जनपदों को एवं तथागत के निर्वाणोपरान्त विड़ूडभ ने शाक्य गणराज्य को। इन घटनाओं में गण-राज्यों के ह्रास तथा मगध के नेतृत्व में भारत के प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य के उदय की प्रक्रिया को स्पष्ट देखा जा सकता है।

भारत के प्राचीनतम साम्राज्य, जिनका हमें कुछ विवरण उपलब्ध है, पूर्णतः 'ऐतिहासिक' नहीं कहे जा सकते। अयोध्या के दिलीप, रघु और रामचन्द्र आदि इक्ष्वाकुवंशीय सम्राट् तथा 'महाभारत' के पृथु और भरत जैसे नरेश सम्पूर्ण पृथ्वी (कृत्स्ना वसुन्धरा) के स्वामी कहे गये हैं। इन उदाहरणों में 'सम्पूर्ण पृथ्वी' से क्या आशय है और साम्राज्य के विविध प्रदेशों पर उनका नियन्त्रण किस प्रकार का था, ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका सर्वस्वीकार्य उत्तर ज्ञान की वर्तमान अवस्था में नहीं दिया जा सकता। अगर रघु की कालिदास द्वारा वर्णित दिग्विजय को प्राचीन परम्परा का आदर्शभूत वर्णन माना जाये (जो सम्भव नहीं लगता) तो ऐसे उदाहरणों के आधार पर वैदिक काल के साम्राज्यों को अत्यधिक केन्द्रीभूत और सुसंगठित नहीं माना जा सकता। सम्भवतः इन साम्राज्यों के अन्तर्गत अधीन राजा सम्राट् को केवल यज्ञ के अवसर पर अथवा अधिक से अधिक एक निश्चित अवधि में कर या भेंट मात्र देने के लिए बाध्य थे।

जो भी हो, प्राचीन भारत में उस अर्थ में एक विश्वजनीन साम्राज्य की कल्पना कभी नहीं की गई जिस अर्थ में ईरान और पाश्चात्य देशों में की गई थी—अर्थात् एक ऐसा साम्राज्य जिसमें केन्द्रीय सत्ता अनेक जातियों, धर्मों और भाषाओं वाले समूहों पर प्रत्यक्षतः शासन करे, अपनी संस्कृति उन पर थोपने की चेष्टा करे तथा अपने लाभ के लिए उनका शोषण करे। भारत में साम्राज्य की अवधारणा चक्रवर्ती आदर्श पर आधारित थी। इस आदर्श का शनैः शनैः विकास हुआ। उत्तर वैदिक ग्रन्थों में अधिराज, सम्राट् और एकराट् आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनसे सूचित होता है कि तत्कालीन युग में ही सर्वोपरि सत्ता और साम्राज्यिक शक्ति की अवधारणाओं का विकास हो रहा था। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के अनुसार समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासक एकराट् कहलाता था। इसी ग्रन्थ में कहा गया है कि प्राची दिशा के राजा का अभिषेक साम्राज्य के लिए होता था और वे सम्राट् कहलाते थे। 'अथर्ववेद' के अनुसार एकराट् सर्वोपरि शासक को कहते थे, जैसे प्राच्य देशों के अधिपति होते थे। सम्राटों के अभिषेक के लिए विशेष संस्कारों का विकास हुआ। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार 'राजा के लिए ही राजसूय है।' इसके विपरीत सम्राट् के लिए वाजपेय का विधान था: "वाजपेय से सम्राट् बनता है। राज्य हीन है, साम्राज्य श्रेष्ठ है। राजा सम्राट् बनने की कामना करे।" इसी प्रकार स्वराट् के लिए अश्वमेध, विराट् के लिए पुरुषमेध और सर्वराट् के लिए सर्वमेध यज्ञों का विधान था।[1]

उत्तर वैदिक साहित्य में उन राजाओं के नाम भी दिये गये हैं जो अपनी विजयों से इन यज्ञों के अधिकारी बने। 'ऐतरेय ब्राह्मण' और 'शतपथ ब्राह्मण' में भारत वंश के अनेक राजाओं की पृथ्वी-विजय का यशोगान है, जैसे दौःषन्ति की, जिसने सत्वतों

[1]दे०, सौन्दरराजन, 'दि चक्रवर्ती कन्सेप्ट एण्ड चक्र', 'ग्लिम्पजिज़ ऑव इण्डियन कल्चर, देहली, *1981*, पृ० *127–31*।

को हराया और कुरु राष्ट्र तथा गंगा-यमुना के किनारे अनेक अश्वमेध किये। इसी प्रकार दूसरा राजा शतानीक था जिसने काशी-नरेश को हराया। "भरत के महत्त्व को न कोई पूर्वकाल में प्राप्त कर सका और न बाद में, जैसे पृथ्वी पर खड़े हुए किसी भी व्यक्ति के लिए हाथों से आकाश को छूना कठिन है।" कुछ ग्रन्थों में बारह चक्रवर्ती सम्राटों के नाम आये हैं। 'मैत्रायणी उपनिषद्' में भी प्राचीन चक्रवर्तियों की सूची मिलती है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के अनुसार इनके समक्ष आदर्श था—"मैं सब प्रकार की जय करूँ, सब लोकों को प्राप्त करूँ, सब राजाओं के ऊपर श्रेष्ठता, प्रतिष्ठा और परमता प्राप्त करूँ, एवं साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, माहाराज्य आधिपत्य प्राप्त कर तथा सबके ऊपर सार्वभौम बनकर समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का एकराट् शासक बनूँ।" परवर्ती युगों में रचित पुराणों और महाकाव्यों में वैदिक काल के अनेक चक्रवर्ती राजाओं का वर्णन मिलता है। कालिदास ने भी कोसल के रघुवंशीय नरेशों को 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' बताते समय उनके चक्रवर्तित्व की ओर ही संकेत किया है।

चक्रवर्ती आदर्श में चक्र का प्रतीकात्मक महत्त्व विविध प्रकार से माना गया है। हिन्दू आदर्श में चक्र कहीं सार्वभौम नरेश के सर्वगामी रथ के पहिये का प्रतीक है, कहीं विष्णु और कृष्ण के आयुध का, कहीं सार्वभौम नरेश के आज्ञाचक्र का और कहीं राजचक्र या 'मण्डल' का। कहीं-कहीं यह सार्वभौम नरेश के शरीर पर चक्रवर्तित्त्व के बत्तीस लक्षणों में से एक बताया गया है। बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी चक्र का महत्त्व माना गया है। बौद्ध धर्म में एक ओर 'धम्मचक्क' धर्म की अप्रतिवार्य प्रगति का प्रतीक है तो दूसरी ओर इसका राजनीतिक पक्ष 'धम्मचक्कवत्ती' आदर्श में मिलता है। पालि साहित्य में तीन प्रकार के चक्कवत्ती बताए गए हैं: चक्कवाल चक्कवत्ती (जो सम्पूर्ण वसुन्धरा के चारों द्वीपों पर शासन करें), दीपचक्कवत्ती (जो केवल एक द्वीप पर शासन करें) तथा पदेस चक्कवत्ती (जो किसी द्वीप के केवल एक प्रदेश पर शासन करें)। पालि साहित्य में जहाँ सारे जम्बुद्वीप को एक चक्रवर्ती राजा का शासन-क्षेत्र माना गया है वहाँ आशय प्रायः द्वीप चक्कवत्ती से है। लेकिन कहीं-कहीं चक्कवाल चक्कवत्ती और दीप चक्कवत्ती में विशेष अन्तर नहीं किया गया है। 'अंगुत्तर निकाय' में बुद्ध यह कहते हुए दिखाए गए हैं कि वे अपने एक पूर्व जन्म में सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करने वाले चक्रवर्ती राजा थे। धर्मानुसार शासन करने वाले चक्रवर्ती राजा का आदर्श भगवान् बुद्ध व उनके अनुयायियों के सम्मुख सदैव रहता था। 'इतिवत्तुक' के 'झायीसुत्त' में कहा गया है: 'चक्रवर्ती, धार्मिक धर्मराजा, चारों दिशाओं का विजेता, जनपदों में सुव्यवस्था स्थापित करने वाला, सप्त रत्नों से युक्त।" 'दीघ निकाय' के 'लक्खण सुत्त' में इसी आदर्श को अधिक स्पष्ट करते हुए बताया गया है: 'चक्रवर्ती, धार्मिक, धर्मराजा चतुर्दिक् का विजेता—इस सागरपर्यन्त पृथ्वी को बिना दण्ड के, बिना शस्त्र के, धर्म के द्वारा जीत कर उस पर शासन करता है।' भगवान् बुद्ध की तुलना अनेकत्र सार्वभौम चक्रवर्ती से की गई है। चक्रवर्ती राजा के समान ही उन्होंने

चक्र (धर्मचक्र) का प्रवर्तन किया था और एक चक्रवर्ती के समान ही उनका अन्तिम संस्कार किया गया था। 'मिलिन्दपञ्हो' में एक सुन्दर रूपक मिलता है जिसमें दिखाया गया है कि बुद्ध रूपी चक्रवर्ती के सेनापति कौन हैं, कोषाध्यक्ष कौन हैं, उनकी राजधानी क्या है, सप्तरत्न क्या हैं, इत्यादि।

जनपदयुगीन राजनीतिक परिवर्तनों ने दण्डनीति की उस परम्परा को जन्म दिया जिसकी परिणति मौर्योत्तर युग में लिखित कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में मिलती है। अर्थशास्त्र-परम्परा के विकास का इतिहास आज भली-भाँति ज्ञात नहीं है, परन्तु 'महाभारत' में प्रजापति को दण्डनीति का प्राचीनतम लेखक बताया गया है तथा कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में कौटिल्य के पूर्वगामी पण्डितों में विशालाक्ष (शिव), बाहु-दान्तिपुत्र (इन्द्र), बृहस्पति, शुक्र, कौणपदन्त, वातव्याधि, पिशुन, आदि का उल्लेख मिलता है और उनमें बहुतों के मतों को उद्धृत किया गया है। इनमें अनेक प्राङमौर्य और मौर्ययुगीन रहे होंगे। इतना निश्चित है कि कौटिल्य के पूर्व ही अर्थशास्त्र के बार्हस्पत्य, औशनस, पाराशर, आम्भीय आदि अनेक सम्प्रदाय विकसित हो चुके थे। स्वयं बुद्ध के काल में अर्थशास्त्रीय परम्परा के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। 'ब्रह्म-जालसुत्त' में बुद्ध राजनीति व युद्धतन्त्र में लिप्त तथा राज-निर्माता बनने के आकांक्षी ब्राह्मणों की निन्दा करते हैं। सम्भवतः अर्थशास्त्र के एक आचार्य दीघचारायण का उल्लेख ही बौद्ध साहित्य में प्रसेनजित् के स्थान पर उसके पुत्र विडूडभ को राजा बनाने वाले सेनापति के रूप में मिलता है। अजातशत्रु के ब्राह्मण मन्त्री वर्षकार की कूटनीति सर्वज्ञात है ही।

अर्थशास्त्र-परम्परा के विकास के साथ भारत में राजत्व की नई अवधारणा विकसित हुई और चक्रवर्ती आदर्श को, जो अभी तक कल्पना रूप में था, ठोस आधार मिला। अर्थशास्त्र के आचार्य दण्डशक्ति को सामाजिक व्यवस्था, शासन व प्रगति के लिए अनिवार्य मानते थे। यदि धर्मशास्त्रीय परम्परा राजा के कर्त्तव्य पर जोर देती थी तो अर्थशास्त्रीय परम्परा उसकी शक्ति पर। परिणामतः भारत में राजत्व की एक नई अवधारणा का जन्म हुआ जिसके विकास में नवीन भौतिक परि-स्थितियों तथा विदेशी विचारों और उदाहरणों ने योग दिया। इसके प्रभाव में वैदिक युगीन 'जनों' की परिधि में बंधे सीमित राजतन्त्र की अवधारणा समाप्त हो गई। अब विजेता नरेश विजित प्रदेशों के साधनों—वनों, जलमार्गों, खानों, आदि का अपनी शक्ति व साम्राज्य की भौतिक समृद्धि बढ़ाने में उपयोग करने लगे। कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में नए उपनिवेश बसाने की विधि बताई है। नये साधनों को व्यक्तिगत नियन्त्रण में रखने के कारण राजा अब लोक-नियन्त्रण से लगभग पूर्णतः मुक्त हो गए। नन्द-मौर्य काल में मात्र केन्द्रीय सरकार के पास ही विशाल वाहिनी का होना, सामान्य जनों के व्यक्तिगत जीवन के विषय में सूक्ष्मातिसूक्ष्म सूचना राजा के पास पहुँचाने में समर्थ गुप्तचर व्यवस्था का अस्तित्व, राजा का जनता पर भारी कर लगाना (जिनमें कुछ स्पष्टतः अनुचित माने जाते थे), प्रशासकीय पुरुष-तन्त्र का अप्रतिम विकास—ये

सभी राजत्व की नई अवधारणा के आवश्यक घटक थे। उत्तर वैदिक काल तथा वेदोत्तर काल में हुई नागर-क्रान्ति, भारत के लौह युग में प्रवेश तथा क्षत्रिय जातियों के विघटन (जिससे आयुधजीवी वेतनभोगी सैनिक वर्ग का अस्तित्व सम्भव हो सका) नवीन राजत्व के विकास में अतिरिक्तरूपेण सहायक हुए। संक्षेप में नवीन भारतीय राजत्व में राजाओं का बल अमात्यों की कूटनीति, सेना की शक्ति, राजा की व्यक्तिगत योग्यता, एवं सुसंगठित राजपुरुषतन्त्र (ब्युरोक्रेसी) पर अधिक निर्भर था, उसकी मूर्धाभिषिक्तता और जन-सहयोग पर कम। ऐसी स्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि चक्रवर्ती अवधारणा को अखिल भारतीय रूप मिलता। कौटिल्य ने चक्रवर्ती का शासन-क्षेत्र हिमालय से लेकर समुद्र तक विस्तृत भूमि को बताया है। चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके उत्तराधिकारियों का साम्राज्य राजत्व की इस नवीन अवधारणा एवं चक्रवर्ती-क्षेत्र के आदर्श का व्यावहारिक रूप था।

मागध साम्राज्य के इतिहास में मौर्य वंश का स्थान

चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन काल चक्रवर्ती आदर्श के व्यावहारिक रूप और मागध साम्राज्य के प्रसार की चरमावस्था का प्रारम्भ कहा जा सकता है। मागध साम्राज्य की स्थापना बिम्बिसार ने की थी। उसके समय से लेकर शैशुनाग वंश तक यह साम्राज्य उत्तर भारत में फैलता रहा। नन्द नरेशों ने इसमें कलिंग व सम्भवतः गोदावरी नदी (और हो सकता है कुन्तल) तक विस्तृत दक्षिण भारतीय प्रदेश सम्मिलित करके इसे अखिल भारतीय रूप देने का प्रयास किया। चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन काल इस प्रसार की अगली—चरम विकास वाली—अवस्था के प्रारम्भ का सूचक है जब इस साम्राज्य में प्रथम बार लगभग समस्त भारतीय उपमहाद्वीप सम्मिलित हुआ। चरमोत्कर्ष का यह युग अशोक के शासन तक चला। जिस प्रकार किसी सरोवर में अगर एक पत्थर फेंका जाये तो उससे उठने वाली तरंगें धीरे-धीरे किनारों की तरफ फैलती जाती हैं, वैसे ही मगध का राज्य विस्तृत होकर धीरे-धीरे भारत के विभिन्न प्रदेशों को अपने में समेटता चला गया। अशोक के उपरान्त साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हुआ। शुंग काल तक इससे उत्तरापथ व दक्षिण भारत (विदर्भ को छोड़कर) पृथक् हो चुके थे। कण्वों के युग में तो यह एक लघु राज्य मात्र रह गया। इस प्रकार मागध साम्राज्य का इतिहास बिम्बिसार से लेकर कण्व वंश के अन्त तक चला। इस बीच में इस पर छः राजवंशों ने शासन किया। उनकी उपलब्धियाँ व असफलताएँ परस्पर घनिष्ठतः सम्बन्धित हैं। उनमें प्रत्येक का अध्ययन इस समग्र युग की पृष्ठभूमि में किया जाना चाहिए, अलग-अलग नहीं।

उपर्युक्त मन्तव्य का गम्भीर अर्थ है। चन्द्रगुप्त मौर्य को एक नवीन साम्राज्य का संस्थापक और निर्माता प्रायः माना जाता है। परन्तु ऊपर जो कुछ कहा है वह अगर सही है तो चन्द्रगुप्त मात्र एक 'वंश' का संस्थापक था, 'साम्राज्य' का संस्थापक नहीं। मौर्य साम्राज्य का अधिकांश तो उसने नन्दों से 'उत्तराधिकार' में प्राप्त

किया था। इतना अवश्य है कि उसने इसे और अधिक विस्तृत किया और स्थायित्व प्रदान किया। परन्तु वह उस अर्थ में मौर्य साम्राज्य का निर्माता नहीं था जिस अर्थ में समुद्रगुप्त व धर्मपाल अपने-अपने वंशों के साम्राज्य-निर्माता थे। जिस प्रकार प्राचीन रोमक साम्राज्य में कई बार गृहयुद्ध और वंश परिवर्तन हुए परन्तु साम्राज्य की एक ही परम्परा रही, वैसे ही मागध साम्राज्य में भी वंश परिवर्तन हुए परन्तु साम्राज्य की परम्परा इसके घटते-बढ़ते रहने के बावजूद वही रही। आखिर शिशुनाग तथा पुष्यमित्र शुंग अगर नवीन साम्राज्यों के संस्थापक न होकर मात्र नवीन वंशों के संस्थापक थे तो चन्द्रगुप्त मौर्य को एक नए साम्राज्य का संस्थापक कैसे माना जा सकता है ?

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हमें चन्द्रगुप्त मौर्य को मागध साम्राज्य के सुदीर्घ इतिहास की पृष्ठभूमि में, कई महान् नृपतियों की लम्बी शृंखला की एक कड़ी के रूप में, देखना चाहिए। इस तथ्य को ध्यान में रखने से उसका मूल्यांकन अधिक अच्छी तरह किया जा सकता है।

किसी राजा के मूल्यांकन के चार मानदण्ड

किसी राजा का मूल्यांकन करते समय हमें सर्वप्रथम उसकी 'राजनीतिक' उपलब्धियों को देखना चाहिए। हमारे विचार से किसी राजा को मात्र इसलिए महान् नहीं मान लिया जाना चाहिए क्योंकि उसकी रुचि साहित्य, कला अथवा धर्म में थी। राजा की गतिविधि का क्षेत्र राजनीति होता है, इसलिए उसका मूल्यांकन सर्वप्रथम राजनीतिक जीवन में होना चाहिए। यह दूसरी बात है कि कोई नरेश व्यक्तिगत रूप से उच्चकोटि का लेखक या कलाकार या सन्त भी हो, परन्तु वह अगर राजनीतिक क्षेत्र में असफल था तो हमें उसकी आलोचना करनी पड़ेगी—उसी तरह जैसे किसी साहित्यकार की उसकी साहित्यिक उपलब्धियों के लिए प्रशंसा की जाएगी, धार्मिक या कलात्मक उपलब्धियों के लिए नहीं और एक वीणावादक संगीतज्ञ के रूप में प्रशंसा का अधिकारी होगा राजनीतिज्ञ के रूप में नहीं। लेकिन अभाग्यवश आधुनिक इतिहासकार इस सुस्पष्ट और अनालोच्य मानदण्ड को नजरअन्दाज़ कर देते हैं और किसी भोज को (चाहे उसने अपने पूर्वगामी राजा से विशाल साम्राज्य उत्तराधिकार में पाकर उसे नष्ट-भ्रष्ट ही क्यों न कर दिया हो) केवल इसलिए प्रशंसा का पात्र मान लेते हैं क्योंकि वह एक सफल साहित्यकार एवं साहित्य प्रेमी था और किसी अशोक की प्रशंसा इसलिए कर देते हैं क्योंकि उसने धम्मविजय की थी (चाहे उसकी नीति से साम्राज्य की अवनति की प्रक्रिया ही क्यों न प्रारम्भ हो गई हो)। हमारे विचार से किसी राजा की सफलता और असफलता का मुख्य मानदण्ड 'राजनीतिक' होना चाहिए। इसके बाद वह अगर समुद्रगुप्त के समान वीणावादक तथा गायक और भोज के समान साहित्यकार भी था तो इसे हम उसकी 'व्यक्तिगत' उपलब्धि के रूप में प्रशंसनीय बात मान सकते हैं।

लेकिन किसी नरेश की 'राजनीतिक' उपलब्धियों के कई पक्ष हो सकते हैं। एक, हमें देखना चाहिये कि उसने अपने पूर्वगामी नरेश से कितना बड़ा राज्य पाया था और कितना बड़ा राज्य अपने उत्तराधिकारी के लिए छोड़ा। उसकी शक्ति, साधनों तथा कठिनाइयों को दृष्टिगत रखते हुए हमें उसकी इस क्षेत्र में उपलब्धि या हानि का मूल्यांकन करना चाहिये। दूसरे, हमें देखना चाहिये कि उसने साम्राज्य के स्थायित्व के लिए क्या किया। बहुत से राजा (यथा मालवा का यशोधर्मा तथा थानेसर का हर्ष) अपने जीवन काल में बड़े विजेता या युद्धप्रेमी सिद्ध हुए परन्तु उन्होंने अपनी विजयों को स्थायी बनाने का या तो प्रयास नहीं किया अथवा उसमें सफल नहीं हुए। इसलिए हमें देखना चाहिए कि किसी नरेश ने अपने साम्राज्य की सुरक्षा व स्थायित्व के लिए क्या किया और इसमें कहाँ तक सफल हुआ। इसके लिए हमें विशेषतः उसकी शासन-व्यवस्था का अध्ययन करना होगा जो किसी साम्राज्य के स्थायित्व का मेरुदण्ड होती है। तीसरे, राजा का अस्तित्व जन-कल्याण के लिए होता है, इसलिए हमें देखना चाहिए कि उस नरेश ने प्रजाहित के लिए क्या कार्य किये थे। ये तीनों ही कार्य महत्त्वपूर्ण होते हैं। मात्र विजय प्राप्त करने वाला राजा लोभी कहा जाएगा, मात्र प्रशासन की ओर ध्यान देने वाला राजा राजा न होकर मन्त्री पद के योग्य माना जाएगा और राज्य की सुरक्षा और प्रसार को नजरअन्दाज करके केवल प्रजारञ्जन में व्यस्त रहने वाला राजा वास्तव में प्रजा का शत्रु कहा जायेगा क्योंकि अन्ततोगत्वा वह राज्य की जड़ें दुर्बल करके प्रजा के लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। इन तीनों कसौटियों पर जो राजा खरा उतरे वह अगर अपने व्यक्तिगत जीवन में हर्ष की तरह नाटककार, समुद्रगुप्त की तरह वीणावादक अथवा अशोक की तरह 'धम्मविजयी' न भी रहा हो तो भी उसका राज्य समृद्ध होगा और प्रजा सुखी होगी। अगर उसमें ये गुण भी हैं तो वह व्यक्तिगत रूप से अतिरिक्त अनुशंसा का अधिकारी होगा। परन्तु वह अगर पिछली शर्तों को पूरा करता है तो उसके राज्य में कलाकार, साहित्यकार, सन्त, महात्मा व परोपकार में लगने वाले व्यक्ति स्वयं फले फूलेंगे। अकबर स्वयं साक्षर तक नहीं था लेकिन उसने ऐसी परिस्थिति और वातावरण को उत्पन्न किया जिसमें साहित्य की अभूतपूर्व उन्नति हुई। अतः उसकी महत्ता में इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वह स्वयं निरक्षर था। आखिर राजा का कार्य सांस्कृतिक उन्नति के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न करना होता है, स्वयं वीणा बजाना, गीत और नाटक लिखना तथा धर्म का उपदेश देना नहीं।

प्रथम कसौटी : साम्राज्य-प्रसार

राजा की महत्ता की जाँच के लिए इस मानदण्ड की पृष्ठभूमि में ही चन्द्रगुप्त मौर्य का मूल्यांकन किया जाना चाहिये। एक, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि चन्द्रगुप्त के पूर्व नन्दों ने भारत में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी जिसमें सम्भवतः पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में ब्यास नदी तक और उत्तर में

हिमालय से लेकर दक्षिण में गोदावरी (या मैसूर) तक का प्रदेश सम्मिलित था। चन्द्रगुप्त ने इस साम्राज्य को एक प्रकार से 'उत्तराधिकार' में प्राप्त किया था। यह सही है कि उसे स्वयं नन्दों का उन्मूलन करना पड़ा, परन्तु मगध पर अधिकार कर लेने के बाद नन्द साम्राज्य के अधिकांश पर उसका स्वतः अधिकार हो गया होगा तथा शेष प्रान्तों पर उसने उसी प्रकार अपने प्रभुत्व का दावा किया होगा जिस प्रकार पुष्यमित्र ने बृहद्रथ के साम्राज्य पर किया था। जो भी हो, इतना निश्चित है कि उसके आविर्भाव के पूर्व भारत से जनपद युग का अवसान हो चुका था और नन्द नरेश मागध साम्राज्य को अखिल साम्राज्य बनाने में बहुत कुछ सफलता प्राप्त कर चुके थे। उत्तरापथ में भी राजनीतिक सरलीकरण की प्रक्रिया को सिकन्दर ने पूरा कर दिया था।

लेकिन सत्ता प्राप्त करने के बाद चन्द्रगुप्त ने नन्दों के अधूरे काम को पूरा किया और एक वास्तविक अखिल भारतीय साम्राज्य की स्थापना की। वह पूर्व में मगध (आधुनिक बिहार) और बंगाल तक विस्तृत प्रदेश का स्वामी बना। बंगाल पर उसका आधिपत्य प्लिनी से सिद्ध है जो पालिब्रोथ्रा (=पाटलिपुत्र) के राजा को 'गंगा के समस्त तटवर्ती प्रदेश' का अर्थात् गंगा के मुहाने तक का स्वामी बताता है। उसका यहाँ आशय निश्चयतः चन्द्रगुप्त मौर्य से है क्योंकि इसके साथ ही वह यह भी सूचना देता है कि उस पाटलिपुत्र-नरेश के पास 6 लाख पदातियों, 30,000 अश्वारोहियों और 9,000 हाथियों की सेना थी और प्लुटार्क के साक्ष्य से हमें ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने "छः लाख सेना लेकर सारे भारत को रौंद डाला था और अपने अधीन कर लिया था।" कामरूप अथवा आधुनिक असम पर उसका अधिकार किसी साक्ष्य से ज्ञात नहीं होता।

चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की पश्चिमी और पश्चिमोत्तर सीमा पहिले ही निर्धारित की जा चुकी है। जैसा कि देखा जा चुका है, उकसा साम्राज्य पश्चिम में सुराष्ट्र तक और पश्चिमोत्तर दिशा में कन्धार और हिरात तक विस्तृत था।

चन्द्रगुप्त को 'मुद्राराक्षस' में हिमालय से समुद्र तक विस्तृत पृथ्वी का स्वामी बताया गया है। इस प्रसंग में यह तथ्य भी रोचक है कि कल्हण ने अपनी 'राज-तरंगिणी' में अशोक को कश्मीर का राजा बताया है और श्रीनगरी की स्थापना का श्रेय दिया है। अगर यह अनुश्रुति सही है (और सामान्यतः इसे सही माना जाता है) तो स्वीकार करना पड़ेगा कि इस प्रदेश को भी चन्द्रगुप्त ने ही जीता होगा क्योंकि इस पर विजय न तो अशोक ने प्राप्त की थी और न इसको जीतने का श्रेय किसी साक्ष्य में बिन्दुसार को दिया गया है। इसी प्रकार नेपाल की घाटी (काठमाड़ौं की घाटी) को भी (जिस पर तारानाथ और नेपाली 'वंशावलियों' के अनुसार अशोक का आधिपत्य था) अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त ने ही मौर्य साम्राज्य का अंग बनाया होगा।

जहाँ तक चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा का प्रश्न है हम पीछे दिखा

ही चुके हैं कि उसके साम्राज्य में चोल, चेर, पाण्ड्य तथा सतियपुत को छोड़कर समस्त दक्षिण भारत सम्मिलित था। इस प्रकार उसका साम्राज्य सही अर्थ में अखिल भारतीय साम्राज्य था। दूसरे शब्दों में, उसने नन्दों से जो साम्राज्य 'उत्तराधिकार' में पाया उसे चहुँदिश विस्तृत करके अपने उत्तराधिकारी के लिए छोड़ा था।

द्वितीय कसौटी : साम्राज्य के स्थायित्व के लिये दृढ़ प्रशासन

चन्द्रगुप्त मौर्य ने केवल मागध साम्राज्य का विस्तार ही नहीं किया, उसने इसकी सुरक्षा व स्थायित्व के लिए भी श्लाघ्य प्रयास किये। एक, उसने उत्तरापथ को विदेशी यूनानियों के आधिपत्य से मुक्त किया और भारतीय इतिहास में प्रथम बार गंगा व सिन्धु की उपत्यकाओं को एकता के सूत्र में आबद्ध किया। इसके बाद उसने सिकन्दर के एशियायी साम्राज्य के 'उत्तराधिकारी' सेल्युकस को भी पराभूत करके यूनानियों द्वारा भारत-विजय के दूसरे प्रयास को असफल किया। इस सफलता के परिणामस्वरूप न केवल उसका साम्राज्य ईरान की सीमा तक विस्तृत हो गया वरन् भारत व यूनानी राज्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध भी स्थापित हुए जिससे देश को विदेशी सांस्कृतिक धाराओं से लाभ उठाने का अवसर मिला। दूसरे चन्द्रगुप्त मौर्य ने साम्राज्य के प्रशासन को व्यवस्थित और केन्द्रीभूत किया। उसके प्रशासन का आँखों देखा हाल मेगास्थेनिज़ ने लिखा है।[1] मेगास्थेनिज़ ने मौर्य प्रशासन का जो चित्र प्रस्तुत किया है उससे ज्ञात होता है कि साम्राज्य के सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों का नियमन और संचालन एक बहुत ही सुसंगठित तथा कार्य-तत्पर राजपुरुषतन्त्र करता था। जनपदों या जिलों के अधिकारी एग्रोनोमोई कहलाते थे। वे सिंचाई और भू-मापन की व्यवस्था, शिकार का प्रबन्ध, वन सम्बन्धी कानूनों के पालन तथा कृषि और खनिज कर्म से सम्बन्ध रखने वाले सभी व्यवसायों, काष्ठ-शिल्प तथा धातु उद्योगों का निरीक्षण करते थे। इसके अतिरिक्त वे कर वसूल करते थे, सड़कों की देखभाल करते थे, उनकी मरम्मत करवाते थे तथा हर दस स्टेडिया पर दूरी सूचक पत्थर लगवाते थे।[2]

नगर-प्रशासन

मेगास्थेनिज़ के अनुसार पाटलिपुत्र के प्रशासन के लिए 30 सदस्यों की एक सभा थी जो छः समितियों में विभक्त थी। प्रत्येक समिति में पाँच-पाँच सदस्य होते थे। नगर-

---

[1]यहाँ हमने मेगास्थेनिज के उद्धरणों का आर०के०मुकर्जी द्वारा प्रदत्त हिन्दी अनुवाद न्यूनाधिक संशोधन के साथ प्रयुक्त किया है।

[2]इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उस युग में लेखन-कला प्रचलित थी। हर दस स्टेडिया पर लगाये जाने वाले पत्थर पर कुछ लिखा होना जरूरी नहीं था—हर पत्थर अपने अस्तित्व से यह सूचित कर सकता था कि वह दस स्टेडिया की दूरी पर लगाया गया था।

प्रशासन के लिये जिम्मेदार ये अधिकारी 'एस्टिनोमोई' कहलाते थे। इन समितियों के काम इस प्रकार थे[1]—

(1) प्रथम समिति का कार्य कारीगरों की कला का निरीक्षण करना, मजदूरी की दर निर्धारित करना तथा श्रमिकों के कार्य का समय तय करना था। (2) दूसरी समिति के कार्य थे विदेशियों के निवास की व्यवस्था करना, उनकी गतिविधियों की देखभाल करना, उनको ठीक प्रकार से बाहर भेजना, मरने वाले विदेशियों की सम्पत्ति को वापिस लौटाना, उनके बीमार पड़ने पर उनकी देखभाल करना और मरने पर उनको दफन करना, आदि। डायोडोरस के अनुसार विदेशियों के साथ दुर्व्यवहार करने वालों के साथ बहुत कठोरता दिखाई जाती थी। (3) तीसरी समिति का कार्य जनगणना करना और जन्म-मरण का लेखा-जोखा रखना था। (4) चौथी समिति का कार्य बाजार-नियन्त्रण, क्रय और विनिमय की देखभाल करना आदि था। किसी भी व्यक्ति को एक से अधिक वस्तुओं का रोजगार करने की अनुमति तब तक नहीं दी जाती थी जब तक कि वह दुगुना कर नहीं दे देता था। (5) पाँचवीं समिति का कार्य तैयार माल का निरीक्षण करना, भार तौल और माप के पैमानों की देखभाल एवं नई तथा पुरानी वस्तुओं की अलग-अलग बिक्री का प्रबन्ध करना था। जो लोग नई और पुरानी वस्तुओं को मिलाकर बेचते थे, उनको कठोर दण्ड दिया जाता था। (6) छठी समिति का कार्य 10% के हिसाब से बिक्री कर वसूल करना था। इस कर को न देने पर मृत्युदण्ड की व्यवस्था थी। इन समितियों के ये पृथक्-पृथक् कार्य थे। इसके अतिरिक्त ये सब समितियाँ मिलकर सार्वजनिक व व्यक्तिगत हितों के कार्यों पर सामूहिकरूपेण ध्यान देती थीं, जैसे इमारतों की मरम्मत, मूल्यों का निर्धारण, बाजारों, बन्दरगाहों तथा मन्दिरों का प्रबन्ध करना, आदि (स्ट्रेबो, 15.1.51)।[2] इस प्रकार की नगर-सभायें तक्षशिला, उज्जयिनी, श्रावस्ती, कौशाम्बी आदि अन्य नगरों में भी थीं या नहीं, कहना असम्भव है।

विधि और न्याय

मेगास्थेनिज़ के अनुसार भारतीय समाज सात वर्गों में विभाजित था। इनमें सातवाँ वर्ग 'काउन्सिलरों' व 'एस्सेसरों' का था। डायोडोरस सूचना देता है कि यह वर्ग सर्वाधिक लघु परन्तु अपने चरित्र और बुद्धिमत्ता के कारण समाज का सबसे सम्मानित वर्ग था। इसके सदस्यों के चरित्र और बुद्धिमत्ता का स्तर बहुत ऊँचा था। इन्हीं में से राजा के परामर्शदाता, राजकीय कोषागार के पदाधिकारी तथा विवादों

---

[1]दे०, स्ट्रेबो, 15.1.51। स्ट्रेबो ने एस्टेनोमोई का वर्णन करते समय नगर प्रशासन की छः समितियों का जो वर्णन किया है, उसे उसने मेगास्थेनिज़ के नाम से उद्धृत नहीं किया है। अतः मजूमदार को इसके मेगास्थेनिज़ के साक्ष्य पर आधृत होने में शंका है।

[2]मुकर्जी, पूर्वो०, पृ० 193।

का फैसला करने वाले पञ्च, न्यायाधीश, सेना के लिए सेनापति और दण्डाधिकारी चुने जाते थे।[1] स्ट्रेबो के अनुसार भी इस वर्ग से राज्य के सभी मुख्य पदाधिकारी चुने जाते थे। वे राज्य के प्रधान पदों, न्यायालयों तथा सार्वजनिक प्रशासन के पदों पर नियुक्त किये जाते थे।[2] एरियन के अनुसार भी इस वर्ग से राज्यपाल, उप-राज्यपाल, कोषाध्यक्ष, सेनापति तथा नौसेनाध्यक्ष तथा कृषि का निरीक्षण करने वाले आयुक्त चुने जाते थे।[3]

मेगास्थेनिज़ ने निरीक्षकों (इन्सपेक्टरों) की चर्चा की है, जिनका कार्य राज्य में घटित होने वाली सभी घटनाओं की जानकारी रखना तथा राजा को उससे अवगत कराना था। वे समाज का छठा वर्ग थे। जहाँ राजा नहीं होता था वहाँ उसकी सूचना वे दण्डाधीशों को देते थे। मेगास्थिनिज़ द्वारा उल्लिखित ये निरीक्षक गुप्तचर होंगे। ये राज्य के अन्दर घटने वाली घटनाओं का पता लगाने के लिए वेश्याओं की सहायता भी लेते थे। स्ट्रेबो के अनुसार इन पदों पर अत्यन्त योग्य और विश्वसनीय व्यक्तियों को ही नियुक्त किया जाता था। वह यह भी बताता है कि नगर का निरीक्षण करने वाले नगर की वेश्याओं की और सेना का निरीक्षण करने वाले शिविर की वेश्याओं की सहायता लेते थे।[4] एरियन ने लिखा है कि "झूठी सूचना देना उनके लिये वर्जित है, पर वास्तव में किसी भी भारतवासी पर झूठ बोलने का आरोप नहीं लगाया जाता।"[5]

चन्द्रगुप्तकालीन भारत में कानून अलिखित थे और न्यायाधीश स्मरण-शक्ति की सहायता से न्याय करते थे।[6] मेगास्थेनिज़ लिखता है (15.1.53) कि भारतीय न्यायालयों में बहुत कम जाते हैं, धरोहरों के सम्बन्ध में उनके कोई मुकदमे नहीं होते, और न ही धरोहर रखते समय उन्हें किसी मुहर या साक्षी की आवश्यकता होती है। वे अपनी धरोहर परस्पर विश्वास करके रखते हैं।

दण्ड-व्यवस्था का उल्लेख करते हुए मेगास्थेनिज़ लिखता है कि झूठी गवाही देने पर अंग-भंग की सजा दी जाती थी। जो व्यक्ति दूसरों का अंग-भंग करता था, उसका भी वही अंग भंग कर दिया जाता था। प्रायः अपराधी का वही अंग काटा जाता था, जिसे काटने का उस पर आरोप होता था। यदि किसी कारीगर का अंग-

---

[1]वही, पृ० 238।

[2]क्ला०एका०, पृ० 268।

[3]वही, पृ० 226।

[4]वही, पृ० 268।

[5]वही, पृ० 226।

[6]स्ट्रेबो, 15.1.53; क्लासिकल एकाउण्ट्स, पृ० 270। राजबली पाण्डेय जैसे कुछ विद्वानों ने यहाँ मेगास्थेनिज़ द्वारा प्रयुक्त शब्द को, जिसका अंग्रेजी में अनुवाद 'मेमोरी' किया गया है, 'स्मृति' ग्रन्थ अर्थ में लिया है। पर प्रसंग से स्पष्ट है कि यहाँ 'मेमोरी' अथवा 'स्मरण-शक्ति' की ही चर्चा है। मेगास्थेनिज़ कहता है: "भारतीयों के पास लिखित कानून नहीं है और वे अपनी सब बातों का निर्णय स्मरण-शक्ति की सहायता से करते हैं।"

भंग किया जाता था, तो उसकी सजा प्राणदण्ड थी ।[1] दण्ड देने में कठोरता बरती जाती थी । सामान्य अपराधों के लिए प्रायः अर्थदण्ड दिया जाता था । दण्ड की इस व्यवस्था का ही परिणाम था कि चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रशासन में चोरी की घटनायें बहुत कम होती थीं । स्ट्रेबो के अनुसार चन्द्रगुप्त के स्कन्धावार में जहाँ चालीस हज़ार व्यक्ति रहते थे, किसी भी दिन 200 ड्रेक्म से अधिक की चोरी की घटना होना नहीं सुना गया था ।[2]

भूमि- और भूमिकर-व्यवस्था

चन्द्रगुप्तकालीन कृषक एक निश्चित मात्रा में उपज का भाग राजभाग (लगान) के रूप में राज्य को देते थे । वे भूमि में कृषि तो करते थे, किन्तु उस पर स्वामित्व उनका नहीं था । एरियन के अनुसार 'वे भूमि पर खेती करते हैं तथा राजा को भेंट देते हैं ।' डायोडोरस कहता है, 'वे राजा को भूमि कर देते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण भारत राजा की सम्पत्ति है तथा किसी भी व्यक्ति को भूमि का सागम-स्वत्व प्राप्त नहीं है । भूमि कर के अतिरिक्त वे राजकोष में भूमि की उपज का एक-चौथाई भाग जमा करते हैं ।' स्ट्रेबो के अनुसार सम्पूर्ण भूमि राजा की है । किसान इस भूमि पर खेती करते हैं । वे इस शर्त पर खेती करते हैं कि मजदूरी के रूप में उन्हें उपज का एक-चौथाई भाग प्राप्त होगा ।' यूनानी लेखकों द्वारा दिये गये विवरणों में परस्पर काफी अन्तर हैं । एरियन भूमि पर राज्य के स्वामित्व के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता जबकि डायोडोरस ने भूमि की उपज के चौथे भाग के अतिरिक्त राज्य को भूमि कर दिये जाने का उल्लेख किया है । इसके विपरीत स्ट्रेबो के विचार में कृषकों को मजदूरी के रूप में उपज का चौथा भाग मात्र प्राप्त होता था, शेष तीन भाग राज-कोष में जमा होता था । हो सकता है भूमि कर की दरों में इतनी विभिन्नतायें विभिन्न प्रदेशों में खेती की विभिन्न परिस्थितियों के कारण रही हों ।

प्रतिरक्षा विभाग

मेगास्थेनिज़ के अनुसार मौर्य सेना का प्रबन्ध 30 सदस्यों की एक महासमिति के सुपुर्द था, जो 5–5 सदस्यों की छः समितियों में विभाजित थी । सेना की व्यवस्था करने वाली समितियों का उल्लेख केवल स्ट्रेबो (15.1.52) ने किया है । इसे सामान्यतः मेगास्थेनिज़ की 'इण्डिका' पर आधृत माना जाता है । ये समितियाँ निम्नलिखित हैं—

(1) प्रथम समिति नौसेना का प्रबन्ध करती थी । (2) दूसरी समिति बैलों की सहायता से सेना के अस्त्र-शस्त्रों, सैनिकों के लिए रसद और पशुओं के लिए चारे आदि को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजती थी । रणभेरियों तथा वाद्यों को बजाने

---

[1]वही, पृ० 271 ।

[2]वही, पृ० 270 ।

वालों तथा घोड़ों के साईसों और शिल्पियों की व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व भी इसी का था। (3) तीसरी समिति पैदल सेना के लिए थी। (4) चौथी समिति अश्व सेना के लिए थी। (5) पाँचवीं समिति रथ सेना के लिए थी, और (6) छठी समिति हस्ति सेना के लिए थी।

मेगास्थेनिज़ ने बताया है कि युद्ध के लिए जाते समय रथों को बैल खींचते थे और घोड़ों को अलग-से रस्सियों से पकड़ कर ले जाया जाता था ताकि उनके पैर दुखने न पावें, और युद्ध के लिए उनका जोश ठण्डा न पड़ जाय। सारथी के पार्श्व में दो योद्धा बैठते थे। हाथियों को लगाम नहीं लगाई जाती थी। युद्ध हस्ति पर चार सवार बैठते थे, तीन धनुर्धर सैनिक और एक महावत। हाथियों और घोड़ों के लिए राजकीय शालायें और हथियारों के लिए राजकीय शस्त्रागार होते थे। प्रत्येक सैनिक को युद्ध के बाद अपने अस्त्र-शस्त्र राजकीय शस्त्रागार में और हाथी-घोड़े राजकीय शालाओं में जमा करने होते थे। मेगास्थेनिज़ ने लिखा है कि हाथी और घोड़े भारतीय सेना के प्रमुख अंग थे। भारतीय राजाओं की शक्ति हाथियों तथा अश्वों की संख्या पर निर्भर करती थी। अत: युद्धोपयोगी होने के कारण हाथी और घोड़े राजकीय सम्पत्ति समझे जाते थे। अन्य कोई व्यक्ति इन्हें निजी उपयोग के लिए नहीं रख सकता था। एरियन बताता है कि पदाति सैनिक धनुष लिए होते थे, जो धारण करने वाले के कद के बराबर होता था। इसे (धनुष को) भूमि पर टिकाकर बायें पैर से दाब लेते थे और फिर धनुष की डोर को काफी पीछे तक खींचकर बाण छोड़ते थे। बाण लगभग तीन गज तक लम्बा होता था। भारतीय धनुर्धर के तीर को ढाल या कवच रोक नहीं पाते थे। पदाति सैनिकों में कुछ धनुष के बदले प्रास अथवा शूल लिये होते थे किन्तु तलवार सभी रखते थे। तलवार का फल चौड़ा होता था लेकिन लम्बाई में यह तीन हाथ से अधिक नहीं होती थी। इसका प्रयोग सम्मुख युद्ध में (जो वे अनिच्छा से करते थे) किया जाता था। वेग से वार करने के लिए वे उसे दोनों हाथों से चलाते थे। अश्वारोहियों के पास सौनिया नाम के शूल होते थे, लेकिन उनके फलक पदातियों के फलकों से छोटे होते थे।

चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था पर भारतीय साक्ष्य से ज्ञात कुछ सूचनायें

चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रशासन के विषय में प्राय: कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से भी सहायता ली जाती है। लेकिन जैसा कि हमने अन्यत्र दिखाया है, कौटिल्य एक परवर्ती लेखक है। इसलिए उसका ग्रन्थ मौर्यकालीन प्रशासन को जानने में सहायक नहीं हो सकता। कौटिल्य से इतर अन्य भारतीय स्रोत बहुत कम हैं। इनमें सर्वप्रथम शक महाक्षत्रप प्रथम रुद्रदामा के जूनागढ़-अभिलेख (150 ई०) का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें बताया गया है कि गुजरात में सुदर्शन नाम का तडाग मौर्य नरेश चन्द्रगुप्त के गवर्नर वैश्य पुष्यगुप्त द्वारा बनवाया गया था। (मौर्यस्य राज्ञः चन्द्रगुप्तस्य राष्ट्रियेण वैश्येन

पुष्यगुप्तेन कारितं) ।[1] इससे हमें चन्द्रगुप्त के काल के एक गवर्नर (राष्ट्रिय) का नाम मालूम होता है और परोक्ष रूप से उसकी प्रान्तीय व्यवस्था पर प्रकाश मिलता है। इसी प्रकार पतञ्जलि के 'महाभाष्य' में चन्द्रगुप्त-सभा का उल्लेख है, यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि पतञ्जलि ने यहाँ सभा नामक संस्था का उल्लेख किया है या 'सभा-भवन' का।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने सम्पूर्ण साम्राज्य को किस प्रकार समान और दृढ़ प्रशासन प्रदान किया (जिससे समस्त उपमहाद्वीप में एकता की भावना दृढ़ हुई होगी), इसका रोचक प्रमाण दण्डी के 'दशकुमारचरित' में मिलता है। इसके द्वितीय उच्छ्वास में एक कथा आती है जिसके अनुसार एक वेश्या के पास चोरी किया गया एक आभूषण मिला। राजा के धमकाने पर उसने अर्थपति नामक वणिक् को चोर कह कर फँसा दिया। राजा ने क्रोधित होकर अर्थपति को प्राणदण्ड दिया। तब धनमित्र नामक व्यक्ति ने राजा से कहा 'आर्य' वणिकों को यह वर मौर्य द्वारा दिया गया है कि ऐसे अपराधों में (ईदृशे अपराधेषु) उनके प्राण न लिये जायें (मौर्यदत्त एष वरो वणिजाम्)। अगर आप क्रोधित हैं तो इस पापी का सर्वस्व छीन कर इसे देश-निकाला दे दें।' इस कथा से कई रोचक बातें मालूम होती है। एक, मौर्य शासन काल में कुछ बातों में वणिकों को सुविधाएँ प्राप्त थीं और बहुत से अपराध ऐसे थे जिनको करने पर उन्हें कम दण्ड दिया जाता था। उदाहरणार्थ, इसी अपराध में अन्य किसी को प्राणदण्ड मिलता पर अर्थपति वणिक् था इसलिए उसे केवल देश निष्कासन का दण्ड मिला। दूसरे, स्मरणीय है कि दण्डी दाक्षिणात्य थे। इसलिए वे अगर इस मौर्य कानून से परिचित थे तो इसका अर्थ यह हुआ कि मौर्यों का यह कानून तब भी कार्यान्वित किया जा रहा था। तीसरे, इससे ज्ञात होता है कि मौर्यों ने दक्षिण भारत में भी अपनी प्रशासकीय व्यवस्था पूर्णतः और दृढ़रूपेण लागू की थी। इस तरह इस कथा से मेगास्थेनिज़ की 'इण्डिका' और अशोक के अभिलेखों से ज्ञात एकतन्त्रात्मक प्रशासन का अस्तित्व समर्थित होता है।

तीसरी और चौथी कसौटियों पर चन्द्रगुप्त का मूल्यांकन

इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य ने मागध साम्राज्य को अखिल भारतीय साम्राज्य बनाया, इसे विदेशी आधिपत्य से मुक्त किया, यूनानियों को देश से निष्कासित किया, सेल्युकस के आक्रमण का सफल प्रतिरोध किया तथा साम्राज्य के स्थायित्व के लिए एक सुव्यवस्थित प्रशासन का विकास किया। जस्टिन ने चन्द्रगुप्त पर यह आरोप लगाया है कि वह एक निरंकुश शासक था, और उसने जिन भारतीयों को विदेशी दासता से मुक्त किया था उन्हें पुनः अपनी दासता के नीचे दबा दिया।[2] लेकिन उसका यह आरोप

[1] दे०, गोयल, श्रीराम, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, जयपुर, पृ० 327।
[2] क्ला० एका०, पृ० 193।

सत्य नहीं है। इस कथन द्वारा सम्भवत: पश्चिमोत्तर भारत में यूनानी प्रभुत्व का अन्त करने वाले के प्रति जस्टिन ने अपना आक्रोश प्रकट किया है। यूनानी लेखक मेगास्थेनिज़ से चन्द्रगुप्त के शासन का जो विवरण प्राप्त होता है, उससे सिद्ध है कि चन्द्रगुप्त का प्रशासन लोक-कल्याणात्मक था। यह भीतरी तथा बाहरी दुष्ट जनों के लिये भले ही कठोर एवं कड़ा रहा होगा, लेकिन सामान्य जनता के लिये सर्वथा कल्याणकर था।

किसी राजा की महत्ता की तीसरी कसौटी है जन-कल्याण के लिए कार्य। चन्द्रगुप्त के ऐसे कार्यों के विषय में सूचनाएँ कम मिलती हैं परन्तु प्रथम रुद्रदामा का यह कथन कि चन्द्रगुप्त ने जूनागढ़ में सुदर्शन झील का निर्माण करवाया था, उसके जन-कल्याण के लिए किए गए कार्यों का प्रतीक और प्रतिनिधि माना जा सकता है। मेगास्थेनिज़ ने एक राजा के रूप में उसकी जागरूकता व न्याय-प्रक्रिया में दिलचस्पी की प्रशंसा की है।

व्यक्तिगत रूप से चन्द्रगुप्त जैन था। परन्तु उसके शासन काल में सभी धर्मों को समान सुविधाएँ प्राप्त थीं। अपने व्यक्तिगत जीवन में उसने क्या-क्या उपलब्धियाँ अर्जित कीं यह हम नहीं जानते, परन्तु इतना अवश्य माना जा सकता है कि उसकी रुचि राजनीति, युद्ध, विदेश नीति, जैन धर्म, प्रशासन आदि विषयों में थी। चाणक्य को दिए गए मान-सम्मान से लगता है कि वह योग्य व्यक्तियों का चुनाव करना जानता था। संक्षेप में उसकी व्यक्तिगत प्रतिभा बहुमुखी प्रतीत होती है।

चन्द्रगुप्त के व्यक्तिगत जीवन विषयक कुछ तथ्य

मेगास्थेनिज़ के अनुसार चन्द्रगुप्त दिन भर राजकार्य में व्यस्त रहता था।[1] उसने लिखा है, "राजा दिन में नहीं सोता। युद्ध के अलावा जब वह बाहर निकलता है, उनमें एक अवसर वह होता है जब वह अपनी सभा में मुकदमे सुनता है। ऐसे अवसरों पर वह दिन भर सभा में रहता है और इस काम में बाधा नहीं आने देता, चाहे इस बीच में उसकी अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की तरफ ध्यान देने का समय ही क्यों नहीं आ जाय।"[2] कर्टियस ने भी लिखा है: "राजप्रासाद में कोई भी व्यक्ति आ-जा सकता है, चाहे राजा उस समय बाल सँवारने और वस्त्र पहिनने में ही व्यस्त क्यों न हो। उसी समय वह राजदूतों से साक्षात्कार करता है तथा अपनी प्रजा का न्याय करता है।"[3]

स्ट्रेबो के अनुसार दूसरा अवसर जब राजा युद्धेतर अवसरों पर राजप्रासाद से बाहर आता था, आखेट-यात्रा थी। उस समय "उसके चारों तरफ स्त्रियों का घेरा

[1]मजूमदार, क्ला० एका०, पृ० 271।

[2]मुकर्जी, पृ० 88।

[3]वही।

रहता था, मानो यूनानियों तथा रोमवासियों के मदिरा के देवता बैक्कस का जुलूस निकल रहा हो। कुछ स्त्रियाँ रथों पर सवार रहती थीं, कुछ घोड़ों पर तथा कुछ हाथियों पर, तथा सभी पूरी तरह अस्त्र-शस्त्र से सज्जित रहती थीं, मानो युद्ध में जा रही हों।"[1] राजा के आखेट पर जाते समय रस्सियाँ तानकर मार्ग की सीमायें निर्धारित कर दी जाती थीं और जो भी इन सीमाओं को पार करके बीच में जाता था, फौरन मौत के घाट उतार दिया जाता था। ढोल पीटते हुए और घण्टे बजाते हुए कुछ लोग आगे-आगे चलते थे। आखेट-क्षेत्र में पहुँचकर राजा एक ऊँचे स्थान पर बैठकर बाण चलाता था और दो या तीन सशस्त्र स्त्रियाँ उसके पास खड़ी रहती थीं। जब वह किसी ऐसे स्थान में आखेट के हेतु जाता था जो चारों तरफ से घिरा हुआ नहीं होता था तब वह हाथी पर बैठकर निशाना साधता था।"[2] मेगास्थेनिज़ ने कुत्तों द्वारा शेर का शिकार कराए जाने का भी उल्लेख किया है।[3] एलियन (15.21) ने चर्चा की है कि उस समय खास तौर पर कुछ लोगों को पशुओं की भाँति लड़ने के लिए पाला जाता था लेकिन अधिकतर लड़ाइयाँ खूँखार सींगदार जानवरों के बीच कराई जाती थीं जो एक दूसरे को सींगों से मारते थे, जैसे जंगली बैल, पालतू दुम्बे और गैंडे। हस्तियुद्ध भी कराये जाते थे।

तीसरे प्रकार के अवसर, जब राजा जन-साधारण के बीच में आता था, धार्मिक समारोह और यज्ञ थे। स्ट्रैबो (15.1.69) के अनुसार उत्सवों के अवसरों पर निकाले जाने वाले जुलूसों में सोने तथा चाँदी के गहनों से सुसज्जित हाथी, चार घोड़ों वाले रथ और बैलों की जोड़ियाँ चलती थीं। इसके बाद सज्जित सैनिक होते थे। तदुपरान्त नौकरों द्वारा पन्ना, वैदूर्य, लाल आदि रत्नों से जटित सोने के सुरापात्र और सुराहियाँ, मेजें, ऊँची कुर्सियाँ, ताँबे के बड़े-बड़े तसले तथा परातें, जरी, कीमख्वाब आदि के वस्त्र एवं पालतू भैंसे, चीते, शेर आदि वन्य पशु और नाना रंगों की सुरीला गायन करने वाली चिड़ियाएँ लाई जाती थीं।[4]

कर्टियस ने चन्द्रगुप्त मौर्य के राजकीय वैभव का उल्लेख इस प्रकार किया है : "जब राजा जन-साधारण के बीच दर्शन देने की कृपा करता था, तो उसके नौकर साथ में चाँदी की धूपदानियाँ लेकर चलते थे और जिस मार्ग से राजा की सवारी निकलती थी, उसे धूपादि से सुगन्धित करते थे। राजा सोने के तार के बेलबूटों से कढ़े हुए, बढ़िया मलमल के, वस्त्र पहिनकर मोतियों की मालाओं से सुसज्जित सोने की पालकी में बैठता था। पालकी के पीछे सशस्त्र सैनिक तथा उसके अंगरक्षक चलते थे जिनमें कुछ अपने हाथों में पेड़ों की डालें लिये रहते थे, जिन पर सधाये हुए पक्षी

[1]वही, पृ० 90।
[2]वही, पृ० 91।
[3]वही, पृ० 92।
[4]वही, पृ० 93।

बैठे रहते थे, जो बीच-बीच में अपनी मधुर बोलियों से कार्यक्रम को भंग करते रहते थे।"[1]

स्ट्रेबो के कथनानुसार जब राजा अपने जन्मदिन पर केश प्रक्षालन करता था तो राजसभा में बड़ा समारोह मनाया जाता था। उस समय लोग राजा को "बहुमूल्य उपहार देते थे और प्रत्येक व्यक्ति अपनी धन-सम्पदा के प्रदर्शन में होड़ करता था।"[2] राजा पशुओं के उपहार, यथा "हिरन, बारहसिंगे या गैंड़े आदि जंगली जानवर और सारस, हंस, बत्तख, कबूतर आदि पक्षी" सबसे अधिक पसन्द करता था। एलियन के अनुसार "भारतवासी अपने राजा को पालतू शेर, पालतू चीते, द्रुतगामी बैल, याक, पीले रंग के कबूतर, शिकारी कुत्ते और बन्दर आदि उपहार में देते थे।"[3]

चन्द्रगुप्त की राजधानी और राजमहल

मेगास्थेनिज़ के अनुसार चन्द्रगुप्त की राजधानी पालिम्बोथ्रा (पाटलिपुत्र) भारत का सबसे बड़ा नगर था। यह नगर गंगा और एरानोबाओस (=हिरण्यवाह=शोण=सोन) नामक नदियों के संगम पर आयताकार क्षेत्र में बसा हुआ था। इसकी लम्बाई 80 स्टेडिया (=$9\frac{1}{5}$ मील) तथा चौड़ाई 15 स्टेडिया (=1 मील 1270 गज) थी। नगर की सुरक्षा के लिए चारों ओर एक खाई थी जो 6 प्लेथ्रा (=200 गज) चौड़ी और 30 क्युबिट (लगभग 60 फुट) गहरी थी। इसका अर्थ है कि इस खाई में नौकायें चल सकती थीं। इसमें सोन नदी का पानी आता था। नगर का गन्दा पानी भी इसी में आकर गिरता था। नगर को सुरक्षित बनाने के लिए खाई के किनारे-किनारे चारों ओर काष्ठ परिखा बनाई गई थी। प्राचीर के बीच-बीच में छिद्र थे जिनमें से धनुर्धारी सैनिक बाण चला सकते थे। इसमें 64 तोरण अथवा द्वार और 570 बुर्जियाँ थीं।[4] एक तोरण के अवशेष बुलन्दीबाग की खुदाई में उपलब्ध हुये हैं। इसकी ऊँचाई 13 फुट है। अनुमान किया जाता है कि ये तोरण 14 फुट चौड़े होते थे। रीज़ डेविड्स का अनुमान है कि बुर्जियाँ 75–75 गज की दूरी पर रही होंगी और द्वार एक दूसरे से 660 गज की दूरी पर।[5]

मेगास्थेनिज़ के अनुसार पाटलिपुत्र का निर्माण करने में मुख्यतः लकड़ी का प्रयोग किया गया था क्योंकि वह नदियों के तट पर बसा हुआ था और बाढ़ से उसकी सुरक्षा करना आवश्यक था।[6] उस स्थान पर जहाँ पाटलिपुत्र नगर अवस्थित था, भूतल से दस से पन्द्रह फुट की गहराई पर लकड़ी की प्राचीर के अवशेष मिले हैं।

---

[1]वही, पृ० 94।
[2]वही।
[3]वही।
[4]वही, पृ० 101।
[5]बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 262; मुकर्जी (पृ० 101) द्वारा उद्धृत।
[6]मुकर्जी, पूर्वो० पृ० 101।

ये अवश्य ही मौर्यकालीन काष्ठ प्राचीर के अवशेष रहे होंगे। चन्द्रगुप्त ने हो सकता है उन पाषाण स्तम्भों में से भी कुछ का निर्माण करवाया हो जिनको अब सामान्यतः अशोक द्वारा निर्मित माना जाता है। चन्द्रगुप्त के प्रासाद की भव्यता सूसा और एक-बटाना के प्रासादों की भव्यता को मात करती थी। एलियन के मतानुसार ईरानी राजाओं के सूसा नगर का सम्पूर्ण वैभव और एकबटाना की सारी भव्यता भी भारत के सबसे बड़े राज्य के इस राजप्रासाद की समता नहीं कर सकती थी।[1] "राजप्रासाद की शोभा को बढ़ाने के लिए प्रत्येक ओर सुनहरे स्तम्भ थे जिन पर चारों ओर अंगूर की बेलें उत्कीर्ण की गई थीं। इस कलात्मकता में विविधता उत्पन्न करने के लिए जगह-जगह पक्षियों की मूर्त्तियाँ रखी गई थीं, जिन्हें देखते ही चित्त प्रसन्न हो उठता था।"[2] राजप्रासाद के विस्तृत उद्यानों में पालतू मोर तथा चकोर रखे जाते थे। उनमें छायादार कुंज तथा घास के मैदान होते थे। उनमें खड़े वृक्षों की शाखाओं को माली बड़ी कुशलता से एक दूसरे से गूंथ देते थे। पेड़ बराबर हरे तथा ताजे रखे जाते थे। वे कभी भी पुराने पड़ते या पत्ते छोड़ते दिखाई नहीं देते थे। इनमें से कुछ वृक्ष इसी देश के थे और कुछ विदेशों से लाये गये थे। इन पेड़ों में जैतून का पेड़ शामिल नहीं था। पक्षियों को पिंजरों में बन्द करके नहीं रखा जाता था। वे अपनी इच्छा से आते थे और वृक्षों की शाखाओं पर अपने घोंसले बनाते थे। तोते बड़ी संख्या में रखे जाते थे। मनुष्य की बोली की नकल करने के गुण के कारण उनकी बड़ी माँग थी। वे प्रायः झुण्ड बनाकर राजा के आस-पास मँडराते थे। प्रासाद के प्रांगण में बड़ी सुन्दर बावलियाँ बनी हुई थीं जिनमें बड़ी-बड़ी किन्तु पालतू मछलियाँ रहती थीं। राजकुमारों के अतिरिक्त किसी को भी उन्हें पकड़ने की अनुमति नहीं थी। वे इन शान्त सरोवरों में मछली पकड़ने, तैरने, और नौकायन की शिक्षा पाते थे।[3]

निष्कर्ष

चन्द्रगुप्त ने केवल 24 वर्ष शासन किया। इस लघुकाल में ही उसने राजनीतिक एकता स्थापित करके देश की शक्ति को रचनात्मक कार्यों में लगाने में सफलता प्राप्त की। उसने इतिहास में प्रथम बार चक्रवर्ती आदर्श को पूर्णतः चरितार्थ करते हुए देश के भावी इतिहास को उस दिशा की ओर मोड़ा जिस पर उसे कई पीढ़ियों तक चलना पड़ा। उसके समय से भारत का इतिहास आगामी एक शती के लिए अलग-अलग जातियों और प्रदेशों का इतिहास न होकर एक इकाई के रूप में सम्पूर्ण देश को अपने में समेट लेता है। वस्तुतः भारत की राजनीतिक एकता की भावना बहुत

---

[1]वही, पृ० 95।

[2]वही। दे०, पाण्डेय, सी० बी० मौर्यन् आर्ट, देहली, 1983।

[3]वही, पृ० 96।

कुछ चन्द्रगुप्त मौर्य की सफलताओं का परोक्ष परिणाम मानी जानी चाहिए। उसके द्वारा चलाये गये रजत के आहत सिक्कों से (जो सारे देश से मिले हैं), राष्ट्रीय एकता की इस भावना को बहुत बल मिला होगा।[1] बहुत से विद्वान् उसे भारत का प्रथम ऐतिहासिक सम्राट् मानते हैं। यह कथन पूर्ण सत्य तो नहीं है (क्योंकि उसके पूर्व भारत के विशाल भूभाग पर शासन करने वाले महापद्मनन्द जैसे सम्राट् हो चुके थे) परन्तु इस अर्थ में अवश्य ही सही है कि वही प्रथम भारतीय नरेश है जिसने न केवल सम्पूर्ण भारत पर शासन किया वरन् जिसकी तिथियाँ भी निश्चित रूप से ज्ञात हैं। उसका शासन काल भारतीय इतिहास में एक महान् युग के प्रारम्भ का द्योतक है। समुद्रगुप्त पराक्रमांक के आविर्भाव तक कोई और भारतीय नरेश ऐसा नहीं हुआ जिसकी तुलना चन्द्रगुप्त से की जा सके और जिसे चन्द्रगुप्त के समान एक नए युग का निर्माता कहा जा सके। एक 'मामूली' परिवार में उत्पन्न होकर वह एक यथार्थ चक्रवर्ती बना। किसी भी प्राचीन भारतीय के लिए इससे बड़ी उपलब्धि और क्या हो सकती थी ?

[1]दे०, गोयल, एस०आर०, दि क्वायनेज ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, मेरठ, 1987; गुप्त, पी०एल० तथा हर्डाकर, टी०आर०, एन्श्येण्ट इण्डियन सिल्वर पञ्चमार्क्ड क्वायन्स् ऑव दि मगध-मौर्य कार्षापण सिरीज, अञ्जानेरी, 1985।

परिशिष्ट

कौटिल्य द्वारा वर्णित शासन-व्यवस्था

[प्रस्तुत ग्रन्थ में कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' को अपने वर्तमान रूप में मौर्योत्तर युगीन रचना माना गया है। लेकिन इस ग्रन्थ की कुछ सामग्री मौर्ययुगीन हो सकती है। इसलिए पाठकों की सुविधार्थ हम इस परिशिष्ट में कौटिलीय प्रशासन-तन्त्र की रूपरेखा दे रहे हैं। इसको हमारे अनुरोध पर डॉ० शिवकुमार गुप्त, एसोशियेट प्रोफेसर (रीडर), इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, ने लिखा है जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। डॉ० गुप्त कौटिल्य को चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधान मन्त्री मानते हैं।]

चन्द्रगुप्त मौर्य एक महान् विजेता ही नहीं एक योग्य प्रशासक भी था। उसने अपने नवस्थापित साम्राज्य के शासन प्रबन्ध को दृढ़ आधार प्रदान करने की आवश्यकता अनुभव की और उसे पूरा करने की सफल चेष्टा की। यह सही है कि नन्द नरेशों ने एक अखिल भारतीय साम्राज्य की प्रशासकीय व्यवस्था की रूपरेखा स्थिर करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया था परन्तु उन्हें इसे पूरी तरह स्पष्ट करने का अवसर नहीं मिल पाया था। दूसरे, चन्द्रगुप्त का साम्राज्य नन्द साम्राज्य से बहुत बड़ा था और तदनुसार इसकी समस्याएँ जटिलतर थीं। इसलिए इसकी प्रशासकीय व्यवस्था के लिए मौलिक एवं साहसपूर्ण प्रयोगों की आवश्यकता थी। भाग्य से इसके लिए उसे कौटिल्य जैसे महान् राजनीतिज्ञ की सेवाएँ उपलब्ध थीं। कौटिल्य ने सम्भवतः उस समय ज्ञात सभी राजनीतिक विचारधाराओं एवं यथार्थ प्रशासकीय व्यवस्थाओं का अध्ययन किया था।[1] वह ईरान की साखामनीषी एवं हेलेनिस्टिक व्यवस्थाओं से भी सम्भवतः परिचित था और लगता है कि उसने उनसे कुछ तत्त्व अपनाये भी थे— जैसे कर-प्रणाली और विधि के स्रोत सम्बन्धी विचारों में।[2] रोस्टोवट्जेफ के अनुसार तो "अगर 'अर्थशास्त्र' की ऐतिहासिकता और इसके मुख्यांश के प्राचीन होने में तथा चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा भारतीय प्रशासन को 'हेलेनिस्टिक' नमूने के अनुसार केन्द्राभिमुख

---

[1]सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च।
कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः॥
—अर्थशास्त्र, 2.10; गैरोला का संस्करण, पृ० 150।

[2]ए०न०मौ०, पृ० 174–5।

किए जाने में विश्वास किया जाये तो कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त ने भारत के यूनानीकरण में डिमिट्रियस और मिनेण्डर से भी अधिक कार्य किया था ।"[1] हमें इसमें संदेह नहीं लगता कि चाणक्य और उसके स्वामी-शिष्य चन्द्रगुप्त ने इस तथ्य को भली-भाँति समझ लिया था कि वे व्यवस्थाएँ भारत में पूरी तरह लागू नहीं की जा सकतीं । इसलिए उन्होंने जिन विदेशी तत्त्वों को अपनाया उनका पूर्णतः भारतीयकरण करने की चेष्टा की । इस व्यवस्था का आदर्शभूत रूप 'अर्थशास्त्र' में मिलता है तो एक विदेशी पर्यवेक्षक द्वारा वर्णित रूप मेगास्थेनिज़ की 'इण्डिका' में और संशोधित रूप अशोक के अभिलेखों में । शक महाक्षत्रप रुद्रदामा के जूनागढ़-अभिलेख तथा 'मुद्राराक्षस' एवं 'दिव्यावदान' जैसे परवर्ती ग्रन्थों में भी इस विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ सुरक्षित हैं । इस सामग्री का बहुत सावधानी से उपयोग किया जाना आवश्यक है, मगर इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि इन सबकी सहायता से हमें चन्द्रगुप्त कालीन मौर्य शासन व्यवस्था का जितना विस्तृत और सही चित्र उपलब्ध होता है उतना उसके बाद अकबर के युग तक नहीं मिलता । यहाँ हम चन्द्रगुप्त के प्रशासन के उन पक्षों का अध्ययन करेंगे जिनका आदर्शभूत रूप हमें 'अर्थशास्त्र' में मिलता है। बहुत से विद्वान् इस ग्रन्थ को मौर्यकालीन नहीं मानते और प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक प्रोफेसर श्रीराम गोयल ने यह मत स्वीकृत किया है कि चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधान मन्त्री चाणक्य और 'अर्थशास्त्र' का प्रणेता विष्णुगुप्त कौटिल्य भिन्न व्यक्ति थे एवं कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' की रचना 300 ई० के लगभग की थी । परन्तु हमारे विचार से शामशास्त्री, जायसवाल, मुकर्जी, के० ए० नीलकान्त शास्त्री तथा कांगले इत्यादि विद्वानों का यह आग्रह सही है कि इस ग्रन्थ की रचना मौर्यकाल में ही हुई थी । इन विद्वानों के तर्क सर्वज्ञात हैं एवं प्रोफेसर गोयल के द्वारा पिछले पृष्ठों में आलोचित हैं। उन्हें यहाँ दोहराना अनावश्यक है ।

कौटिल्य के अनुसार राजादर्श

मौर्यकाल में साम्राज्य की शासन व्यवस्था का केन्द्रबिन्दु राजा होता था । प्राचीन भारत में राज्य के सात अंग माने गए हैं—राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, सेना और मित्र । कौटिल्य के पूर्वगामी अर्थशास्त्री इनमें राजा से इतर अंगों को अधिक महत्त्व देते थे—यथा भारद्वाज की दृष्टि में अमात्य का अधिक महत्त्व था और विशालाक्ष की दृष्टि में जनपद का । कौटिल्य ने उनका खण्डन करके राजा को सर्वोपरि बताया । उसके अनुसार यदि राजा सम्पन्न हो तो प्रजा भी सम्पन्न होती है । राजा का जो शील होता है वही शील प्रजा का होता है । राजा दुष्ट अमात्यों को हटाकर नए अमात्यों की नियुक्ति भी कर सकता है । अतः राज्य में राजा ही कूटस्थानीय (केन्द्रीभूत) होता है ।[2] राजा की महत्ता के कारण कौटिल्य उसका सर्वगुण-

[1]रोस्टोवट्जेफ, सोशल एण्ड इकोनोमिक हिस्ट्री ऑव दि हेलेनिस्टिक वर्ल्ड, पृ० 1067–8 ।
[2]अर्थशास्त्र, 8.1 ।

सम्पन्न होना भी आवश्यक मानता है। सबसे अधिक बल देता है वह उसके इन्द्रिय-जयी व विजिगीषु होने पर।

मौर्य काल में, जैसा कि अशोक के अभिलेखों से स्पष्ट है, सम्राट् अखिल भारत का स्वामी था। परन्तु इसके बावजूद वह सामान्यतः मात्र 'राजा' उपाधि से विभूषित होता था। अशोक ने एवं उसके पौत्र दशरथ ने इस उपाधि के अतिरिक्त केवल 'देवानांप्रिय' उपाधि धारण की थी। परन्तु शक्ति और विशेषाधिकारों की दृष्टि से उनकी स्थिति परवर्ती भारतीय 'महाराजाधिराजाओं' से बेहतर थी। भारत में परम्परागत रूप से विधि या कानून के चार स्रोत माने गए हैं—वेद अथवा श्रुति, धर्मशास्त्र अथवा स्मृति, शील अथवा शास्त्रोक्त आचरण संहिता तथा आचार। इस व्यवस्था से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय विचारधारा में कानून बनाने का काम राजा का नहीं माना जाता था। राजा का स्थान धर्म और कानून के रक्षक (धर्मस्य गोप्ता) के रूप में था। कौटिल्य भी राजा का कर्त्तव्य धर्म की रक्षा करना मानता है और बताता है कि जो राजा धर्म, व्यवहार, संस्था और न्याय के अनुसार शासन करता है वह समुद्र की सीमा तक विस्तृत पृथिवी को जीत लेता है (चतुरन्तां महीं जयेत्)। लेकिन इसके साथ ही वह यह भी कहता है कि "धर्म व्यवहार, चरित्र और राजाज्ञा, ये विवाद के निर्णायक साधन होने के कारण राष्ट्र के चार पैर माने जाते हैं : इन्हीं पर राज्य टिका है। इनमें भी धर्म से व्यवहार, व्यवहार से चरित्र और चरित्र की अपेक्षा राजाज्ञा श्रेष्ठ है।"[1] "किसी बात पर यदि राजा के धर्मानुकूल आदेश का धर्म-शास्त्र के साथ विरोध पैदा हो जाए तो राजशासन को ही प्रमाण मानना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से धर्मशास्त्र का मात्र पाठ नष्ट होता है।"[2] राजाज्ञा के श्रेष्ठत्व विषयक यह मत परवर्ती युगों में नारद के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलता। अतः यह अनुमान किया जाता है कि कौटिल्य इस विषय में साखामनीषी तथा हेले-निस्टिक राजव्यवस्थाओं से प्रभावित हुआ था।[3]

मौर्य शासन व्यवस्था में राजा का विशिष्ट पद अन्य अनेक तथ्यों से संकेतित है। वह देश के कानूनों का सर्वप्रथम स्रोत तो था ही, सेना का सर्वोच्च अधिपति भी था और स्वयं युद्धों में भाग लेता था। कौटिल्य ने राजा को स्वयं सेना का संचालन करने की सलाह दी है (अर्थशास्त्र 10.2)। सेनापति के साथ वह स्वयं युद्धनीति को तय करता था। वह सर्वोच्च न्यायाधीश भी था और स्पष्टतः बड़े मुकदमों का स्वयं फैसला करता था। वह साम्राज्य के सर्वोच्च पदाधिकारियों को भी स्वयं नियुक्त

---

[1]धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
विवादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः ॥—अर्थशास्त्र, 3.1; पृ० 318।

[2]शास्त्रं विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित्।
न्यायस्तत्र प्रमाणं स्यात्तत्र पाठो हि नश्यति ॥—वही, 3.1; पृ० 319।

[3]रोस्टोवट्जेफ, सोशल एण्ड इकोनोमिक हिस्ट्री ऑव दि हेलेनिस्टिक वर्ल्ड, पृ० 1067–68।

करता था—कौटिल्य के अनुसार पहिले पुरोहित और मन्त्रियों की और तदुपरान्त उनकी सहायता से अन्य प्रमुख अधिकारियों की (दे०, आगे)। उसके कार्यों में आय-व्यय की देखभाल,[1] मन्त्रि-परिषद् के साथ पत्र-व्यवहार, गुप्तचरों से सूचनाओं का संग्रह तथा राजदूतों से भेंट इत्यादि भी सम्मिलित हैं (10.1)। वह साम्राज्य के लिए स्थूल नीतियाँ निर्धारित करता था और अपने पदाधिकारियों के निर्देशन के लिए आज्ञाएँ जारी करता था। 'अर्थशास्त्र', क्लासिकल लेखकों तथा अशोक के लेख, इन सभी से स्पष्ट है कि उसके गुप्तचर और निरीक्षक पूरे साम्राज्य की गतिविधियों की सूचना उसके पास भेजते रहते थे।

प्राचीन भारतीय परम्परा में कहा गया है कि 'ब्रह्म' की सहायता से ही 'क्षत्र' अर्थात् राजसत्ता स्थिर रहती है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त के पारस्परिक सम्बन्ध से प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त इस सिद्धान्त को मानता था। कौटिल्य ने अपने 'अर्थ-शास्त्र' में कहा है कि ब्राह्मण पुरोहित से संवर्धित, योग्य मन्त्रियों के परामर्श से अभि-रक्षित तथा शास्त्रोक्त अनुष्ठानों पर आचरण करने वाला राजकुल युद्ध के बिना ही अजेय एवं अलभ्य वस्तुओं को सहज प्राप्त करने वाला बन जाता है।[2] फिर भी यहाँ पर उल्लेखनीय है कि कौटिल्य ने बौधायन और मनु के समान इस बात पर जोर नहीं दिया है कि राजा अकेले पुरोहित की सलाह पर आचरण करे। उसका विधान है कि राजा को मन्त्रि-परिषद् के बहुमत के अनुसार चलना चाहिए—यहाँ तक कि उसे अनुपस्थित मन्त्रियों का मत भी पत्र लिखकर पूछ लेना चाहिए।

'अर्थशास्त्र' में राजा की दिनचर्या, उसकी सुरक्षा के उपाय और दैनिक जीवन के विषय में विस्तृत विवरण मिलता है। कौटिल्य ने स्वयं राजा की आदर्श दिनचर्या का वर्णन किया है परन्तु वह यह भी मानता है कि प्रशासन के भार को ध्यान में रखकर उसमें परिवर्तन किए जा सकते हैं।[3] उसने इस बात पर बल दिया है कि जब राजा दरबार (उपस्थान) में हो तो वह प्रत्येक कार्यार्थी को बिना रोक-टोक प्रवेश करने की अनुमति दे क्योंकि जो राजा कठिनाई से प्रजा को दर्शन देता है उसके कर्मचारी सब कार्य उलट-पलट कर देते हैं।[4] पुनश्च, प्रजा के हित में ही राजा का हित है इसलिए राजा को चाहिए कि वह उद्योगशील होकर राज-सम्बन्धी कार्यों को उचित रीति से पूरा करे।[5]

---

[1]तत्र पूर्वे दिवसम्याष्टभागे रक्षविधानमायव्ययौ च शृणुयात्। —अर्थशास्त्र, 10.1; पृ० 75।

[2]ब्राह्मणेनैधितं क्षत्रं मन्त्रिमन्त्राभिमन्त्रितम।
जयत्यजितमत्यन्तं शास्त्रानुगतशस्त्रितम्॥ —अर्थशास्त्र, 1.8; पृ० 30।

[3]आत्मबलानुकूल्येन वा निशाहर्भागान् प्रविभज्य कार्याणि सेवेत। —अर्थशास्त्र, 1.18; पृ० 76।

[4]अर्थशास्त्र, 1.18।

[5]प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रिय हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥
तस्मान्नित्योत्थितो राजा कुर्यादर्थानुशासनम्।
अर्थस्यमूलमुत्थानमनर्थस्य विपर्ययः॥ —अर्थशास्त्र, 1.18; पृ० 77–81।

इस आदर्श की प्रतिध्वनि हमें अशोक के छठे शिलालेख में मिलती है जिसमें उसने कहा है कि सबके कल्याण के लिए सचेष्ट रहना मेरा परम कर्त्तव्य है परन्तु उसका मूल तो यही दो बातें हैं : प्रयास और कार्य पूर्त्ति । लोक कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहने से बढ़कर कोई दूसरा काम नहीं है । इसी शिलालेख में वह कहता है कि 'चाहे भोजन करते समय, या रनवास में, या धर्मोपदेश सुनते समय, या उद्यान में, हर समय और हर जगह मैं सार्वजनिक कार्य के लिए सदैव तत्पर रहता हूँ चाहे वह शासन सम्बन्धी कार्य हो या कोई प्रतिवेदन हो ।' कौटिल्य और अशोक के अभिलेखों से ज्ञात इस आदर्श का व्यावहारिक रूप मेगास्थेनिज़ ने भी देखा था । अतः इस बात में सन्देह नहीं किया जा सकता कि चन्द्रगुप्त और उसके निकट उत्तराधिकारी अपने पद के उत्तरदायित्वों से परिचित थे । लगभग निरंकुश नरेश होते हुए भी वे कौटिल्य के इस आदर्श से सहमत प्रतीत होते हैं कि 'राजा को अपनी प्रजा के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा पिता अपनी सन्तान के साथ करता है' (तान् पितेवानुगृह्णीयात्) । अशोक ने भी अपने बारे में इस सिद्धान्त को दोहराया है 'समस्त मनुष्य मेरी सन्तान के समान हैं' (सब मनुसा मे पजा) ।

राजा के दैनिक जीवन सम्बन्धी बहुत-सी बातों का, जिनका उल्लेख 'अर्थशास्त्र' में है, मेगास्थेनिज़ द्वारा समर्थन होता है । कौटिल्य के अनुसार जब राजा प्रातःकाल शय्या से उठे तो सबसे पहिले धनुष बाण से सज्जित स्त्रियाँ (स्त्रीगणेर्धन्विभिः) को उसका स्वागत करना चाहिए । इसी प्रकार उसे नहलाने, उसके वस्त्र धोने, उसे पुष्पहार आदि से सज्जित करने, उसे पंखा झलने और अन्य सभी प्रकार की सेवाएँ करने के लिए गणिका-दासियाँ नियुक्त की जानी चाहिएँ । सर्वोत्तम कोटि की गणिका-दासियाँ उस समय सेवा करती थीं जब वह सिंहासन या रथ (पीठिका रथेषु) पर बैठता था । इसी प्रकार सम्भवतः मेगास्थेनिज के ही आधार पर स्ट्रेबो ने लिखा है कि "राजा की अंग रक्षा का भार स्त्रियों को सौंपा गया है—जब राजा आखेट के लिए निकलता है तो उसके चारों ओर स्त्रियों का घेरा रहता है मानो यूनानियों और रोमवासियों के मन्दिर के देवता बैक्कस का जुलूस निकल रहा हो ।"

कौटिल्य ने भी आखेट स्थलों में राजा की सुरक्षा के उपायों पर विस्तार से विचार किया है । अशोक के अभिलेखों में ऐसे मनोरंजनों को विहार यात्रा कहा गया है । एलियन ने लिखा है कि उस युग में बैलों, गैंडों तथा पालतू दुम्बों जैसे जानवरों के बीच लड़ाइयाँ कराई जाती थीं । 'दीघनिकाय' और अशोक के अभिलेखों में वर्णित समाजों में इसी प्रकार के मनोरंजनों का आयोजन किया जाता था । कौटिल्य ने राजा के मनोरंजनों में शिकार के अतिरिक्त साँड़ों की लड़ाई व बैलों की दौड़ों का उल्लेख किया है । उसके अनुसार कुछ बैल ऐसे होते थे जो अश्वचालित रथों में भी जोते जा सकते थे (बलिवर्दानां नस्याश्वभद्रगति वाहिनां) ।[1]

---

[1]अर्थशास्त्र, 2.29; पृ० 272 ।

कौटिल्य ने राजा के जीवन की सुरक्षा के लिए आखेट-यात्राओं के समय ही नहीं हर अवसर पर सम्भव उपाय किए जाने का सुझाव दिया है। वह राजा के लिए प्रयुक्त सवारी से लेकर राजप्रासाद में गुप्त रास्तों, सुरंगों, खोखले स्तम्भों, चोर जीनों, खटखटाने से सरकने वाले दरवाजों, भूलभुलैयाओं आदि का एवं राजकीय भोजन के निर्विष होने की जाँच किए जाने का भी विधान करता है।[1] इतना ही नहीं वह आग्रह करता है कि शयनागार में रानी के पास रहने के समय भी राजा को निश्चिन्त नहीं रहना चाहिए क्योंकि हो सकता है रानी ने शयनागार में किसी षड्यन्त्रकारी को छिपा रखा हो या स्वयं अपने ही वस्त्रों या केशों में राजा को मारने के लिए विष अथवा अस्त्र रखा हुआ हो।[2] इस प्रसंग में 'मुद्राराक्षस' में राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त को मारने के विभिन्न उपाय अनायास स्मरण हो जाते हैं।

उत्तराधिकार का नियम और राजकुमारों की प्रशासन में भूमिका

मौर्य काल में राजकुमारों की शिक्षा की ओर उनकी बाल्यावस्था से ही ध्यान दिया जाता था। कौटिल्य ने राजकुमारों को दी जाने वाली शिक्षा पर विस्तार से विचार किया है। उसके अनुसार अपनी शिक्षा पूरी कर लेने के बाद भी राजकुमारों को विद्यावृद्ध लोगों का संसर्ग करते रहना चाहिए। वयस्क राजपुत्रों की ओर, जिन्हें टॉमस ने 'अनेक विवाह करने वाले राजाओं की समस्या' कहा है, कौटिल्य ने विशेष रूप से विचार किया है। उसके अनुसार (1.16) राजपुत्र केकड़ों की भाँति अपने माता पिता को खा जाते हैं (कर्कटकसधर्माणो हि जनकभक्षा राजपुत्राः)। वह सामान्यतः यह नियम मानता है कि सबसे बड़े पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया जाए।[3] युवराज को वह राज्य के अष्टादश तीर्थों में से एक बताता है, परन्तु इसके साथ ही वह यह विधान भी करता है कि यदि एक ही राजपुत्र हो और वह भी पितृद्रोही निकले तो उसे कैद कर देना चाहिए और यदि वह दुर्बुद्धि हो तो उससे ऐसा पुत्र पैदा कराने का यत्न करना चाहिए जो राजा बनने के योग्य हो। यदि ऐसा भी सम्भव न हो तो राजा को चाहिए कि अपने दौहित्र को अपना उत्तराधिकारी बनावे। यदि राजा बूढ़ा हो गया है या सदैव रुग्ण रहता है तो अपने कुल के किसी बन्धु या ममेरे भाई अथवा किसी गुणवान् सामन्त से अपनी स्त्री का नियोग कराकर पुत्र उत्पन्न कराए। परन्तु अयोग्य अशिक्षित पुत्र को राज्यभार कदापि नहीं सौंपना चाहिए। यदि राजा के अनेक पुत्रों में एक दुर्बुद्धि हो तो उसे किसी अन्य देश में भेजकर नजरबन्द कर देना चाहिए।[4] कौटिल्य ने सभी भाइयों के मिलकर राज्य सम्भालने की प्रथा को भी

[1]अर्थशास्त्र, 1.19; 1.20; पृ० 79 अ०।

[2]अर्थशास्त्र, 1.19; पृ० 81।

[3]बहूनामेकसंरोधः पिता पुत्रहितो भवेत्।
अन्यत्रापद ऐश्वर्यं ज्येष्ठभागि तु पूज्यते॥ —अर्थशास्त्र, 1.16, पृ० 69।

[4]वही।

लाभकर बताया है ।[1] एक मत के अनुसार इस प्रथा का अवलम्बन सम्भवतः शिशुनाग और महापद्मनन्द के उत्तराधिकारियों ने किया था ।

अमात्य वर्ग और मन्त्रि-परिषद्

मौर्य युग में सम्राट् की सहायता के लिए बहुत से मन्त्री होते थे । मन्त्रियों की सभा को परिषद् कहा जाता था । पाणिनि ने परिषद् के सदस्यों को 'पारिषद्य' एवं उस राजा को जिसकी स्थिति परिषद् के द्वारा सुदृढ़ होती है 'परिषद्बलः' कहा है । अशोक के छठे शिलालेख में उसकी परिषद् में होने वाले विचार-विमर्श का उल्लेख है (ताय अथाय विवादो निझती व संतो परिसायं) । 'दिव्यावदान' के अनुसार चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार के 500 अमात्य थे । पतंजलि ने तो अपने 'महाभाष्य' में स्वयं 'चन्द्रगुप्त-सभा' का उल्लेख किया है । इस विषय में मेगास्थेनिज़ द्वारा उल्लिखित 'काउन्सिलर' और 'एस्सेसर' कौटिल्य द्वारा उल्लिखित सचिवों या अमात्यों से सादृश्य रखते हैं । कौटिल्य के अनुसार जिस तरह गाड़ी एक पहिए से नहीं चलती वैसे ही बिना सहायता के अकेला राजा भी राज्यों का संचालन नहीं कर सकता । उसे चाहिए कि वह सुयोग्य अमात्यों की नियुक्ति करके उनकी सहायता से कार्य करे ।[2] पहिले ये अमात्य सामान्य विभागों (सामान्य अधिकरणों) में नियुक्त होते थे । उसके बाद राजा अपने मन्त्रियों और पुरोहित की सहायता से उनकी परीक्षा लेता था । जो अमात्य धर्म परीक्षा में खरे उतरते थे उन्हें धर्मस्थ (दीवानी कचहरी) तथा कण्टकशोधन (फौजदारी कचहरी) सम्बन्धी कार्यों में नियुक्त किया जाता था, जो अर्थ परीक्षा में उत्तीर्ण होते थे उन्हें समाहर्ता (टैक्स क्लेक्टर) तथा सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) पदों पर, कामोपधा में परीक्षित अमात्यों को विलास स्थानों तथा अन्तःपुर की रक्षा व्यवस्था के हेतु, भय परीक्षा में उत्तीर्ण अमात्यों को अंगरक्षक पद पर एवं सभी परीक्षाओं में खरे उतरने वालों को मन्त्री पद पर । जो अमात्य सभी परीक्षाओं में अनुत्तीर्ण हो जाते थे उन्हें खानों और जंगलों वगैरह में श्रमसाध्य कार्य करने के लिए नियुक्त किया जाता था ।[3] कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि कार्य करने वाले पुरुषों की सामर्थ्यानुसार ही उनकी (मन्त्रियों की) संख्या होनी चाहिए (यथासामर्थ्यमिति कौटिल्यः) । लेकिन सामान्यतः वह एक बड़ी मन्त्रि-परिषद् (अक्षुद्र परिषद्) का समर्थक लगता है क्योंकि

---

[1]कुलस्य वा भवेद्राज्यं कुलसंघो हि दुर्जयः ।
अराजव्यसनाबाधः शश्वदावसति क्षितिम् ॥ —वही, 1.16; पृ० 70 ।

[2]सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते ।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च शृणुयान्मतम् ॥ —अर्थशास्त्र, 1.6; पृ० 24 ।

[3]तत्र धर्मोपधाशुद्धान् धर्मस्थीयकण्टकशोधनेषु स्थापयेत्, अर्थोपधाशुद्धान् समाहर्तृ सन्निधातृ निचयकर्मसु, कामोपधाशुद्धान् बाह्याभ्यन्तरविहाररक्षासु, भयोपधाशुद्धानासन्नकार्येषु राज्ञः । सर्वोपधाशुद्धान् मन्त्रिणः कुर्यात् । सर्वत्राशुचीन् खनिद्रव्यहस्तिवनकर्मान्तेषूपयोजयेत् ।
—अर्थशास्त्र, 1.9; पृ० 33 ।

वह कहता है कि इन्द्र की मन्त्रि-परिषद् में एक सहस्र ऋषि थे जो उसके कार्यों के निर्देशक थे। इसीलिए तो दो नेत्रों वाले इन्द्र को हजार आँख वाला कहा गया है।[1] वह यह भी कहता है कि जिस राजा की मन्त्रि-परिषद् बहुत छोटी होती है वह अपनी भक्ति के एक महत्त्वपूर्ण स्रोत से वंचित रहता है।

मन्त्रियों की इस विशाल सभा के अतिरिक्त कौटिल्य ने उनकी एक लघु समिति का उल्लेख भी किया है जिसके सदस्य राजा के घनिष्ठ विश्वासपात्र होते थे। उसके अनुसार मन्त्र की सुरक्षा और उत्तमता के लिए अनिवार्य है कि राजा तीन या चार मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करे (मन्त्रिभिस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वा सह मन्त्रयेत)। क्योंकि एक ही मन्त्री की सलाह से कार्य करता हुआ राजा किसी कठिन कार्य के अड़ जाने पर उचित समाधान नहीं कर पाता और मन्त्री राजा का प्रतिद्वन्द्वी-सा होकर मनमानी करने लगता है। दो मन्त्रियों के साथ मिलकर कार्य करने पर भी डर रहता है कि वे या तो मिलकर राजा को वश में कर लेंगे अथवा आपस में लड़कर मन्त्र का विनाश कर देंगे। तीन या चार मन्त्रियों से सलाह लेने पर ये महादोष नहीं होंगे। लेकिन चार से अधिक होने पर न तो काम हो पाता है और न मन्त्र की रक्षा हो पाती है। 'देश काल और कार्यानुसार (देशकालकार्यवशेन) राजा एक या दो मन्त्रियों के साथ भी मन्त्रणा कर सकता है।'[2] इन घनिष्ठ और विश्वासपात्र मन्त्रियों में से ही किसी को प्रधान मन्त्री या अग्रामात्य नियुक्त किया जाता होगा। 'दिव्यावदान' की परम्परा-नुसार चन्द्रगुप्त का प्रधान मन्त्री स्वयं कौटिल्य उर्फ विष्णुगुप्त था, बिन्दुसार का खल्लाटक एवं अशोक का राधगुप्त (विष्णुगुप्त का सम्बन्धी ?)। लेकिन यह अत्यन्त विचित्र बात है कि स्वयं कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में प्रधान मन्त्री पद का विस्तृत विवेचन नहीं है यद्यपि एक स्थल पर वह उच्चतम पद पर नियुक्त अधिकारियों का वेतन निर्धारित करते समय ऋत्विक, आचार्य, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता और पटरानी के साथ मन्त्री को भी अड़तालीस हजार पण दिए जाने की व्यवस्था करता है।[3] मुकर्जी ने इस स्थल पर मन्त्री से आशय प्रधान मन्त्री से माना है,[4] परन्तु सम्भवतः कौटिल्य ने यहाँ उन तीन-चार मन्त्रियों का उल्लेख किया है जो राजा के घनिष्ठ विश्वासपात्र होते थे। परिषद् के शेष सभी सदस्यों को वह 12 सहस्र पण दिए जाने

---

[1]इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषदृषीणां सहस्रम्। स तच्चक्षुः।
तस्मादिमंद्वयक्षं सहस्राक्षमाहुः। —अर्थशास्त्र, 1.14; पृ० 58।

[2]अर्थशास्त्र, 1.14; पृ० 55–56।

[3]ऋत्विगाचार्यमन्त्रिपुरोहितसेनापतियुवराजराजमातृराजमहिष्योऽष्टचत्वारिंशत्साहस्राः।
—अर्थशास्त्र, 5.3; पृ० 512।

एक रजत पण का मूल्य आधुनिक काल में दस रुपये से कुछ अधिक होगा। उस अवस्था में 48,000 पण का मूल्य पाँच लाख रुपये से अधिक होगा। लेकिन कौटिल्य का आशय अगर ताम्र पण से है तो यह रकम बहुत मामूली होगी।

[4]च०मौ०का०, पृ० 116।

का विधान करता है ।[1]

पुरोहित का पद भी मन्त्रियों के समान ही महत्त्वपूर्ण था । "राजा को उसका (पुरोहित का) वैसा ही आज्ञाकारी होना चाहिए जैसे शिष्य अपने गुरु का, पुत्र अपने पिता का और नौकर अपने मालिक का होता है ।" सम्भवतः राजा के घनिष्ठ विश्वास-पात्र मन्त्रियों के अन्तर्गत ही पुरोहित की भी गणना होती थी और इन दोनों की सहायता से ही (मन्त्रि पुरोहित सखः) राज्य के प्रधान पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी ।

राज्य के ऐसे बहुत से कार्य होते थे जिन्हें राजा को पूरी परिषद् के साथ बैठकर निपटाना होता था । उदाहरणार्थ, वह विदेशी राजदूतों से परिषद् की उपस्थिति में ही भेंट करता था । अन्य कार्य भी वह मन्त्रियों के साथ ही मिलजुल कर करता था। यदि कोई मन्त्री किसी कारणवश उपस्थित न हो तो राजा को उससे पत्र द्वारा विचार-विमर्श करना चाहिए, ऐसा कौटिल्य का मत है (अनासन्नैः सह पत्रसम्प्रेषणेन मन्त्रयेत) । यदि कोई आवश्यक कार्य आ पड़ता था तो वह अपने मन्त्रियों तथा मन्त्रि-परिषद् को बुलाकर उनके सम्मुख अपनी बात कहता था (आत्ययिके कार्ये मन्त्रिणो मन्त्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात्) और उनके बहुमत के अनुसार कार्य करता था (तत्र यद् भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत् कुर्यात्) ।[2] उसके विश्वासपात्र मन्त्री राजकुमारों पर भी कुछ नियन्त्रण रखते थे तथा युद्ध के अवसरों पर सेना के साथ रहते और उसे प्रोत्साहित करते थे ।[3]

'अर्थशास्त्र' में केन्द्रीय प्रशासन के अन्य प्रमुख अधिकारियों का भी विस्तृत विवेचन मिलता है । इससे ज्ञात होता है कि शासन के विभिन्न अधिकरणों की संज्ञा 'तीर्थ' थी । इनकी संख्या अष्टादश बताई गई है । ये थे मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक आन्तर्वंशिक, प्रशास्ता, समाहर्ता, सन्निधाता, प्रदेष्टा, नायक, पौर व्याव-हारिक, कार्मान्तिक, मन्त्रिपरिषदाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, अन्तःपाल और आटविक ।[4] इनमें मन्त्री, पुरोहित और युवराज के बाद समाहर्ता और सन्निधाता विशेष महत्त्वपूर्ण थे । उनका सम्बन्ध राज्य की अर्थ-व्यवस्था से था । उनका विशेष विवरण हमने आगे दिया है । सेनापति युद्ध विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता था। उसके लिए चतुरंग बल के कार्यों व स्थान को जानना, युद्धनीति में विशारद होना और सैन्य संचालन में कुशल होना अनिवार्य था । प्रदेष्टा कण्टकशोधन न्यायालय का प्रधान होता था । न्याय करने के अलावा वह समाहर्ता के सहयोग से राजपुरुषों के

---

[1]वही, पृ० 513 ।

[2]अर्थशास्त्र, 1.14; पृ० 58 ।

[3]मन्त्रिपुरोहिताभ्यामुत्साहयेद्योधान् ।

—अर्थशास्त्र, 10.3; पृ० 793 ।

[4]अर्थशास्त्र, 1.11; पृ० 40 ।

कार्यों पर नियन्त्रण रखता था और उन्हें रिश्वत लेने जैसी बुराइयों से दूर रखने का प्रयास करता था । नायक सैन्य अधिकरण का प्रधान अधिकारी था । अगर सेनापति सेना की नीति तय करता था तो नायक युद्धक्षेत्र में आगे रहता था । कार्मान्तिक राज्य की ओर से चलाए जाने वाले कर्मान्तों (कारखानों) के अधिकरण का प्रधान था । व्यावहारिक अथवा धर्मस्थ धर्मस्थीय न्यायालयों के प्रधान न्यायाधीश को कहते थे । मन्त्रि-परिषद् का अध्यक्ष भी अष्टादश तीर्थों में गिना जाता था । परिषद् के महत्त्व के कारण उसका पद भी बड़ा महत्त्वपूर्ण था । दण्डपाल नाम का पदाधिकारी सेना की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए उत्तरदायी होता था, अन्तःपाल सीमान्तों और अन्तर्वर्ती दुर्गों की व्यवस्था करता था । नागरक नामक पदाधिकारी बड़े-बड़े नगरों के प्रशासन के लिए उत्तरदायी थे । प्रशास्ता के अधिकरण का कार्य राजकीय आज्ञाओं या राजशासनों को लिपिबद्ध करना था । उसके अधीन अक्षपटलाध्यक्ष नामक अधिकारी होता था जो विभिन्न निबन्ध-पुस्तकों (रजिस्टरों) की सम्भाल करता था। दौवारिक राजप्रासाद के प्रधान अधिकारी को कहते थे । राजा और राजपरिवार के महत्त्व के कारण उसका पद भी बहुत महत्त्वपूर्ण था । आन्तर्वंशिक राजा की अंगरक्षक सेना का प्रधान होता था । उसके सैनिक ही अन्तःपुर की विविध कक्ष्याओं में नियुक्त रहते थे । आटविक नामक पदाधिकारी अटवि-सेना (वन्य जातियों की सेना) या अटवि प्रदेशों की देखभाल करता था । इन अष्टादश तीर्थों के पृथक्-पृथक् अधिकरण होते थे।

जनपद संगठन

मागध साम्राज्य का प्रसार चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण के बहुत पहिले प्रारम्भ हो चुका था । अतः नन्दकाल तक दूरस्थ प्रदेशों में प्रशासन सम्बन्धी कुछ परम्पराएँ अवश्य ही विकसित हो गई होंगी । अभाग्यवश इनका बहुत विस्तार से विवरण उपलब्ध नहीं है, परन्तु इतना निश्चित है कि नन्दों ने दूरस्थ प्रदेशों को कुछ आन्तरिक स्वायत्तता प्रदान करने के बावजूद 'एकराट्' के रूप में शासन किया था । चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने इस परम्परा का ही अवलम्बन किया । बहुत से विद्वानों का विचार है कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में एक ऐसे लघु राज्य की प्रशासकीय व्यवस्था का वर्णन है जो बहुत से लघु राज्यों से घिरा हो। इसके नियम और कानून एक विशाल साम्राज्य की आवश्यकताओं की पूर्त्ति नहीं कर सकते ।[1] लेकिन यह निष्कर्ष मूलतः कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित 'मण्डल' सिद्धान्त पर आधारित है जिसका वर्णन करना कौटिल्य के लिए आवश्यक था । आखिर वह 'अर्थशास्त्र' जैसे ग्रन्थ की रचना करते समय राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन छोड़ भी किस प्रकार सकता था । लेकिन वह अखिल भारतीय साम्राज्य की आवश्यकताओं से भी निश्चयतः परिचित था । वह चक्रवर्ती-क्षेत्र की परिभाषा करते समय उसका विस्तार हिमालय से लेकर दक्षिणी समुद्र तक

[1]स्मिथ, अ०हि०इं०, पृ० 146; मोनहन, दि अर्ली हिस्ट्री ऑव बंगाल, पृ० 31 ।

(पीछे उद्धृत) बताता है। मन्त्रि-परिषद् का विचार करते समय वह क्षुद्र अर्थात् लघु परिषद् के स्थान पर अक्षुद्र परिषद् की व्यवस्था करता है और इन्द्र की मन्त्रि-परिषद् के हजार ऋषियों का उल्लेख करता है। रायचौधुरी के अनुसार उसने ऐसा वर्द्धमान साम्राज्य की आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही किया था।[1] इसके अतिरिक्त उसके ग्रन्थ में 'अध्यक्ष प्रचार' के अन्तर्गत वर्णित नियम किसी बड़े साम्राज्य के लिए ही विशेष उपयोगी हो सकते थे—किसी लघु राज्य में उनका कोई उपयोग सम्भव नहीं था। इसी प्रकार 'कण्टकशोधन' नाम के न्यायालय भी किसी वर्द्धमान राज्य की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए नियोजित लगते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मौर्य साम्राज्य गुप्त साम्राज्य के समान महाराजाओं द्वारा शासित अधीन राज्यों का किसी अधिराज द्वारा नियन्त्रित संघीय साम्राज्य नहीं था। स्वयं अशोक के अभिलेखों से स्पष्ट है कि उसके युग में भी शक्तिशाली राजाओं द्वारा शासित अधीन राज्य सर्वथा अज्ञात थे यद्यपि इसके अन्तर्गत आन्तरिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने वाली कुछ जातियाँ या संघ अवश्य थे। कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' के 11वें अधिकरण में इनका संक्षेप में उल्लेख करते हुए इन्हें दो वर्गों में बाँटा है : एक 'राजा' उपाधि धारण करने वाले संघ और दूसरे वार्ता और शस्त्रोपजीवी संघ। प्रथम वर्ग के संघों में वह लिच्छिविक, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु और पंचाल का उल्लेख करता है और दूसरे वर्ग के संघों में, जो कृषि, व्यापार और शस्त्र द्वारा जीविका निर्वाह करते थे, काम्बोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय, श्रेणी आदि का। अशोक के अभिलेखों में भी उसके साम्राज्य की कुछ जातियों का उल्लेख मिलता है। इनमें कुछ गण जातियाँ मौर्य युग के उपरान्त भी जीवित मिलती हैं। इससे स्पष्ट है कि इन जातियों को मौर्य साम्राज्य में कुछ आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी, यद्यपि उसकी सीमा निश्चित करना असम्भव है। सिकन्दर के आक्रमण के विरुद्ध पश्चिमोत्तर भारत की गण जातियों की असफलता, नन्दों के नेतृत्व में मागध साम्राज्य की सैनिक प्रतिष्ठा तथा हेलेनिस्टिक साम्राज्यों का उदाहरण—ये सब बातें चाणक्य और चन्द्रगुप्त के मन से गणराज्यों के प्रति श्रद्धा मिटाने वाली थीं।

आजकल हम जिसे मौर्यों का साम्राज्य कहते हैं उसे अशोक अपना 'विजित' कहता था और अपने पड़ोसी देशों को अन्त या पच्चन्त (प्रत्यन्त)। विजित या साम्राज्य के अन्तर्गत कुछ ऐसे जनपद भी थे जो उसके सीधे अधीन में रहे प्रतीत नहीं होते। पाँचवें शिलालेख में उनमें कुछ के नामों का इस प्रकार उल्लेख है—योन, कम्बोज, गन्धार, रठिक, तथा पेतिनिक। आधुनिक भाषा में हम कह सकते हैं कि उसके साम्राज्य का अधिकांश उसके सीधे नियन्त्रण में था और शेष जनपद आन्तरिक दृष्टि से अर्द्ध-स्वतन्त्र मगर राजा द्वारा संरक्षित थे। सम्पूर्ण साम्राज्य की केन्द्रीय राजधानी पाटलिपुत्र थी परन्तु कई गौण राजधानियाँ भी थीं जैसे तक्षशिला, उज्जयिनी, सुवर्णगिरि और

[1]पो०हि०ए०इं०, पृ० 282।

तोसालि। छोटी राजधानियों के इलाकों या सूबों को क्या कहते थे, यह स्पष्ट नहीं है। विद्यालंकार के अनुसार मौर्यों के सूबे भारत के प्राचीन स्थल-विभागों—मध्य देश, प्राची, दक्षिणापथ, पश्चिम देश और उत्तरापथ का अनुसरण करते थे।[1] इन विभागों को 'चक्र' भी कहा जाता था।[2] आजकल की भाषा में उन्हें 'प्रान्त' कहना भी बहुत अनुचित नहीं होगा। इनकी राजधानियों में राजा के प्रतिनिधि के रूप में कुमार या आर्यपुत्र शासन करते थे। उनकी सहायता के लिए सम्भवतः केन्द्रीय मन्त्रि-परिषद् की तरह की एक परिषद् होती थी जिसके सदस्य अशोक के अभिलेखों में 'महामात्र' कहे गए हैं। प्रथम रुद्रदामा के जूनागढ़-अभिलेख में चन्द्रगुप्त मौर्य के एक गवर्नर वैश्य पुष्यगुप्त को 'राष्ट्रिय' कहा गया है। मुकर्जी का विचार है कि कौटिल्य ने 'राष्ट्रमुख्य' 'राष्ट्रपाल' तथा 'ईश्वर' शब्दों को गवर्नर अर्थ में ही प्रयुक्त किया है।[3] कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से इन प्रान्तों या चक्रों के विषय में कुछ सूचनाएँ नहीं मिलतीं। इनका अस्तित्व अशोक के अभिलेखों से ही संकेतित है। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के काल में पाटलिपुत्र, तोसालि, उज्जयिनी, तक्षशिला तथा सुवर्णगिरि प्रान्तीय राजधानियाँ थीं जहाँ (पाटलिपुत्र को छोड़कर) राजकुमार लोग गवर्नर के रूप में शासन करते थे। इसिला, समापा और कौशाम्बी जैसे नगरों में प्रशासन की देखभाल राजूक व महामात्र करते थे। अशोक व कुणाल के द्वारा कुमार रूप में तक्षशिला व उज्जयिनी का गवर्नर रहने की कथाएँ मिलती हैं। पाटलिपुत्र का शासन स्वयं सम्राट् के हाथ में रहता था।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में जनपदों का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः ये उन प्राचीन जनपदों के प्रतिनिधि थे जिन्हें मागध नरेशों ने जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिया था। 'अर्थशास्त्र' में इनके शासकों को 'समाहर्ता' कहा गया है। समाहर्ता के ऊपर महामात्य और उनके ऊपर प्रदेष्टा तथा कुमार होते थे। जनपदों को शासन की सुविधा के लिए स्थानिक नामक छोटी-छोटी इकाइयों में बांटा गया था। सबसे छोटी प्रशासकीय इकाई ग्राम थी। दस ग्रामों के समूह को संग्रहण कहते थे, बीस संग्रहणों के समूह को खार्वटिक (या कार्वटिक), दो खार्वटिकों की इकाई को द्रोणमुख और दो द्रोणमुखों की इकाई को स्थानीय कहा गया है।[4] बहुत से जनपदों में स्थानीय, द्रोणमुख और खार्वटिक एक ही विभाग को सूचित करते थे। ग्राम का शासक ग्रामिक, संग्रहण का गोप और स्थानीय का स्थानिक कहलाता था।

---

[1]मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 154।

[2]शर्मा, रामावतार, प्रियदर्शिप्रशस्तयः, पृ० 33।

[3]च०मौ०का०, पृ० 82।

[4]तस्मादमात्यसम्पदोपेतः सर्वसमयविदाशुग्रन्थश्चार्वक्षरो लेख वाचन समर्थो लेखकः स्यात्।
—अर्थशास्त्र 2.10; पृ० 143।

राजपुरुष-तन्त्र

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' और मेगास्थेनिज़ के विवरण, दोनों से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त के जमाने में उच्च पदों पर नियुक्त किए जाने वाले कर्मचारियों का एक विशेष वर्ग अस्तित्व में आ गया था। कौटिल्य ने इन्हें अमात्य कहा है। इनकी तुलना आधुनिक आई०ए०एस० और पी०सी०एस० पदाधिकारियों से की जा सकती है। इनकी परीक्षा राजा, मन्त्री और पुरोहित लेते थे और उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार उपयुक्त पद देते थे। अमात्यों के गुणों से युक्त व्यक्तियों को निसृष्टार्थ नामक दूत (अमात्यसम्प-दोपेतो निसृष्टार्थः), राजा के शासनादेश लिखने वाले लेखक, तथा विभिन्न विभागों के अध्यक्ष (अमात्यसम्पदोपेताः सर्वाध्यक्षाः) आदि पदों पर नियुक्त किए जाते थे। जो व्यक्ति अमात्यों के गुणों से युक्त नहीं होते थे उन्हें परिमितार्थ (शिष्ट मण्डलों के सदस्य ?) और राजाज्ञाओं के वाहक (शासनहरः) रूप में नियुक्त किया जाता था।

कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' के दूसरे अधिकरण में व अन्यत्र कुछ स्थलों पर अक्षपटल (एकाउण्ट्स या लेखा विभाग), आकार (खानें), सुवर्ण, कोष्ठागार (भण्डार), पण्य (वाणिज्य), कुप्य (वन सम्पदा), आयुधागार, पौतव (तुलामान), शुल्क (सीमाकर), सूत्र (कताई और बुनाई उद्योग), सीता (कृषि), सुरा (आबकारी), सूना (पशुवध शाला), गणिका (वेश्याएँ), नौ (नौ परिचालन), गो (पशु), अश्व (घोड़े), हस्ति (हाथी), रथ, पदाति (पैदल सेना), मुद्रा (पासपोर्ट), विवीत (चरागाह), लोह (धातु), लक्षण (टकसाल), कोष (खजाना), द्यूत (जुआ), देवता (धार्मिक संस्थाएँ) आदि विभागों के अध्यक्षों का वर्णन किया है। कुल मिलाकर वह करीब तीस प्रकार के अध्यक्षों की चर्चा करता है। इन पदाधिकारियों के अधीन 100 से 1000 पण तक वेतन पाने वाले कर्मचारी रहते थे। ये सब पदाधिकारी एक ही प्रकार के नहीं थे। इनमें कुछ का सम्बन्ध राजस्व प्रशासन से था, कुछ का नगर प्रशासन से, कुछ का राजधानी और राजप्रासाद के प्रशासन से, कुछ का कृषि प्रशासन से तथा कुछ का सैनिक प्रशासन से।

कौटिल्य ने विभिन्न विभागाध्यक्षों की कार्य-प्रणाली सम्बन्धी बहुत सी बातें बताई हैं जिन्हें मौर्य शासन व्यवस्था की यथार्थ स्थिति का सामान्य चित्र माना जा सकता है। प्रत्येक विभागाध्यक्ष का कर्त्तव्य था कि वह अपने विभाग की आय और व्यय को सन्तुलित रखे, आदेशानुसार कार्य करे, राजा की आज्ञा लिए बिना कोई नवीन योजना कार्यान्वित न करे (सिवाय आपत्तियों के प्रतिकार के, जिनमें वह राजा की अनुमति मिलने के पूर्व भी आवश्यक कार्य कर सकता था), अनुमान से अधिक राजस्व वसूल न करे, अपनी आय-व्यय का विवरण संक्षेप में व विस्तारपूर्वक राजा के सम्मुख रखे तथा उन लोगों पर कड़ी नजर रखे जो अपनी वंशानुगत सम्पत्ति का अपव्यय करते हैं (मूलहर), जितना पाते हैं उड़ा देते हैं (तादात्त्विक) अथवा कंजूस हैं (कदर्य)। राजा को भी चाहिए कि वह उन पदाधिकारियों को, जो आदिष्ट कार्य को पूरा करके स्वेच्छया किसी दूसरे हितकार्य को करते हैं, तरक्की और सम्मान दे, यदि वे अपने कार्य में

प्रमाद करने वाले हैं तो उन्हें वेतन से दुगना दण्ड दे, गुप्तचरों की सहायता से विभागाध्यक्षों की आमदनी का ज्ञान प्राप्त करता रहे तथा गबन करने वालों को कठोर दण्ड दे।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से ज्ञात होता है कि प्रत्येक विभागाध्यक्ष की सहायता के लिए संख्यायक (गणक, हिसाब-किताब रखने वाला), लेखक (क्लर्क), रूपदर्शक (मुद्राओं का पारखी), नीविग्राहक (कोषाध्यक्ष), तथा उत्तराध्यक्ष (प्रधान अधिकारी) रहते थे। उत्तराध्यक्ष उनको नियुक्त किया जाता था जो हाथी, घोड़ों और रथों की सवारी करने में कुशल होते थे। उसके अधीन बहुत से कुशल कर्मचारी होते थे जो संख्यायक आदि की प्रवृत्तियों का पता लगाने में गुप्तचर का कार्य भी करते थे।[1] मुख्य पदाधिकारी किसी एक विभाग में कुछ ही समय रखे जाते थे (बहुमुख्यमनित्यं चाधिकरण स्थापयेत्)।

कौटिल्य ने पाँचवें अधिकरण (अध्याय 3) में पूरे राजकर्मचारी वर्ग को विभिन्न कोटियों में विभाजित किया है। उनके वेतनों से उनके महत्त्व का पता चलता है। प्रथम वर्ग में 48000 पण पाने वाले प्रमुख पदाधिकारी और राजपरिवार के प्रमुख सदस्य परिगणित हैं। इनमें मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, आचार्य, ऋत्विक, राजमहिषी तथा राजमाता सम्मिलित हैं। दूसरे वर्ग में 24000 पण पाने वाले उच्च पदाधिकारी हैं जिनमें दौवारिक (राजप्रासाद का रक्षक), आन्तर्वंशिक (अन्तःपुर का रक्षक), प्रशास्तृ (आयुधाध्यक्ष), समाहर्तृ (कलेक्टर जनरल), सन्निधातृ (भाण्डागाराध्यक्ष) परिगणित हैं। तीसरे वर्ग में पौर (नगर मुख्य), व्यावहारिक (व्यापाराध्यक्ष) कार्मान्तिक (कर्मान्तों का निरीक्षक), मन्त्रि-परिषद् के सदस्य, राष्ट्रपाल (प्रान्तों के शासक), अन्तःपाल (सीमान्त प्रदेशों के शासक), विभिन्न कुमार और कुमार-माताएँ, नायक, आदि गिनाए गए हैं। इनको 12,000 पण वेतन देने का विधान है। चौथे वर्ग के अधिकारियों का वेतन 8,000 पण था। इनमें श्रेणी मुख्य (श्रेणियों के अध्यक्ष), हाथी, रथों और घोड़ों के अध्यक्ष तथा प्रदेष्टा (कण्टकशोधन न्यायालयों के अधिकारी) सम्मिलित हैं। चौथे वर्ग के 4,000 पण वेतन पाने वाले अधिकारियों में पैदल सैनिकों, घोड़ों, हाथियों और रथों के निरीक्षक तथा वनों और हस्तिवनों के निरीक्षक गिनाए गए हैं। पाँचवाँ वर्ग रथिकों (रथी-शिक्षक), हाथियों को साधने वालों, चिकित्सकों, अश्व शिक्षकों, सेना के बढ़ई या मिस्त्रियों तथा पशुपालकों का था जिनके लिए 2,000 पण वेतन निर्धारित किया गया है। छठे वर्ग में कार्तान्तिक (सामुद्रिक), नैमित्तिक (शकुन विचारने वाले), मौहूर्तिक (महूर्त बताने वाले ज्योतिषी), पौराणिक (पुराणवाचक), सूत (सारथि), मागध (स्तुतिवाचक), पुरोहित के नौकर तथा सभी विभागों के अध्यक्ष गिनाए गए हैं। इनका वेतन 1000 पण रखा गया है। इनके अतिरिक्त कौटिल्य इनसे

---

[1]तस्मादस्याध्यक्षाः संख्यायकलेखकरूपदर्शकनीविग्राहकोत्तराध्यक्षसखाः कर्माणि कुर्युः। उत्तराध्यक्षा हस्त्यश्वरथारोहाः। तेषामन्तेवासिनः शिल्प शौच युक्ताः सङ्खयायकादीनामपसर्पाः।

—अर्थशास्त्र, 2.9; पृ० 140–41।

हीनतर वर्गों के सभी प्रकार के कर्मचारियों के वेतन, सन्देशवाहकों के भत्ते, पेन्शन, पदोन्नति के नियम इत्यादि का भी विधान करता है।

गुप्तचरों की भूमिका

कौटिलीय प्रशासन में गुप्तचरों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। साम्राज्य की विशालता की दृष्टि से यह आवश्यक भी था कि उच्च पदाधिकारियों व पौर जानपदों की गतिविधि व मनोभावों की जानकारी सम्राट् को रहे। गुप्तचरों की सहायता से राजा किसी व्यक्ति की अमात्य पद पर नियुक्ति करने के पूर्व विविध उपधाओं द्वारा उसकी योग्यता की जाँच करते थे। उपधाएँ (परखें) चार प्रकार की होती थीं—धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा और भयोपधा। धर्मोपधाशुद्ध व्यक्ति न्यायाधीश बनाए जाते थे, कामोपधाशुद्ध राजप्रासाद व अन्तःपुर में नियुक्त होते थे, अर्थोपधाशुद्ध सन्निधाता और समाहर्ता बनाए जाते थे और भयोपधाशुद्ध लोग राजा के निकटवर्ती कार्यों के लिए नियुक्त होते थे। जो अमात्य सभी उपधाओं में उत्तीर्ण होते थे उन्हें मन्त्री बनाया जाता था और सभी में असफल होने वालों को खदानों व जंगलों का परिश्रम साध्य काम सौंपा जाता था।[1] गुप्तचर राजकर्मचारियों की गतिविधि पर भी दृष्टि रखते थे। कौटिल्य के अनुसार राजपुरुषों का मन बराबर बदलता रहता है। अतः उन पर बराबर दृष्टि रखना अनिवार्य है। गुप्तचर पौर-जानपदों की गतिविधियों का पता भी लगाते थे जिससे राजा को यह पता चलता रहता था कि जनता किन बातों से प्रसन्न है और किनसे असन्तुष्ट।[2] उनका एक अन्य कार्य था विदेशी राज्य के भेदों का पता लगाना। ऐसे गुप्तचर मित्र, उदासीन व शत्रु—सभी प्रकार के राज्यों में भेजे जाते थे। 'अर्थशास्त्र' की गुप्तचर व्यवस्था से इतिहास के विद्यार्थी को साखामनीषी सम्राटों के द्वारा प्रान्तों में भेजे जाने वाले उन अधिकारियों का अनायास स्मरण हो आता है जिन्हें उनके अभिलेखों में 'सम्राट् के आँख और कान' कहा गया है।

'अर्थशास्त्र' में गुप्तचरों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—संस्था और सञ्चार।[3] संस्था और सञ्चार का अर्थ कुछ विद्वान 'संस्था के रूप में काम करने वाले' व 'एकाकी कार्य करने वाले' करते हैं और कुछ 'एक स्थान पर काम करने वाले' तथा 'घूम घूमकर काम करने वाले' करते हैं। कापटिक छात्र (छात्र वेश धारण करके श्रेणियों में काम करने वाले), उदास्थित (संन्यासी वेश में काम करने वाले), गृहपतिक (कृषक वेशधारी) तथा तापस (मुण्डों और जटिलों का वेश धारण करने वाले) नाम के गुप्तचर संस्था कहलाते थे। संचार वर्ग के गुप्तचरों में सत्री (जो राजा द्वारा पालित और विविध विधाओं में पारंगत होते थे), तीक्ष्ण (जो अत्यन्त साहसी होते

[1]अर्थशास्त्र, 1.9; पृ० 32–3।
[2]वही, 1.12; पृ० 44।
[3]वही, 1.10–11; पृ० 35, अ० 1।

थे), रसद (जहर देने वाले, जो अत्यन्त आलसी व क्रूर होते थे), तथा परिव्राजिकाएँ (जो अन्तःपुरों में जाकर भेद ले आती थीं) सम्मिलित थे। गूढ़ पुरुष परस्पर गूढ़ लिपि और संकेत लिपियों में संदेश भेजते थे ।[1] विदेशों में नियुक्त गूढ़ पुरुष उभय वेतन (अपने राजा एवं शत्रु राजा दोनों से वेतन लेकर उन्हें एक दूसरे का भेद बता देने वाले) न हो जाएँ, इसका ध्यान रखा जाता था।

विदेशों में राजदूत भेजने की प्रथा मौर्य काल में विद्यमान थी। कौटिल्य ने तीन प्रकार के राजदूत बताए हैं[2] : (1) निसृष्टार्थ अर्थात् ऐसे दूत जिनमें अमात्य के सब गुण हों और जो अविकल रूप से अपने स्वामी का प्रतिनिधित्व करते हों। उन्हें सन्धि करने का पूर्ण अधिकार होता था। (2) परिमितार्थ अर्थात् वह दूत जो अमात्य से एक चौथाई गुणहीन हो। उसे किसी एक निश्चित मामले में ही समझौता करने का अधिकार होता था। (3) शासनहर हीनतम कोटि का राजदूत होता था। उसमें अमात्य से आधा गुण माना जाता था। उसका कार्य केवल सन्देश पहुँचाना होता था। सामान्यतः राजदूत के रूप में किसी अन्य पदाधिकारी को भेजा जाता था। उस समय वह अतिरिक्त भत्ता पाता था। अपने गुप्तचरों की सहायता लेकर शत्रुदेश के गुप्त-भेदों का पता लगाने की आशा भी शत्रु राज्य में भेजे गए राजदूत से की जाती थी।

आर्थिक संगठन

साम्राज्य के सर्वोच्च राजस्व पदाधिकारी सन्निधाता और समाहर्ता थे। ये एक जन-पद पर नियुक्त होते थे। समाहर्ता विभिन्न स्रोतों से राजस्व एकत्र करता था। उसका कर्त्तव्य था कहीं कोई कर बकाया न रहने दे और राजस्व के बढ़ाने के लिए नए-नए साधनों का पता लगाए तथा सब तरह के आय-व्यय का हिसाब रखे। सन्निधाता उसका पूरक अधिकारी था। वह राजस्व के कोष में आने के बाद उसका उत्तरदायित्व सम्भालता था। राजस्व के संग्रह के लिए उसे उस रूप में इमारतें बनवानी होती थीं जिस रूप में उसे राजस्व उपलब्ध होता था—जैसे कोशगृह (बहुमूल्य वस्तुएँ रखने का स्थान), पण्यगृह (बिक्री का माल रखने का स्थान), कोष्ठागार (अन्नभण्डार), कुप्य गृह (वनों से मिलने वाली वस्तुएँ रखने का स्थान), आयुधागार, इत्यादि। वह न्यायालय, कारागार, सचिवालय इत्यादि के लिए भी उपयुक्त भवन बनवाता था। वह कोशप्रवेश्य सिक्कों की जाँच करके जाली सिक्कों को 'कैन्सिल' करता था। कौटिल्य के अनुसार उसे राजस्व का इतना ज्ञान होना चाहिए कि पिछले सौ वर्षों के राजस्व की भी पूरी जानकारी दे सके।

समाहर्ता और सन्निधाता से पद में नीचा परन्तु उनके समान व्यापक अधिकार-

---

[1]वही, 1.11; पृ० 41।

[2]अमात्यसम्पदोपेतो निसृष्टार्थः, पादगुणहीनः परिमितार्थः, अर्धगुणहीनः शासनहरः।
—अर्थशास्त्र, 1.15; पृ० 59।

क्षेत्र वाला एक अधिकारी अक्षपटलाध्यक्ष था। उसे आज की भाषा में एकाउण्टेण्ट जनरल कह सकते हैं। वह अपने विभाग के लिए उपयुक्त भवन बनवाता था तथा सभी विभागों से होने वाली आमदनी व उन पर किए जाने वाले व्यय को खातों में चढ़ाता था, पुरोहित, मन्त्री तथा अन्य विभिन्न राजोपजीवी पदाधिकारियों के विशेषाधिकारों, परिहारों (उन्हें मिली छूटों) तथा वेतनादि का विवरण रखता था, राज-परिवार के सदस्यों के भत्ते, उत्सवों के विशेष भत्तों तथा अन्य खर्चों का हिसाब रखता था, सब अधिकरणों की आमदनी व खर्च के अतिरिक्त उनके कार्यों का लेखा-जोखा रखता था तथा विभिन्न विभागाध्यक्षों को उनकी योग्यता के अनुसार काम देता था। विभिन्न विभागों के प्रधान लेखकों (गणनाधिकारी) को अपना हिसाब देने के लिए आषाढ़ में राजधानी आना होता तथा राजस्व का शेष धन जमा करना होता था।

समाहर्ता, सन्निधाता और अक्षपटलाध्यक्ष विभिन्न विभागाध्यक्षों की सहायता से राजस्व की व्यवस्था कर पाते थे। इनमें कोषाध्यक्ष स्पष्टतः सीधे सन्निधाता के नियन्त्रण में रहता होगा। कौटिल्य के अनुसार उसे चाहिए कि वह विशेषज्ञों की सहमति से रत्न, सार, फल्गु तथा कुप्यादि मूल्यवान द्रव्यों को राजकोष के लिए लेना स्वीकार करे। उसे स्वयं भी समस्त रत्नों के प्रमाण, लक्षण, जाति, मूल्य, रूप, निधान, संस्कार शुद्धि तथा उपयोग की विस्तार से जानकारी प्राप्त करनी होती थी। आकराध्यक्ष का कार्य बहुमूल्य खानों का पता लगाना और खुदवाना था। खन्याध्यक्ष शंख, वज्र, मणि, मुक्ता, प्रवाल तथा सभी तरह के क्षारों की उत्पत्ति व क्रय-विक्रय की व्यवस्था करता था। इसी प्रकार विभिन्न विभागों के अध्यक्ष राज्य की आर्थिक व्यवस्था में समाहर्ता और सन्निधाता की अपने-अपने क्षेत्र में सहायता करते थे।

कौटिल्य ने दूसरे अधिकरण के छठे अध्याय में राज्य की आय-व्यय की मदों पर विचार किया है। उसने राज्य की आय के साधनों को सात भागों में बाँटा है—दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज, और वणिक्-पथ।[1] दुर्ग के अन्तर्गत पुरों या नगरों से होने वाली आय सम्मिलित थी जैसे शुल्क या चुंगी, पौतव (नाप तौल के मानों को प्रमाणित करते समय लिया जाने वाला कर), दण्ड (अपराधियों से लिया गया जुर्माना), नागरक (नागरक अर्थात् नगर-अध्यक्ष द्वारा वसूल किए गए जुर्माने की राशि), लक्षणाध्यक्ष से प्राप्त आय (मुद्राओं के राज्य की ओर से चलाए जाने पर होने वाली आय), मुद्राध्यक्ष द्वारा की गई आय, नगराध्यक्ष द्वारा नगर में प्रवेश के लिए अनुमति देते समय लिया जाने वाला कर, सुरा कर (शराब के ठेकों से होने वाली आय), बूचड़खानों से मिलने वाला कर, तेलकर, घृतकर, नमककर, सौवर्णिक (सुनारों से लिया जाने वाला कर), पण्य संस्था (सरकारी माल की बिक्री से होने वाली आय),

---

[1]समाहर्ता दुर्गं राष्ट्रं खनिं सेतुं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत।

—अर्थशास्त्र, 2.6; पृ० 119।

वेश्याओं से लिया जाने वाला कर, जुआखानों से होने वाली आमदनी, वास्तुक (अचल सम्पत्ति कर) कारुशिल्पिगण (शिल्पियों की श्रेणियों से लिया जाने वाला कर), देव मन्दिरों से होने वाली आय, बाहिरिकादेय (सुपर वेल्थ टैक्स) आदि ।

'राष्ट्र' के अन्तर्गत जनपदों से होने वाली आय सम्मिलित थी । इसमें सीता (राजकीय भूमि) से होने वाली आय, भाग (किसानों से लिया जाने वाला उपज का एक भाग), बलि (देवमन्दिरों और तीर्थ स्थानों से होने वाली आय), कर (एक विशेष कर), वणिक् (व्यापारियों से लिया जाने वाला बिक्री कर), नदी पालस्तर (नदियों के पुलों पर लिया जाने वाला कर), नाव (नौका द्वारा नदी पार करने पर लिया जाने वाला कर), पत्तन (कसबों से वसूल होने वाला कर), विवीतम् (चरागाहों से प्राप्त होने वाला कर), वर्त्तनी (सड़कों के प्रयोग के लिए प्रदेय कर), रज्जू (सम्भवतः रज्जूक नामक अधिकारियों द्वारा संगृहीत कर) तथा चोररज्जू (चोरों को पकड़ने पर गाँवों से लिया जाने वाला कर ?) आदि परिगणित किए गए हैं।

'खनि' से आशय खानों से (जिन पर राज्य का स्वत्व होता था) होने वाली आय से है । 'सेतु' के अन्तर्गत शाक, सब्जी, फल, मूलवाप (ऐसी फसलें जिनमें जड़ें बोयी जाएँ) आदि से प्राप्त आय होती थी । हस्तिवन, पशुवन, मृगवन (जहाँ से पशुचर्म मिलता था) तथा द्रव्यवन (इमारती और ईंधन की लकड़ी के वन) से होने वाली आय को 'वन' कहते थे । गाय, भैंस, बकरी, भेड़, गधे, ऊँट, घोड़े आदि 'व्रज' कहलाते थे और उनसे होने वाली आय का भी यही नाम था । वणिक्-पथ दो प्रकार के थे—स्थल-पथ और वारिपथ । इनसे होने वाली आय वणिक्-पथ कहलाती थी ।

उपर्युक्त समस्त प्रकार की आय को कौटिल्य ने राज्य का 'आय शरीर' कहा है। उसके अनुसार अर्थकृच्छ्रता (अर्थसंकट) के समय राजा आपत्कालीन कर भी लगा सकता था जो किसी-किसी पेशे के लोगों पर तो उनकी आय का 50 प्रतिशत तक हो सकता था ।

राज्य के व्यय को कौटिल्य ने अनेक वर्गों में बाँटा है । इन्हें वह राज्य का 'व्यय शरीर' कहता है । इनमें निम्नलिखित मदें सम्मिलित हैं : देवपूजा (श्रोत्रियों, आचार्यों और अन्य विद्वानों की आजीविका के लिए किया जाने वाला व्यय), पितृपूजा (राज्य के पुराने सेवकों और वृद्धों के लिए किया जाने वाला व्यय), दान, स्वस्तिवाचन (मन्त्र पाठ आदि धार्मिक कार्यों पर होने वाला व्यय), अन्तःपुर, महानस (राजकीय रन्धनागार पर होने वाला खर्च), दूतप्रावर्तितम् (विदेशों में भेजे गए दूतों पर होने वाला व्यय), कोष्ठागार (अन्न भण्डार), पण्यगृह तथा कुप्यगृह का व्यय, कर्मान्त (राजकीय कारखाने पर होने वाला व्यय), विष्टि (बेगार लेने पर बेगारी व्यक्तियों पर होने वाला व्यय), पैदल सेना, अश्व सेना, रथ सेना, हस्ति सेना, गोमण्डल (सेना के माल ढोने के प्रयोजन से बैलों आदि पर होने वाला व्यय), राजकीय पशुवाट (पशुओं), पक्षिवाट (पक्षियों), व्यालवाट (सर्पों आदि) पर होने वाला व्यय, काष्ठवाट (काष्ठ भण्डार), तृणवाट (चारे का भण्डार) पर होने वाला व्यय । राजकर्मचारियों

पर होने वाले व्यय की चर्चा पीछे की जा चुकी है। शिक्षा आदि विषयों पर होने वाला राजकीय व्यय सम्भवतः 'देवपूजा' मद में सम्मिलित है। सम्भवतः 'दान' मद का भी कुछ भाग इस क्षेत्र में व्यय होता होगा। सार्वजनिक कल्याण की मदों में दान एवं प्राकृतिक विपत्तियों के समय काम आने वाले काष्ठागार, पण्यगृह, कुप्यगृह, कर्मान्त, तृणवाट आदि सम्मिलित थे। इस प्रसङ्ग में सोहगौरा एवं महास्थानगढ़ अभिलेखों में उल्लिखित मौर्यकालीन अन्नागारों की चर्चा की जा सकती है। चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में सुदर्शन झील का निर्माण मौर्य युग की सरकार द्वारा किया गया सार्वजनिक हित का एक विशिष्ट कार्य था। सैनिक व्यय स्पष्टतः राज्य के व्यय शरीर का प्रमुख भाग होगा।

न्याय-व्यवस्था

मौर्य साम्राज्य में अनेक प्रकार के न्यायालय थे। सबसे छोटा न्यायालय गाँवों में होता था जिसमें ग्रामिक ग्रामवृद्धों के साथ मिलकर अपराधियों को दण्डित करता था। सबसे बड़ा न्यायालय स्पष्टतः राजा का था जो देश का प्रधान न्यायाधीश होता था। इन दोनों के बीच विभिन्न प्रशासकीय इकाइयों में विभिन्न न्यायालय होते थे। ये दो प्रकार के थे : धर्मस्थीय और कण्टकशोधन। धर्मस्थ न्यायालयों के न्यायाधीश धर्मस्थ अथवा व्यावहारिक कहलाते थे। वे जनपद सन्धियों, संग्रहणों, द्रोणमुखों व स्थानिकों में तीन-तीन की 'बेञ्च' के रूप में काम करते थे।[1] कण्टक-शोधन न्यायालयों में इसी प्रकार प्रदेष्टा नाम के तीन न्यायाधीश न्याय करते थे।[2] इन दोनों प्रकार के न्यायालयों का अन्तर आधुनिक पारिभाषिक शब्दावली में बताना सम्भव नहीं है। इन्हें सामान्यतः क्रमशः दीवानी और फौजदारी (सिविल और क्रिमिनल) अदालतें कह दिया जाता है। काणे का विचार है कि धर्मस्थ न्यायालयों में व्यक्तिगत झगड़ों का फैसला होता था और कण्टकशोधन में राज्य की ओर से चलाये गये मुकदमे जाते थे।[3] परन्तु उस युग में इस प्रकार का विभाजन माना जाता था, यह शंकाग्रस्त बात है।[4] धर्मस्थीय न्यायालयों में निम्नलिखित प्रकार के मामलों का फैसला होता था : व्यवहारस्थापन (दो या अधिक व्यक्तियों या दलों का आपसी वादविवाद), स्त्रीधन कल्प (स्त्रीधन के साथ सम्बन्धित मुकदमे), विवाह और मोक्ष अर्थात् तलाक सम्बन्धी विवाद, दाय भाग और दायक्रम के मामले, गृहवास्तुकम् (घर, खेत, बाग आदि के झगड़े), वास्तु विक्रय (सम्पत्ति की बिक्री के मामले), समयस्यानपाकर्म (भृत्यों और स्वामियों के 'समय' अर्थात् समझौतों से सम्बन्धित मुकदमे), ऋणदान (कर्जदारों और साहूकारों के झगड़े), औपनिधिकम् (धन को अमानत के रूप

[1]अर्थशास्त्र, 3.1; पृ० 313।
[2]वही, 4.1; पृ० 421।
[3]काणे, हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, 3, पृ० 257।
[4]दे०, ए०न०मौ०, पृ० 185।

में रखने से सम्बन्धित मुकदमे), दासकल्प और कर्मककल्प (दासों और मजदूरों से सम्बन्धित मुकदमे), सम्भूयसमुत्थानम् (मिलकर किये गये कार्य के मुनाफे के विभाजन से सम्बन्धित झगड़े), विक्रीतक्रीतानुशय (खरीद-फरोख्त से सम्बन्धित मामले), दत्तस्यानपाकर्म (दत्त या प्रतिज्ञात धन से सम्बन्धित झगड़े), अस्वामिविक्रय (स्वामित्व बिना किसी सम्पत्ति को बेचने के प्रयास से सम्बन्धित मुकदमे), स्वस्वामि सम्बन्ध (किसी सम्पत्ति पर किसी व्यक्ति के अधिकार के खत्म हो जाने से सम्बन्धित मामले), साहसम् (चोरी, डाके व लूट के मामले), वाक्पारुष्यम् (मार-पीट के मुकदमे), द्यूतसमाह्वयम् (जुआ खेलने से सम्बन्धित मामले) तथा प्रकीर्णक (अन्य विविध मामले जिन्हें कौटिल्य ने गिनाया है)। जैसाकि स्पष्ट है, इनमें कुछ ऐसे मामले भी हैं जो आजकल फौजदारी अदालतों में जाते हैं, दीवानी अदालतों में नहीं।

कण्टकशोधन-न्यायालय (अधिकरण 4) निम्नलिखित प्रकारों के मुकदमों और अन्य मामलों का फैसला करते थे : कारुकरक्षणम् (शिल्पियों व कारीगरों की रक्षा और उनसे दूसरों की रक्षा), वैदेहकरक्षणम् (व्यापारियों की रक्षा और दूसरों की उनसे रक्षा), उपनिपातप्रकार (प्राकृतिक विपत्तियों के निवारणार्थ बनाये गये नियमों की अवहेलना करने से सम्बन्धित मामले), गूढाजीविनांरक्षा (गैर कानूनी उपायों से जीविका चलाने वालों से रक्षा), सिद्धव्यञ्जनैर्माणवप्रकाशनम् (दूषित प्रवृत्तियों वाले युवकों पर, जो सिद्धों का वेश धरे हुए गुप्तचरों से पकड़वाये गये हों, चलाये जाने वाले मुकदमे), शंकारूपकर्माभिग्रह (आशंका होने पर या वस्तुतः अपराध करने पर अपराधियों की गिरफ्तारी), आशुमृतक परीक्षा ('पोस्टमार्टम' द्वारा मृत्यु के कारण का पता लगाना), वाक्यकर्मानुयोग (अपराध का पता लगाने के लिए प्रश्न पूछना व शारीरिक कष्ट देना), सर्वाधिकरणरक्षणम् (प्रशासन के सब अधिकरणों की रक्षा व उनसे जनता की रक्षा), एकांगवध निष्क्रय (अंग-भंग के दण्ड के बदले जुर्माना देने के आवेदन पर विचार), शुद्धश्चित्रश्चदण्डकल्पः (मारपीट में किसी की हत्या करने, राजद्रोह करने, विद्रोह भड़काने, राजा के अन्तःपुर में बलात् प्रवेश करने आदि अपराधों के अपराधियों को शारीरिक कष्ट के साथ या उसके बिना मृत्युदण्ड देना), कन्या प्रकर्म (कन्या पर बलात्कार करने के मामले), अतिचारदण्ड (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, राजमहिषी, प्रव्रजिताओं आदि की मर्यादा भंग करने के मामले) आदि।

जैसाकि पीछे कहा जा चुका है, कौटिल्य ने कानून के चार स्रोत (चतुष्पाद) बताये हैं— धर्म (इसका आधार सत्य है), व्यवहार (यह साक्षियों पर आधृत होता है), चरित्र (परम्परागत रूप से चले आये नियम) तथा राजशासन (राजाज्ञाएँ)।[1] जिसे आजकल औचित्य या 'इक्विटी' कहते हैं उसी को कौटिल्य ने धर्म कहा है। धर्म का निर्णय औचित्य के आधार पर ही किया जाता था, शास्त्र के आधार पर नहीं। उसने स्पष्टतः लिखा है कि यदि शास्त्र और धर्मन्याय में भेद हो तो धर्मन्याय

---

[1]अर्थशास्त्र 3.1; पृ० 318।

को माना जाये, शास्त्र का पाठ नष्ट हुआ समझ लिया जाये ।[1] उसके अनुसार यदि कानून के चारों स्रोतों में भेद हो तो पश्चिम को 'पूर्व' का बाधक माना जाये अर्थात् धर्म से व्यवहार को, व्यवहार से चरित्र को और चरित्र से भी राजशासन को श्रेष्ठतर समझा जाये ।[2]

कौटिल्य ने न्यायालयों की कार्य-प्रक्रिया का भी विस्तृत विवरण दिया है । जब अदालत में कोई मुकदमा आता था तो विवादग्रस्त घटना की तिथि, मुकदमे के विषय का रूप, घटना स्थल का विवरण, यदि मामला ऋण का हो तो ऋण की मात्रा, वादी और प्रतिवादी के गोत्र, नाम, पेशे, ग्राम, देश आदि तथा दोनों पक्षों की युक्तियाँ और प्रत्युक्तियाँ दर्ज की जाती थीं । परोक्त दोषों (यथा, पहले कही गई बात का पीछे खण्डन करना, अपने साथी द्वारा कही गई बात को न मानना, आदि) के लिए दण्ड का विधान था । मुकदमे का खर्च हारने वाले को देना होता था । प्रतिवादी को उत्तर देने के लिए एक सप्ताह का समय दिया जाता था जो कुछ दण्ड देने पर 45 दिन तक बढ़ाया जा सकता था । परन्तु मुकदमा दायर करने वाले (वादी) को प्रतिवादी द्वारा प्रत्युत्तर देते ही प्रत्युत्तर का उत्तर देना होता था । न्यायालय सही बात जानने के लिए अपने गुप्तचरों से भी काम ले सकते थे । साक्षियों का महत्त्व बहुत अधिक था । उनको अदालत में लाने का उत्तरदायित्व वादी और प्रतिवादी का होता था और उन्हें साक्षियों को उचित भृत्ति व यात्रा-व्यय देना होता था । अदालत किसी अनिच्छुक व्यक्ति को साक्षी हेतु आने के लिए विवश कर सकती थी । साक्षियों को गवाही देने के पूर्व शपथ लेनी होती थी । वकीलों के अस्तित्व की कोई चर्चा कौटिल्य ने नहीं की है ।

सैन्य संगठन

चन्द्रगुप्त मौर्य के पास एक विशाल सेना थी । उसके संगठन का आँखों देखा हाल मेगास्थेनिज़ की 'इण्डिका' में मिलता है और आदर्शभूत वर्णन कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में । 'अर्थशास्त्र' में सेना को चार वर्गों में विभाजित किया गया है—पदाति सेना, अश्व सेना, रथ सेना और हस्ति सेना ।[3] किस प्रदेश में युद्ध के लिए कौन-सी सेना अधिक उपयोगी होती है इसका भी वह विस्तृत वर्णन करता है । उसके अनुसार समतल भूमि पर रथसेना का उपयोग करना उचित होता है और ऊँची-नीची भूमि पर पदाति, अश्व और हस्ति सैन्यों का ।[4] ये सेनाएँ क्रमशः रथाध्यक्ष, पत्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष एवं हस्त्यध्यक्ष की अधीनता में होती थीं । इन पदों पर नियुक्त किये जाने वाले व्यक्तियों की योग्यता पर कौटिल्य ने विचार किया है । इन चारों प्रकारों

[1]वही ।
[2]वही ।
[3]अर्थशास्त्र, 10.4; पृ० 797 अ० ।
[4]वही ।

की सेनाओं को सम्मिलित रूप से 'चतुरंग बल' कहा जाता था। कौटिल्य ने जल सेना का उल्लेख नहीं किया। उसके द्वारा उल्लिखित नावाध्यक्ष का कार्य जलमार्गों और उनमें काम में आने वाली नौकाओं की व्यवस्था करना मात्र था।

'अर्थशास्त्र' में दस अंगों (अर्थात् दस रथ या हाथियों आदि) के अफसर को 'पदिक' कहा गया है, दस पदिकों के अफसर को 'सेनापति' तथा दस सेनापतियों के अफसर को 'नायक'।[1] ये 'सेनापति' और 'नायक' उन सेनापति और नायक से स्पष्टतः भिन्न थे जिनकी गणना अष्टादश तीर्थों में की गई है। तीर्थ वर्ग के वे पदाधिकारी क्रमशः 48,000 और 12,000 पण वेतन पाते थे और उनमें नायक सेनापति से बहुत छोटा होता था। कौटिल्य ने हस्तिमुख्य, अश्वमुख्य, रथमुख्य, हस्तिपाल और रथिक आदि पदाधिकारियों का भी उल्लेख किया है। इनका सैन्य संगठन में सही स्थान स्पष्ट नहीं है।[2]

कौटिल्य ने सैनिकों के निम्नलिखित वर्ग बताये हैं : मौल बल (अपने देश के निवासियों में से भरती किये गये सैनिक, जिनकी निष्ठा अपने देश के प्रति होती थी), भृतक बल (वेतनभोगी सैनिक), श्रेणी बल (विभिन्न श्रेणियों और संघों से भरती किये गये सैनिक), मित्रबल (मित्र राज्य की सेना), अमित्रबल (परास्त शत्रु की सेना जो विजेता के पक्ष में लड़े), अटविबल (जंगली जातियों में से भरती किये गये सैनिक)।[3] इनमें बाद की सेना से पूर्वोक्त सेना श्रेष्ठतर होती है।

सैनिकों के लिए आयुधों और अन्य उपकरणों की व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व आयुधागाराध्यक्ष का था। उसका काम था कि वह संग्राम में प्रयुक्त होने वाले एवं अपने दुर्गों की रक्षा तथा शत्रु नगरों के विनाश में काम में आने वाले चक्रों, यन्त्रों, आयुधों, आवरणों (कवचों) और अन्य सामग्री को शिल्पियों से तैयार करवाए।[4] यन्त्र दो प्रकार के होते थे—स्थिर-यन्त्र और चल-यन्त्र। इनके अनेक उदाहरण 'अर्थशास्त्र' में बताये गये हैं। आयुधों के भी अनेक भेद इस ग्रन्थ में वर्णित हैं। आवरण कवच की तरह भी होते थे और ढाल की तरह भी। कौटिल्य ने कहीं बारूद का उल्लेख नहीं किया, परन्तु वह अग्निबाणों और अग्नियोगों (आग लगाने के नुस्खों) का वर्णन अवश्य करता है जिनमें स्वदेशी मसाले और जड़ी-बूटियाँ आदि प्रयोग में आती थीं।[5]

कौटिल्य ने तीन प्रकार के युद्धों का उल्लेख किया है[6]—प्रकाश-युद्ध (खुली

---

[1]अर्थशास्त्र, 10.6; पृ० 815।
[2]वही, 5.3; पृ० 513।
[3]वही, 9.2; पृ० 730।
[4]वही, 2.18; पृ० 208।
[5]वही, 13.4; पृ० 885।
[6]वही, 7.6; पृ० 588–9।

लड़ाई), कूट-युद्ध (कूट उपायों द्वारा लड़ा जाने वाला युद्ध) तथा तूष्णीं-युद्ध (शीत युद्ध जिसमें गूढ़ पुरुषों द्वारा शत्रु का नाश किया जाये)। किन परिस्थितियों में किस प्रकार की युद्ध-प्रणाली को अपनाया जाये, यह भी उसने विस्तार से बताया है। इसके अतिरिक्त उसने सुरक्षा के हेतु बनाये जाने वाले विविध प्रकार के दुर्गों, युद्ध में प्रयोग में लाये जाने वाले व्यूहों, सैनिकों का उत्साह बढ़ाने के उपायों, स्कन्धावारों (सैनिक छावनियों) के संगठन, परास्त शत्रुओं के साथ अपनायी जाने वाली नीतियों एवं विजित राज्य की जनता के साथ किये जाने वाले व्यवहार का भी विस्तार से विवेचन किया है।

अध्याय 10

क्लासिकल ग्रन्थों में वर्णित प्रारम्भिक मौर्य संस्कृति[1]

चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण के कुछ ही पहिले जब सिकन्दर ने पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण किया तब उसके साथ आये हुए नियर्कस, एरिस्टोबुलस, क्लिटार्कस व ओनेसिक्रिटस नामक सेनापतियों ने अपनी भारत यात्रा के संस्मरण लिखे। उनके ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं हैं परन्तु उनके उद्धरण परवर्ती लेखकों ने दिये हैं। सिकन्दर के समकालीन लेखकों के अतिरिक्त हेलेनिस्टिक साम्राज्य से भारत आने वाले राजदूतों के विवरण भी महत्त्वपूर्ण हैं। मौर्य दरबार में आने वाले हेलेनिस्टिक राजदूतों को भारत को निकट से देखने का अवसर मिला। इनमें मेगास्थेनिज़ का नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है जिसका विस्तृत परिचय पीछे दिया जा चुका है।

भारत के भूगोल विषयक तथ्य

भारतवर्ष के विस्तार तथा उसकी सीमाओं के विषय में यूनानी लेखकों द्वारा दी गई सूचनाएँ अनुमानों पर आधारित हैं। स्ट्रैबो ने इस विषय में यूनानियों के सामने आने वाली कठिनाइयों तथा उनके एतद्विषयक ज्ञान के दोषों की ओर संकेत किया है। पैट्रोक्लिज़ के अनुसार सुदूर दक्षिण से उत्तरी सीमा तक भारत का विस्तार 15 हजार स्टेडिया (1724 मील) था। पैट्रोक्लिज़ को मिली यह सूचना पर्याप्त विश्वसनीय थी, क्योंकि दक्षिण से उत्तर तक भारत का वास्तविक विस्तार लगभग 18 सौ मील है। परन्तु यूनानी लेखकों द्वारा प्रदत्त अन्य सूचनाएँ सत्य के इतने निकट नहीं हैं। मेगास्थेनिज़ ने पश्चिमोत्तर सीमा से पाटलिपुत्र तक जाने वाले राजमार्ग की दूरी 10 हजार स्टेडिया बतायी है। उसकी दृष्टि में भारत की पूर्वी छोर से पश्चिमी छोर तक की चौड़ाई 16 हजार स्टेडिया थी और दक्षिणी से उत्तरी छोर तक की 22,300 स्टेडिया।[2] अलेक्ज़ेण्ड्रिया के पुस्तकालय का अध्यक्ष एरेटोस्थेनिज़ हेलेनिस्टिक युग का प्रथम भूगोलवेत्ता था जिसने अपने काल में उपलब्ध भौगोलिक जानकारी को व्यवस्थित किया। किन्तु भारत के सम्बन्ध में उसके निष्कर्ष ठीक नहीं थे। टीसियस ने भी भारत की सीमाओं व विस्तार का अतिरंजित वर्णन किया है। उसने भारत को एक टेढ़ा-मेढ़ा चतुर्भुज बताया है जिसकी पश्चिमी सीमा 13,000

---

[1]डॉ० एम०सी० जोशी, एसोशिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय द्वारा लिखित।

[2]मजूमदार, आर० सी०, क्ला० एका०, पृ० 216।

स्टेडिया लम्बी थी, उत्तरी 16,000 स्टेडिया लम्बी, पूर्वी 16,000 स्टेडिया लम्बी और दक्षिणी 19,000 स्टेडिया लम्बी। वह प्रायद्वीपीय भारत को गंगा के मुहाने के पूर्व में रखता है। उसका भारत विषयक ज्ञान स्पष्टतः अत्यधिक दोषपूर्ण था। भारत के विषय में अतिरंजित विचारों का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि टीसियस के अनुसार भारत का विस्तार शेष एशिया से कम नहीं था। ओनेसिक्रिटस के विचार में तो भारत का विस्तार आबादीयुक्त विश्व के तृतीय मैदानी भाग के बराबर था। इसके विपरीत नियर्कस के विचार में भारत के मैदानी भाग की यात्रा केवल 4 माह में की जा सकती थी। लंका की स्थिति ओनेसिक्रिटस को स्थूलतः ज्ञात थी।[1]

यूनानी लेखकों को भारत की वर्षा ऋतु ने बहुत प्रभावित किया। ऐसी वर्षा उनको भारत के अतिरिक्त कहीं देखने को नहीं मिली। एरिस्टोबुलस लिखता है कि जब सिकन्दर तक्षशिला पहुँचा तब पहिली बार वर्षा हुई। वह वर्षा लगातार होती रही, जब उसने व्यास नदी की ओर प्रयाण किया था तथा वापिस वह झेलम की ओर लौटा था। उसके विचार में यह वर्षा मानसून (जिन्हें उसने टीसियन हवाएँ कहा है) से हुई थी।[2] उसने सिन्धु नदी की निचली घाटी में वर्षा की कमी का भी उल्लेख किया है। उसने इस बात का भी उल्लेख किया है कि सिकन्दर ने 325 ई०पू० में वसन्त व ग्रीष्म ऋतुओं की अपनी 10 माह की यात्रा में कहीं भी वर्षा नहीं देखी यद्यपि उस समय मानसून पूरे वेग पर था। ऐरेटोस्थेनिज़ ने प्रतिवर्ष दो बार, शीत ऋतु व ग्रीष्म ऋतु में, वर्षा होने का उल्लेख किया है।[3] उसके विचार में मानसून के अतिरिक्त बड़ी नदियों से उठने वाली भाप वर्षा का एक अन्य कारण थी।

मेगास्थेनिज ने भारतीय नदियों की विशालता का उल्लेख किया है। वह सिन्धु व गंगा का वर्णन करता है। उसके अनुसार गंगा नदी उत्तर से दक्षिण की ओर बहती थी और अपने स्रोत पर 30 स्टेडिया चौड़ी थी। वह समुद्र में मिलती थी। गेंगेरिडाई की पूर्वी सीमा गंगा नदी ही थी। लगभग इतनी ही बड़ी सिन्धु नदी थी जिसका स्रोत गंगा नदी की भाँति उत्तर में था। यह समुद्र में मिलते हुए भारत की सीमा बनाती थी। इन नदियों की अनेक सहायक नदियाँ भी थीं। कुछ अन्य बड़ी व छोटी नदियाँ भी थीं। इनमें से कुछ में नावों द्वारा आना-जाना सम्भव था। नियर्कस का अनुसरण करते हुए एरियन[4] ने लिखा है कि भारत के अधिकांश मैदानी भागों का निर्माण विशाल नदियों द्वारा लायी गई मिट्टी से हुआ है। इस विषय में सिन्धु व गंगा नदियों का योगदान सर्वाधिक था। सिन्धु नदी की सहायक नदियों के बहाव-क्षेत्रों में जो परिवर्तन हुए उनका कुछ आभास एरिस्टोबुलस को था।[5]

[1]नीलकान्त शास्त्री, के०ए०, पूर्वो०, पृ० 92।
[2]वही, मजूमदार, आर० सी०, पूर्वो०, पृ० 250–1।
[3]वही, पृ० 252।
[4]वही, पृ० 27।
[5]वही, पृ० 252।

एक बार उसने एक ऐसे भूमि-खण्ड को देखा था जो सिन्धु नदी के बहाव-क्षेत्र के परिवर्तित हो जाने के कारण उजाड़ हो गया था। इस भू-भाग में हजारों नगरों व ग्रामों के अवशेष थे। बाढ़ आने पर नदियाँ विस्तृत भू-भागों को जलमग्न कर देती थीं और ऊँचे स्थान पर बसे हुए नगर टापुओं का रूप ले लेते थे। धीरे-धीरे जब नदियों का पानी घटता था तो गीली मिट्टी में खेती करके सन्तोषजनक फसल अनायास उगाई जा सकती थी।

यूनानियों के अनुसार भारत की भूमि उपजाऊ थी। इसके अधिकांश में सिंचाई होती थी। फलों व अन्न की दो फसलें प्रतिवर्ष उगाई जाती थीं। चावल, ज्वार व तिल की खेती ग्रीष्म ऋतु में तथा गेहूँ, जौ व दालों की शीत ऋतु में होती थी। मेगास्थेनिज़ के विचार में यहाँ के लोगों में स्वाभिमान का कारण भरण-पोषण के समुचित साधनों का अभाव न होना था। उसके अनुसार भारत के लोग अकाल व खाद्यान्न की कमी से अपरिचित थे।[1] यूनानियों ने गन्ने को 'बिना मधुमक्खियों के शहद उगलने वाला पौधा' बताया है। उन्होंने कपास के पौधे का उल्लेख भी किया है। इस प्रकार की 'कच्ची ऊन' मेसीडोनिया निवासियों द्वारा चटाइयों व घोड़े की काठियों के गद्दे बनाने के काम में लाई जाती थी।[2] स्ट्रैबो ने ओनेसिक्रिटस द्वारा बट वृक्ष का विवरण दिये जाने का उल्लेख किया है। इन वृक्षों की शाखाएँ 12 क्युबिट तक लम्बी होती थीं। ये शाखाएँ पहिले भूमि का स्पर्श करती थीं और फिर भूमि के भीतर नये पेड़ों की जड़ों का रूप ले लेती थीं। इस प्रक्रिया से पेड़ों का झुरमुट तैयार हो जाता था जो अनेक स्तम्भों वाले छत्र के समान होता था। ये पेड़ इतने मोटे होते थे कि पाँच व्यक्ति मिलकर भी इनको अपनी भुजाओं के घेरे में नहीं ले सकते थे। एरिस्टोबुलस के अनुसार एक पेड़ की छाया में दोपहर में 50 घुड़सवार सूर्य की तपन से बचने के लिए शरण ले सकते थे। ओनेसिक्रिटस के अनुसार एक पेड़ 400 व्यक्तियों को सूर्य की गर्मी से बचा सकता था। नियर्कस ने यह संख्या बढ़ाकर 10 हजार कर दी है।[3] भारत में अनेक प्रकार की औषधियों के पेड़ व जड़ें एवं बहुत-से हानिकारक पेड़ भी पैदा होते थे। एरिस्टोबुलस के अनुसार जो व्यक्ति मात्र घातक वनस्पतियों का पता लगाता था, उपचारक वनस्पतियों का नहीं, उसे दण्ड मिलता था जो मृत्युदण्ड भी हो सकता था। किन्तु जो दोनों प्रकार की वनस्पतियों का पता लगाता था उसे राजा द्वारा पुरस्कृत किया जाता था। भारत में अरब तथा इथियोपिया की भाँति दालचीनी आदि मसाले भी पैदा किये जाते थे।[4]

मेगास्थेनिज़ ने भारत की खनिज सम्पदा का उल्लेख किया है। उसके विचार

[1]नीलकान्त शास्त्री, के० ए०, पूर्वो०, पृ० 94।
[2]मजूमदार, आर० सी०, पूर्वो०, पृ० 253।
[3]शास्त्री, पूर्वो०, पृ० 94।
[4]मजूमदार, पूर्वो०, पृ० 254।

में भारत में स्वर्ण, रजत, ताम्र व लोहा पर्याप्त मात्रा में पाये जाते थे। रांगा भी, जो आभूषण बनाने तथा युद्ध-सामग्री के निर्माण के अतिरिक्त अनेक प्रकार के उपकरणों के बनाए जाने में प्रयुक्त होता था, मिलता था।[1] उसने नदियों से प्राप्त होने वाले स्वर्ण के अतिरिक्त चींटियों से मिलने वाली स्वर्णधूलि का भी उल्लेख किया है जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। उसकी धारणा थी कि भारत की अपेक्षा लंका में मोतियों व स्वर्ण का उत्पादन अधिक होता था। उसने मोती निकालने की प्रणाली का वर्णन भी किया है। उसके अनुसार भारत में मोती का मूल्य उसके वजन से तिगुने सुवर्ण के बराबर होता था।

भारत के पशु-पक्षी

जिन भारतीय पशुओं ने यूनानी लेखकों का ध्यान अधिक आकर्षित किया उनमें हाथी का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। उनके अनुसार भारतीय हाथी अफ्रीकी हाथियों से न केवल आकार में बड़े होते थे वरन् अधिक शक्तिशाली भी थे। मेगास्थेनिज के विचार में इसका कारण भारत में उनके लिए भोजन की पर्याप्त मात्रा में उपलब्धि थी। लंका के हाथी भारतीय हाथियों से भी बड़े होते थे। हाथी की उम्र का भी विवरण क्लासिकल लेखकों ने दिया है। ओनेसिक्रिटस के अनुसार हाथी तीन सौ वर्ष तक जीवित रहते थे। कभी-कभी तो उनकी आयु पाँच सौ वर्ष तक भी होती थी। परन्तु मेगास्थेनिज़ का अनुकरण करते हुए एरियन लिखता है कि हाथी की अधिकतम आयु दो सौ वर्ष होती थी यद्यपि अधिकांश हाथी बीमारी आदि के कारण इसके पूर्व ही मर जाते थे। हाथी पकड़ने की विधि का नियर्कस व मेगास्थेनिज़ ने उल्लेख किया है जो आधुनिक 'केड्डा' विधि से मेल खाती है।[2] हाथी आसानी से पालतू बनाये जा सकते थे। आमतौर से हाथी मधुर स्वभाव वाले होते थे। कुछ हाथी पराजित स्वामी को युद्धभूमि से सुरक्षित स्थानों पर ले जाते थे। वे रणक्षेत्र में अपने स्वामी को टाँगों के बीच शरण देकर उसके प्राणों की रक्षा करते हुए लड़ने लगते थे। यदि आवेश में आकर हाथी भोजन देने वाले अथवा प्रशिक्षण देने वाले को मार डालता था तो बाद में प्रायः दुख व पश्चाताप से भोजन नहीं करता था व कभी-कभी अनशन करके जान दे देता था। हाथी शस्त्रों का प्रयोग व किसी निश्चित स्थान पर पत्थर फेंकना तथा तैरना भी सीखते थे। नियर्कस ने हाथियों द्वारा खींचे जाने वाले रथों का उल्लेख किया है। वह एक विचित्र प्रथा का उल्लेख करता है जिसके अनुसार यदि कोई युवती अपने प्रेमी को अपना शरीर अर्पित करके बदले में हाथी की भेंट प्राप्त कर लेती थी तो उसका बड़ा सम्मान किया जाता था। स्ट्रेबो ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है कि इससे मेगास्थेनिज़ का यह कथन गलत सिद्ध

[1]शास्त्री, पूर्वो०, पृ० 95।
[2]वही, पृ० 96।

होता है कि भारतवासी हाथियों व घोड़ों को व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में अपने पास नहीं रख सकते थे। इन्हें राजा की सम्पत्ति माना जाता था। गेंगेरिडाई व प्रासाई के शासक (=नन्द सम्राट्) के पास हाथियों की विशाल सेना थी जिसके कारण वह भारतीय राज्यों में सर्वाधिक शक्तिशाली माना जाता था।[1]

यूनानी लेखकों के विवरण में बन्दरों व साँपों का उल्लेख भी मिलता है। उन्होंने झेलम के तटवर्ती जंगलों में पाये जाने वाले लम्बी पूँछ वाले असामान्य आकार के लंगूरों का उल्लेख किया है। एक बार विशाल लंगूरों के समुदाय को देखकर सिकन्दर को शत्रु सेना का भ्रम हो गया था। लंगूर अनुकरण करने की कला में निपुण होते थे। ये कहीं भी जो कुछ भी देखते थे उसकी नकल करने लगते थे। इसका लाभ शिकारी लोग उठाते थे। वे उनके सामने अपनी आँखें धोते थे और फिर ऐसे बर्तन छोड़कर हट जाते थे जिनमें रसायनयुक्त जल रहता था। जब लंगूर नकल करते हुए उस जल से अपनी आँखें धोते थे तो उनकी आँखें बन्द हो जाती थीं और वे पकड़ लिए जाते थे। मेगास्थेनिज़ को अनेक प्रकार के बन्दरों का ज्ञान था। उसने एक ऐसी नस्ल को भी देखा था जिसके बन्दर देखने में मनुष्यों से मिलते-जुलते थे। इनको देखकर संन्यासियों का भ्रम हो सकता था। लैंटेग (Latage) नामक नगर में वहाँ के राजा की आज्ञा से इस प्रकार के बन्दरों को प्रतिदिन भोजन दिया जाता था। भोजन के उपरान्त ये बन्दर बिना कोई क्षति पहुँचाये हुए अरण्यों में वापिस चले जाते थे।

बन्दरों की दूसरी नस्ल हिमालय के पूर्वी क्षेत्र में पाई जाती थी। यदि इन बन्दरों को छेड़ा नहीं जाता था तो ये पेड़ों की डालों पर बैठे रहते थे और जंगली फलों से अपना भरण-पोषण कर लेते थे। किन्तु इन्हें यदि शिकारियों के आगमन का आभास हो जाता था अथवा शिकारी कुत्तों की आवाज सुनाई दे जाती थी तो ये अविश्वसनीय गति से ढालू पर्वतों के शिखरों पर चढ़ जाते थे और आक्रान्ताओं पर पत्थर लुढ़का कर अपनी रक्षा करते थे। कभी-कभी इन पत्थरों से शिकारी लोग मर भी जाते थे। पत्थर लुढ़काने वाले इन बन्दरों को पकड़ना कठिन होता था। ऐसे कुछ बन्दरों को अत्यन्त कठिनाई से पकड़ कर प्राच्य देश में लाया गया था। किन्तु ये बन्दर या तो रोगग्रस्त थे अथवा गर्भिणी मादाएँ थीं।[2] एरियन ने लिखा है कि उसके युग में भारतीय बन्दरों के विषय में सभी को जानकारी थी, अतः उसने लंगूरों के आकार, सौन्दर्य तथा उनको पकड़ने के तरीकों पर अधिक विस्तार से लिखना उचित नहीं समझा था।[3]

नियर्कस ने चितकबरे व सादे साँपों का उल्लेख किया है। यह लेखक उनकी

---

[1]यूनानी लेखकों ने गेंगेरिडाई व प्रासाई का साथ-साथ उल्लेख किया है। प्रासाई से तात्पर्य गंगा की निचली उपत्यका में रहने वाले लोगों से है।

[2]नीलकान्त शास्त्री, के० ए०, पूर्वो०, पृ० 97।

[3]वही।

अत्यधिक संख्या व दुष्ट प्रकृति से आश्चर्यचकित था।[1] इस प्रकार के साँप नदियों में बाढ़ आ जाने पर मैदानी भू-भागों के जलमग्न हो जाने से ग्रामीणों के घरों में घुस जाते थे। साँपों से बचने के लिए लोगों को अपना बिस्तर पर्याप्त ऊँचे आसनों पर लगाना पड़ता था। कभी-कभी साँपों की अत्यधिक संख्या के कारण उन्हें अपने घरों को छोड़कर जाना भी पड़ जाता था। वास्तव में यदि बाढ़ के कारण साँप नष्ट नहीं होते रहते तो देश उजाड़ हो जाता। कुछ साँप छोटे आकार के होने के साथ ही अत्यन्त घातक भी होते थे। उनके छोटे होने के कारण उनसे बचना कठिन होता था। कुछ बड़े आकार के साँप भी खतरनाक होते थे। वे अत्यन्त शक्तिशाली होने के कारण भी खतरनाक होते थे। सारे देश में सँपेरे घूमा करते थे जिन्हें सर्पदंश के उपचार की विधि ज्ञात होती थी। सिकन्दर ने अपनी सेना के लिए कुछ कुशल सँपेरों को एकत्र किया था। एरिस्टोबुलस ने सबसे अधिक लम्बा सर्प 9 क्युबिट 1 स्पैन (17 फुट 3 इंच) का देखा था। ओनेसिक्रिटस ने अभिसार प्रदेश के राजा के यहाँ के दो साँपों का उल्लेख किया है जिनमें से एक 80 क्युबिट व दूसरा 140 क्युबिट लम्बा था।[2] मेगास्थेनिज़ भी ऐसे विशालकाय अजगरों से परिचित था जो बारहसिंघों व बैलों को समूचा निगल सकते थे। वह उड़ने वाले साँपों का भी उल्लेख करता है। उड़ने वाले दो क्युबिट लम्बे साँप रात्रि में कुछ जहर गिरा देते थे। जो व्यक्ति इसके सम्पर्क में आता था उसकी खाल में फफोले हो जाते थे। मेगास्थेनिज़ ने अद्‌भुत आकार के सपक्ष बिच्छुओं का भी उल्लेख किया है।[3]

सिकन्दर के साथ आये हुए यूनानियों ने भारत के शक्तिशाली एवं निर्भीक शिकारी कुत्ते भी देखे थे। ये कुत्ते सोफाइटिज़ (सौभूति ?) के देश में देखे गये थे। सोफाइटिज़ ने इस प्रकार के 150 कुत्ते सिकन्दर को भेंट किए थे। सोफाइटिज़ के दरबार की एक रोचक घटना का उल्लेख अधिकांश लेखकों ने किया है। स्ट्रैबो के अनुसार एक बार दो शिकारी कुत्तों को शेर से लड़ने के लिए छोड़ा गया। जब दोनों कुत्ते लड़ते-लड़ते थक गये तो दो और कुत्ते छोड़ दिये गये। जब लड़ाई लगभग बराबर की चल रही थी तो सोफाइटिज़ ने एक कुत्ते को टाँग पकड़कर बाहर खींच लेने का आदेश दिया और कहा कि यदि कुत्ता तब भी शेर से अलग न हो तो उसकी टाँग काट दी जाय। सिकन्दर ने कुत्ते के अंग-विच्छेद का विरोध किया क्योंकि वह कुत्ते के जीवन की रक्षा करना चाहता था। किन्तु जब सोफाइटिज़ ने सिकन्दर को उसके बदले 4 कुत्ते देने का वचन दिया तो सिकन्दर राजी हो गया। कुत्ते की पकड़ इसके बाद भी बनी रही। इस घटना से उन कुत्तों के अद्‌भुत साहस व शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। यह विश्वास किया जाता था कि इन कुत्तों की नसों में व्याघ्र का खून

---

[1]वही।
[2]वही, पृ॰ 98।
[3]वही।

बहता था ।[1]

यूनानी लेखकों को व्याघ्र देखने का अवसर कम ही प्राप्त हुआ । नियर्कस ने व्याघ्र की खाल देखी थी, किन्तु जीवित व्याघ्र नहीं देखा था ।[2] उसने व्याघ्र के आकार के सम्बन्ध में सुना था कि वह बड़े घोड़े के आकार का होता था, किन्तु शक्ति व फुर्ती की दृष्टि से कोई जानवर उससे बढ़कर नहीं होता था । व्याघ्र जब हाथी से लड़ता था तो आसानी से उसके सिर पर चढ़कर गर्दन मरोड़ देता था । नियर्कस के अनुसार प्रायः जिन चितकबरे जानवरों को व्याघ्र कहा गया है वे सियार थे । यहाँ सियार से उसका आशय स्पष्टतः तेंदुओं से है । मेगास्थेनिज़ के विचार में सबसे बड़े व्याघ्र प्राच्य देश में पाये जाते थे । वे शेर से दुगने आकार के होते थे । एक बार उसने एक पालतू व्याघ्र को एक खच्चर की पिछली टाँग मात्र पकड़कर खींचते हुए देखा था ।[3]

मेगास्थेनिज़ ऐसे कुछ जानवरों के, जो यूनान में मात्र पालतू होते थे, भारतीय जंगलों में भी पाये जाने का उल्लेख करता है । उदाहरण के लिए भेड़ें, कुत्ते, बकरियाँ व बैल । एक सींग वाला कार्ताज़ोन (kartazon) नाम का घोड़ा, जिसका विस्तृत उल्लेख एलियन ने किया है, आमतौर से गैंडा माना जाता है । नियर्कस ने अपनी यात्रा में फारस की खाड़ी में पहुँचने से पूर्व विशालकाय ह्वेल मछली देखी थी । एलियन ने सम्भवतः इन विशालकाय मछलियों का, जो विशाल हाथी के पाँच गुने आकार की होती थीं, वर्णन करते समय मेगास्थेनिज़ का अनुकरण किया है । उसके अनुसार ह्वेल मछली की रीढ़ की लम्बाई 20 क्युबिट होती थी तथा ओठ 15 क्युबिट लम्बे ।[4]

यूनानी लेखकों का ध्यान आकर्षित करने वाले भारतीय पक्षियों में चिड़िया, तोते व मयूर उल्लेखनीय हैं । एरियन ने नियर्कस की इस बात के लिए आलोचना की है कि उसने तोतों के विषय में विस्तार से लिखा है । तोतों का एलियन द्वारा दिया गया विवरण भी, जो नियर्कस पर आधारित है, कुछ कम रोचक नहीं है । वह लिखता है कि तोतों की तीन नस्लें होती हैं । यदि इन सबको बच्चों के समान बोलना सिखाया जाय तो ये भी बातूनी बन जाते हैं और आदमी की आवाज में बोलने लगते हैं । किन्तु यदि इन्हें सिखाया नहीं जाय तो इनकी आवाज चिड़ियों की भाँति ही होती है जिसमें किसी भी प्रकार का संगीत नहीं होता । वह आगे लिखता है कि भारतीय मयूर आकार में सबसे बड़े होते हैं । सिकन्दर मोर की सुन्दरता पर इतना मुग्ध हो गया था कि उसने इस बात की घोषणा की थी कि वह मयूर की हत्या करने वाले व्यक्ति को कठोर दण्ड देगा ।[5]

---

[1]वही ।

[2]मजूमदार, पूर्वो०, पृ० 228 ।

[3]नीलकान्त शास्त्री, के०ए०, पूर्वो०, पृ० 99 ।

[4]वही ।

[5]वही, पृ० 100 ।

भारतीय पुराकथाएँ व इतिहास सम्बन्धी कुछ सूचनाएँ

यूनानियों ने भारतीय जनजीवन पर भी प्रकाश डाला है। भारतीय सामाजिक व राजनीतिक संस्थाओं के सम्बन्ध में जानकारी के लिए मेगास्थेनिज़ का वर्णन अत्यन्त उपयोगी है। अन्य प्रारम्भिक लेखकों के विवरण मात्र पश्चिमोत्तर प्रदेश तक ही सीमित हैं। उनमें स्थानीय रीति-रिवाजों व संस्थाओं का ही उल्लेख मिलता है। मेगास्थेनिज़ के अनुसार भारत में विभिन्न जातियों के लोग रहते थे। इन जातियों में कोई भी विदेशी नहीं थी, सभी स्वदेशी थीं। भारतीयों ने न कभी किसी देश में अपने उपनिवेश स्थापित किये और न भारत में कभी कोई विदेशी उपनिवेश स्थापित हो सके।[1] मेगास्थेनिज़ का यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। स्पष्टतः आर्यों का भारत में बाहर से आगमन मेगास्थेनिज़ के युग तक विस्मृत हो चुका था और सम्भवतः तब तक पूर्वी एशिया के हिन्द-चीन व मलयेशिया नामक प्रदेशों में उपनिवेशों की स्थापना प्रारम्भ नहीं हुई थी।

मेगास्थेनिज़ ने कुछ भारतीय पुराकथाओं का भी उल्लेख किया है, यथा डायोनीसियस व हेराक्लिज़ की। मेगास्थेनिज़ का कथन है कि उसने इनके विषय में भारत के प्रकाण्ड विद्वानों से सुना था। परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय विद्वानों ने डायोनीसियस व हेराक्लिज़ का नाम भी नहीं सुना होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने भारतीय देवताओं की पहिचान यूनानी देवताओं से करके उन्हें यूनानी नाम दे दिये थे। डायोनीसियस को भारत का प्रथम शासक कहा गया है। उसे भारत का न केवल विजेता वरन् देश को सुसंस्कृत करने वाला भी बताया गया है। उसने अनेकों नगरों की स्थापना की व धर्म व राजनीति को स्थापित किया। वह कलाओं का भी आचार्य था। आक्सिड्रेकाई (क्षुद्रक जाति) का उदय डायोनीसियस से हुआ था। आधुनिक विद्वान् डायोनीसियस को प्रायः भारतीय देवता शिव का यूनानी रूप मानते हैं। इस धारणा का विरोध अथवा समर्थन करना कठिन है। किन्तु यह विचार कि यूनानी लेखकों का हेराक्लिज़ भारतीय कृष्ण का प्रतिनिधित्व करता है, गलत है। केवल इतना माना जा सकता है कि यहाँ कृष्ण सम्प्रदाय के कुछ तत्त्वों का समावेश है। एरियन लिखता है, 'सौरसेनोई (शूरसेन) लोग हेराक्लिज़ को अधिक सम्मान देते हैं। इनके पास दो विशाल नगर हैं, मेथोरा (मथुरा) तथा क्लीसोबोरा (कृष्णपुर ?)। इनके देश से होकर आयोबेनिज़ (Iobanes) नदी बहती है।' तथापि मेगास्थेनिज़ द्वारा हेराक्लिज़ की पुत्री पाण्डइया (Pandaia) का उल्लेख, दक्षिण स्थित पाण्ड्य राज्य पर उसके शासन व कुछ अन्य बातों विशेषतः हेराक्लिज़ के वंशज सिबाई (Sibai) का उल्लेख किया जाना उसे शैव पुराकथाओं के अधिक निकट लाता है।[2] एरियन कुछ और महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ भी देता है जिनका आधार

---

[1]नीलकान्त शास्त्री, के०ए०, वही, पृ० 101।

[2]विस्तार से विवेचन के लिए द्र०, गोयल, श्रीराम, कौटिल्य एण्ड मेगास्थेनिज़, मेरठ, 1985, अध्याय, 13, 14, जिन्होंने हेराक्लिज़ को प्रधानतः मनु माना है।

निश्चित रूप से मेगास्थेनिज़ है। उसके अनुसार डायोनीसियस से सेण्ड्रोकोट्टोस (चन्द्रगुप्त) तक 153 राजा हुए तथा 6042 वर्ष व्यतीत हुए। इस बीच में तीन बार गणराज्यों का शासन भी रहा। हेराक्लिज़, डायोनीसियस से 15 पीढ़ी बाद में हुआ। ये तथ्य पौराणिक घटनाओं व तिथियों से साम्य रखते हुए भी पौराणिक गणना से पूर्णत: मेल नहीं खाते। हेराक्लिज़ को अनेक नगरों की स्थापना करने वाला कहा गया है। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं विशाल नगर पालिब्रोथा (=पाटलिपुत्र) था।[1]

जनजीवन वर्णन

भारतीय जनजीवन के विषय में भी यूनानी लेखक कुछ सूचनायें देते हैं। एरियन भारतीय लोगों के विषय में कहता है कि वे दुबले और लम्बे होते हैं और अन्य देशों के पुरुषों की अपेक्षा हलके। यद्यपि वे काले रंग के होते हैं परन्तु इथियोपिया निवासियों की भाँति न तो उनका रंग गहरा काला होता है और न ही उनके बाल ऊन जैसे होते हैं। इसका कारण भारत की नम जलवायु है।[2] भारतीय बहुत कम रोगग्रस्त होते हैं तथा दीर्घकाल तक जीवित रहते हैं (ओनेसिक्रिटस के अनुसार 130 वर्ष तक अथवा इससे भी अधिक)। वे मितव्ययता से रहते हैं, शराब नहीं पीते, किन्तु चावल की 'बीयर' प्राय: पीते हैं।[3] सौभूति के राज्य में पैदा होने वाले प्रत्येक बच्चे की 2 माह की आयु में राज्य के कर्मचारियों द्वारा जाँच होती थी। यदि बच्चे में कोई शारीरिक दोष होते थे तो उसे मरवा दिया जाता था। विवाह के सम्बन्ध में भारतीय लोग खानदान अथवा उच्च कुल से अधिक महत्त्व सुन्दरता को देते थे। बच्चों की सुन्दरता को एक प्रशंसनीय गुण माना जाता था। कर्टियस व डायोडोरस इस सम्बन्ध में लगभग एक-सा विवरण देते हैं। उनके विवरणों का स्रोत एक ही प्रतीत होता है। स्ट्रेबो[4] की धारणा में, जो कठों के सम्बन्ध में ऐसी ही बातें करता है, ओनेसिक्रिटस इस प्रकार की अफवाहों का सबसे बड़ा स्रोत था। किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ओनेसिक्रिटस ने जो कुछ भारत में देखा था वही लिखा है, अथवा उसने स्पार्टा की संस्थाओं के (जिनका उसे ज्ञान था) प्रकाश में अपने अनुभवों का आदर्श रूप प्रस्तुत कर दिया है। उसने यह भी लिखा है कि सबसे अधिक सुन्दर व्यक्ति को लोग अपना राजा नियुक्त करते थे।[5] भारतीय लोग अपने सौन्दर्य की वृद्धि के लिए अपनी दाढ़ी व वस्त्रों को रंगों से रँगते थे। मेगास्थेनिज़ भारतीय लोगों की कला निपुणता का कारण भारत की शुद्ध हवा व अच्छे पानी को

---

[1]मजूमदार, आर०सी०, पूर्वो०, पृ० 236।
[2]वही, पृ० 220 तथा 255।
[3]नीलकान्त शास्त्री, के०ए०, पूर्वो०, पृ० 102।
[4]मजूमदार, पूर्वो०, पृ० 259।
[5]वही।

बताता है ।[1]

तक्षशिला और सती-प्रथा

सिन्धु नदी पार करने के बाद सिकन्दर व उसके साथी तक्षशिला नामक विशाल नगर में पहुँचे थे जिसका शासक ऑम्फिस था। इस नगर के मैत्रीपूर्ण वातावरण में वे कुछ दिन तक रहे। तक्षशिला के आसपास की भूमि पर्याप्त उपजाऊ थी तथा यहाँ की आबादी घनी थी। इस नगर के शासक व उसकी सम्पत्ति का अनुमान इस नगर के लोगों द्वारा सिकन्दर तथा उसके मित्रों को दी गई भेंटों से किया जा सकता है। एरिस्टोबुलस ने तक्षशिला के कुछ असाधारण रिवाजों का उल्लेख किया है। जो लोग निर्धनता के कारण अपनी कन्याओं का विवाह करने में असमर्थ थे, वे विवाह योग्य कन्याओं का प्रदर्शन बाजार में विक्रय हेतु करते थे। इस बात का प्रचार करने के लिए वे नगर में युद्ध के ढोल व शंख का नाद करते थे। विवाह के इच्छुक व्यक्ति को पहिले लड़की की पीठ मात्र देखने दी जाती थी। इसके बाद उसे सामने से भी देखने दिया जाता था। यदि दोनों पक्षों में सहमति हुई तो विवाह हो जाता था। तक्षशिला में प्रचलित दूसरी रोचक प्रथा मृतकों से सम्बन्धित थी। इस प्रथा के अनुसार मृत व्यक्ति के शव को गिद्धों के खाने के लिए खुले मैदान में फेंक दिया जाता था। यह प्रथा निस्सन्देह ईरानी प्रभाव का परिणाम था। तक्षशिला में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। स्त्रियों में सती-प्रथा का चलन भी था। जो विधवा अपने पति की चिता में जलने से अर्थात् सती होने से इन्कार करती थी उसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता था।[2] सती-प्रथा का चलन कठों में भी था। सती-प्रथा के डायोडोरस द्वारा दिये गये कारण में स्ट्रेबो ने सन्देह प्रकट किया है। डायोडोरस के अनुसार इस प्रथा का उद्देश्य ऐसी स्त्रियों को अपने पति को जहर देकर मारने से रोकना था जो अपने पति से कम उम्र के व्यक्तियों से प्रेम करने लगती थी।[3] डायोडोरस ने सती-प्रथा के एक अत्यन्त मार्मिक दृश्य का वर्णन किया है।[4] 316 ई०पू० में यूमेनीज की सेना का एक भारतीय सेनापति ईरान में एक युद्ध में मारा गया था। उसकी दो पत्नियाँ थीं।

---

[1]मजूमदार, आर० सी०, पूर्वो०, पृ० 232। कर्टियस ने सोफाइटिज का वर्णन करते हुए कहा है : 'वह अपने लम्बे सुन्दर शरीर के कारण अन्य भारतीयों से अलग दीखता था। उसका स्वर्ण खचित राजकीय लिबास पैरों तक लटकता था। उसके पदत्राण भी स्वर्ण खचित थे। उनमें बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। उसकी कलाई व बाँहों में रत्न सुशोभित हो रहे थे। उसके कानों में बहुमूल्य रत्नों के कुण्डल लटके हुए थे जो अपनी आभा व चमक के कारण अनमोल लगते थे। उसका राजदण्ड सोने का था। उसमें फिरोजा नामक बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे (मजूमदार, वही, पृ० 127)।

[2]नीलकान्त शास्त्री, के० ए०, पूर्वो०, पृ० 103।

[3]मजूमदार, पूर्वो०, पृ० 259।

[4]वही, पृ० 240–41।

[5]सती-प्रथा का प्राचीन भारतीय साहित्य में उल्लेख प्रायः मिलता है, परन्तु अभिलेखों में इसकी चर्चा गुप्तकाल के पूर्व नहीं मिलती।

वे दोनों ही स्वर्गगत पति के साथ सती होना चाहती थीं। यह मामला यूनानी सेनापतियों के पास गया। यूनानी सेनापति ने छोटी पत्नी को सती होने की अनुमति दी। बड़ी पत्नी गर्भिणी थी अत: उसे सती होने की अनुमति नहीं दी गई। इस पर बड़ी पत्नी बहुत रोई। उसने अपना घूँघट उठा दिया और बाल नोच डाले मानो उसने कोई हृदय-विदारक समाचार सुना हो। लेकिन इस निर्णय से दूसरी पत्नी अत्यन्त प्रसन्न हुई। वह अपने को चिता-प्रवेश के लिए तैयार करने लगी। उसकी सम्बन्धिनी स्त्रियाँ उसका शृंगार करने लगीं। उसकी प्रशंसा में गीत गाते हुए सम्बन्धी उसके साथ चलने लगे। जब वह चिता के निकट पहुँची तो उसने अपने आभूषण उतार कर अपने मित्रों व सेवकों में बाँट दिए। इनमें अंगूठियाँ थीं, केशराशि में लगी स्वर्णिम तारावली थी जिसके मध्य चमकते हुए कीमती रत्न लगे हुए थे, एवं अनेक कण्ठहार थे। जो हार कण्ठ से जितना नीचे लटका हुआ था वह उतना ही बड़ा था। अन्त में उसने सबसे बिदा लेते हुए अपने भाई की सहायता से चिता-प्रवेश किया। वहाँ एकत्र भीड़ ने उसकी बड़ी प्रशंसा की। सम्पूर्ण सेना ने चिता में आग लगाये जाने के पूर्व उसकी तीन बार परिक्रमा की। इस बीच में वह स्त्री चिता में अपने मृत पति के पास लेट गई थी। यद्यपि वह चारों ओर से जल रही थी फिर भी वह पीड़ा के कारण चीखी-चिल्लाई नहीं। इस दृश्य को देखने वालों का हृदय द्रवित हो उठा, कुछ का दया के कारण तथा कुछ का प्रशंसा से। कुछ यूनानी ऐसे भी थे जिन्होंने इस प्रथा की अमानुषिक और बर्बर बताकर भर्त्सना की।

भारतीय ऋषि और दार्शनिक

यूनानियों की भारतीय ऋषियों से सर्वप्रथम भेंट तक्षशिला के पास हुई। भारतीय ऋषियों के साथ हुई भेंटों का क्लासिकल लेखकों ने अनेक प्रकार से उल्लेख किया है। स्ट्रेबो भी प्राचीन लेखकों द्वारा दिये गये विवरणों की विविधता से भ्रमित हो गया था। अब भी ये विवरण उन विद्वानों के लिए समस्या बने हुए हैं जो ऐसी दूरस्थ घटनाओं के सत्यांश की जाँच करने का प्रयास करते हैं। नियर्कस, ओनेसिक्रिटस व एरिस्टोबुलस ने इन भेंटों का अलग-अलग विवरण दिया है। मेगास्थेनिज़ ने इन विवरणों को कुछ अन्य विवरणों से मिलाकर, जिनके विषय में हमें ज्ञान नहीं है, अतिरंजित कर दिया है। एरियन व प्लुटार्क ने ऋषियों के साथ हुई सिकन्दर की भेंट का उल्लेख किया है। यह भेंट सम्भवत: तक्षशिला में हुई थी न कि 'सेम्बोस' के देश में।[1] नियर्कस द्वारा दिया गया ऋषियों का विवरण संक्षिप्त किन्तु ज्ञानवर्द्धक है। मेगास्थेनिज़ ने भारतीय सामाजिक संगठन के विषय में जो कुछ लिखा है उसका स्रोत सम्भवत: नियर्कस ही है। 'कुछ ब्राह्मण राजनीतिक जीवन में भी भाग लेते हैं तथा राजा के सलाहकार होते हैं। कुछ प्रकृति के अध्ययन में लगे रहते थे। कलानोस

[1]मजूमदार, आर०सी०, पूर्वो०, पृ० 273–278।

(कल्याण ?) द्वितीय वर्ग का था। स्त्रियाँ भी दर्शन का अध्ययन करती हैं। सभी संयमी जीवन व्यतीत करते हैं।' प्लुटार्क के अनुसार तक्षशिला-नरेश के कहने पर कलानोस सिकन्दर से मिलने के लिए आया था। वह सिकन्दर के साथ फारस भी गया जहाँ उसने सिकन्दर के विनम्र अनुरोध की परवाह न करते हुए प्रथम बार रोग-ग्रस्त हो जाने पर 73 वर्ष की आयु में आग में जलकर अपने प्राण दे दिए थे।[1] भारतीय दार्शनिक आत्मदाह के औचित्य के विषय में एकमत थे। मेगास्थेनिज़ ने भी इस बात को अनुभव किया था।[2]

एरिस्टोबुलस सम्भवतः संन्यासी व वानप्रस्थी के अन्तर को समझता था। वह कहता है कि उसने दो ब्राह्मण ऋषि देखे थे जिनमें से बड़े का सिर मुण्डित था किन्तु छोटे के सिर पर बाल थे। दोनों के साथ उनके अपने-अपने शिष्य थे। वे अपना अवकाश बाजार में व्यतीत करते थे और मुफ्त भोजन पाते थे।[3] यहाँ तक उसका कथन सत्य हो सकता है। किन्तु उसका यह कहना कि सार्वजनिक सलाहकार का कार्य करने के बदले ये विशेषाधिकार भोगते थे, सत्य नहीं माना जा सकता। सिकन्दर ने उन्हें खाने के लिए निमन्त्रित किया था जहाँ उन्होंने खड़े होकर भोजन किया। उन्होंने अपनी सहनशीलता व योग की कुछ सिद्धियों का प्रदर्शन किया था, जैसे सूर्य की तपन में लेटे रहना तथा एक पाँव पर दिन भर खड़े रहना। ओनेसिक्रिटस[4] लिखता है कि सिकन्दर ने यह सुन कर कि वे नग्न रहते हैं और किसी का निमन्त्रण स्वीकार नहीं करते, उसे उनके पास भेजा था। तक्षशिला से तीन मील से भी कम दूरी पर उसने 15 व्यक्तियों को अलग-अलग मुद्राओं में खड़े हुए देखा। इन्हीं में कलानोस व मण्डनिज़ (अन्य ग्रन्थों का दण्डनिज़) भी थे। कलानोस ने अतीत के स्वर्ण-युग का सामान्य विवरण दिया, किन्तु इसके बाद वह तब तक कुछ भी कहने के लिए तैयार नहीं हुआ जब तक कि यूनानी अतिथि नग्न होकर उसी पत्थर पर उसके साथ लेट नहीं जाता। परन्तु वरिष्ठ व बुद्धिमान मण्डनिज़ ने कलानोस को उसकी धृष्टता के लिए फटकारा। अतिथि की उत्सुकता के प्रति उसका अधिक सहानुभूतिपूर्ण रुख था। उसने यूनानी व भारतीय दार्शनिकों के विचारों के विषय में ओनेसिक्रिटस से विचार-विमर्श किया। उसने पाइथेगोरास, सुकरात व डायोजिनीज़ द्वारा उपदिष्ट यूनानी दर्शन के विषय में ओनेसिक्रिटस से जो कुछ सुना उसकी सराहना की, किन्तु उनके द्वारा वस्त्र त्याग न करने तथा प्रकृति की अपेक्षा प्रथा अथवा परम्परा को अधिक महत्त्व देने की आलोचना भी की। परस्पर वार्तालाप आसान कार्य नहीं था क्योंकि जो तीन व्यक्ति दुभाषियों का काम कर रहे थे वे वह सब कुछ नहीं समझते थे जिसका

---

[1]वही, पृ० 279–80।

[2]नीलकान्त शास्त्री, के० ए०, पूर्वो०, पृ० 105।

[3]मजूमदार, आर० सी०, पूर्वो०, पृ० 275।

[4]वही, पृ० 276।

उन्हें अनुवाद करना था। मण्डनिज़ के शब्दों में यह वैसे ही था जैसे यह उम्मीद करना कि कीचड़ से होकर बहने वाला पानी शुद्ध हो सकता है। कहा जाता है कि सिकन्दर कम से कम 10 भारतीय दार्शनिकों से मिला था। उनसे उसने अनेक कठिन व गूढ़ प्रश्न पूछे थे। उन सभी का उत्तर इन दार्शनिकों ने सन्तोषपूर्ण तरीके से दिया था और सिकन्दर ने उन सबको पुरस्कृत किया था।

मेगास्थेनिज़ ने भारतीय दार्शनिकों के विषय में बहुत कुछ लिखा है। उसके ज्ञान के स्रोत प्रारम्भिक लेखकों के विवरण तथा उसके अपने अनुभव थे। मेगास्थेनिज़ ने दो प्रकार के विद्वानों का उल्लेख किया है, किन्तु उसके द्वारा दोनों में किये गये भेद को समझना कठिन है। एक प्रकार के लोग डायोनीसियस की पूजा करते थे और जंगलों में रहते थे तथा दूसरे प्रकार के लोग हेराक्लिज़ की उपासना करते थे तथा मैदानों में रहते थे। स्ट्रैबो ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि ये विवरण अविश्वसनीय हैं और अनेक लेखकों ने इनका विरोध किया है।[1] मेगास्थेनिज़ द्वारा दिया गया ब्राह्मणों व श्रमणों का विवरण पर्याप्त उपयोगी है, यद्यपि इस बात में सन्देह है कि इन शब्दों से उसका क्या तात्पर्य था। उसके अनुसार ब्राह्मणों को समाज में अधिक सम्मान प्राप्त था। उनके सुविकसित कट्टर सिद्धान्त थे। मेगास्थेनिज़ को व्यक्ति के जन्म के पूर्व किए जाने वाले संस्कारों, चारों आश्रमों, तत्सम्बन्धी नियमों, गृहस्थों की अपेक्षया अधिक स्वतन्त्रता आदि का भी ज्ञान था। लेकिन वह अपने विवरण में कहीं-कहीं पर एतद्विषयक सिद्धान्तों का चित्रण करता हुआ प्रतीत होता है, वास्तविकता का नहीं। वह लिखता है कि ब्राह्मण लोग अधिक सन्तानोत्पत्ति के लिए अधिक से अधिक स्त्रियों से विवाह करते हैं। इसी प्रकार वह स्वाध्याय के लिए 37 वर्षों का समय बताता है। ब्राह्मणों के दर्शन व विश्व की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्तों तथा यूनानी विचारों में जो कुछ समानताएँ थीं उनका भी उसने संक्षिप्त विवरण दिया है। वह लिखता है कि स्त्रियों को दार्शनिक शिक्षा से दूर ही रखा जाता था क्योंकि इस बात का भय था कि दुष्ट स्त्रियाँ अयोग्य व्यक्तियों को पवित्र शिक्षा (तत्त्व ज्ञान) दे देंगी तथा अच्छी स्त्रियाँ संन्यास के लिए अपने पति का त्याग कर देंगी। किन्तु नियर्कस द्वारा इस मत का विरोध किया गया है। नीलकान्त शास्त्री का अनुमान है[2] कि यह अन्तर विभिन्न प्रदेशों में सिद्धान्त और व्यवहार में भेद के कारण था। उनके विचार से विदेशियों द्वारा किया गया भारतीय ब्राह्मणों का यह वर्णन काफी हद तक ठीक है। लेकिन श्रमणों (सर्मेनिज़) का वर्णन कुछ भ्रामक है क्योंकि यह नाम बौद्ध भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त होता था जबकि उनका जो वर्णन मेगास्थेनिज़ ने किया है उसमें कोई भी ऐसी बात नहीं है जो ब्राह्मणों पर लागू न होती हो। मेगास्थेनिज़ द्वारा दिया गया ब्राह्मणों का विवरण भी काफी ठीक प्रतीत होता है। इससे हमें

---

[1]मजूमदार, पूर्वो०।

[2]शास्त्री, पूर्वो०।

ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों ने एक जागरूक विदेशी प्रेक्षक को किस सीमा तक प्रभावित किया था। परन्तु श्रमणों (सर्मेनिज़) के सम्बन्ध में उसका कथन बहुत भ्रामक है। श्रमण शब्द सामान्यत: बौद्ध संन्यासियों के लिए प्रयुक्त होता है किन्तु मेगास्थेनिज़ के द्वारा प्रदत्त श्रमणों के विवरण में कुछ ही ऐसी बातें हैं जो ब्राह्मण संन्यासियों पर लागू नहीं हो सकतीं। स्ट्रेबो द्वारा संकलित किये गये उनके विवरण के अनुसार सर्मेनिज़ में सर्वाधिक सम्मानित लोग हायलोबिओई थे। वे जंगलों में रहते थे, जंगली फलों व पत्तियों से निर्वाह करते थे, वल्कल वस्त्र धारण करते थे तथा सुरा और स्त्री सम्पर्क से दूर रहते थे। राजा उनकी सलाह लेने के लिए दूत भेजते थे। घटनाओं का कारण जानने के लिए उनकी सलाह ली जाती थी। देवताओं की प्रार्थना व पूजा के लिए उनकी मध्यस्थता का उपयोग किया जाता था। हायलोबिओई के पश्चात् सम्मान व प्रतिष्ठा की दृष्टि से चिकित्सकों का स्थान था। वे मानव प्रकृति के अध्ययन के लिए दर्शन का प्रयोग करते थे। वे अपनी आदतों में मितव्ययी थे अर्थात् उनकी आवश्यकताएँ कम थीं। वे खेतों में नहीं रहते थे। उनके भोजन में चावल व जौ का समावेश होता था। यह भोजन उन्हें माँगने पर प्रत्येक व्यक्ति दे देता था। जो उन्हें अतिथि के रूप में आमंत्रित करते थे वे भी उन्हें भोजन देते थे। अपने औषधि ज्ञान के कारण वे विवाह को सन्तानयुक्त बनाते थे। वे यह भी जानते थे कि किस प्रकार व्यक्ति इच्छानुसार पुत्र या पुत्री प्राप्त कर सकता है। वे किसी भी रोग का उपचार औषधि के प्रयोग से अधिक भोजन के नियन्त्रण द्वारा करते थे। उनकी औषधियों में लेप व मरहम विख्यात थे। इन दोनों वर्गों के श्रमण सहनशीलता का अभ्यास करते थे। वे पूरे दिन एक ही मुद्रा में रह सकते थे। इनके अतिरिक्त ज्योतिषी व ओझा होते थे। वे मृतक संस्कार व तत्सम्बन्धी कार्यों की विधि में निपुण महापात्र होते थे। वे गाँवों व नगरों में भीख माँगते थे। इनसे अधिक सुसंस्कृत लोग भी नर्क के विषय में लोकप्रिय विचारों का लाभ उठाते थे। कुछ श्रमणों के साथ स्त्रियाँ भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए दर्शन का अनुशीलन करती थीं। मेगास्थेनिज़ द्वारा 'अरण्य निवासी' (हायलोबिओई) शब्द के प्रयोग से लगता है कि उसके मन में सम्भवत: वानप्रस्थी लोग रहे होंगे। किन्तु बौद्ध भिक्षु भी नगरों का त्याग कर अरण्यों में निवास करते थे। इसके अतिरिक्त श्रमण शब्द का प्रयोग व उनके द्वारा की जाने वाली उपर्युक्त सामाजिक सेवाएँ ब्राह्मण संन्यासियों से अधिक बौद्ध भिक्षुओं पर लागू होते हैं। इसके अलावा स्त्रियाँ ब्राह्मण वानप्रस्थियों की तुलना में बौद्ध संघ में भिक्षुणी रूप में अपेक्षाकृत आसानी से दीक्षित होती थीं। यदि यह बात सत्य मान ली जाय तो कहा जा सकता है कि मेगास्थेनिज़ के ग्रन्थ में बौद्ध संघ का एक अत्यन्त प्राचीन विवरण मिलता है।

पश्चिमोत्तर भारत विषयक कुछ उल्लेख

पश्चिमोत्तर भारत के साथ सिकन्दर के समकालिक लेखकों का अधिक निकट

सम्पर्क रहा था। भारत के इस सीमान्त प्रदेश के विषय में इन लेखकों ने बहुत सी उपयोगी सूचनाएँ दी हैं। नियर्कस ने लिखा है कि भारतीयों के कानून अन्य देशों के कानूनों से भिन्न थे और इन्हें लिपिबद्ध नहीं किया गया था। इस कथन का आधार भारतीय विधि-संहिता के लिए प्रयुक्त होने वाला 'स्मृति' शब्द होगा। नियर्कस की बात मेगास्थेनिज़ ने भी दोहरायी है। नियर्कस के अनुसार भारत की कुछ जातियों में मुक्केबाजी की प्रतियोगिता में विजयी व्यक्ति को पारितोषिक के रूप में लड़की देने की प्रथा थी। कुछ अन्य जातियों में अनेक परिवारों द्वारा मिलकर भूमि पर खेती करने की परम्परा थी। फसल तैयार हो जाने पर वे उपज का बँटवारा अपनी आवश्यकतानुसार कर लेते थे तथा शेष फसल को नष्ट कर देते थे ताकि लोगों में परिश्रम के प्रति उत्साह बना रहे और आलसी प्रवृत्तियाँ न पनप सकें।[1] भारतीय लोग चमकदार श्वेत कपड़े पहनते थे। ये कपड़े सूत के होते थे। इतना सफेद सूत अन्यत्र नहीं होता था। हो सकता है भारतीयों के काले रंग के कारण भी यह अधिक सफेद लगता हो। वे सूत का बना हुआ घुटनों से भी नीचा एक कपड़ा पहनते थे (धोती)। शरीर के ऊपरी भाग में भी वे दो वस्त्र पहनते थे, जिनमें एक कन्धों पर लटकता था (चादर) तथा दूसरा सिर पर बाँधा जाता था (पगड़ी)। धनी लोग कानों में हाथीदाँत के कुण्डल पहनते थे तथा धूप से बचने के लिए छतरी का प्रयोग करते थे। वे सफेद चमड़े के जूते पहिनते थे। ये जूते भली-भाँति काट-छाँटकर बनाये जाते थे। जूतों के सोल कटावदार होते थे तथा जूते की एड़ी ऊँची होती थी जिससे पहिनने वाला लम्बा लगता था।[2] कर्टियस ने एक स्थान पर लिखा है कि यहाँ के लोग अपने शरीर को पैरों तक ढकते हैं, जूते पहिनते हैं और सिर पर कपड़ा लपेटते हैं। अपने कानों में वे बहुमूल्य पाषाणों के कर्णफूल पहिनते हैं और श्रीमन्त लोग कलाई व भुजा में सोने के कड़े व भुजबन्ध पहिनते हैं। वे बालों में कंघा करते हैं पर बालों को बहुत कम कटवाते हैं। वे ठोड़ी पर दाढ़ी रखते हैं लेकिन शेष मुख को बाल काटकर चिकना रखते हैं। उनके राजाओं की विलासिता, जिसे वे उसकी शान मानते हैं, अति की सीमा पार करती है।[3]

भारतीय सैनिक

यूनानी लेखकों ने भारतीय शस्त्रों के विषय में भी लिखा है। एरियन ने भारतीय सिपाहियों व शस्त्रों का विस्तृत विवरण दिया है। उसके विवरण का आधार नियर्कस था।[4] उसके अनुसार भारत में पैदल सैनिक धनुष धारण करते थे जिसकी लम्बाई धारक के बराबर होती थी। इसे चलाते समय भूमि पर टिकाते थे और बाँये पैर से

[1]स्ट्रेबो, 15. 1. 66; मजूमदार, क्ला०एका०, पृ० 279।
[2]मजूमदार, वही, पृ० 230।
[3]वही, पृ० 104–5।
[4]वही, पृ० 229–30।

दबा कर तीर छोड़ते थे। धनुष की प्रत्यन्चा बहुत पीछे की ओर खींचते थे क्योंकि तीर लगभग 3 गज लम्बे होते थे। एरियन के अनुसार भारतीय धनुर्धारी के तीर को न तो ढाल व कवच से रोका जा सकता था और न ही अन्य किसी सबलतर साधन से। भारतीय सिपाही अपने बाएँ हाथ में बैल की खाल की ढाल रखते थे। ये ढालें बहुत चौड़ी तो नहीं होती थीं। किन्तु लम्बी पर्याप्त, सैनिकों के बराबर, होती थीं। कुछ सैनिकों के पास बर्छे होते थे। तलवार सभी सैनिक धारण करते थे। इसकी धार चौड़ी होती थी पर लम्बाई 3 क्युबिट से अधिक नहीं होती थी। जब वे सम्मुख-युद्ध लड़ते थे (जो वे अनिच्छापूर्वक ही करते थे) तो वे दोनों हाथों से तलवार को पकड़ते थे ताकि जोरदार आघात कर सकें। घुड़सवारों के पास दो बल्लम अथवा बर्छे होते थे और पैदल सैनिकों की ढाल से छोटे आकार की ढाल होती थी। घुड़-सवार सैनिक घोड़ों पर जीन नहीं कसते थे। वे घोड़े के मुँह के चारों ओर बैल की मोटी खाल की पट्टी लगाते थे जिसमें अन्दर की तरफ लोहे अथवा पीतल के काँटे लगे रहते थे जो अधिक चुभने वाले नहीं होते थे। धनी लोग हाथीदाँत के काँटों का प्रयोग करते थे। घोड़े के मुँह के भीतर लोहे का एक पाँचा रखा जाता था जिससे लगाम जुड़ी रहती थी। जब घुड़सवार लगाम खींचता था तो घोड़े के मुँह में रखा हुआ पाँचा घोड़े को नियन्त्रित करता था और पट्टी में लगे काँटे मुँह पर अंकुश रखते थे। इस प्रकार घोड़ा लगाम का अनुसरण करने को बाध्य हो जाता था।[1]

हाथी व रथ भारतीय युद्ध-प्रणाली के महत्त्वपूर्ण अंग थे। रथ में चार घोड़े जोते जाते थे और इसमें 6 व्यक्ति बैठ सकते थे। इनमें चार सैनिक होते थे जो चार कोनों में धनुष व ढाल लेकर बैठते थे तथा दो सारथी होते थे। सारथी भी लड़ाई के शस्त्रों से सज्जित होते थे। जब सम्मुख-युद्ध होता था तो सारथी लगाम छोड़कर लड़ने लगते थे।[2] एलियन के अनुसार रथ में सारथी के अतिरिक्त दो व्यक्ति और होते थे। एलियन का कथन सम्भवतः छोटे रथों की ओर संकेत करता है। उसके अनुसार प्रत्येक हाथी पर महावत को छोड़कर तीन धनुर्धारी सवार होते थे।[3] कर्टियस के अनुसार झेलम के युद्ध में पोरस की पैदल सेना के सम्मुख हेराक्लिज की मूर्त्ति रखी हुई थी। सैनिकों को उत्साहित करने के लिए यह मूर्त्ति प्रभावकारी थी।[4]

कलाएँ

नियर्कस ने भारतीयों की कला निपुणता का उल्लेख किया है। भारतीयों ने यूनानियों की जिन वस्तुओं को देखा, उनका अनुकरण करने में दक्षता दिखाई। वे ताँबे को ढालकर बर्तन बनाते थे, पीट कर नहीं। यही कारण है कि उनके बर्तन भूमि पर

[1]मजूमदार, आर० सी०, मेगास्थेनिज एण्ड एरियन (संशोधित संस्करण), पृ० 225–6।

[2]मजूमदार, आर० सी०, क्ला० एका०, पृ० 119।

[3]नीलकान्त शास्त्री, के० ए०, पूर्वो०, पृ० 110।

[4]मजूमदार, क्ला०ए०, पृ० 119।

गिरते ही मिट्टी के बर्तनों की भाँति टूट जाते थे । यहाँ सम्भवतः काँसे के बर्तनों की ओर संकेत किया गया है । राजा तथा सामन्तों के सम्मुख दण्डवत प्रणाम की प्रथा अज्ञात थी । केवल हाथ उठाकर प्रणाम किया जाता था ।[1] स्ट्रेबो के अनुसार राजा द्वारा केश-प्रक्षालन एक महान् उत्सव समझा जाता था । इस अवसर पर राजा के सभासद उसे बहुमूल्य उपहार देने के लिए परस्पर होड़ लगाते थे । जायसवाल के अनुसार यहाँ सम्भवतः राज्यारोहण के पश्चात् होने वाले अभिषेक समारोह का उल्लेख किया गया है ।[2] त्यौहार के समय जलूस निकाले जाते थे जिनमें सोने-चाँदी की झूलों से सजाये हुए हाथी व चार घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले रथों की कतारें होती थीं । इन कतारों में बैलगाड़ियाँ भी सम्मिलित होती थीं । इनके साथ राजसेवकों का समुदाय चलता था । वे अनेक प्रकार के पात्र लिये रहते थे जिनमें सोने-चाँदी के प्याले व प्रक्षालन-पात्र सम्मिलित होते थे । कुछ पात्रों में बहुमूल्य रत्न भी जड़े रहते थे । इस जुलूस में पशु-पक्षी भी रहते थे । क्लीटार्कस ने चार पहियों की पूरा पेड़ ढोने वाली गाड़ियों का उल्लेख किया है जिनकी शाखाओं से लटके पिंजरों में सुन्दर पंखों वाले और मनोहर बोलियाँ बोलने वाले पक्षी रहते थे ।

सामाजिक संगठन और जीवन

ओनेसिक्रिटस ने सिन्ध के मुसिकनोस राज्य में प्रचलित विचित्र प्रथाओं का उल्लेख किया है । वे लोग लैकेडिमोनियनों की भाँति साथ मिलकर सार्वजनिक रूप से भोजन करते थे । उनका भोजन आखेट से प्राप्त होने वाला मांस होता था । उनके पास यद्यपि सोने-चाँदी की खानें थीं तथापि वे इन धातुओं का प्रयोग नहीं करते थे । उनके पास दास नहीं थे किन्तु वे नवयुवकों को अवश्य रखते थे, जैसे क्रीट के लोग अफेमिओताई तथा लैकेडिमोनियन लोग हेलोटों को रखते थे । वे औषध-विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी विद्या पर जोर नहीं देते थे क्योंकि वे कलाओं के गहन अध्ययन को अशुभ मानते थे । युद्धकला को भी वे बुरा समझते थे । उनके समाज में हत्या व उपद्रव को छोड़कर अन्य अपराधों के लिए दण्ड की व्यवस्था नहीं थी ।[3] परस्पर विश्वास पर आधारित विवादों पर भी उनका दृष्टिकोण विचित्र था । यदि दो व्यक्तियों में से कोई एक विश्वासघात करता था तो दूसरे को उसे सहन करना होता था क्योंकि उसे गलत व्यक्ति पर विश्वास करने के लिए दोषी माना जाता था । न्यायालय में विश्वासघाती व्यक्ति पर अभियोग चला कर लोगों का ध्यान आकृष्ट करना अनावश्यक समझा जाता था ।

प्राचीन लेखकों के दास-प्रथा व न्यायालय सम्बन्धी कुछ कथनों की मेगास्थेनिज़ ने अतिरंजित पुनरावृत्ति की है । दास-प्रथा के सम्बन्ध में मेगास्थेनिज़ के साक्ष्य से

[1] मजूमदार, आर० सी०, पूर्वो०, पृ० 279 ।

[2] देखिये, जर्नल ऑव दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, 2, पृ० 99 ।

[3] मजूमदार, आर०सी०, पूर्वो०, पृ० 261 ।

डायोडोरस,[1] एरियन[2] तथा स्ट्रैबो[3] ने उद्धरण दिए हैं। इनमें एरियन के कथन सर्वाधिक स्पष्ट और पूर्णतम हैं। वह लिखता है सभी भारतीय स्वतन्त्र हैं, कोई भी दास नहीं है। लैकेडिमोनियनों व भारतीयों में यहाँ तक समानता है। लेकिन लैकेडिमोनियन हेलोटों को दासों के समान रखते हैं और वे लोग दास कार्य करते हैं। किन्तु भारतीय लोग विदेशियों को भी दास नहीं बनाते, स्वदेशियों की तो बात ही क्या। नीलकान्त शास्त्री के अनुसार जब मेगास्थेनिज़ ने दास-प्रथा के सम्बन्ध में लिखा तो उसके मन पर ओनेसिक्रिटस के कथन की छाप रही होगी। उसने ओनेसिक्रिटस के कथन को सारे देश पर लागू कर दिया है यद्यपि ओनेसिक्रिटस का कथन केवल उस प्रदेश पर लागू होता था जिसकी उसने यात्रा की थी। मेगास्थेनिज़ लिखता है कि भारत में दास नहीं होते (जैसाकि ओनेसिक्रिटस को ज्ञात था), किन्तु उसके द्वारा भारतीय सेवकों की हेलोटों से तुलना ठीक प्रतीत नहीं होती, क्योंकि हेलोट वास्तव में दास थे। स्पष्टत: मेगास्थेनिज़ ने भारतीय सेवकों को दास नहीं माना क्योंकि वह दास-प्रथा के वैधानिक व राजनीतिक पक्ष की बारीकियों के प्रति सजग था। उसकी दृष्टि में दास स्वामी की सम्पत्ति होते थे और उनके कोई अधिकार नहीं थे। ब्रेलोअर ने दासों व कर्मकारों तथा मजदूरों के सम्बन्ध में 'अर्थशास्त्र' में दिये गये नियमों का अध्ययन करके यह स्पष्ट किया है कि भारतीय दासों की स्थिति पश्चिमी देशों के गुलामों की भाँति नहीं थी। अर्थात् वे उस रूप में दास नहीं होते थे जिस रूप में यूनान में हुआ करते थे। भारतीय दासों को नीच कार्य नहीं करने पड़ते थे। वे सम्पत्ति भी रख सकते थे तथा उसका हस्तानान्तरण भी कर सकते थे। कुछ परिस्थितियों में वे दासत्व से मुक्त होने का अधिकार भी रखते थे। नीलकान्त शास्त्री के अनुसार मेगास्थेनिज़ ने दास-प्रथा के सम्बन्ध में लिखते समय न तो भारतीय स्थिति को आदर्श बनाने की चेष्टा की है ताकि यूनानी उससे शिक्षा ग्रहण करें और न भारतीय दासों की अच्छी स्थिति से वह इतना भ्रमित हुआ था कि उसने भारत में दास-प्रथा के अस्तित्व को ही नकार दिया। उसने जो कुछ देखा और समझा उसके प्रकाश में उसने अपने पूर्वगामी लेखक के मत पर टीका प्रस्तुत की है।

मेगास्थेनिज़ द्वारा भारतीय समाज का सात जातियों अथवा वर्गों में विभाजन बड़ा लोकप्रिय है। उसके द्वारा उल्लिखित सात जातियाँ हैं—(1) दार्शनिक, (2) कृषक, (3) ग्वाले व आखेटक, (4) कारीगर व व्यापारी, (5) युद्धकर्मी (सैनिक), (6) निरीक्षक या ओवरसियर तथा (7) काउन्सिलर्स और एस्सेसर्स या मंत्री और सचिव अथवा अमात्य।

नियर्कस की भाँति मेगास्थेनिज़ ने भी दो प्रकार के ब्राह्मणों का उल्लेख किया है। एक तो वे जो प्रकृति का अध्ययन रहते तथा धर्मानुसार रहते थे तथा दूसरे वे जो राजनीतिक जीवन में भाग लेते थे तथा राजा के सलाहकार का कार्य करते थे।

[1]वही, पृ० 236।
[2]वही, पृ० 224।
[3]वही, पृ० 271।

संख्या की दृष्टि से दोनों ही प्रकार के ब्राह्मण कम थे, किन्तु उदात्त चरित्र तथा विद्वान् होने के कारण उनका सम्मान अधिक था। दार्शनिक भी दो वर्गों में बँटे थे—प्रथम प्रकार के दार्शनिक पुरोहित थे जो दक्षिणा के बदले धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पादन करते थे तथा वैयक्तिक व सार्वजनिक धार्मिक कृत्यों की अध्यक्षता करते थे। इन पुरोहितों को अनेक सुविधाएँ प्राप्त थीं। उनको बेगार नहीं देनी पड़ती थी तथा उन पर किसी प्रकार के कर नहीं लगाये जाते थे। प्रत्येक नव वर्ष के प्रारम्भ में वे वर्षफल बताते थे। दूसरे प्रकार के दार्शनिक संन्यासी थे। देश की जनता का अधिकांश भाग कृषकों का था। द्वितीय वर्ग के ये लोग युद्ध आदि अन्य सेवा कार्यों से मुक्त थे। इस वर्ग के लोग अपना अधिकतम समय कृषिकर्म में लगाते थे। कृषक लोग विनम्र स्वभाव के थे। वे लोग देहातों में निवास करते थे। जहाँ तक सम्भव हो सकता था वे नगरों में नहीं जाते थे। युद्धकाल में कृषकों के कार्य में बाधा नहीं डाली जाती थी। एरियन ने इस सम्बन्ध में लिखा है: गृहयुद्ध के समय सैनिकों द्वारा किसानों के साथ दुर्व्यवहार करने तथा उनके खेतों को क्षति पहुँचाने की मनाही है, इसलिए जहाँ एक ओर सैनिक आपस में लड़ रहे हों तथा एक दूसरे की हत्या कर रहे हों वहाँ दूसरी ओर किसानों को शांतिपूर्वक अपने काम को करते देखा जा सकता है। एरियन द्वारा दिया गया यह विवरण न तो अतिरंजित है और न ही स्थिति का आदर्शभूत वर्णन। यह भारत की वास्तविक स्थिति का दिग्दर्शन कराता है। बौद्ध साहित्य में एक अत्यन्त रोचक उपमा मिलती है जिसमें कहा गया है कि दार्शनिकों को अपने प्रतिद्वन्द्वी के विचारों का खण्डन करते समय तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों का आदर करना चाहिए क्योंकि ये सिद्धान्त दोनों पक्षों के लिए उपयोगी होते हैं—वैसे ही जैसे राजा दुश्मन के सिपाहियों का विनाश करते समय कृषकों और मजदूरों का निरादर नहीं करता क्योंकि ये दोनों ही सेनाओं के लिए उपयोगी होते हैं।

मेगास्थेनिज़ द्वारा उल्लिखित तृतीय वर्ग ग्वालों व आखेटकों का था जो यायावर जीवन व्यतीत करते थे। इस वर्ग के लोग जंगली पशुओं का नाश करते थे तथा फसल को क्षति पहुँचाने वाली चिड़ियों से भूमि को मुक्त रखने में सहायक होते थे। ये लोग राजा को कर रूप में पशु देते थे और सेवा के बदले अनाज पाते थे। चतुर्थ वर्ग कारीगरों व व्यापारियों का था। इस वर्ग के लोग भी राजा को अपनी आमदनी पर कर देते थे। युद्ध-सामग्री का निर्माण करने वाले तथा जहाज बनाने वालों को कर नहीं देना पड़ता था। उल्टे उन्हें राज्य की ओर से अनुदान मिलता था। पाँचवां वर्ग सैनिकों का था जो संख्या की दृष्टि से कृषकों के बाद आते थे। इस वर्ग के लोग शांति काल में सुखमय जीवन व्यतीत करते थे। इनको पर्याप्त वेतन मिलता था जिससे वे अपनी आवश्यकता के अनुसार ऐसे सेवकों को नियुक्त कर सकते थे जो उनके शस्त्रों की सफाई, घोड़ों की देख-रेख, हाथियों के संचालन व रथों के चलाने का कार्य करने के साथ-साथ घरों तथा छावनी में उनकी सेवा कर सकें। यूनानी राजदूत द्वारा उल्लिखित छठे वर्ग में विभिन्न राजकीय विभागों के निरीक्षण हेतु

नियुक्त पदाधिकारी (जैसे 'महामात्र' तथा 'अध्यक्ष') सम्मिलित थे। इनके अतिरिक्त इस वर्ग में अगणित जासूस (जिनको गणिकाओं से सहायता मिलती थी) भी आते थे। ये जासूस महत्त्वपूर्ण बातों तथा प्रजा के विषय में गुप्त जानकारी प्राप्त करके राजा को निरन्तर सूचना देते रहते थे। गणराज्यों में इस प्रकार की सूचना ये लोग मजिस्ट्रेटों को देते थे। सातवें वर्ग में मन्त्री, सेनापति, न्यायाधीश तथा कोषाध्यक्ष आदि सम्मिलित थे। मेगास्थेनिज़ ने इन्हें काउन्सिलर तथा एस्सेसर्स कहा है।

डायोडोरस ने वर्ग संगठन का वर्णन इस टिप्पणी के साथ समाप्त किया है: 'भारत' के राज्य शरीर का विभाजन इस प्रकार इन वर्गों में किया गया है। कोई भी व्यक्ति अपने वर्ग के अतिरिक्त किसी अन्य वर्ग में विवाह करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है। प्रत्येक (व्यक्ति) को अपने ही व्यवसाय का अनुसरण करना पड़ता है। उदाहरण के लिए कोई सैनिक कृषक नहीं बन सकता। इसी प्रकार कोई कलाकार दार्शनिक नहीं बन सकता। यहाँ डायोडोरस ने भारतीय वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख किया है। जिसके अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण के लोग अपने वर्णगत व्यवसाय ही अपना सकते थे। एरियन ने भी कुछ इसी प्रकार की बात कही है। किन्तु इसके अतिरिक्त उसने यह भी कहा है कि 'किसी भी (वर्ण के) व्यक्ति को सोफिस्ट (संन्यासी) बनने की छूट है क्योंकि संन्यासी का जीवन आसान जीवन नहीं है, वरन् सबसे कठिन जीवन है।' स्ट्रैबो ने भी विवाह व व्यवसाय के सम्बन्ध में प्रचलित अवरोधों का उल्लेख किया है, किन्तु वह यह भी बताता है कि दार्शनिकों पर, उनकी श्रेष्ठता के कारण, उपर्युक्त अवरोध लागू नहीं होते थे। सवर्ण विवाह पर बल देना तथा अपने व्यवसाय (स्वधर्म) को ही अपनाना और ब्राह्मणों को इन नियमों से अलग रखना इत्यादि इस बात की ओर संकेत करते हैं कि मेगास्थेनिज़ ने जाति-व्यवस्था का ही वर्णन किया है। लेकिन उसके द्वारा बताये गये व्यवसायगत तथा विवाह सम्बन्धी अवरोध छठे व सातवें वर्गों के सन्दर्भ में कोई अर्थ नहीं रखते।[1] ऐसा लगता है कि उसने या तो भारतीय वर्ण-व्यवस्था (चार वर्ण) के विषय में सुना ही नहीं था या उसने मिस्र एवं भारत के सामाजिक संगठन में सादृश्य दिखाने के लिए सात वर्गों की बात कह दी है, क्योंकि यूनानी लोग मिस्री समाज को भी सात वर्गों में विभाजित मानते थे।[2] मेगास्थेनिज़ के विवरण में यद्यपि अनेक कमियाँ हैं तथापि उसका विवरण सत्य के पर्याप्त निकट है।

---

[1]ब्रेलोअर का कहना है कि मेगास्थेनिज़ ने भारतीय वर्गों के लिए मेसॉस (mesos) शब्द का तथा सवर्ण विवाह के उल्लेख में जेनॉस (genos) शब्द का प्रयोग किया होगा। डायोडोरस व स्ट्रैबो ने यह अन्तर बनाये रखा किन्तु एरियन ने जेनॉस शब्द का सात वर्गों के लिए प्रयोग करके भ्रम उत्पन्न कर दिया है। दूसरे शब्दों में, सवर्ण विवाह का नियम पारिवारिक नियमों का भाग था। इसका अस्तित्व भारतीयों के सात वर्गों में विभाजन से असम्बद्ध था। ब्रेलोअर के अनुसार मिस्री समाज के हेरोडोटस द्वारा उल्लिखित सात वर्गों से मेगास्थेनिज़ के सात वर्गों का कोई सम्बन्ध नहीं था।

[2]प्राचीन मिस्री लोग इन सात वर्गों में विभाजित थे—पुरोहित, सैनिक, ग्वाले, शूकरपालक, व्यापारी, दुभाषिये तथा नाविक। हेरोडोटस, 2, 164 (नीलकान्त शास्त्री, पूर्वो०, पृ० 116 पर उद्धृत)

परिशिष्ट

चन्द्रगुप्त मौर्य कालीन कला

क्या चन्द्रगुप्त मौर्य ने कुछ पाषाण स्तम्भों का निर्माण करवाया था ?

चन्द्रगुप्त मौर्य के काल का कोई अभिलेख अभी तक नहीं मिला है और न मिलने की सम्भावना प्रतीत होती है क्योंकि मेगास्थेनिज़ के अनुसार चन्द्रगुप्त के काल में भारतवासी निरक्षर थे एवं, जैसाकि हमने अन्यत्र देखा है,[1] अशोकीय ब्राह्मी स्पष्टतः अशोक या बिन्दुसार के काल में आविष्कृत हुई थी। इसलिये यह सिद्ध करना बड़ा कठिन है कि उन मृण्मूर्त्तियों, पाषाण-चक्रों तथा पाषाण मूर्त्तियों में, जिन्हें सामान्यतः मौर्यकालीन माना जाता है, कौन-कौन सी चन्द्रगुप्त मौर्य कालीन हैं। इसी प्रकार यह कहना भी कठिन है कि उन पाषाण स्तम्भों में, जो आजकल अशोक के माने जाते हैं, कुछ प्राक्-अशोकीय (और इसलिए सम्भवतः चन्द्रगुप्त मौर्य कालीन) हैं या नहीं।[2] कुछ विद्वानों ने तिथिविहीन अथवा कलात्मक दृष्टि से हीनतर या पशुशीर्षविहीन स्तम्भों को प्राक्-अशोकीय मानने का प्रस्ताव रखा है। लगभग दस वर्ष पूर्व जॉन इर्विन ने इस प्रश्न पर नई दृष्टि से विचार किया तथा सुझाव रखा कि जिन स्तम्भों के नीचे नींव का पत्थर (underpinning stone) नहीं है वे प्राक्-अशोकीय हैं और शेष अशोककालीन।[3] इस दृष्टि से उन्होंने रामपुरवा (वृषभशीर्ष युक्त), संकिस, कौशाम्बी इलाहाबाद तथा वैशाली स्तम्भों को प्राक्-अशोकीय माना है। उनका कहना है कि पहिले भारतीय वास्तुकारों को स्तम्भ के नीचे नींव का पत्थर लगाना नहीं आता था; इस तकनीक को उन्होंने अशोक के काल में सीखा। उनका यह भी कहना है कि प्राक्-अशोकीय स्तम्भों पर (वैशाली स्तम्भ के अतिरिक्त) सिंहेतर पशुओं की शीर्ष मूर्त्तियाँ थीं (यथा, वृषभ, हाथी आदि की) जिनका सम्बन्ध वैदिक परम्परा से था जबकि सिंह का सम्बन्ध (जिसकी मूर्त्तियाँ अशोक ने बनवाईं) बौद्ध धर्म से था।

---

[1]दे०, गोयल, श्रीराम, 'ब्राह्मी स्क्रिप्ट : एन इन्वेन्शन ऑव दि अर्ली मौर्य पीरियड,' एस० पी० गुप्त तथा के० एस० रामचन्द्रन द्वारा सम्पादित 'दि ओरिजिन ऑव ब्राह्मी स्क्रिप्ट' में लेख, नई दिल्ली, 1979, पृ० 1–53; कौटिल्य एण्ड मेगास्थेनिज़, मेरठ, 1985, पृ० 82–100; प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, जयपुर, 1982, पृ० 18–27।

[2]राय, एन०आर०, नन्द-मौर्य-युगीन भारत, पृ० 390।

[3]जॉन इर्विन के 'बर्लिंगटन मेगज़ीन' में प्रकाशित लेख, एस०पी० गुप्त द्वारा 'दि रूट्स् ऑव इण्डियन आर्ट' में उद्धृत, देहली, 1980, पृ० 365।

परन्तु एस० पी० गुप्त ने ध्यान दिलाया है[1] कि नींव के पत्थर का उपयोग उस भूमि की प्रकृति पर निर्भर करता था जहाँ स्तम्भ खड़ा किया जाता था। सख्त भूमि में (जैसे कौशाम्बी में) तथा चट्टानी भूमि में (जैसे साँची में) इसकी आवश्यकता नहीं थी। इसी प्रकार वृषभ और हाथी का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से भी था। यह सारनाथ सिंह शीर्ष पर बनी मूर्त्तियों से भी स्पष्ट है। इसलिए इन तर्कों से अशोक की किसी भी 'लाट' को प्राक्-अशोकीय सिद्ध नहीं किया जा सकता।

पाटलिपुत्र के चन्द्रगुप्त कालीन वास्तु अवशेष

पाटलिपुत्र से मौर्य कालीन वास्तु अवशेष खोज निकालने का श्रेय एल० ए० वैडेल (1892, 1903), पी० सी० मुखर्जी (1897–98), डी० बी० स्पूनर (1912–13), मनोरञ्जन घोष (1922–23, 1926–28) एवं बी० वी० सिनहा तथा लाला आदित्य नारायण (1955–56) को प्राप्त है।[2] पाटलिपुत्र के बाहर सारनाथ, बैराट, निगालीसागर, वैशाली, पिप्रावा तथा विदिशा से भी प्राक्-मौर्य और प्रारम्भिक मौर्य युगीन स्तूप आदि के अवशेष मिले हैं जिनमें कुछ चन्द्रगुप्त कालीन हो सकते हैं, यद्यपि इसे प्रमाणित करना असम्भव है।

क्लासिकल लेखकों ने चन्द्रगुप्त कालीन पाटलिपुत्र और उसकी काष्ठ निर्मित प्राचीर और परिखा का वर्णन किया है। मेगास्थेनिज़ के अनुसार नगर की लम्बाई $9\frac{1}{2}$ मील और चौड़ाई $1\frac{1}{2}$ मील थी। नगर के चारों ओर काष्ठ की, 64 द्वार तथा 570 बुर्जयुक्त, प्राचीर और 60 फुट गहरी और 600 फुट चौड़ी खाई थी। इस प्राचीर के अवशेष बुलन्दीबाग, बहादरपुर, महाराजखण्ड तथा सेवाई टैंक आदि से मिले हैं। बुलन्दीबाग से प्राप्त प्राचीर का अंश 150 फुट लम्बा है। इसमें लकड़ी के खम्भों की दो पंक्तियाँ हैं जिनके बीच में $14\frac{1}{2}$ फुट का अन्तर है। इस अन्तर को स्लीपरों से ढका गया है और ऊपर शहतीर जड़ें हैं। खम्भों की ऊँचाई $12\frac{1}{2}$ फुट है और ये जमीन में 5 फुट गहरे गड़े हैं। इस प्रकार पुरातात्त्विक अवशेष क्लासिकल लेखकों के वर्णन को स्थूलतः सही प्रमाणित करते हैं यद्यपि पुरातत्त्व से द्वारों और बुर्जों के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती।[3]

कुम्रहार का स्तम्भीय कक्ष

एरियन के अनुसार पाटलिपुत्र के राजप्रासाद के वैभव का मुकाबला सूसा और एक्बटाना के महल भी नहीं कर सकते थे। बहुत से विद्वान् यह मानते हैं कि कुम्रहार से प्राप्त स्तम्भीय कक्ष इस राजप्रासाद का अंग था। इस कक्ष में 80 पाषाण स्तम्भ थे

[1]दे०, गुप्त, एस० पी०, पूर्वो०, पृ० 43–7।
[2]वही, पृ० 227–30।
[3]वही, पृ० 235।

जिनमें स्पूनर को कम से कम एक स्तम्भ, जो अशोक के स्तम्भों जैसा ही पालिशदार है, लगभग पूर्ण रूप में मिला था। इन स्तम्भों के शीर्ष पर कोई आकृति नहीं थी। स्तम्भ 10–10 की आठ पंक्तियों में लगे थे। एक स्तम्भ के केन्द्र-बिन्दु से दूसरे स्तम्भ का केन्द्र-बिन्दु 4.6 मीटर दूर था। इस प्रकार कक्ष का कुल क्षेत्रफल 39.14 × 31.66 मीटर है। इसमें दक्षिण दिशा में एक पोर्च बना था जिसे कुछ पुरातत्त्ववेत्ता सिंहासन-मण्डप कहते हैं। इसके स्तम्भ अपेक्षया पतले और छोटे थे। सभी स्तम्भ कठोर जमीन पर जमाए गए काष्ठ के आधार या पीठ पर स्थापित थे। पोर्च के नीचे स्वच्छ जल की नहर थी जिसमें नावें चलती थीं। नहर से पोर्च तक जाने के लिये सीढ़ियाँ बनी थीं।

कुम्रहार के इस स्तम्भीय कक्ष को स्पूनर के अनुसार चन्द्रगुप्त ने बनवाया था,[1] अल्तेकर तथा मिश्र के अनुसार अशोक ने[2] तथा एन० आर० राय के अनुसार इसको मूलतः काष्ठ स्तम्भों की सहायता से चन्द्रगुप्त ने बनवाया था और पाषाण स्तम्भ युक्त करवाया अशोक ने।[3] जहाँ तक इसके निर्माताओं का प्रश्न है स्पूनर तथा ह्वीलर[4] के अनुसार यह ईरान के पर्सिपोलिस राजप्रासाद के शतस्तम्भीय कक्ष के अनुकरण पर ईरानी कलाकारों ने बनाया था तथा वी० एस० अग्रवाल के अनुसार भारतीय कलाकारों ने वैदिक परम्परानुसार।[5] रही इसके उपयोग की बात सो ह्वीलर ने इसे मौर्य सम्राट् का सभाभवन माना है और सीताराम राय ने वह भवन जिसमें अशोक के काल में तृतीय संगीति का आयोजन किया गया था। लेकिन हमारे विचार से इस विषय में सर्वाधिक सही सुझाव एस० पी० गुप्त का है।[6] वह इसे मौर्य नरेशों का 'रम्य मण्डप' या 'बारादरी' मानते हैं जहाँ वे ग्रीष्म ऋतु में नहर के किनारे बैठकर ठण्डक का और वर्षा ऋतु में वर्षा का आनन्द उठाते थे। यह कक्ष अकेला है, किसी महल का अंग नहीं। यह इतना बड़ा भी नहीं है कि इसमें विशाल संगीति का आयोजन हो पाता। इसके विपरीत नहर के किनारे इसकी स्थिति तथा नहर से मण्डप में पहुँचने के लिए बनी सीढ़ियाँ डॉ० गुप्त के सुझाव के पक्ष में हैं।

---

[1]स्पूनर, जे०आर०ए०एस०, 1915।

[2]अल्तेकर और मिश्र, रिपोर्ट ऑन कुम्रहार एक्स्केवेशन्स, 1951–55, पटना, 1959।

[3]नन्द मौर्य युगीन भारत, पृ० 405।

[4]एन्श्येण्ट इण्डिया, 4, पृ० 85–101।

[5]गुप्त द्वारा उद्धृत।

[6]गुप्त, पूर्वो०।

अध्याय 11

बिन्दुसार

जन्म और राज्य प्राप्ति

मौर्य वंश और साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त का पुत्र और उत्तराधिकारी बिन्दुसार था और बिन्दुसार का पुत्र और उत्तराधिकारी अशोक महान्। बिन्दुसार के शासन काल का इतिहास अल्पज्ञात है और आधुनिक इतिहासकारों की दृष्टि में विशेषतः अशोक के शासन काल की पृष्ठभूमि के रूप में ही महत्त्वपूर्ण है। कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि बिन्दुसार की माता सेल्युकस की पुत्री वह यूनानी राजकुमारी रही होगी जिसका चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ विवाह सेल्युकस के साथ हुई सन्धि का परिणाम था। इस मान्यता को 'भविष्य-पुराण' के इस साक्ष्य से बल मिलता है :

> चन्द्रगुप्तस्ततः पश्चात्पौरसाधि पतेः सुताम्।
> सुलूबस्य तथोद्वाह्य यावनी बौद्धतत्परः ।।[1]

इस श्लोक में उल्लिखित सुलूब लगभग निश्चित रूप से सेल्युकस है, इसलिए इस भारतीय साक्ष्य से क्लासिकल लेखकों द्वारा सेल्युकस-चन्द्रगुप्त विवाह-सन्धि विषयक सूचना सत्य सिद्ध हो गई लगती है।

'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' के अनुसार जब बिन्दुसार का अभिषेक हुआ वह एक शिशु मात्र था। इसलिए उसके शासन की अवधि इस ग्रन्थ में 70 वर्ष दी गई है।[2] लेकिन यह असम्भव है। उसके पुत्र अशोक का जन्म लगभग 300 ई०पू० में हुआ था इसलिए स्वयं बिन्दुसार अपने पिता चन्द्रगुप्त की मृत्यु के समय 'शिशु' नहीं हो सकता था। स्मरणीय है कि अन्य साहित्यिक परम्पराओं के अनुसार उसने 25, 27 या 28 वर्ष शासन किया था 70 वर्ष नहीं, और इस बीच में उसके पुत्र सुसीम और अशोक ने वायसराय के रूप में शासन किया था। यह परम्परा अब आभिलेखिक साक्ष्य से भी सत्य प्रमाणित हो गई है। 1975 ई० में बुधनी या पानगोरारिया की एक नैसर्गिक गुहा से एक अभिलेख मिला था जिसमें बताया गया है कि अशोक ने मध्य-प्रदेश के सेहोर जिले में स्थित इस गुहा की यात्रा उस समय की थी जब वह एक

---

[1]भविष्य-पुराण, 3.6.43।

[2]चट्टोपाध्याय, एस०, बिम्बिसार टू अशोक, पृ० 102।

'महाराजकुमार' था।[1] स्पष्टतः वह उस समय उज्जयिनी में गवर्नर रहा होगा। इसलिए उसके पिता बिन्दुसार को चन्द्रगुप्त की मृत्यु के समय शिशु मात्र नहीं माना जा सकता।

बहुत से विद्वानों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य की मृत्यु और बिन्दुसार के राज्यारोहण के समय साम्राज्य उस घोर अकाल से पीड़ित था जिसकी चर्चा जैन ग्रन्थों में आई है। इस दुर्भिक्ष और बिन्दुसार का सम्बन्ध सोहगोरा तथा महास्थानगढ़ से प्राप्त उन मौर्यकालीन अभिलेखों से भी जोड़ा गया है जो तिथिविहीन भी हैं और किसी राजा का उल्लेख भी नहीं करते। परन्तु जैसा कि हमने अन्यत्र दिखाया है, जैन परम्पराओं में चर्चित दुर्भिक्ष चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में नहीं पड़ा था[2] और उपर्युक्त दोनों अभिलेख साम्राज्य के प्रशासन से सम्बन्धित तो हैं परन्तु किसी अकाल की चर्चा नहीं करते।

नाम, उपाधि और परिवार के सदस्य

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने बिन्दुसार के नाम के सम्बन्ध में एक रोचक कथा दी है। वह लिखता है कि चाणक्य चन्द्रगुप्त को प्रतिदिन भोजन के साथ थोड़ा-सा विष दे देता था। एक दिन चन्द्रगुप्त की गर्भवती पत्नी ने उसके साथ भोजन कर लिया जिससे उसकी मृत्यु हो गयी। चाणक्य ने रानी का पेट चिरवाकर शिशु को निकाल तो लिया किन्तु शिशु के सिर पर विष का एक बिन्दु बन गया। इस कारण यह शिशु बिन्दुसार कहलाया।[3] एक चीनी ग्रन्थ में उसका नाम बिन्दुपाल लिखा है। पुराणों में उसे कहीं-कहीं 'नन्दसार', 'भद्रसार' या 'वारिसार' भी कहा गया है।[4] ये नाम लिपिकों की भूल का परिणाम लगते हैं। क्लासिकल लेखक एथेनियस ने उसे अमित्र-केटिज़ कहा है। स्ट्रेबो के अनुसार चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी का नाम एलिट्रोकेटिज़ था। एक अन्य क्लासिकल लेखक ने उसका नाम अमित्रोकेडिज़ दिया है। फ्लीट के अनुसार इस यूनानी नाम का भारतीय रूपान्तर 'अमित्रखाद' होगा अर्थात् 'शत्रुओं को खाने वाला'। परन्तु लैसन और अधिकतर भारतीय विद्वान् इसका रूपान्तर 'अमित्रघात' (=शत्रुओं का विनाशक) करते हैं। इस शब्द का प्रयोग पतंजलि के 'महाभाष्य में हुआ है। 'महाभारत' में तत्कालीन योद्धाओं के लिए 'अमित्रघातिन्' उपाधि का प्रायः प्रयोग मिलता है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में भी एक स्थल पर 'अमित्राणांहन्ता' विशेषण प्रयुक्त है। हो सकता है बिन्दुसार ने अपने शत्रुओं को नष्ट करके यह उपाधि धारण की हो। जैन ग्रन्थ 'राजावलीकथे' में चन्द्रगुप्त के पुत्र

[1]गुप्त, एस० पी०, दि रूट्स् ऑव इण्डियन आर्ट, देहली, 1980, पृ० 196।

[2]गोयल, श्रीराम, चन्द्रगुप्त मौर्य, मेरठ, 1987, अध्याय 7।

[3]विष बिन्दुश्च सक्रान्तस्तस्य बालस्यमूर्धनि।
ततश्च गुरुभिर्बिन्दुसार इत्यभिधायि सः॥

[4]भविता नन्दसारस्तु (अथवा भद्रभारस्तु) पञ्चविंशत् समा नृपः।

का नाम सिंहसेन लिखा है। हो सकता है बिन्दुसार और सिंहसेन एक ही व्यक्ति के नाम रहे हों और 'अमित्रघात' उसकी उपाधि रही हो।

जैन ग्रन्थों में बिन्दुसार की माता का नाम दुर्धरा दिया गया है। उसकी दो पत्नियाँ भी ज्ञात हैं। 'महावंसटीका' में उसकी पत्नी धम्मा की और 'अशोकावदान' में उसकी दूसरी पत्नी सुभद्राङ्गी की चर्चा है जो चम्पा के एक ब्राह्मण की पुत्री बतायी गई है। बिन्दुसार के कई पुत्र और पुत्रियाँ थीं। अपने पाँचवें शिलालेख में अशोक बताता है कि 'वे (अर्थात् धर्ममहामात्र) यहाँ और अन्यत्र और सभी नगरों में अर्थात् सर्वत्र, मेरे भाइयों, बहिनों और अन्य सम्बन्धियों के परिवारों में (धर्म के प्रोत्साहन के कार्य में) व्यस्त हैं।' 'महावंस' के अनुसार बिन्दुसार के 100 पुत्र थे जिनमें सुमन सबसे बड़ा था। 'महाबोधिवंस' के अनुसार अशोक सुसीम और उसके समर्थक अन्य सौतेले भाइयों की हत्या करके सिंहासनारूढ़ हुआ था। 'दिव्यावदान' में अशोक के बड़े भाई का नाम सुसीम और एक अन्य भाई का विगताशोक लिखा है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि बिन्दुसार के कई पुत्र थे और सबसे बड़े पुत्र का नाम सुमन या सुसीम था और एक अन्य पुत्र का नाम अशोक। 99 पुत्रों की परम्परा अतिरंजित लगती है। तारानाथ ने भी अशोक के केवल छः भाइयों का उल्लेख किया है।

पुराणों के अनुसार बिन्दुसार ने 25 वर्ष शासन किया, बर्मा के इतिवृत्तों के अनुसार 27 वर्ष और सिंहली इतिवृत्तों के अनुसार 28 वर्ष (तस्य पुत्तो बिन्दुसारो अट्ठवीसति कारयि—महावंस)। हमें इनमें अन्तिम संख्या सही लगती है। इस समस्या पर कुछ चर्चा अन्यत्र की गई है।

शासन की मुख्य घटनायें तथा दक्षिण-विजय विषयक परम्परा

'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' के अनुसार चाणक्य बिन्दुसार के शासनकाल में भी मन्त्री था। हरिषेण के 'बृहत्कथाकोष' के अनुसार चाणक्य वृद्धावस्था में जैन मुनि बन गया था और नन्दों के भूतपूर्व मन्त्री सुबन्धु ने, जो चन्द्रगुप्त का मन्त्री बन गया था, ईर्ष्यावश चाणक्य की हत्या करवा दी थी—उस समय जब चाणक्य पादोपगमन व्रत में संलग्न था। हरिभद्र के 'उपदेशपद' में चाणक्य इसलिए जैन मुनि बनता है क्योंकि उसका बिन्दुसार से मतभेद हो गया था। मन्त्री रहते समय वह जैन 'संघपालक' भी रहा था। तारानाथ के अनुसार बिन्दुसार के मन्त्री चाणक्य ने सोलह नगरों के राजाओं और सामन्तों को विनष्ट कर के पूर्वी और पश्चिमी समुद्र के बीच स्थित प्रदेशों को बिन्दुसार के अधीन किया। इसका अर्थ कुछ विद्वान् यह लगाते हैं कि बिन्दुसार ने समस्त दक्षिणापथ पर विजय प्राप्त की थी।[1] किन्तु इस कथन का यह अर्थ समीचीन नहीं लगता। प्रथम रुद्रदामा के जूनागढ़-अभिलेख से ज्ञात होता है कि सुराष्ट्र चन्द्रगुप्त के राज्य में सम्मिलित था। दक्षिण में चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में मैसूर राज्य में

[1] सु० चट्टोपाध्याय ने यहाँ उत्तर भारत में विद्रोहों के दमन की ओर उल्लेख माना है।

श्रवणबेलगोल तक के प्रदेश सम्मिलित थे। प्राचीन भारतीय और क्लासिकल लेखकों ने बिन्दुसार की विजयों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। यूनानी लेखक उसका नाम 'अमित्रघात' अवश्य लिखते हैं किन्तु यह नहीं बताते कि बिन्दुसार के वे शत्रु कौन थे जिनको उसने नष्ट किया। कलिंग और मैसूर आदि के अभिलेखों में भी नन्द राजाओं, चन्द्रगुप्त और अशोक की विजयों का उल्लेख है, बिन्दुसार की विजयों का नहीं।

मुकर्जी का कहना है कि बिन्दुसार के लिए "जीवन का सबसे बड़ा सुख 'अंजीरों तथा अंगूर की शराब' में था जो उसने अपने मित्र यूनान-नरेश से मँगवाई थी।" उनकी दृष्टि में वह एक ऐश्वर्यप्रिय और विलासी नरेश था इसलिए "उसे इस बात का श्रेय देना कठिन है कि उसने स्वयं कोई विजय प्राप्त करके अपने राज्य में वृद्धि की होगी।" उसके शासन काल में हुए विद्रोह को भी मुकर्जी ने उसकी सामर्थ्यहीनता का प्रमाण माना है। लेकिन (1) ऐश्वर्यप्रियता और विलासप्रियता का साम्राज्य-लिप्सा से कोई विरोध नहीं है। सिकन्दर एक पक्का शराबी होते हुए भी भारी विजेता था। यहाँ यह स्मरणीय है कि वही यूनानी साहित्य, जिसमें उसके द्वारा शराब मँगवाने की चर्चा है, उसे 'अमित्रघात' (शत्रुओं का संहार करने वाला) कहता है। (2) अपने मित्र से किसी शराब विशेष की फरमाइश करना किसी राजा की विलास-प्रियता का बहुत बड़ा प्रमाण नहीं है। इसे उन लेखकों की मनोवृत्ति का परिचायक भी माना जा सकता है जिन्होंने भारत-सम्राट् के पच्चीस वर्ष से अधिक शासन की घटनाओं में से केवल इसी को उल्लेख करने योग्य समझा। (3) तक्षशिला का विद्रोह जैसी घटनाएँ इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं कि इनके आधार पर बिन्दुसार को विलास-प्रिय घोषित किया जा सके।

यद्यपि हमें बिन्दुसार की विजयों के विषय में साहित्यिक और आभिलेखिक साक्ष्य से कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती, लेकिन इतना निश्चित रूप से ज्ञात है कि उसने अपने पैतृक साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखा था। 'दिव्यावदान' की एक कथा से ज्ञात होता है कि अमात्यों की स्वेच्छाचारिता से दुःखी होकर तक्षशिला की जनता ने विद्रोह किया था। बिन्दुसार ने अशोक को इस विद्रोह को शान्त करने के लिए भेजा। तक्षशिला की जनता ने अशोक से कहा कि वे कुमार सुसीम (जो उस समय उत्तर-पश्चिमी प्रान्त का वायसराय था) या राजा बिन्दुसार के विरुद्ध नहीं थे। वे केवल दुष्ट अमात्यों के विरुद्ध थे जो उनका निरादर करते थे। अशोक ने तक्षशिला की जनता के विद्रोह को ही नहीं दबाया, खशों के प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया। स्टीन के अनुसार इस समय खशों का राज्य कश्मीर के पश्चिम में था और दक्षिण में यह कस्तवर से झेलम नदी की घाटी तक फैला हुआ था। तारानाथ के अनुसार खशों और नेपालवासियों ने बिन्दुसार के शासन काल में विद्रोह किया था जिसे अशोक ने शान्त किया था। परन्तु 'दिव्यावदान' तथा तारानाथ का 'बौद्ध धर्म का इतिहास' दोनों ही परवर्ती रचनाएँ हैं। हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि उनके वर्णन में सत्यांश कितना है।

प्रशासकीय व्यवस्था

'दिव्यावदान' में बिन्दुसार के 500 मन्त्रियों की सभा का उल्लेख है।[1] तारानाथ तथा हेमचन्द्र के ग्रन्थों और 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' से ज्ञात होता है कि उसके मन्त्रियों में सर्वप्रमुख चाणक्य था। 'परिशिष्टपर्वण' के अनुसार बिन्दुसार का एक अन्य मन्त्री सुबन्धु था। क्योंकि बिन्दुसार चाणक्य की सम्मति पर कम ध्यान देता था और सुबन्धु की सम्मति पर अधिक, अतः चाणक्य पद-त्याग करके वन में चला गया। उसके जाने के बाद बिन्दुसार और सुबन्धु दोनों को अपनी गलती का अनुभव हुआ और वे चाणक्य से क्षमा-याचना करने गये। चाणक्य ने उन्हें क्षमा तो कर दिया किन्तु मन्त्री के रूप में पुनः कार्य करना स्वीकार नहीं किया। 'दिव्यावदान' के अनुसार चाणक्य के बाद, सम्भवतः क्रम से, खल्लाटक और उसका पुत्र राधगुप्त अग्रामात्य बनाये गये। बिन्दुसार ने सुबन्धु के साथ कैसा व्यवहार किया यह अज्ञात है। परन्तु दण्डी की 'अवन्तिसुन्दरी कथा' में एक वाक्य आता है कि 'सुबन्धु बिन्दुसार के बन्धन से निकल गया' (सुबन्धुः किल निष्क्रान्तो बिन्दुसारस्य बन्धनात्) जिससे लगता है कि बिन्दुसार ने कभी सुबन्धु को कारागृह में डाला था, परन्तु वह वहाँ से भाग गया था।

अपने विशाल साम्राज्य का प्रशासन चलाने में बिन्दुसार अपने पुत्रों की सहायता लेता था। उसका सबसे बड़ा पुत्र सुसीम उत्तरापथ का वायसराय था। उसकी राजधानी तक्षशिला थी। उसका दूसरा पुत्र अशोक 18 वर्ष की आयु में ही अवन्ति राष्ट्र का वायसराय नियुक्त किया गया था जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। इसके बाद जब तक्षशिला में पहिली बार विद्रोह हुआ, बिन्दुसार ने अशोक को ही उसका दमन करने के लिए भेजा था। ऐसा लगता है कि बिन्दुसार के राज्यकाल में साम्राज्य के दूरस्थ प्रदेशों का शासन सम्भवतः सन्तोषजनक नहीं था। वहाँ के अमात्य प्रायः स्वेच्छाचारी हो जाते थे। अशोक के एक कलिंग अभिलेख से भी इसका संकेत मिलता है। इस अभिलेख में अशोक के उन उपायों का उल्लेख है जो उसने प्रान्तों में अधिकारियों के अत्याचार को रोकने के लिए किये थे। उसने लिखा है कि कुछ अधिकारी अकारण ही प्रजाजनों को बन्दी बना देते थे या उन पर अत्याचार करते थे। अतः वह अपने महामात्रों से आग्रह करता है कि वे न्याय करें। वह आदेश देता है कि जनता पर होने वाले अत्याचारों को रोकने के लिए वे प्रति पाँचवें वर्ष अपने-अपने प्रदेशों का दौरा करें। इसी प्रकार उज्जयिनी और तक्षशिला के अधिकारी भी प्रति तीसरे वर्ष यह देखने के लिए दौरा करें कि स्थानीय अधिकारी जनता पर किसी प्रकार का अत्याचार तो नहीं कर रहे हैं। 'दिव्यावदान' के अनुसार बिन्दुसार के शासन के अन्तिम दिनों में तक्षशिला के निवासियों ने दूसरी बार विद्रोह किया था और राजकुमार सुसीम उसका दमन करने में असफल रहा था।

---

[1]टार्न ने इस संख्या को अविश्वसनीय माना है। 500 संख्या बौद्ध ग्रन्थों में प्रायः मिलती है।

यूनानी राज्यों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध

यूनानी राजाओं के प्रति बिन्दुसार ने मैत्री की नीति अपनाई। स्ट्रेबो के वर्णन से ज्ञात होता है कि सीरिया के यूनानी राजा प्रथम एण्टियोकस सोटर ने बिन्दुसार की राजसभा में डीमेकोस नाम का राजदूत भेजा था। प्लिनी ने लिखा है कि मिस्र के राजा द्वितीय टॉलमी फिलाडेल्फस (285–247 ई०पू०) ने डायोनाइसियस नामक राजदूत को पाटलिपुत्र भेजा था। डायोनाइसियस ने भारत विषयक एक ग्रन्थ भी लिखा था, लेकिन यह आजकल अनुपलब्ध है। द्वितीय टॉलमी बिन्दुसार और अशोक दोनों ही का समकालीन था। अशोक ने अपने तेरहवें शिलालेख में उसका उल्लेख किया है। किन्तु कुछ इतिहासकारों का अनुमान है कि यह राजदूत बिन्दुसार के ही राज्यकाल में आया होगा। एथीनियस (तीसरी शती ई०पू० का यूनानी लेखक) के अनुसार बिन्दुसार का सीरिया के राजा के साथ मित्रतापूर्वक पत्र-व्यवहार होता था। बिन्दुसार ने एण्टियोकस को लिखा था कि वह उसके लिए मीठी शराब, सूखे अंजीर और एक दार्शनिक खरीदकर भेज दे। यूनानी राजा ने उत्तर में लिखा कि वह अंजीर और शराब तो भेज देगा किन्तु दार्शनिक नहीं भेज सकेगा क्योंकि यूनान में दार्शनिकों को बेचना अवैध है। भारतीय राजा की यूनानी दर्शन में रुचि होने का एक अन्य प्रमाण हमें डायोडोरस के वर्णन से मिलता है। उसने लिखा है कि पाटलिपुत्र का राजा यूनानी विद्वानों का बहुत आदर करता था। इयाम्बोलोस् नाम का एक यूनानी विद्वान् भी बिन्दुसार के पास पहुँचा था। बिन्दुसार ने उसका सम्मान किया था।

मूल्यांकन

बिन्दुसार के बाल्यकाल की कुछ झलक हमें एलियन के ग्रन्थ में मिलती है। उसके अनुसार चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में राजकुमार लोग प्रासाद के अन्दर सरोवरों में मछलियाँ मारकर और नाव चलाकर मनोविनोद करते थे। स्पष्टतः बिन्दुसार इन विनोदप्रिय राजकुमारों में से एक रहा होगा। 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' में उसे धृष्ट (साहसी), प्रगल्भ (वाक्-निपुण) और प्रियवादी (मधुर-भाषी) कहा गया है। एक सफल शासक होने के साथ-साथ वह विद्वानों का आदर करने वाला भी था। उसने सीरिया के यूनानी राजा को अपने देश से एक यूनानी दार्शनिक भेजने के लिए लिखा था। 'दिव्यावदान' से ज्ञात होता है कि उसकी सभा में एक आजीविक परिव्राजक पिंगलवत्स को बहुत सम्मान प्राप्त था। अशोक ने अपने सातवें स्तम्भ-अभिलेख में लिखा है कि प्राचीन राजाओं की यह इच्छा थी कि उनकी जनता उन्नति करे, इसीलिए वे धर्म की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते थे। इन प्राचीन राजाओं में उसने अपने पिता बिन्दुसार की गणना भी की होगी। 'महावंस' में लिखा है कि अशोक का पिता साठ हजार ब्राह्मणों का भोजनादि द्वारा पालन किया करता था। इन तथ्यों से लगता है कि अशोक ने अपने राज्यकाल में 'भेरीघोष' बन्द करके 'धंम विजय' का जो प्रयास किया उसके बीज उसके मन में अचिन्तित रूप से बिन्दुसार के शासन काल में ही पड़े थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि बिन्दुसार के अन्तिम दिन सुखमय नहीं रहे। उसके शासन के अन्तिम दिनों में तक्षशिला में जनता ने दूसरी बार विद्रोह किया। इस विद्रोह को शान्त करने में वहाँ का वायसराय सुसीम असफल रहा। इसी समय बिन्दुसार बीमार पड़ा और मरणासन्न हो गया। एक परम्परा के अनुसार अशोक उज्जयिनी से पाटलिपुत्र आया और उसने खल्लाटक और राधगुप्त की सहायता से साम्राज्य के शासन का भार अपने हाथों में ले लिया। 'दिव्यावदान' से ज्ञात होता है कि अशोक ने बिन्दुसार की इच्छा के विरुद्ध ऐसा किया क्योंकि बिन्दुसार सुसीम को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। परन्तु खल्लाटक और उसके पुत्र राधगुप्त सुसीम के विरुद्ध थे। अतः अशोक उनकी सहायता से शासक बन गया। हो सकता है अशोक के राज्य पर अधिकार कर लेने पर ही बिन्दुसार की दुःख से मृत्यु हो गई हो। बिन्दुसार की मृत्यु के बाद अशोक और उसके अन्य भाइयों में युद्ध हुआ जिसके कारण अशोक के सिंहासनारोहण और राज्याभिषेक की तिथियों में चार वर्ष का अन्तर मिलता है।

अध्याय 12

अशोक के इतिहास के स्रोत

अशोक के अभिलेख

बिन्दुसार के पुत्र और उत्तराधिकारी[1] अशोक का शासन भारतीय इतिहास के उज्ज्वल-तम पृष्ठों में से एक है। उसकी विस्तृत चर्चा बौद्ध साहित्य में मिलती है, लेकिन बौद्ध पुरा-कथाओं ने उसके चारों ओर एक ऐसा महिमामण्डल बना दिया है जैसा ऐसे महापुरुषों के साथ प्रायः मिलता है। लेकिन भाग्यवश उसके विषय में अधिक विश्व-सनीय तथ्य स्वयं उसके अभिलेखों में मिल जाते हैं। उसके अभिलेख भारत के प्राचीनतम ऐतिहासिकयुगीन अभिलेख हैं। सैन्धव कांस्यकालीन मुहर-लेखों और अशोक के मध्य व्यतीत होने वाली लगभग पन्द्रह शताब्दियों का कोई लेख अभी तक नहीं मिला है। इसका प्रमुख कारण प्राक्-अशोकीय भारतीयों का लेखन-कला से अपरिचय था। हमारा विश्वास है कि ब्राह्मी लिपि का आविष्कार चन्द्रगुप्त मौर्य की मृत्यु के बाद और अशोक के अभिलेख लिखे जाने के पूर्व हुआ था।[2]

वर्गीकरण

अशोक के अभिलेखों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। इनमें उनके लिखने के लिए प्रयुक्त सामग्री के आधार पर किया गया वर्गीकरण सबसे सुविधाजनक है। इसके अनुसार उसके कुछ लेख शिला-लेख हैं, कुछ स्तम्भ-लेख और कुछ गुहा-लेख। भाब्रु-लेख एक पाषाण-फलक पर उत्कीर्ण है। कुछ विद्वान् इसे शिला-लेखों में ही परिगणित कर देते हैं। शिला-लेख व स्तम्भ-लेख भी उसके आकार और महत्त्व की दृष्टि से दो-दो वर्गों में बाँटे जाते हैं : मुख्य शिला-लेख (जिन्हें हिन्दी में केवल शिला-लेख व अंग्रेजी में 'रॉक एडिक्ट्स्' कह दिया जाता है) एवं लघु शिला-लेख तथा मुख्य स्तम्भ-लेख (जिन्हें हिन्दी में केवल स्तम्भ-लेख व अंग्रेजी में 'पिलर एडिक्ट्स्'

---

[1]तारानाथ ने बिन्दुसार का नाम नेमित दिया है और उसे चम्पारन का राजा बताया है (चट्टोपाध्याय, एस०, बिम्बिसार टु अशोक, पृ० 105)।

[2]गोयल, श्रीराम, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, पूर्वपीठिका आ; कौटिल्य एण्ड मेगास्थेनिज़, मेरठ, 1985, पृ० 82–100; गुप्त, एस० पी० तथा रामचन्द्रन, के० एस० (सम्पा०), 'दि ओरिजिन ऑव ब्राह्मी स्क्रिप्ट' में हमारा लेख, पृ० 1–53।

कह दिया जाता है) तथा लघु स्तम्भ-लेख। भाब्रु-अभिलेख अलग से पाषाण फलक-अभिलेख कहा जा सकता है। इनमें अधिकांश अभिलेखों के कई-कई संस्करण भारत, नेपाल की तराई, पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान के विभिन्न भागों से मिले हैं।

मुख्य शिला-लेख

अशोक के मुख्य शिला-लेख संख्या में चौदह हैं। इनके आठ संस्करण गिरनार, कालसी, शहबाज़गढ़ी, मानसेहरा, धौली, जौगड़, सोपारा तथा एर्रगुडी से प्राप्त हुए हैं। इनमें ज्यादातर स्थान उसके साम्राज्य की सीमा पर स्थित थे। इनमें प्रथम पाँच स्थलों से चौदहों शिलालेख पूर्णतः अथवा आंशिक रूप में मिले हैं, धौली व जौगड़ में प्रथम दस व चौदहवें अभिलेखों के साथ दो नये अभिलेख मिलते हैं। इनको पृथक् कलिंग शिला-लेख, प्रथम और द्वितीय, कहा जाता है। सोपारा शिला में केवल अष्टम शिला-लेख का अंश मात्र मिला है। इन शिलाओं के प्राप्ति-स्थलों का कुछ विस्तृत वर्णन इस प्रकार है :

गिरनार शिला—यह शिला आधुनिक गुजरात के जूनागढ़, प्राचीन गिरिनगर, से लगभग एक मील दूर गिरनार की पहाड़ियों में स्थित है। इसका क्षेत्रफल लगभग एक सौ वर्गफुट है। इसी पर प्रथम रुद्रदामा व स्कन्दगुप्त के सुप्रतिथ लेख भी लिखे हैं। इन अभिलेखों का पता कर्नल टॉड ने 1822 में लगाया था और इन्हें पढ़ा था सर्वप्रथम प्रिन्सेप ने। इनका प्रथम पूर्णतः सम्पादित संस्करण सेना ने 'इन्स्क्रिप्शन्स दे प्रियदसि', भाग 1, में छापा था।

कालसी शिला—यह शिला उत्तर प्रदेश के देहरादून जिले में चकराता तहसील के अन्दर स्थित कालसी स्थान में मिली है। कालसी स्थल मसूरी से 15 मील दूर यमुना और टौंस के संगम पर स्थित है। शिला करीब 10 फुट ऊँची व इतनी ही लम्बी है। इसमें ऊपर के अक्षर छोटे हैं और नीचे के बड़े। इसका पता 1860 में फॉरेस्ट ने लगाया था।

शहबाज़गढ़ी शिला—यह शिला आधुनिक पाकिस्तान के पेशावर जिले की युसुफजई तहसील में मरदान से 9 मील दूर स्थित मकाम नदी के किनारे बसे एक गाँव से आधा मील दूर स्थित है। इस शिला का पता 1836 में कोर्ट नामक अंग्रेज ने लगाया था जो रणजीतसिंह की सेवा में था। इसमें पहिले से ग्यारहवें शि० ले० तक शिला के पूर्वी भाग पर खुदे हैं, तेरहवाँ तथा चौदहवाँ पश्चिमी भाग पर तथा बारहवाँ एक पृथक् शिला पर। इन लेखों की लिपि खरोष्ठी है।

मानसेहरा शिलाएँ—ये शिलाएँ हजारा जिले की मानसेहरा तहसील में स्थित हैं। ये संख्या में तीन हैं—पहिली पर प्रथम आठ शि० ले० खुदे हैं, दूसरी पर नवें से बारहवाँ तथा तीसरी पर तेरहवाँ व चौदहवाँ। इनमें प्रथम दो शिलाओं की खोज जनरल कनिंघम ने की थी तथा तृतीय की 'पंजाब आर्क्योलॉजिकल सर्वे' के एक भारतीय अधिकारी ने। इनकी लिपि भी खरोष्ठी है।

एर्रगुडी शिला—एर्रगुडी आन्ध्र प्रदेश के कर्नूल जिले में एक गाँव का नाम है जो रायचूर-मद्रास रेलवे लाइन पर स्थित गूती स्टेशन से आठ मील दूर है। यहाँ पत्थरों के छः टीलों पर अशोक के शिलालेख व लघु शिला-लेख उत्कीर्ण मिले हैं। इनका पता भूतत्त्ववेत्ता श्री अनुघोष ने 1929 में लगाया था। इनका पाठ कालसी पाठ से मिलता-जुलता है।

धौली शिला—धौली (प्राचीन तोसाली ?) उड़ीसा के पुरी जिले की खुर्दा तहसील में एक गाँव है। यह भुवनेश्वर से सात मील दक्षिण की ओर स्थित है। यहाँ पर स्थित शिला-लेखों का पता किटो ने 1837 में लगाया था। जिस पहाड़ी पर ये अभिलेख खुदे हैं वह वास्तव में 3 छोटी पहाड़ियों की एक शृंखला है। अभि-लेखों के समीप हाथी की चार फुट ऊँची एक मूर्त्ति बनी है। इस संस्करण में अन्य संस्करणों के ग्यारहवें से तेरहवें तक के लेख नहीं मिलते। उनके स्थान पर दो नये लेख उपलब्ध हैं जो क्रमशः प्रथम एवं द्वितीय पृथक् कलिंग शिला-लेख कहलाते हैं।

जौगढ़ शिला—यह शिला आन्ध्र प्रदेश के गञ्जाम जिले में बरहमपुर नामक तालुके में गञ्जाम से 18 मील उत्तर-पश्चिम की ओर स्थित जौगड़ स्थल से मिली है। यहाँ पहिले कोई विशाल नगर था। यहाँ से प्राप्त अभिलेख तीन शिलाखण्डों पर उत्कीर्ण हैं जिनमें धौली के समान ग्यारहवें से तेरहवें शि० ले० अनुपस्थित हैं और दोनों पृथक् कलिंग शिला-लेख अलग से खोदे गए हैं। इनका पता 1850 में वाल्टर इलियट ने लगाया था।

सोपारा शिला—सोपारा (प्राचीन शूर्पारक) महाराष्ट्र में बम्बई के समीप थाना जिले के अन्तर्गत एक प्राचीन नगर था। 1882 में यहाँ भगवानलाल इन्द्रजी को एक भग्न शिला मिली थी जिस पर अशोक के आठवें शि० ले० का लगभग एक तिहाई भाग लिखा था। मूलतः यहाँ चौदहों शि० ले० लिखे रहे होंगे।

लघु शिलालेख

अशोक का लघु शिलालेख अब तक कुल 15 स्थानों से प्राप्त हुआ है। बहुत से स्थलों से प्राप्त संस्करण काफी खण्डित हो गये हैं। इस अभिलेख का विषय व भाषा सर्वत्र समान है लेकिन किसी-किसी संस्करण में कुछ अतिरिक्त पंक्तियाँ मिलती हैं। एर्रगुडी, ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर और जटिंग-रामेश्वर से प्राप्त लेख के द्वितीयार्द्ध को कुछ विद्वान् द्वितीय लघु शि० ले० भी कहते हैं। बुधनी लघु शिला-लेख कुछ ही वर्ष पूर्व प्रकाश में आया है। इस लेख के विभिन्न प्राप्तिस्थल इस प्रकार हैं :—

रूपनाथ शिला—रूपनाथ स्थल मध्य प्रदेश में जबलपुर से कटनी जाने वाले मार्ग पर सलीमाबाद रेलवे स्टेशन से 14 मील पश्चिम की ओर स्थित है। इसके समीप झरनों से बने एक तालाब के पास स्थित एक शिला पर यह लेख उत्कीर्ण है। इसका लिप्यन्तर सर्वप्रथम कनिंघम ने 1871–72 में किया था।

सहसराम शिला—यह शिला दक्षिण बिहार के सहसराम नामक एक प्रसिद्ध

कस्बे से दो मील पूर्व की ओर चन्दन पीर पहाड़ी पर स्थित खोह में है। इस अभि-लेख का चित्र सर्वप्रथम बेगलर ने लिया था।

बैराठ शिला—यह शिला 1871–72 में कार्लाइल ने राजस्थान में जयपुर नगर से 42 मील उत्तर पूर्व की ओर बैराठ (प्राचीन विराटनगर) स्थल से एक मील उत्तर-पूर्व की ओर देखी थी। यह जिस पहाड़ी के नीचे स्थित है उसे 'भीम की डूंगरी' या 'महादेव जी की डूंगरी' कहते हैं। इस लघु शि० ले० को सेना और ब्युलर ने प्रकाशित किया था।

गुजर्रा शिला—यह शिला मध्य प्रदेश के दतिया जिले में जंगलों और पहाड़ियों के बीच गुजर्रा नामक एक गाँव में विद्यमान है जो दतिया और झाँसी दोनों स्थानों से ग्यारह-ग्यारह मील दूर पड़ता है। जिस अण्डाकार शिला पर यह लेख लिखा है वह 'सिद्धों की टोरिया' नामक पहाड़ी की तलहटी में स्थित है। इनका पता बहादुर-चन्द्र छाबड़ा ने लगाया था। उन्होंने ही इसे 1954 में इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस के अधि-वेशन की कार्यवाही-विवरण में प्रकाशित किया। इस लेख में अशोक का इसी नाम से उल्लेख है।

मास्की शिला—मास्की (प्राचीन मोसंगी) ग्राम हैदराबाद में रायचूर जिले में लिंगसुगुर ताल्लुके में है। यहाँ बोडन नामक इन्जीनियर ने 1915 में यह शिला-लेख खोजा था। इसका सम्पादन सर्वप्रथम सेना ने 'जूर्नाल एशियाटीक' में किया। गुजर्रा-लेख के समान इस लेख में भी अशोक का इसी नाम से उल्लेख मिलता है जबकि अन्य सभी लेखों में उसे पियदसी या प्रियदर्शी कहा गया है।

ब्रह्मगिरि शिला—1882 ई० में बी०एल० राइस को मैसूर के ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर तथा जटिंग-रामेश्वर स्थलों से तीन लघु शिला-लेख प्राप्त हुए थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम इनका सम्पादन किया। ब्रह्मगिरि लघु शि० ले० इन तीनों में सर्वाधिक सुरक्षित है। जिस चट्टान पर यह लेख उत्कीर्ण है उसे स्थानीय लोग 'अक्षरगुण्डु' कहते हैं।

सिद्धपुर शिला—यह शिला ब्रह्मगिरि से एक मील दूर स्थित है। इस क्षेत्र के लोग इसे 'तिम्मय्यनगुण्डलु' (महिष शिलासमूह) कहते हैं। इसका लेख अधिकांशतः अपठनीय हो गया है।

जटिंग-रामेश्वर शिला—यह शिला जटिंग-रामेश्वर की पश्चिमी चोटी पर, जो ब्रह्मगिरि से तीन मील उत्तर-पश्चिम की ओर है, विद्यमान है। स्थानीय लोग इसे 'बष्ठेहारगुण्डु' (चूड़ियों वालों की शिला) कहते हैं। यह लेख बहुत घिस गया है। इसमें शायद 28 पंक्तियाँ थीं।

एर्रगुडी शिला—यह वही शिला है जिस पर एर्रगुडी मुख्य शिला-लेख अंकित है। इसका 12 वीं पंक्ति तक का पाठ ब्रह्मगिरि लघु शि० ले० के पाठ से मिलता-जुलता है, बाकी भाग नवीन है। इसकी लिपि ब्राह्मी है परन्तु 8 वीं और 14 वीं पंक्तियों को छोड़ दें तो बाकी लेख बलीवर्द (बूस्टरोफेडोन) शैली में लिखा है, यद्यपि उन पंक्तियों में भी जो दाहिने से बाईं ओर लिखी हैं अक्षरों की दिशा में कोई अन्तर

नहीं किया गया है ।

गोविमठ तथा पालकिगुण्डु शिलाएँ—अशोक के लघु शि० ले० के ये दो संस्करण कोपवाल (प्राचीन कोपनगर) में, जो सिद्धपुर से साठ मील दूर हासपेट तथा गडग जंकशनों के मध्य स्थित है, गोविमठ व पालकिगुण्डु पहाड़ी पर बी० एन० शास्त्री ने 1931 में खोज निकाले थे । बाद में इनका सम्पादन बसाक ने अपने 'अशोकन इन्स्क्रिप्शन्स्' में किया ।

राजुल-मंडगिरि शिला—आन्ध्र प्रदेश के कुर्नूल जिले के पट्टिकौंड ताल्लुके के चिन्नतुलति ग्राम के समीप स्थित राजुल-मंडगिरि नामक टीले से, जो एर्रगुडी से 20 मील दूर है, यह संस्करण प्राप्त हुआ है ।

अहरौरा लघु शिला-लेख—अहरौरा उत्तर प्रदेश के मिर्ज़ापुर जिले में स्थित एक गाँव है । जो सड़क अहरौरा बाँध तक जाती है उससे करीब सौ गज दूर स्थित पहाड़ी की एक शिला पर यह लेख उत्कीर्ण है । इसके समीप ही भंडारी देवी का एक मंदिर है । इस लेख की खोज प्रोफेसर गो० रा० शर्मा के नेतृत्व में प्रयाग विश्वविद्यालय के एक अन्वेषक दल ने 1961 में की थी । उन्होंने ही सर्वप्रथम इसकी छाप तैयार करवायी जिसे मिराशी ने 'भारती' में सम्पादित कर प्रकाशित किया । यह लेख उत्तर प्रदेश से प्राप्त होने वाला प्रथम लघु शि० ले० है । वैसे अब उत्तर प्रदेश के समीप नई दिल्ली से भी इसका एक संस्करण मिल गया है ।[1] अहरौरा-लेख 3′10″×2′9″ क्षेत्रफल में लिखा है । इसमें 11 पंक्तियाँ हैं जिनमें प्रथम छः के ज्यादातर अक्षर पत्थर टूट जाने से अपठनीय हो गये हैं । इसका पाठ सहसराम और बैराट लघु शि० ले० के पाठ से मिलता-जुलता है—अन्तिम पंक्ति को छोड़कर ।[2]

नई दिल्ली शिला—अशोक के लघु शि० ले० का यह संस्करण जिस शिला पर उत्कीर्ण है वह नई दिल्ली के लाजपतराय नगर के दक्षिण में अमरपुरी नामक कॉलोनी में स्थित है । इसकी ओर दिल्ली के एक ठेकेदार सरदार जंगबहादुर सिंह ने ध्यान दिलाया था । जी० ए० गायि ने सितम्बर 1966 में इसकी प्रतिलिपि तैयार की और सरकार, जोशी तथा पाण्डेय ने इसे सम्पादित किया । इस लेख की उपलब्धि से सिद्ध है कि अशोक के काल में दिल्ली, तत्कालीन इन्द्रप्रस्थ, एक बस्ती के रूप में विद्यमान थी ।[3]

बुधनी या पानगोरारिया गुहा में उत्कीर्ण शरण-स्थल लघु शि० ले०—1975 में भोपर्दिकर तथा के० डी० बनर्जी ने मध्य प्रदेश के सेहोर जिले में नर्मदा की मध्य-

[1]इ० आई०, 38, पृ० 1 अ० ।

[2]इस लघु शिला-लेख के लिए दे०, सरकार, इ० आई०, 36, भाग 6, पृ० 239 अ०; स० इ०, पृ० 516–517; नारायण, ए० के०, भारती, 5, भाग 1, पृ० 97–105; मिराशी, वही, पृ० 135–40; शंकरनारायण, आई० एच० क्यू०, 37, पृ० 217 अ०; नेगी, जे० एस०, सम इण्डोलोजिकल स्टडीज, भाग 1, पृ० 175 अ०; पाण्डेय, रा० ब०, अशोक के अभिलेख, पृ० 130–1 ।

[3]दे०, सरकार, इ० आई०, 38, भाग 1, पृ० 1 अ० ।

वर्ती उपत्यका से शाहगञ्ज और रेहती के बीच के प्रदेश का अन्वेषण किया। यहाँ उन्हें बुधनी में लगभग 45 शिला शरण-स्थल (प्राकृतिक गुहाएँ और गुहा जैसे शरण-स्थल) मिले। इनमें पानगोरारिया के समीप स्थित सरु-मरु की कोठड़ी नामक गुहा शरण-स्थल से, जो स्पष्टतः बौद्ध भिक्षुओं के निवास के काम में आता था, अशोक के दो अभिलेख मिले जिनमें एक उसके लघु शिला लेख का संस्करण है।[1]

शिलाफलक-लेख

भाब्रु शिला-फलक—यह शिलाफलक कप्तान बर्ट को जयपुर डिवीज़न में मिला था—सम्भवतः बैराठ के समीपस्थ 'बीजक की पहाड़ी' से। बर्ट ने गलती से इसे भब्र=भाब्रु (बैराठ से 12 मील दूर) से प्राप्त बताया जिससे अब इसे प्रायः भ्राब्रु-लेख ही कहते हैं। भाण्डारकर ने इस लेख के सही प्राप्तिस्थल को जानने की बहुत चेष्टा की थी और निष्कर्षतः इसे बैराठ से ही प्राप्त माना था। आजकल यह कलकत्ता-संग्रहालय में सुरक्षित रखा होने के कारण कलकत्ता-बैराठ-लेख भी कहलाता है। बहुत से विद्वान् इसे अशोक के लघु शिलालेखों में गिनते हैं।[2] परन्तु यह वस्तुतः शिलाफलक-लेख है और इसका विषय भिन्न है। इसकी कोई प्रतिलिपि अभी तक नहीं मिली है। यह शिला-फलक लगभग 2 फुट लम्बा और 2 फुट चौड़ा था। इसे सर्वप्रथम किटो ने प्रकाशित किया था।

मुख्य स्तम्भ-लेख

अशोक ने शायद बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ कुछ स्तम्भ बनवाये थे। उनमें कुछ पर उसके अभिलेख उत्कीर्ण हैं। ये केवल उत्तर भारत से मिले हैं। इनके लेखों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक, छः अभिलेखों का एक 'सेट' जो देहली-टोपरा, देहली-मेरठ, लौरिया-अरराज, लौरिया-नन्दनगढ़, रामपुरवा तथा प्रयाग इन छः स्थलों पर स्थित स्तम्भों पर मिला है। देहली-टोपरा में एक सातवाँ अतिरिक्त लेख भी मिला है। ये सब मुख्य स्तम्भ-लेख केवल स्तम्भ-लेख कहलाते हैं। दूसरे वर्ग में लघु स्तम्भ-लेख आते हैं। मुख्य स्तम्भ-लेखों के प्राप्ति स्थलों का विवरण इस प्रकार है :—

देहली-टोपरा स्तम्भ—यह हल्के गुलाबी रंग के बलुआ पत्थर से निर्मित है। मध्यकालीन इतिहासकार शम्स-ए-सिराज के अनुसार यह मूलतः टोपरा (टोब्रा? तोपेरा? तोहेरा?) नामक गाँव में स्थित था। कनिंघम के अनुसार यह स्थल प्राचीन श्रुघ्न राज्य में सम्मिलित रहा होगा। वहाँ से यह फिरोज तुग़लक (1351–88 ई०) द्वारा दिल्ली में, जो 90 कोस दूर थी, बयालीस पहियों की गाड़ी में लाया गया था।

---

[1]दे०, गुप्त, एस० पी०, दि रूट्स् ऑव इण्डियन आर्ट, देहली, 1980, पृ० 196।
[2]दे०, पाण्डेय, रा० ब०, अशोक के अभिलेख, पृ० 114।

आजकल यह दिल्ली गेट के बाहर फिरोजशाह के तिमञ्जिले कोटले पर खड़ा है। यह भीमसेन की लाट, फिरोजशाह की लाट, सुनहरी लाट, दिल्ली-शिवालिक लाट आदि नामों से प्रसिद्ध है। इस पर अशोक के 7 लेख मिलते हैं जिनमें प्रथम छः तो अन्य स्थलों पर प्राप्त पाँच स्तम्भों पर भी मिलते हैं, सातवाँ केवल इसी पर उत्कीर्ण मिला है। इनके अतिरिक्त इस पर बीसलदेव चाहमान के तीन लघु लेख तथा मध्य-कालीन यात्रियों के कुछ लेख भी लिखे मिले हैं। इस स्तम्भ के अशोकीय अभिलेखों को सर्वप्रथम प्रिन्सेप ने पढ़ा और उनका अंग्रेजी में भाषान्तर किया।

देहली-मेरठ स्तम्भ—पहिले यह स्तम्भ उत्तर प्रदेश के मेरठ नगर के समीप स्थित था। शम्स-ए-शिराज के अनुसार इसे भी फिरोजशाह तुग़लक दिल्ली लाया था जहाँ यह एक पहाड़ी पर स्थापित किया गया। शम्स-ए-शिराज ने इस स्थान को कुश्क-ए-शिकार कहा है। आज भी यह वहीं स्थित है। इसके लेखों की अवस्था अच्छी नहीं है। सर्वप्रथम इनका लिप्यन्तर प्रिन्सेप ने 1837 में प्रकाशित किया था।

लौरिया-अरराज व लौरिया-नन्दनगढ़ स्तम्भ—ये दोनों स्तम्भ बिहार के चम्पारन जिले में क्रमशः केसरिया व बेतिया के समीप स्थित हैं। जिस समय प्रिन्सेप 1831 में देहली-टोपरा स्तम्भ लेखों पर कार्य कर रहे थे उस समय वे इन स्तम्भों से भी परि-चित थे। हॉग्सन ने इनको रधिया और मठिया नाम दिये थे और कनिंघम ने लौरिया-अरराज और लौरिया-नवन (नन्दन) गढ़ नाम प्रदान किए जो अब प्रचलित हैं। 'लौरिया' शब्द स्पष्टतः संस्कृत 'लगुड', भोजपुरी 'लउर' से व्युत्पन्न है। लौरिया-नन्दनगढ़ स्तम्भ पर औरंगजेब का भी एक लेख मिलता है।

रामपुरवा स्तम्भ—यह स्तम्भ भी बिहार के चम्पारन जिले में बेतिया से 32½ मील दूर रामपुरवा से प्राप्त हुआ है। इसकी खोज कार्लाइल ने की थी। आजकल यह अपने मूल स्थान से करीब 200 गज दूर रखा हुआ है। इस स्तम्भ पर सिंहशीर्ष था। यह स्तम्भ उस स्तम्भ से भिन्न है जिस पर वृषभशीर्ष मिला है।

प्रयाग स्तम्भ—यह स्तम्भ आजकल प्रयाग के किले में विद्यमान है। पहले यह 'भीमसेन की गदा' नाम से विख्यात था। बरुआ तथा कनिंघम आदि कुछ विद्वानों के अनुसार यह मूलतः कौशाम्बी में स्थित था। इस अनुमान का कारण इस पर अशोक के उस संघभेद-लेख की प्रति का उत्कीर्ण होना है जिसमें उसने कौशाम्बी के महा-मात्रों को सम्बोधित किया है। परन्तु इन पंक्तियों के लेखक के अनुसार इससे केवल इतना प्रमाणित होता है कि उस समय प्रयाग स्थल कौशाम्बी के महामात्रों के व्यव-हार-क्षेत्र के अन्तर्गत आता था। अपने सारनाथ संघभेद-लेख में अशोक ने पाटलिपुत्र के महामात्रों को सम्बोधित किया है। क्या इससे यह प्रमाणित होगा कि सारनाथ स्तम्भ को अशोक ने मूलतः पाटलिपुत्र में स्थापित कराया था? दूसरे, स्मरणीय है कि कौशाम्बी से अशोक का एक अन्य स्तम्भ उपलब्ध है। अगर अशोक का उद्देश्य इस लेख को कौशाम्बी में ही खुदवाना होता तो वह अपने कौशाम्बी स्थित उस स्तम्भ का प्रयोग कर सकता था।

प्रयाग स्तम्भ पर अशोक के छः मुख्य स्तम्भ लेखों का एक 'सेट', 'रानी का अभिलेख', कौशाम्बी के महामात्रों को सम्बोधित संघभेद-लेख का एक संस्करण, गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की सुप्रतिथ प्रशस्ति, जहाँगीर का एक लेख तथा एक परवर्ती देव-नागरी लेख उत्कीर्ण हैं। इसके अभिलेखों के कुछ भागों को पहिले जेम्स होरे ने तथा तदुपरान्त बर्ट ने प्रकाशित किया और सर्वप्रथम सम्पादित किया प्रिन्सेप ने।

लघु स्तम्भ-लेख

अशोक के उपर्युक्त स्तम्भ लेखों के अतिरिक्त छः लघु स्तम्भ लेख भी उपलब्ध हैं। इनमें एक संघभेद-लेख है जिसकी तीन प्रतियाँ प्रयाग, साँची व सारनाथ से प्राप्त स्तम्भों पर मिलती हैं। प्रयाग-स्तम्भ पर 'रानी का लेख' भी मिलता है। रुम्मिनदेई व निगालीसागर स्तम्भों पर अशोक की धर्म-यात्राओं का उल्लेख हुआ है। इन स्तम्भों पर उत्कीर्ण लेखों का परिचय इस प्रकार है :—

प्रयाग स्तम्भ संघभेद-लेख—यह आदेश कौशाम्बी के महामात्रों के नाम है। यह प्रयाग के किले में स्थित उसी स्तम्भ पर उत्कीर्ण है जिस पर अशोक के मुख्य स्तम्भ लेखों का 'सेट' मिलता है।

साञ्ची स्तम्भ संघभेद-लेख—मध्य भारत का सुप्रतिथ स्थल साँची भीलसा (प्राचीन विदिशा) से पाँच मील दूर स्थित है। यहाँ से अशोक का एक स्तम्भ, जिस पर यह लेख लिखा है, खण्डित रूप में मिला है। लेख का प्रारम्भिक भाग मिट गया है। इसकी प्रतिलिपि पहिले बर्ग ने प्रकाशित की थी। बाद में ब्युलर व बॉयर आदि ने इसका सम्पादन किया।

सारनाथ स्तम्भ संघभेद-लेख—सारनाथ वाराणसी से 4 मील दूर उत्तर की ओर स्थित एक प्रसिद्ध बौद्ध स्थल है। भगवान् बुद्ध ने यहीं पर धर्मचक्र का प्रवर्त्तन किया था। यहाँ से अशोक का एक भग्न स्तम्भ तथा उसका सुप्रसिद्ध सिंहशीर्ष मिला है। इस स्तम्भ का पता ऑरटेल ने लगाया था। इसके लेख को सर्वप्रथम फोगेल ने प्रकाशित किया और तदुपरान्त बॉयर, सेना तथा वेनिस आदि ने।

रानी का स्तम्भ-लेख—यह लेख प्रयाग के दुर्ग में स्थित स्तम्भ पर उत्कीर्ण है।

रुम्मिनदेई स्तम्भ-लेख—यह स्तम्भ नेपाल की तराई में आधुनिक रुम्मिनदेई स्थान पर निगालीसागर से करीब 13 मील दक्षिण-पूर्व की ओर पडरिया ग्राम के समीप स्थित है। इसका पता फ्युरर ने लगाया और ब्युलर ने इसे लिप्यन्तर के साथ प्रकाशित किया।

निगालीसागर स्तम्भ-लेख—यह स्तम्भ नेपाल की तराई में निग्लीवा के एक मील दक्षिण की तरफ निगालीसागर के तट पर स्थित है। यह स्थान नेपाल की तोलिवा तहसील में है। फ्युरर ने 1895 में इसका पता लगाया था। आजकल इसे 'भीमसेन की निगाली' कहते हैं। इसके लेख को सर्वप्रथम ब्युलर ने लिप्यन्तर के साथ प्रकाशित किया।

गुहा-लेख

बराबर गुहालेख—बराबर (प्राचीन नाम खलितक तथा प्रवरगिरि) नाम की पहाड़ियाँ दक्षिणी बिहार में नया नगर से 15 मील उत्तर की तरफ स्थित हैं। ये पहाड़ियाँ समग्र रूप से बराबर कहलाती हैं परन्तु इनके अलग-अलग नाम भी हैं। आजकल इनमें सबसे ऊँची पहाड़ी सिद्धेश्वर कहलाती है। इनमें खोदी गई चार गुफाओं में से तीन अशोक ने आजीविकों को दान दी थीं। इन लेखों को सर्वप्रथम किटो महोदय ने प्रस्तर-मुद्रित किया और सेना तथा ब्युलर ने सम्पादित।

पानगोरारिया गुहा शरण-स्थल लेख—यह अभिलेख मध्य प्रदेश के सेहोर जिले में 1975 ई० में भोपर्दिकर और के० डी० बनर्जी द्वारा खोजे गये एक गुहा शरण-स्थल (एक नैसर्गिक गुहा, जिसे थोड़ा-बहुत काट-छाँट कर भिक्षुओं के रहने योग्य बना दिया गया था) से मिला है। इससे ज्ञात होता है कि पियदसी (अशोक) इस गुफा में भिक्षुओं से मिलने उस समय आया था जब वह 'महाराजकुमार' था।[1]

अशोक के अन्य अभिलेख

अशोक के उपर्युक्त सभी लेख ब्राह्मी में हैं, शिलालेखों के शहबाजगढ़ी तथा मान-सेहरा संस्करणों को छोड़कर जो खरोष्ठी में लिखे हैं (लघु शि० ले० के मैसूर संस्करणों को उकेरने वाले ने भी अन्त में अपने नाम 'चपड़' के आगे 'लिपिकरेण' शब्द खरोष्ठी में लिखा है)। इनके अलावा पश्चिमोत्तर प्रदेशों से अशोक के कुछ अन्य लेख उपलब्ध हुए हैं जो एरेमाइक और यूनानी भाषाओं में लिखे हैं :—

तक्षशिला एरेमाइक लेख—यह लेख, जो अत्यन्त भग्नावस्था में है, तक्षशिला से सर जॉन मार्शल को प्राप्त हुआ था। इसे उन्होंने 'गाइड टु टैक्सिला' में प्रकाशित किया। बाद में इसका मूलपाठ और हर्ज़फल्ड कृत लैटिन भाषान्तर इ० आई०, 19, में छपा।

शार-ए-कुना (कन्धार) द्विभाषी (यूनानी-एरेमाइक) शिला-लेख—यह लेख दक्षिण अफगानिस्तान में कन्धार के पास शार-ए-कुना स्थल से प्राप्त हुआ था। यह स्थान एरेकोशिया में सिकन्दर द्वारा स्थापित अलेक्ज़ेण्ड्रिया नगर के समीप था। इसका प्रकाशन सर्वप्रथम 'ईस्ट एण्ड वेस्ट' नामक पत्रिका के मार्च-जून 1958 के अंक में उमबर्टो सिरैटो ने किया। यह लेख द्विभाषी है। इसका एरेमाइक संस्करण यूनानी संस्करण का स्वतन्त्र भाषान्तर लगता है।

पुले-दारुन्त (लमगान) एरेमाइक प्रस्तर-लेख—इस लेख का उल्लेख हेनिंग ने 'बुलेटिन ऑव दि स्कूल ऑव ओरियण्टल एण्ड एफ्रिकन स्टडीज़', 13, लन्दन, में किया है। यह अफगानिस्तान में पुले दारुन्त (लमगान, प्राचीन लम्पाक) से मिला था। इसकी भाषा एरेमाइक है परन्तु इसमें गान्धारी प्राकृत के भी कुछ शब्द मिलते हैं।

---

[1]दे०, गुप्त, एस० पी०, दि रूट्स् ऑव इण्डियन आर्ट, दिल्ली, 1980, पृ० 196।

इसमें अशोक के कुछ भारतीय लेखों के अंशों का समन्वित रूप मिलता है।

लेखों की कुल संख्या

उपर्युक्त वर्णन से अशोक के अभिलेखों की कुल संख्या इस प्रकार निश्चित होती है :

(अ) मुख्य शिला-लेख

: पहिले से दसवें तथा चौदहवें लेखों की प्रतियाँ सात स्थानों से (गिरनार, कालसी, एर्रगुडी, शहबाज़गढ़ी, मानसेहरा, धौली, जौगड़) = 77

: आठवें की एक प्रति एक स्थान से (सोपारा) = 1

: ग्यारहवें से तेरहवें की प्रतियाँ 5 स्थानों से (गिरनार, कालसी, एर्रगुडी, शहबाज़गढ़ी, मानसेहरा) = 15

(आ) पृथक् कलिंग शिला-लेख

: दो लेखों की प्रतियाँ दो स्थानों से (धौली और जौगड़) = 4

(इ) लघु शिला-लेख

: एक लेख की प्रति पन्द्रह स्थानों से (ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, जटिंग-रामेश्वर, मास्की, गोविमठ, पालकिगुण्डु, एर्रगुडी, राजुल-मण्डगिरि, बैराठ, रूपनाथ, सहसराम, गुजर्रा, अहरौरा, नई दिल्ली, बुधनी अथवा पानगोरारिया) = 15

(ई) शिलाफलक-लेख

: एक प्रति एक स्थान से (भाब्रु=बैराठ-कलकत्ता) = 1

(उ) मुख्य स्तम्भ-लेख

: पहिले से छठे लेख की प्रतियाँ छः स्थानों से (देहली-टोपरा, देहली-मेरठ, लौरिया-अरराज, लौरिया-नन्दनगढ़, रामपुरवा, प्रयाग) = 36

: सातवें अभिलेख की प्रति एक स्थल से (देहली-टोपरा) = 1

(ऊ) लघु स्तम्भ-लेख

: संघभेद-लेख की प्रतियाँ तीन स्थानों से (सारनाथ, साञ्ची, प्रयाग) = 3

: 'रानी का लेख' एक स्थान से (प्रयाग) = 1

: दो यात्रा-स्मारक लेख (निगालीसागर तथा रुम्मिनदेई) = 2

(ए) गुहा-लेख

: चार लेख (तीन बराबर की गुफाओं से तथा एक बुधनी की नैसर्गिक गुफा से) = 4

(ऐ) पश्चिमोत्तर प्रदेशों के विदेशी भाषाओं के लेख

: तीन लेख (तक्षशिला, कन्धार व पुलेदारुन्त से) = 3

कुल संख्या =163

अगर एर्रगुडी, जटिंग-रामेश्वर सिद्धपुर व ब्रह्मगिरि के उत्तरार्द्ध को द्वितीय लघु शिला-लेख माना जाय, जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं, तो यह संख्या 166 हो जायेगी। इनके अलावा सोपारा में मूलतः चौदहों मुख्य शिलालेखों का पूरा 'सेट' रहा होगा। कुछ लेख बनारस से प्राप्त एक स्तम्भ (लाट भैरों) और पाटलिपुत्र के स्तम्भ पर भी लिखे थे जो इन स्तम्भों के खण्ड-खण्ड हो जाने के कारण अब अप्राप्य हैं। अशोक के किसी-किसी लेख के नीचे एक-दो शब्द या पंक्तियाँ अतिरिक्त रूपेण मिलती हैं। उनको यहाँ नहीं गिना गया है। भविष्य में उसके अन्य अभिलेख और उपलब्ध होंगे, ऐसी आशा है।

अभिलेखों के प्रकार

अशोक ने अपने लघु शि० ले० को 'धंम सावन' धर्म श्रावण कहा है और शिलालेखों व स्तम्भ-लेखों को 'धंम लिपि'। अपने पञ्चम स्त० ले० को वह 'धंम नियम' भी कहता है। अभिलेख के ये प्रकार प्राचीन भारत में इस रूप में अन्यत्र नहीं मिलते। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के 'शासनाधिकार' अध्याय में (2.10) 'शासन' या राजकीय अभिलेखों के आठ प्रकार बताये गये हैं : प्रज्ञापन-लेख (जिसमें राजा का संदेश 'उसने ऐसा कहा' 'अनेन विज्ञापितमेवाह' शब्दों के साथ दोहराया गया हो); आज्ञा-लेख (कर्मचारियों के लिए दण्ड या पारितोषिक की आज्ञा), परिदान-लेख (सत्कार के लिए राजा की तरफ से भेंट या दान का उल्लेख करने वाला लेख); परिहार-लेख (नगरों या जातियों आदि पर राजा के अनुग्रह को बताने वाला लेख); निसृष्टि-लेख (किसी कार्य को करने या कहने में आत्मवचन का प्रमाण देने वाला वाचिक या नैसृष्टिक लेख); प्रावृत्तिक-लेख (दैवी या मानुषी विपत्तियों की चेतावनी देने वाला लेख); प्रति-लेख (राजा की आज्ञानुसार किसी पत्रादि का उत्तर देने वाला लेख) तथा सर्वत्रग (राजकर्मचारियों को सार्वजनिक कल्याण और सुरक्षा के आदेश देने वाला लेख)। इस वर्गीकरणानुसार अशोक के गुहा-लेख परिदान-लेख होंगे, रुम्मिनदेई स्तम्भ लेख का उत्तरार्द्ध परिहार-लेख होगा, संघभेद-लेख आज्ञालेख और सर्वत्रग-लेख होगा, प्रथम पृथक् कलिंग लेख आज्ञा-लेख होगा तथा लघु शि० ले० एक विशेष प्रकार का सर्वत्रग-लेख होगा। अन्य लेखों में प्रत्येक में कौटिल्य के विभिन्न प्रकार के लेखों की विशेषताएँ मिश्रितरूपेण दिखाई देंगी। वैसे अशोक के अभिलेखों के लिए कौटिल्य का प्रज्ञापन-लेख नाम भी प्रयुक्त किया जा सकता है क्योंकि उसके अधिकांश लेख 'देवानांप्रिय प्रियदर्शी ने ऐसा कहा' वाक्य से प्रारम्भ होते हैं।

अशोक के अभिलेख कौटिल्य द्वारा बताये गये अभिलेखों के सभी तेरह उद्देश्यों की न्यूनाधिक पूर्ति करते हैं : वे हैं—निन्दा, प्रशंसा, पृच्छा (पूछना), आख्यान (बताना), अर्थना (माँगना), प्रत्याख्यान (निषेध), उपालम्भ (शिकायत), प्रतिषेध (रोकना), चोदना (ऐसा करना चाहिए, यह बताना), सान्त्वना, अभ्युपपत्ति (आपत्ति के समय सहायता का आश्वासन), भर्त्सना (दोष बताकर धमकाना), अनुनय (अनुरोध)।

इसी प्रकार राजकीय अभिलेखों के कौटिल्य द्वारा बताये गये गुण (अर्थक्रम, सम्बन्ध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य तथा स्पष्टता) तथा दोष (अकान्ति, व्याघात, पुनरुक्ति, अपशब्द अर्थात् व्याकरण की भूल, संप्लव अर्थात् विराम आदि चिह्नों की भूल) भी अशोक के अभिलेखों में न्यूनाधिक रूप से मिलते हैं। अशोक ने अपने 14 वें शिलालेख में अपने अभिलेखों की कमियाँ इस प्रकार बताई हैं : साम्राज्य बहुत विशाल होने से सब लेख सर्वत्र नहीं लिखवाए जा सके, बातों की मधुरता के कारण उनमें पुनरुक्ति की गई, तथा कुछ लेख स्थानाभाव, संक्षेपीकरण अथवा लेखकों के प्रमाद के कारण अपूर्ण रह गये।

भाषाएँ और लिपियाँ

अशोक का साम्राज्य बहुत ही विस्तृत था और उसके विभिन्न भागों में संस्कृत के अलावा अन्य अनेक स्थानीय बोलियाँ, जो 'प्राकृत' कहलाती हैं, बोली जाती थीं। इनका विकास वैदिक संस्कृत से हुआ था। इन बोलियों में मागधी प्राकृत सर्वप्रमुख थी। इसका केन्द्र मगध था जो मध्य देश का पूर्वी भाग था। अशोक ने अपने अधिकांश अभिलेखों के लिए (तक्षशिला, पुलेदारुन्त व शार-ए-कुना लेखों को छोड़कर) इसी भाषा को अपनाया यद्यपि अन्य प्रदेशों में प्रचलित प्राकृत भाषाओं का मामूली-सा प्रभाव वहाँ पर उपलब्ध अभिलेखों में मिलता है। इसी कारण एक ही लेख के विभिन्न प्रदेशों के संस्करणों में मामूली-से पाठभेद मिलते हैं। स्थूलतः इन भेदों के आधार पर कुछ विद्वान् अशोकीय अभिलेखों की प्राकृत के चार रूप मानते हैं। मुख्य या सरकारी रूप से स्वीकृत मध्यदेशीय मागधी (जिसमें बैराठ, दिल्ली-टोपरा, सारनाथ आदि स्त० ले० तथा कलिंग से प्राप्त शि० ले० शामिल किये जाते हैं), पश्चिमोत्तरीय प्राकृत (जिसमें शहबाज़गढ़ी व मानसेहरा-लेख सम्मिलित हैं), महाराष्ट्रीय या पश्चिमीय प्राकृत (जिसमें सोपारा और गिरनार-लेख परिगणित होते हैं) तथा दाक्षिणात्य प्राकृत (जिसमें दक्षिण के सभी लेख गिने जाते हैं)। लेकिन इन चारों रूपों में भेद बहुत ही मामूली हैं और मात्र मागधी प्राकृत को समझने वाला व्यक्ति इन सभी को पूरी तरह समझ सकता है। यह तथ्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उस युग में मागधी प्राकृत का ऐसा सार्वदेशिक प्रचलन स्पष्टतः अकल्पनीय था। उदाहरणार्थ, उस युग में मैसूर के लोग निश्चय ही द्रविड बोलियों को बोलते होंगे और उनके लिए मागधी प्राकृत एक विदेशी भाषा की तरह रही होगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अशोक ने अपने लेख आम जनता के लिए नहीं वरन् उस वर्ग के लिए लिखवाए थे जिसे वह साम्राज्यिक भाषा या मागधी प्राकृत सिखा रहा था। इस तथ्य की ओर अभी तक किसी विद्वान् ने पूरी तरह ध्यान नहीं दिया है। लेकिन इससे अशोक के अभिलेखों के उद्देश्य और परोक्षतः ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति पर सर्वथा नया प्रकाश मिलता है।

अशोक ने अपने तक्षशिला और पुलेदारुन्त लेखों (जिनमें एरेमाइक लिपि का प्रयोग है), शार-ए-कुना द्विभाषी अभिलेख (जिसमें एरेमाइक व यूनानी लिपियों का

प्रयोग है) तथा मुख्य शिलालेखों के शहबाजगढ़ी और मानसेहरा संस्करणों (जिनमें दाहिने से बाईं ओर लिखी जाने वाली खरोष्ठी लिपि का उपयोग दिया गया है) सर्वत्र बाएँ से दाहिनी ओर लिखी जाने वाली ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया है। यह ध्यान देने की बात है कि ब्राह्मी लिपि से इतर सभी लिपियों में लिखित लेख पश्चिमोत्तर प्रदेशों में मिलते हैं और वे विदेशी लिपियों (एरेमाइक तथा यूनानी) अथवा एरेमाइक से निकली खरोष्ठी लिपि में लिखे हैं। रा० ब० पाण्डेय जैसे कुछ विद्वान् अवश्य ही खरोष्ठी को भारतीय लिपि मानते हैं[1] परन्तु अन्य अधिकांश विद्वान् ब्युलर के इस मत को स्वीकृत करते हैं कि खरोष्ठी की उत्पत्ति एरेमाइक वर्णमाला से हुई।[2] जहाँ तक ब्राह्मी की उत्पत्ति का प्रश्न है, लगभग सभी विदेशी विद्वान् इसे किसी विदेशी लिपि से निकली मानते हैं जबकि बहुत-से भारतीय पुरालिपिशास्त्री इसको स्वयं भारत में भारतीयों द्वारा विकसित बताते हैं। लेकिन यह बात इन दोनों ही वर्गों के विद्वान् स्वीकार करते हैं कि ब्राह्मी लिपि का अस्तित्व अशोक के कई शती पहिले से था। परन्तु हमारा विश्वास है कि ब्राह्मी का आविष्कार चन्द्रगुप्त मौर्य के उपरान्त और अशोक के अभिलेख लिखे जाने के पूर्व भारतीय वैयाकरणों ने किया था और यह कार्य सम्भवतः स्वयं अशोक ने ही कराया था। इस मत का प्रतिपादन हमने अपनी कई पूर्वोद्धृत रचनाओं में किया है।

अशोक के अभिलेखों में बहुतों की अनेक प्रतियाँ मिलने से पाठान्तरों की समस्याएँ पैदा होती हैं। इनमें कुछ पाठान्तर राजकर्मचारियों के कारण, जो अभिलेखों के प्रारूप तैयार करने एवं उनका सम्पादन तथा उत्कीर्णन करने आदि के लिए उत्तरदायी थे, उत्पन्न हुए, कुछ प्रादेशिक बोलियों में भेद के कारण पैदा हुए तथा कुछ स्थानीय पदाधिकारियों के द्वारा जानबूझ कर किए गए। परन्तु कुल मिलाकर ये पाठान्तर बहुत गम्भीर नहीं हैं और किसी लेख के एक संस्करण की सहायता से उसके दूसरे संस्करण के लुप्त पाठ को पुनर्योजित करने में विशेष कठिनाई नहीं आती।

अशोक के अभिलेखों का तिथिक्रम

अशोक के अभिलेखों का अध्ययन प्रायः उनके महत्त्व और वर्गीकरण को दृष्टि में रखकर किया जाता है। परन्तु उनका सापेक्ष तिथिक्रम इससे भिन्न है। उसके कुछ अभिलेखों में उसके शासन के वर्ष का उल्लेख है और शेष के लिखवाये जाने की तिथियाँ उनके अन्तःसाक्ष्य की सहायता से निर्धारित करनी होती हैं। इस विषय में कुछ बातों की ओर पहिले ही ध्यान दिला देना आवश्यक है। एक, अशोक के किसी अभिलेख का उसके द्वारा प्रारूप निर्धारित करवाए जाने (जहाँ भी और जिस प्रकार भी यह प्रारूप तैयार किया गया हो) तथा उसके उत्कीर्ण किये जाने के बीच कुछ

---

[1]पाण्डेय, अशोक के अभिलेख, पृ० 20–1।

[2]ब्युलर, इण्डियन पेलियोग्रेफी, पृ० 17–20।

समय अवश्य व्यतीत हुआ होगा। इसलिए विद्वानों में इस विषय में मतभेद है कि उसके अभिलेखों में प्रदत्त तिथियाँ उनके प्रारूप तैयार किये जाने के समय की हैं अथवा उत्कीर्ण किए जाने के समय की। हमें इनमें प्रथम विकल्प सही लगता है। इसके पक्ष में कहा जा सकता है कि अशोक ने अपने लघु शि० ले० में बताया है कि यह श्रावण उसने तब किया जब उसे उपासक बने 'ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय' बीत गया था और दौरे पर निकले हुए 256 दिन बीत चुके थे। ये तिथियाँ बदल दी जातीं अगर उत्कीर्ण करने वाले पदाधिकारी उत्कीर्ण किए जाने के समय की तिथियाँ देते क्योंकि मैसूर से लेकर दिल्ली तक विस्तृत भूखण्ड के विभिन्न स्थलों में यह लेख एक साथ नहीं स्पष्टत: कुछ दिनों के अन्तर से विविध समय पर उत्कीर्ण कराया जा सका होगा। इसी तर्क के आधार पर कहा जा सकता है कि तृतीय और चतुर्थ मुख्य शिलालेखों में बारहवें वर्ष का उल्लेख सब संस्करणों में न होता अगर यह तिथि मूल प्रारूप में न होती क्योंकि इसके कुछ संस्करण हो सकता है तेरहवें वर्ष के शुरू में उत्कीर्ण कराये जा सके हों। दूसरी बात यह ध्यान में रखने की है कि अशोक ने अपने लेखों में जो वर्ष संख्याएँ दी हैं वे सम्भवत: प्रचलित वर्षों की हैं, व्यतीत वर्षों की नहीं। उदाहरण के लिए जब वह कहता है कि उसने आठवें वर्ष में कलिंग को जीता था तो वहाँ अर्थ होगा कि कलिंग युद्ध लड़े जाने के समय उसे शासन करते हुए 7 वर्ष व्यतीत हो गए थे और आठवाँ वर्ष चल रहा था। लेकिन सरकार जैसे कुछ विद्वान् अशोक द्वारा उल्लिखित संख्याओं को प्रचलित नहीं व्यतीत वर्षों की संख्याएँ ही मानते हैं। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अशोक के अभिलेखों का सापेक्ष तिथिक्रम इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है :

(1) **ग्यारहवां वर्ष : लघु शिला-लेख**—अशोक ने अपने लघु शि० ले० के विभिन्न संस्करण बौद्ध उपासक बनाने के "ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय उपरान्त" उत्कीर्ण कराये थे। अब, जैसा कि निश्चित-सा है उसने बौद्ध धर्म को प्रधानत: कलिंग युद्ध की भीषणता से अनुतप्त होकर (सो अस्ति अनुसोचनं देवनप्रियस विजिनिति कलिगनि—13 वाँ शि० ले०, शहबाज़गढ़ी संस्करण) स्वीकृत किया था (अधुना लधष कलिग्येषु तिवे धम्मवाये धम्मकामता धम्मानुषाथि चा—13 वाँ शि० ले०, कालसी)। परन्तु कलिंग युद्ध की समाप्ति और बौद्ध धर्म के प्रति उसकी उन्मुखता पूर्ण होने में कुछ समय अवश्य लगा होगा। परम्परानुसार उसने अनेक सम्प्रदायों में रुचि लेने के बाद और उनसे सन्तोष न पाने पर बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था। इसीलिए हमारा अनुमान है कि अशोक ने बौद्ध उपासकत्व अपने शासन के आठवें वर्ष के अन्त में किसी समय स्वीकार किया होगा। अत: अपना लघु शि० ले० उसने आठ वर्ष+ 'ढाई वर्ष से कुछ अधिक' समय बाद अर्थात् 11 वें वर्ष के उत्तरार्द्ध में जारी किया होगा। इस गणना का समर्थन परोक्षत: एक अन्य तथ्य से होता है। अपने लघु शि० ले० में वह बताता है कि 'ढाई वर्ष से अधिक' के प्रथम वर्ष में उसने कम पराक्रम किया और अन्तिम 'डेढ़ वर्ष से कुछ अधिक समय में' तीव्र पराक्रम। हमारी

गणनानुसार उसके तीव्र पराक्रम का समय उसके शासन के 8+1=9 वें वर्ष के अन्त में या 10 वें वर्ष के शुरू में प्रारम्भ हुआ होगा। उसके बाद उसके तीव्र पराक्रम वाले 'डेढ़ वर्ष से कुछ अधिक' समय को भी हम दो भागों में बाँट सकते हैं : 256 दिन अर्थात् करीब साढ़े आठ माह जो उसने दौरे पर यानी धर्मयात्रा में बिताये और उसके पूर्व व्यतीत होने वाला करीब एक वर्ष। यह पूर्वगामी एक वर्ष उसने तीव्र पराक्रम दिखाते हुए अपनी राजधानी में बिताया होगा। इससे स्पष्ट है कि उसने अपनी धर्मयात्रा दसवें वर्ष के अन्त में सम्भवतः बुद्ध के अवशेषों पर स्तूप बनवाकर (अहरौरा-लेख) प्रारम्भ की। यह बात परोक्षतः अष्टम शि० ले० से प्रमाणित है जिसमें कहा गया है कि उसने दसवें वर्ष सम्बोधि की यात्रा की जिससे धर्म यात्राओं की प्रथा प्रारम्भ हुई (दसवर्साभिसितो संतो अयाय संबोधि तेनेसा धंम याता—गिरनार०)। सम्भवतः इसी दौरे के 256 वें पड़ाव में अर्थात् करीब साढ़े आठ माह पश्चात् (अहरौरा-लेख) 11 वें वर्ष के उत्तरार्द्ध में किसी समय उसने लघु शि० ले० जारी किया गया। जो विद्वान् अशोक के उपासकत्व को करीब चार वर्ष का मानते हैं वे लघु शि० ले० की तिथि को डेढ़ वर्ष आगे खिसकाने के लिए और इन्हें उसके बारहवें वर्ष के गुहालेखों से बाद का मानने के लिए बाध्य हैं। बरुआ लघु शि० ले० की तिथि को न केवल गुहालेखों के उपरान्त रखते हैं वरन् अन्य तर्कों का, जो हमें युक्तियुक्त नहीं लगते, सहारा लेकर लघु शि० ले० को अशोक के शासन के 26 वें–27 वें वर्ष में उत्कीर्ण किया गया मानते हैं। हमारे विचार से यह असम्भव है।

(2) **बारहवाँ वर्ष : प्रथम दो गुहा-लेख तथा प्रथम चार मुख्य शि० ले०—** अशोक ने अपने शासन के बारहवें वर्ष में (दुआडसवसाभिसितेना) आजीविकों को गुफाएँ दान दीं व धंमलिपियाँ अर्थात् मुख्य शिलालेख लिखवाने शुरू किए। बारहवें वर्ष में प्रथम चार शिलालेख लिखवाए गए क्योंकि (1) वह तृतीय शि० ले० (द्वादस वसाभिसितेन—गिरनार०) तथा चतुर्थ शि० ले० (द्वादस वसाभिसितेन—गिरनार०) को स्पष्टतः बारहवें वर्ष में लिखित बताता है तथा (2) अपने छठे स्त० ले० में, जो 26 वें वर्ष लिखवाया गया था, कहता है कि उसने लोक के हितसुख के लिए धंमलिपियों को बारहवें वर्ष में लिखवाना शुरू किया (दुआडसवसअभिसितेन मे धंमलिपि लिखापिता लोकसा हितसुखाये—देहली-टोपरा)। इन दोनों साक्ष्य से प्रमाणित है कि अशोक ने मुख्य शि० ले० को लिखवाने का कार्य 12 वें वर्ष में प्रथम चार शि० ले० लिखवाकर शुरू किया। इन तथ्यों के प्रकाश में नी० क० शास्त्री का यह कथन कि अशोक के शि० ले० करीब 14 वें वर्ष में लिखवाये गए थे,[2] स्वतः गलत प्रमाणित हो जाता है।

राजबली पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ 'अशोक के अभिलेख' में अशोक के सभी चौदहों

---

[1]बरुआ, अशोक एण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स्, 2, पृ० 14–6।

[2]ए० न० मौ०, पृ० 205।

शिलालेखों की तिथि 12वाँ वर्ष बताई हैं।[1] परन्तु यह स्पष्टतः गलत है क्योंकि 5 वें शिलालेख में अशोक ने कहा है कि उसने 13 वें वर्ष में धर्ममहामात्र नियुक्त किए थे (मया त्रैदसवसाभिसितेन धंममहामाता कता)। इससे स्पष्ट है 5 वें से 14 वें शि० ले० को उसके शासन के 13 वें वर्ष में या उसके बाद कभी लिखवाया गया होगा बारहवें वर्ष में नहीं।

(3) **उन्नीसवाँ वर्ष : तृतीय गुहालेख** (एकुनवीसति वसाभिसितेना)।

(4) **बीसवाँ वर्ष : रुम्मिनदेई व निगालीसागर लघु स्त० ले०।**

(5) **छब्बीसवाँ वर्ष : प्रथम छः मुख्य स्त० ले०।** इनमें 1 ले, 4 थे, 5 वें तथा 6 ठे स्त० ले० में 26 वें वर्ष (सड्विसतिवस अभिसितेन) का स्पष्ट उल्लेख है। पता नहीं बरुआ ने केवल प्रथम चार स्त० ले० को ही 26 वें वर्ष में लिखवाया गया क्यों माना है।[2]

(6) **सत्ताईसवाँ वर्ष : सप्तम स्त० ले०** (सतविसति वसाभिसितेन)। पाण्डेय का यह कथन[3] स्पष्टतः गलत है कि अशोक के सभी मुख्य स्त० ले० 26 वें वर्ष में लिखवाये गए थे।

अशोक के शेष अभिलेखों की तिथियाँ उनके अन्तःसाक्ष्य की सहायता से ही निर्धारित की जा सकती हैं। उसके 5 वें से 14 वें शि० ले० की तिथि 13 वें वर्ष में या उसके बाद पड़ेगी। संभवतः उन्हीं के साथ कलिंग के दो पृथक् शि० ले० लिखवाए गए होंगे। रा० ब० पाण्डेय ने कलिंग के पृथक् शि० ले० की तिथि 14 वाँ-15 वाँ वर्ष मानी है परन्तु इस मत के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं दिया है। बरुआ ने इन्हें 27 वें वर्ष के बाद रखा है, परन्तु उनके तर्क भी सन्तोषप्रद नहीं हैं। इसी प्रकार पाण्डेय ने अपने इस सुझाव के समर्थन में कि अशोक के सभी लघु स्त० ले० (निगाली-सागर व रुम्मिनदेई लघु स्त० ले० को छोड़कर) 29 वें से 38 वें वर्ष के बीच लिखवाये गए थे, कोई प्रमाण नहीं दिया है। हमारे विचार में इस प्रसंग में यह तथ्य विचार-णीय है कि अशोक के शिला-लेखों में कहीं भी स्तम्भ-लेखों की चर्चा नहीं है जबकि स्तम्भ लेख शिला-लेखों से परिचित हैं। इसलिए शिला-लेखों की तिथियाँ स्तम्भ-लेखों के पूर्व पड़नी चाहिए। जिन अभिलेखों की तिथियाँ निश्चित हैं उनसे भी यही बात प्रमाणित होती है (दे०, ऊपर)।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

अशोक के अभिलेखों का अध्ययन पिछली करीब डेढ़ शती से हो रहा है। इसलिए इनके ऊपर एक विशाल साहित्य तैयार हो चुका हैं। उसके अभिलेखों के अनेक

---

[1]पाण्डेय, पूर्वो०, पृ० 15।
[2]बरुआ, पूर्वो०, पृ० 11।
[3]पाण्डेय, पूर्वो०, पृ० 15।

संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं, प्रत्येक अभिलेख पर लिखित शोध-निबन्धों की तो बात अलग रही। बहुत से ग्रन्थों में, जो उसके शासन के इतिहास पर लिखे गये हैं, उसके अभिलेखों के पाठ व अनुवाद दिए गए हैं और उनके अन्दर उनसे सम्बन्धित समस्याओं का विस्तृत अध्ययन भी किया गया है। इस समस्त साहित्य का यहाँ परिचय देना तो दूर उसे सूचीबद्ध करना भी शक्य नहीं है। लेकिन डॉ० राजबली पाण्डेय ने अपने बृहदाकार ग्रन्थ 'अशोक के अभिलेख' में इस साहित्य की एक पर्याप्त विस्तृत सूची दे दी है।[1] अतः हम नीचे दी गई एक पाद-टिप्पणी में अशोक के अभिलेखों पर प्रकाशित मात्र प्रमुख ग्रन्थों को उल्लिखित किए दे रहे हैं।[2] इस विषय पर पठनीय-सामग्री की अधिक विस्तृत सूची के लिए पाण्डेय के ग्रन्थ की 'सन्दर्भ-सूची' का उपयोग किया जा सकता है। जो शोध-लेख पाण्डेय के ग्रन्थ के प्रकाशन के उपरान्त लिखे गए (जैसे कुछ निबन्ध अहरौरा लघु शि० ले० पर एवं नई दिल्ली ल० शि० ले० पर, जो पाण्डेय के ग्रन्थ के छपने के उपरान्त प्रकाश में आये) उनको हमने ऊपर उन अभिलेखों की चर्चा करते समय सूचीबद्ध कर दिया है अथवा उनका यथास्थान अन्यत्र उल्लेख कर दिया है।

साहित्यिक अनुश्रुतियाँ

अशोक का उल्लेख उसके अपने अभिलेखों में ही नहीं, छिटपुट रूप से कुछ परवर्ती लेखों में भी मिलता है। उदाहरणार्थ, प्रथम रुद्रदामा की जूनागढ़-प्रशस्ति में (150 ई०) सुदर्शन तटाक के इतिहास के सन्दर्भ में उसका एवं उसके एक अधीन राजा यवनराज तुषास्फ का उल्लेख है। एक परवर्ती चीनी यात्री चियाङ्ग-शिया पियास् के द्वारा त्रिकाय के सम्मान में रचित एक प्रशस्ति में, जो बोधगया से उपलब्ध हुई है, बोधगया के मन्दिर को गलती से अशोक द्वारा निर्मित बता दिया गया है।[3] लेकिन अशोक के ऊपर इन परवर्ती अभिलेखों से कहीं ज्यादा सामग्री साहित्य में उपलब्ध है। इसमें अशोक तथा अन्य मौर्य नरेशों पर अनेक कथायें और आख्यान मिलते हैं जिनसे

---

[1]वही, पृ० 262–70।

[2]हूल्श, कॉर्पस, 1; बरुआ, बी० एम०, इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव अशोक, भाग 2; अशोक एण्ड हिज़ इन्स्क्रिप्शन्स्; सेन, ए० सी०, अशोकज़ एडिक्ट्स्; सरकार, इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव अशोक; स० इ०, पृ० 14 अ०; ग्रियर्सन, दि इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव प्रियदसी; बसाक, आर० जी०, अशोकन इन्स्क्रिप्शन्स्; भाण्डारकर, डी० आर०, अशोक; थापर, रोमिला, अशोक एण्ड दि डेक्लाइन ऑव दि मौर्यज़; स्मिथ, वी० ए०, अशोक; दि एडिक्ट्स् ऑव अशोक; भट्ट, जनार्दन, अशोक के धर्मलेख; भट्टाचार्य, जीवानन्द, सेलेक्ट अशोकन एपिग्रेफ्स्; मैक्फेल, जे० एम०, अशोक; मुखर्जी, आर० के०, अशोक; राइस, एडिक्ट्स् ऑव अशोक इन माइसोर; शर्मा, रामावतार, प्रियदर्शी प्रशस्तयः ऑर पियदसि इन्स्क्रिप्शन्स्; सेना, दि इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव पियदसि, 1, 1881; पाण्डेय, रा० ब०, हि० लि० इं०, पृ० 1 अ०; अशोक के अभिलेख (अन्य सन्दर्भों के लिए)।

[3]बरुआ, बी० एम०, अशोक एण्ड हिज़ इन्स्क्रिप्शन्स्, कलकत्ता, 1955, पृ० 2।

उनके इतिहास, विचारों, साम्राज्य-विस्तार, धर्म और धार्मिक नीति तथा विचार, प्रशासन आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। अशोक की चर्चा करने वाले ग्रन्थ भारत में ही नहीं लंका, चीन, तिब्बत तथा बर्मा आदि में भी मिलते हैं। लंका के ग्रन्थों में 'दीपवंस' तथा 'महावंस' तथा इनके ऊपर लिखित परवर्ती टीकाएँ विशेषतः उल्लेख्य हैं। अशोकीय आख्यानों की उत्तरी आवृत्ति अवदानों में मिलती है जिनमें 'अशोकावदान' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह मूलतः संस्कृत में लिखा गया था। इसका विस्तृत विवेचन जीन शिलुस्की ने अपने ग्रन्थ 'लीजेण्ड्स ऑव एम्परर अशोक इन इण्डियन एण्ड चाइनीज टैक्स्ट्स' में किया है।[1] 'दिव्यावदान', 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' तथा हिन्दू पुराणों में मौर्य राजाओं की सूचियाँ, शासन की अवधि तथा छिटपुट अन्य कथाएँ तथा तथ्य दिये गये हैं। बुद्धघोष की 'समन्तपासादिका' और पालि इतिवृत्तों में भी मगध के राजाओं की सूचियाँ और तिथिक्रम दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त परवर्ती युग में भारत की यात्रा करने वाले चीनी यात्री फा-शिएन, शुआन-च्वांग तथा ई-चिंग आदि के यात्रा-विवरणों में अशोक सम्बन्धी कथाएँ और आख्यान सुरक्षित हैं। बहुत से आधुनिक विद्वानों ने साहित्यिक आख्यानों को 'सिद्धान्तविहीन भिक्षुओं के द्वारा गढ़ी गई झूठी कहानियाँ' बताया है। लेकिन अब सामान्यतः यह माना जाता है कि ये कथायें यद्यपि संयमित इतिहास तो नहीं हैं परन्तु एकदम झूठ और कल्पित भी नही हैं।[2] इसका एक बड़ा रोचक उदाहरण पिछले वर्षों में प्रकाश में आया है। साहित्यिक साक्ष्य में कहा गया है कि अशोक अपने पिता के काल में अवन्ति का गवर्नर था। सन् 1975 में प्रकाश में आये बुधनी या पानगोरारिया नैसर्गिक गुहा-लेख से ज्ञात होता है कि जब अशोक 'महाराजकुमार' था तब उसने मध्य प्रदेश के सेहोर जिले के इस स्थान की यात्रा की थी। इससे इस साहित्यिक साक्ष्य का समर्थन होता लगता है कि कुमार अशोक अवन्ति में गवर्नर रहा था। सेना के शब्दों में साहित्यिक कथाओं में सुरक्षित अशोक की स्मृति इतनी सही अवश्य है कि उनमें और अभिलेखों में प्रदत्त तथ्यों में समानता दिखाई दे जाये और उनकी सहायता से अभिलेखों के कथनों को स्पष्टतर करने में सहायता मिले।[3] रीज़ डेविड्स् के अनुसार यह सोचना ही गलत होगा कि प्राचीन भिक्षुओं में इतिहास-बोध उतना 'वैज्ञानिक' होगा जितना आधुनिक इतिहासकारों में मिलता है। उल्टे हमें इन कथाओं के रचयिताओं के प्रति कृतज्ञ होना चाहिये कि उन्होंने, अपने पुरातन ढंग से सही, हमारे लिये इतनी बहुमूल्य सामग्री सुरक्षित छोड़ी है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अभिलेख बहुत छोटे होते हैं और उनका कथन भी सदैव सत्य नहीं होता। बहुधा तो उन्हें साहित्यिक साक्ष्य की सहायता के बिना समझना तक कठिन होता है। अगर हमारे पास यह साहित्यिक

[1]कलकत्ता, 1967।
[2]बरुआ, पूर्वो०, पृ० 1–4।
[3]बरुआ द्वारा उद्धृत।

सामग्री नहीं होती तो हम अशोक के पिता बिन्दुसार और पितामह चन्द्रगुप्त के तो शायद नाम तक नहीं जान पाते (अशोक विषयक साहित्यिक साक्ष्य की मीमांसा के लिये दे०, आगे, 'अशोक के अन्तिम दिन' विषयक अनुभाग)।[1]

पुरातात्त्विक स्रोत

अशोक के काल की कला के अध्ययन के लिए उसके स्मारक—विशेषत: स्तम्भ और उन पर बनी शीर्षस्थ पशु-मूर्तियाँ—बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। अशोक ने अनेक नगर बसाये (जिनकी चर्चा साहित्य में मिलती है), स्तूपों, विहारों, गुहाओं तथा पाषाण स्तम्भों का निर्माण करवाया तथा मूर्तियाँ निर्मित करवाईं। मौर्यकालीन मृण्मूर्त्तियों तथा पाषाण चक्रों में भी अनेक उसके शासनकाल के होंगे।[2] इनसे एक ओर भारत में पाषाण कला के उदय का ज्ञान होता है तो दूसरी तरफ भारत और ईरान के सम्बन्धों पर भी प्रकाश मिलता है। इस पुरातात्त्विक सामग्री की कुछ विस्तार से चर्चा आगे की जायेगी।

अशोक के काल में आहत मुद्राएँ जारी हुई थीं, यह निश्चित है। परन्तु ये मुद्राएँ लेखविहीन हैं, इसलिए उनका सम्बन्ध अशोक से प्रश्नानीत रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। फिर भी इनसे मौर्यकालीन आर्थिक व्यवस्था पर कुछ प्रकाश तो मिलता ही है।[3]

---

[1] रीज़ डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 274 अ०।

[2] दे०, गुप्त, एस० पी०, दि रूट्स् ऑव इण्डियन आर्ट, दिल्ली, 1980।

[3] इन मुद्राओं के विस्तृत अध्ययन के लिए दे०, गोयल, एस० आर०, क्वायनेज ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, मेरठ, 1987; गुप्त, पी० एल० तथा हर्डेकर, टी० आर०, एन्श्येण्ट इण्डियन सिलवर पञ्च मार्क्ड क्वायन्स ऑव दि मगध-मौर्य कार्षापण सिरीज़, 1985।

अध्याय 13

अशोक का प्रारम्भिक जीवन

नाम, उपाधियाँ तथा परिवार के सदस्य

अशोक नाम

अशोक को बौद्ध ग्रन्थों, पुराणों, प्रथम रुद्रदामा की जूनागढ़-प्रशस्ति तथा कुछ परवर्ती लेखों में अशोक नाम से ही अभिहित किया गया है। बौद्ध ग्रन्थ उसे धर्माशोक और प्रियदर्शी भी कहते हैं। पुराणों में उसे कहीं-कहीं अशोकवर्द्धन भी कहा गया है।[1] रुद्रदामा की जूनागढ़-प्रशस्ति तथा 'दिव्यावदान' में भी उसे स्पष्टतः अशोक मौर्य कहा गया है।

अशोक के अधिकांश लेख इस पदांश से प्रारम्भ होते हैं—देवानांप्रियो पियदसी लाजा एवं आह—'देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा'। अतः संस्कृत में अशोक का पूर्ण अभिधान था—देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा। परन्तु कुछ लेखों में उसकी मात्र 'देवानांप्रिय' उपाधि प्रयुक्त है तथा बैराठ (भाब्रु)-लेख में उसे मात्र 'पियदसि-लाजा' कहा गया है। जैसाकि सेना ने सर्वप्रथम ध्यान दिलाया था, अभिलेखों का पदांश 'देवानांपियो पियदसी लाजा एवं आह' ईरान के साखामनीषी अभिलेखों के तद्रूप पदांश से तुलनीय है। इतना ही नहीं ईरानी लेखों के समान अशोक के लेख भी प्रारम्भ तो होते हैं अन्य पुरुष से, परन्तु इसके तत्काल बाद इनमें उत्तम पुरुष का प्रयोग कर दिया गया है।

प्रियदर्शी नाम

अशोक को उसके अभिलेखों में प्रायः प्रियदर्शी नाम दिया गया है। उसके कन्धार द्विभाषी लेख में भी उसे यूनानी तथा एरेमाइक भाषाओं में क्रमशः Piodasses तथा Prydrś कहा गया है। उसके केवल दो अभिलेखों में प्रियदर्शी के स्थान पर अशोक नाम प्रयुक्त है। जब प्रिन्सेप ने अशोक के अभिलेखों का उद्वाचन किया था तो उसे यह समझ में नहीं आया था कि अभिलेखों का यह प्रियदर्शी कौन था। बाद में टर्नर ने सुझाया कि यह राजा बौद्ध कथाओं का अशोक है जिसे सिंहली ग्रन्थ 'दीपवंस' में

[1] बोंगार्ड-लेविन, जी० एम०, मौर्यन इण्डिया, नई दिल्ली, 1985, पृ० 81।

'पियदस्सन' भी कहा गया है ।[1] लेकिन यह तथ्य प्रश्नातीत रूप से स्थापित तब हुआ जब मास्की लघु शि० ले० प्रकाश में आया जो अन्य लघु शि० ले० के विपरीत 'देवानंपियसा असोकस' से प्रारम्भ होता है। बाद में गुजर्रा-लेख में भी 'अशोक' नाम का प्रयोग मिला (देवानंपियस असोकस राजस)।

लेकिन 'प्रियदर्शी' अशोक का दूसरा नाम था या मात्र उपाधि या अभिधान, यह प्रश्न विवादग्रस्त है ।[2] भाण्डारकर ने 'प्रियदर्शी' को अशोक की उपाधि माना है ।[3] उनका कहना है कि जिस प्रकार राष्ट्रकूट लेखों में तृतीय गोविन्द के पुत्र को मात्र उसकी उपाधि अमोघवर्ष से अभिहित किया गया है वैसे ही अशोक को भी प्रियदर्शी कहा गया है। 'प्रियदर्शी' का अर्थ है 'देखने में प्रिय' अथवा 'जो सभी में प्रिय देखता हो'। इसका पर्याय 'पियदस्सन' (=प्रियदर्शन) है। 'दीपवंश' में ये दोनों अशोक के लिए बिना कोई भेद किये हुए प्रयुक्त हैं। 'प्रियदर्शिका' नामक नाटक में नायिका को 'प्रियदर्शिका' और 'प्रियदर्शना' दोनों कहा गया है। 'प्रियदर्शी' प्राचीन काल में अनुराग प्रकट करने वाला विशेषण था। 'रामायण' में एक स्थल पर राम को 'सोमवत् प्रियदर्शनः' कहा गया है। 'मुद्राराक्षस' में इसका प्रयोग चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए हुआ है तथा पुलुमावि के नासिक-अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'चद मउल ससिरीक पियदसनस' कहा गया है। अशोक सम्भवतः कुरूप था, राजा होने के कारण 'पियदसि' कहलाने लगा। हमारा विचार है कि उसके अभिलेखों में यह उसके दूसरे नाम की तरह प्रयुक्त हुआ है। एक, उसके बराबर-गुहालेख में 'लाजिना पियदसिना' का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि 'अशोक' के समान 'प्रियदसि' उसका व्यक्तिगत नाम था। दूसरे, जहाँ-जहाँ अभिलेखों में 'अशोक' नाम का प्रयोग है (मास्की व गुजर्रा लघु-शिलालेख एवं रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख) वहाँ-वहाँ 'प्रियदसि' अप्रयुक्त है। तीसरे, पियदसि जैसे नाम पालि साहित्य में (द्र०, बुद्धवंश) अनेक भूतपूर्व बुद्धों के मिलते हैं यथा, अत्थदसि, धम्मदसि, सब्बदसि, तथा अनोमदसि। चौथे, बुद्धघोष ने लिखा है कि मौर्य राजकुमार पियदासो (=पियदस्सी) ने अपने अभिषेक के समय अशोक नाम धारण किया। इस विषय में 'दीपवंस' में इससे उल्टी सूचना मिलती है। इसके अनुसार महेन्द्र की आयु के 14 वें वर्ष अशोक का अभिषेक हुआ और बीसवें वर्ष पियदसी का। यह कथन तभी बोधगम्य हो सकता है जब हम अशोक का दूसरा नाम पियदसी मानें। बरुआ ने इसके आधार पर माना है कि अशोक का पुनरभिषेक प्रियदर्शी नाम से प्रथम अभिषेक के छः वर्ष बाद में हुआ था।[4] परन्तु तब यह मानना भी अनिवार्य हो जाता है कि अशोक का मूल नाम

[1]भाण्डारकर, डी० आर०, द्वारा उद्धृत, अशोक, पृ० 3।

[2]इस समस्या पर विस्तार से अध्ययन के लिए दे०, मित्र, एस०, 'आइडेण्टिटी ऑव पियदसि एण्ड अशोक,' आई० सी०, 1, 1934, पृ० 120–21; जोशी, एम० सी०, 'ए स्टडी ऑव दि नेम्स् ऑव अशोक', जे० ओ० आई०, 12, अंक 4, 1968, पृ० 415–21।

[3]भाण्डारकर, पूर्वो०।

[4]बरुआ, अशोक एण्ड हिज़ इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० 17–8।

अशोक था द्वितीय नाम पियदसी, जबकि बुद्धघोष उसका मूल नाम पियदस्सी बताता है और द्वितीय नाम अशोक।

देवानांप्रिय उपाधि

देवानंप्रिय (=देवानांप्रिय=देवताओं का प्रिय) अशोक की सम्मान सूचक उपाधि थी। यह उपाधि प्राचीन काल में राजाओं के लिए प्रायः प्रयुक्त मिलती है। स्वयं अशोक ने इसे आठवें शि०ले० के कालसी, शहबाज़गढ़ी तथा मानसेहरा संस्करणों में अपने पूर्वगामी राजाओं के लिए अन्य संस्करणों में आये 'लाजाने' (=राजा लोग) शब्द के बजाय प्रयुक्त किया है। 'दीपवंस' में यह अशोक के समकालीन लंका-नरेश तिस्स के लिए प्रयुक्त है। लंका के एक अभिलेख में भी यह राजाओं की उपाधि की तरह प्रयुक्त हुई है। 'औपपातिक सूत्र' में इसका अर्द्ध-मागधी बहुवचन रूप 'देवाणुप्पियाणं' मिलता है। इसी ग्रन्थ में कुणिक अजातशत्रु को 'भो देवाणुप्पिया' कहकर सम्बोधित किया गया है। नागार्जुनी गुहा-लेखों में इसका प्रयोग दशरथ के लिए किया गया है। इन तथ्यों से भाण्डारकर ने निष्कर्ष निकाला है कि यह 'उपाधि' राजाओं तक सीमित थी और इसका प्रयोग यह प्रदर्शित करने के लिए होता था कि वह राजा देवताओं द्वारा रक्षित है।[1] बी० एम० बरुआ का कहना है कि इस उपाधि का प्रयोग इसलिये होता था क्योंकि राजा के अभिषेक के समय पुरोहित देवताओं का आह्वान करते थे। इसका अर्थ था यह प्रदर्शित करना कि राजा देवताओं का कृपापात्र और उनके द्वारा रक्षित है। इसलिए बरुआ ने इसका अंग्रेजी अनुवाद His Gifted Majesty किया है।[2] अन्य विद्वान् इसको एक राजकीय उपाधि मानते हुए इसका अनुवाद प्रायः His Sacred and Gracious Majesty करते हैं। लेकिन दशरथ शर्मा इसको एक राजकीय उपाधि मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं।[3] उनका कहना है कि यह केवल एक आशीर्वचन मात्र था। इसके लिए उनके द्वारा प्रदत्त प्रमाण इस प्रकार हैं : (1) 'महाभाष्य' में 'देवानांप्रिय' को भवदादि वर्ग में 'दीर्घायुष्' और 'आयुष्मान्' के बीच में रखा गया है। (2) पाणिनि 2.4.56 पर टीका करते हुए पतञ्जलि ने इसका प्रयोग एक सामान्य वैयाकरण के लिए भी किया है। उसे एक पद में 'आयुष्मान्' कहा गया है और दूसरे में 'देवानांप्रिय'। (3) 'शबरभाष्य' से इसका समर्थन होता है। (4) 'हर्षचरित' में इसका प्रयोग सावित्री के मुख से सरस्वती के होने वाले पति दधीचि के लिए कराया गया है जो न राजा था और न वृद्ध। दशरथ शर्मा के अनुसार इन तथ्यों के प्रकाश में यह मानना चाहिये कि इस विशेषण का प्रयोग सामान्य जनों के लिए भी होता था। लेकिन इसके बावजूद हमें यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है कि प्राचीन राजा इसको एक उपाधि के रूप में भी प्रयुक्त

[1]भाण्डारकर, अशोक, पृ० 8।
[2]बरुआ, अशोक एण्ड हिज़ इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० 15 अ०।
[3]शर्मा, दशरथ, आई० एच० क्यू०, 26, पृ० 149–51।

करते थे। अगर 'देवानांप्रिय' विशेषण का प्रयोग मात्र 'आयुष्मान्' अर्थ में होता तो अशोक अपने पूर्वजों को 'देवानांप्रिय' कहकर उल्लिखित नहीं करता। उस हालत में उसका अपने को 'देवानांप्रिय' कहना भी कुछ विचित्र होता क्योंकि 'आयुष्मान्' अर्थ वाले शब्द केवल बड़ों द्वारा छोटों के लिए प्रयुक्त होते हैं, जैसा कि शर्मा ने स्वयं साग्रह कहा है। इसलिए हमें यह मानना सही लगता है कि अशोक के अभिलेखों में यह विशेषण एक राजकीय उपाधि के रूप में प्रयुक्त है। 'हर्षचरित' में भी अगर यह दधीचि जैसे व्यक्ति के लिए प्रयुक्त है जो राजा नहीं था तो स्वयं चक्रवर्ती हर्ष के लिए भी इसका प्रयोग हुआ है। इस तथ्य की ओर शर्मा जी का ध्यान नहीं गया था।

इस उपाधि के साथ जुड़ी दूसरी समस्या है परवर्ती युग में इसका प्रयोग 'मूर्ख' अर्थ में होना। इस विषय में 'महाभाष्य' व 'हर्षचरित' के साक्ष्य से यह तो स्पष्ट ही है कि सातवीं शती ई० तक कुछ लोग इसका प्रयोग शुभ अर्थ में भी करते थे। परन्तु सम्भवतः तीसरी शती ई० पू० के ही लेखक कात्यायन ने इसका प्रयोग 'मूर्ख' अर्थ में किया है। पाणिनि के एक सूत्र 'षष्ठ्या आक्रोशे' (6.3.21) के अनुसार आक्रोश या घृणा प्रकट करते समय षष्ठी विभक्ति का लोप नहीं होता। वह इस नियम का कोई अपवाद नहीं देते। कात्यायन ने अलुक् समास का एक उदाहरण 'देवानांप्रिय' दिया है और लिखा है 'देवानांप्रिय इति च मूर्खे' अर्थात् 'देवानांप्रिय मूर्ख को कहते हैं'। इस नियम का अनुसरण बाद में संस्कृत साहित्य में होता रहा। कैयट ने इसका अर्थ 'मूर्ख' ही माना है। हेमचन्द्र ने 'अभिधान चिन्तामणि' में 'देवानांप्रिय' का प्रयोग मूर्ख अर्थ में किया है। शाहजहाँकालीन भट्टोजी दीक्षित ने लिखा है 'अन्यत्र देवप्रियः' जिसका अर्थ है कि 'देवानांप्रिय' अलुक् समास है जिसका अर्थ मूर्ख है, अच्छे अर्थ में षष्ठी तत्पुरुष समास 'देवप्रियः' हो जाता है। नागेशदत्त, वासुदेव दीक्षित, रामचन्द्र प्रभृति अन्य मध्यकालीन लेखकों ने 'देवानांप्रिय' को 'मूर्ख' अर्थ में ही लिया है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि एक शुभ विशेषण का यह विकृत अर्थ कैसे हो गया। मुखर्जी, रायचौधुरी और रा० ब० पाण्डेय आदि का कहना है कि बौद्ध धर्म के प्रति उदासीनता और अनादर की वृद्धि के साथ देवानांप्रिय के मूल अर्थ में विकृति आई, उसी तरह जैसे परवर्ती युगों में 'बुद्ध' से 'बुद्धु', 'नग्न' (=जैन क्षपणक) से 'नंग' अर्थात् बेशर्म और 'लुञ्चक' (=वे साधु जो अपने केश नोचते थे) से 'लुच्चा' शब्द बने। लेकिन बरुआ का कहना है कि भट्टोजी दीक्षित जैसे विद्वानों ने जब 'देवानांप्रिय' का अर्थ मूर्ख माना होगा उस समय वे शायद इस बात से परिचित भी नहीं रहे होंगे कि अशोक ने यह उपाधि धारण की थी। उन्होंने इसका अर्थ 'मूर्ख' इसलिए किया क्योंकि पाणिनि के उपर्युक्त सूत्र के अनुसार ऐसा मानना अनिवार्य था। सम्भवतः ये दोनों ही मत सही हैं। प्राचीन ब्राह्मण लेखकों को एक तरफ पाणिनि के सूत्र के अनुसार 'देवानांप्रिय' को मूर्ख अर्थ में लेना आवश्यक लगा होगा तो दूसरी तरफ अशोक की नीति के कारण मौर्यों के प्रति समाज में जो आक्रोश उत्पन्न हुआ उसके कारण उनकी उपाधि का अर्थ विकृत कर देने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई होगी। इस प्रसंग में 'मार्कण्डेय

पुराण' में मौर्यों की असुरों में गणना किया जाना उल्लेखनीय है। 'गार्गी संहिता' में शालिशूक के लिए कहा गया है, 'स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्'। जायसवाल ने इसका अनुवाद किया है : 'वह मोहात्मा (=मूर्ख) धर्मविजय की स्थापना करेगा'।[1] स्पष्टतः यह मौर्यों की 'धम्म विजय' पर एक ब्राह्मण लेखक का व्यङ्ग है। इन दोनों उदाहरणों से ब्राह्मण लेखकों का अशोक के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। अतः हमारे विचार से यह तर्क कि भट्टोजी दीक्षित जैसे परवर्ती लेखक अशोक से परिचित नहीं थे, इस प्रसंग में निस्सार है।

जन्मतिथि

अशोक का जन्म कब हुआ था इसका कोई संकेत अभिलेखों में नहीं मिलता। परन्तु साहित्य में प्रदत्त तथ्यों का विश्लेषण करके इस विषय में कुछ अनुमान किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'महावंस' से ज्ञात होता है कि अशोक के पुत्र महेन्द्र ने अपने पिता के अभिषेक के छठे वर्ष में प्रव्रज्या ली थी और उस समय उसकी आयु 20 वर्ष थी। इसलिए अशोक के अभिषेक के समय (265 ई० पू०) महेन्द्र 14 वर्ष का था। अतएव उसका जन्म 279 ई० पू० में हुआ होगा। वह अशोक की देवी नामक पत्नी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था और अशोक का देवी से प्रणय उज्जयिनी में तब हुआ था जब अशोक वहाँ का वायसराय था। इस प्रकार अशोक 280 ई० पू० तक न केवल वयस्क हो गया था वरन् वायसराय बनने के योग्य भी हो गया था। इसलिए उसका जन्म 300 ई० पू० के बाद में रखना उचित नहीं होगा। इस तरह अभिषेक के समय उसकी आयु लगभग 35 वर्ष रही होगी।

अशोक का राजकुमार के रूप में जीवन

अशोक के परिवार के विषय में भी अभिलेखों से कोई निश्चित सूचना नहीं मिलती, केवल यत्र-तत्र कुछ चर्चा मिलती है जिसकी सहायता साहित्यिक सूचनाओं की जाँच करने में ली जा सकती है। अपने सातवें स्तम्भ-लेख में महामात्रों की चर्चा करते हुए वह कहता है : "वे मेरे और देवी (प्रधान महिषी ?) के (दान-वितरण) में, मेरे सभी अवरोधनों (अन्तःपुरों में) बहुत प्रकार और आकार के तुष्टिकारक कार्यों का सम्पादन करते हैं, यहाँ (पाटलिपुत्र में) और अन्य दिशाओं में। और (राज) दाराओं के दान-वितरण के लिए व्यवस्था की गयी। दूसरे देवी-कुमारों के दान वितरण के लिए (महामात्र) नियुक्त होंगे"।[2] उसके पाँचवें शिलालेख में भी धर्ममहामात्रों की चर्चा करते हुए कहा गया है : "यहाँ और बाहर के नगरों में (मेरे) सब अन्तःपुरों में तथा मेरे भाइयों, बहिनों यहाँ तक कि अन्य सम्बन्धियों के (अन्तःपुरों में) भी वे सर्वत्र लगे हुए

[1]जे० बी० ओ० आर० एस०, 4, पृ० 261।

[2]पाण्डेय, राजबली, अशोक के अभिलेख, वाराणसी, सं० 2022, पृ० 150।

हैं।"[1] उसके प्रयाग से उपलब्ध लघु स्तम्भ-लेख में उसकी द्वितीय रानी कारुवाकी तथा उसके पुत्र तीवर का उल्लेख हुआ है : "देवानांप्रिय के वचन (=आज्ञा) से महामात्रों को सर्वत्र कहना चाहिये, ये जो द्वितीय देवी के दान हैं (जैसे) आम्र वाटिका, विश्राम-गृह, दानगृह अथवा अन्य कुछ, ये सब देवी के नाम में गिने जाने चाहिये (अर्थात् पञ्जीकृत होने चाहिये)। ये अवश्य गिने जाने चाहिये। तीवर की माता द्वितीय देवी कारुवाकी की (ऐसी ही इच्छा है) (दुतीयाये देविये ति तीवल-मातु कालुवाकिये)।"[2] इस लेख से स्पष्ट है कि अशोक के कम से कम दो रानियाँ तो अवश्य थीं।

अशोक के परिवार और प्रारम्भिक जीवन के विषय में कुछ विस्तृत तथ्य और कथाएँ साहित्य में उपलब्ध हैं, यद्यपि उनकी विश्वसनीयता सन्दिग्ध है। के० एच० ध्रुव आदि कुछ आधुनिक विद्वान् अशोक को उस यूनानी राजकुमारी का पुत्र मानते हैं जो उनके अनुसार सेल्युकस की पुत्री थी और बिन्दुसार को ब्याही थी।[3] 'दीपवंस' और 'महावंस' के अनुसार बिन्दुसार की सोलह पटरानियाँ और 101 पुत्र थे। पुत्रों में केवल तीन के नाम दिये गये हैं—सुमन, अशोक तथा तिष्य। अशोक तथा तिष्य सहोदर थे तथा सुमन तथा शेष 99 पुत्र अशोक के सौतेले भाई थे। अशोक ने अपने सौतेले 99 भाइयों को मारकर राज्य पाया था : "बिन्दुसार के एक सौ एक पुत्र थे। इनमें अशोक अत्यन्त तेजस्वी और बलवान् था। अशोक ने 99 सौतेले (वेमातिके) भाइयों को मार कर सम्पूर्ण जम्बुद्वीप पर शासन किया।"[4] 'दीपवंस' की कथा स्थूलतः 'महावंस' की कथा के सदृश है। पर 'दिव्यावदान' की कथा कुछ अधिक विस्तृत है। इसके अनुसार बिन्दुसार के पुत्र का नाम 'सुसीम' था। उस समय चम्पा नगरी में एक ब्राह्मण रहता था जिसकी कन्या बहुत 'सुन्दर, दर्शनीया, प्रासादिका और जनपद कल्याणी' थी।[5] उसके भविष्य के सम्बन्ध में ज्योतिषियों ने बताया था कि उसका पति राजा होगा और उसके दो पुत्र होंगे। एक पुत्र तो चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा, और दूसरा विरक्त होकर 'सिद्धव्रत' हो जायेगा। यह भविष्यवाणी सुनकर ब्राह्मण ने उसे बिन्दुसार की पत्नी बनने के लिए उपहार में दे दिया। लेकिन अन्तःपुर में निवास करने वाली अन्य स्त्रियों ने उसे ईर्ष्यावश नाई का कार्य सिखा दिया। एक

---

[1]गोयल, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, जयपुर, 1982, पृ० 46।

[2]वही, पृ० 120–1।

[3]ध्रुव, जे० बी० ओ० आर० एस०, 16, पृ० 35, टि० 28; टार्न, दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, पृ० 152।

[4]बिन्दुसारसुता आसुं सतं एको च विस्सुता।
असोको आसि तेसं तु पुञ्जतेजो बलिद्धिको ॥ 19॥
वेमातिके भातरो सो हन्त्वा एकूनकं सतं।
सकले जम्बुदीपस्मि एकरज्जमपापुणि ॥20॥

[5]उसका नाम 'अशोकावदानमाला' में सुभद्राङ्गी दिया गया है। 'महावंसटीका' में उसको धर्मा कहा गया है और 'अग्गमहेसी' बताया गया है। उसका जन्म मोरिय जाति में हुआ था।

बार उससे प्रसन्न होकर बिन्दुसार ने उससे वर माँगने को कहा। ब्राह्मण-कन्या ने कहा—'मैं देव के साथ समागम करना चाहती हूँ।' यह सुनकर राजा ने पूछा, 'तू नाइन है और मैं क्षत्रिय राजा हूँ। तेरा मेरे साथ समागम कैसे हो सकता है ?'[1] ब्राह्मण-कन्या ने कहा, 'देव, मैं नाइन नहीं हूँ, मैं ब्राह्मण-कन्या हूँ।' सब बातें जानकर बिन्दुसार ने उसे अपनी पटरानी बना लिया। उसके दो पुत्र हुये, अशोक और विगताशोक या वीताशोक। लेकिन कुमार अशोक 'दुःस्पर्शगात्र' था, इसलिये बिन्दुसार उससे प्रेम नहीं करता था। पर वह यह जानने के लिए उत्सुक था कि उसके पुत्रों में कौन योग्यतम है। इस प्रयोजन से उसने आजीविक परिव्राजक पिङ्गलवत्साजीव से आग्रह किया कि वह कुमारों की परीक्षा लें और देखें कि कौन-सा कुमार राजकार्य को सँभालने में समर्थ था। पिंगलवत्स ने सोचा कि राजा तो अशोक ही होगा परन्तु यह बात बिन्दुसार नहीं चाहता। इसलिये मैं अगर यह कह भी दूँगा कि अशोक योग्यतम है तो शायद बिन्दुसार मेरे प्राण ले लेगा। अतः उसने उत्तर दिया कि जिस कुमार का यान, आसन, भोजन, पात्र, वस्त्र और पान सर्वोत्कृष्ट हैं वही राजा बनेगा। बाद में वह अशोक की माता की सलाह पर अपने प्राणों की रक्षा के लिए एक सीमावर्ती जनपद में चला गया।

'महावंस' के अनुसार जब अशोक अवन्ति राष्ट्र (अवंतिरट्ठ) का भोग कर रहा था[2] तो विदिशा नगरी में उसका प्रेम एक श्रेष्ठी कन्या से हो गया जिसका नाम देवी था। उसके साथ उसके विवाह की चर्चा नहीं मिलती इसलिये रोमिला थापर ने देवी के गर्भ से उत्पन्न महिंद (महेन्द्र) तथा संघमित्ता (संघमित्रा) को अशोक की अवैध सन्तान माना है।[3] पर यहां विवाह का उल्लेख किया जाना अनिवार्य नहीं था। महेन्द्र और संघमित्रा ने लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। जब अशोक ने राज्य पर अधिकार स्थापित कर लिया तब देवी विदिशा में रही, पाटलिपुत्र नहीं गई।[4] 'महाबोधिवंस' में भी अशोक को अवन्ति का शासक और 'उज्जेनिराज' कहा गया है। 'कम्बोडियायी महावंश' में कहा गया है कि वह अवन्तिराष्ट्र का उपराजा बनाया गया था (अवन्तिरट्ठं तेसं पि उपरज्जं अदसि सो)। 'वंसत्थप्पकासिनी' में बताया गया है कि बिन्दुसार ने अशोक को अवन्ति राज्य भेंट में दिया था।

इस साहित्यिक परम्परा का कि अशोक विदिशा में कुमार के रूप में रहा था, हाल ही में प्राप्त उसके एक अभिलेख से समर्थन हुआ है। यह अभिलेख 1975 में भोपर्दिकर और के० डी० बनर्जी ने मध्य प्रदेश के सेहोर जिले के पानगोरारिया (बुधनी) स्थान

---

[1]पूर्वो०।

[2]'दीपवंस' के अनुसार बिन्दुसार ने अशोक को उज्जैन का कर वसूल करने के लिये (उज्जैनी कर मौलि) नियुक्त किया था।

[3]थापर, रो०, अशोक एण्ड दि डेक्लाइन ऑव दि मौर्यज़, पृ० 23।

[4]हो सकता है अशोक ने सांची का स्तूप इसी रानी की प्रसन्नता के लिये बनवाया हो।

के पास स्थित एक गुहा शरण-स्थल (नैसर्गिक गुहा) में पाया था। इससे ज्ञात होता है कि जब पियदसी एक 'महाराजकुमार' था तब उसने इस गुहा शरण-स्थल की यात्रा की थी। स्पष्टतः विदिशा में कुमार के रूप में शासन करते समय वह पानगोरारिया गया होगा।[1]

बौद्ध धर्म की तृतीय संगीति का वर्णन करते हुए 'महावंस' में अशोक की रानी का नाम असन्धिमित्रा लिखा गया है।[2] हो सकता है कि एक श्रेष्ठी की कन्या होने के कारण देवी को सम्राज्ञी के रूप में स्वीकृत कर सकना सुगम न रहा हो। पर 'महाबोधिवंस' में देवी को 'शाक्यानी' लिखा गया है। अतः यह भी असम्भव नहीं है कि वह जिस श्रेष्ठी की कन्या थी उसके पूर्वज कपिलवस्तु से आकर विदिशा में बस गये हों। पर यह भी हो सकता है कि लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले महेन्द्र का सम्बन्ध भगवान् बुद्ध की जाति के साथ जोड़ने के लिये इस कथा को गढ़ा गया हो। यह भी सम्भव है कि 'शाक्यानी' शब्द का प्रयोग 'बौद्ध धर्म में आस्था रखने वाली' अर्थ में किया गया हो। चीनी यात्री शुआन-च्वांग ने महेन्द्र को अशोक का भाई लिखा है।[3] इसलिये ओल्डनबर्ग और स्मिथ ने सिंहली अनुश्रुति को विश्वसनीय नहीं माना है। पर शुआन-च्वांग ने भी यह लिखा है कि लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार महेन्द्र द्वारा किया गया था और छोटी आयु में ही उसने अर्हत् पद को प्राप्त कर लिया था। 'महावंस' के अनुसार महेन्द्र ने बीस वर्ष की आयु में भिक्षुव्रत ग्रहण किया था और उसकी बहन संघमित्रा ने अट्ठारह वर्ष की अवस्था में। इससे पूर्व संघमित्रा का विवाह अग्गिबह्मा (अग्निब्रह्मा) के साथ हो चुका था जो अशोक का भान्जा (भागिनेय) था। अग्निब्रह्मा से संघमित्रा को सुमन नामक एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था।

तिब्बती बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार युवावस्था में अशोक कामवासना का शिकार होकर रागरंग में व्यस्त रहता था। इसी कारण तब उसे 'कामाशोक' कहा जाता था। इस अनुश्रुति में कितना सत्यांश है, कहना कठिन है। परन्तु इतना निश्चित है कि अशोक ने अनेक विवाह किये थे। ऊपर उसकी कारुवाकी, देवी तथा असन्धिमित्रा नामक रानियों का उल्लेख किया गया है। 'महावंस' के अनुसार असन्धिमित्रा की मृत्यु अशोक के जीवन काल में ही हो गई थी। असन्धिमित्रा के निधन के पश्चात् पटरानी पद तिस्सरक्खा (तिष्यरक्षिता) ने प्राप्त किया। 'दिव्यावदान' के अनुसार तिष्यरक्षिता ने राजकीय मुद्रा का दुरुपयोग कर कुनाल को अन्धा करने का आदेश प्रदान किया था। 'महावंस' के अनुसार तिष्यरक्षिता द्वारा बोधिवृक्ष को भी क्षति पहुँचायी गई थी।[4] तिष्यरक्षिता वृद्ध अशोक के एक पुत्र युवक कुनाल के प्रति

---

[1]गुप्त, एस० पी०, दि रूट्स् ऑव इण्डियन आर्ट, पृ० 196।

[2]एकं असन्धिमित्ताय देविया तु अदापयि।

[3]बील, रिकार्ड्स् 2, पृ० 91, 231।

[4]मण्डुकण्टकयोगेन महाबोधिमघातयि।

आकृष्ट थी, और उससे प्रेम का प्रतिदान न पा कर उसके प्रति द्वेष रखने लगी थी। 'दिव्यावदान' में अशोक की एक अन्य रानी का भी उल्लेख है जिसका नाम पद्मावती था। धर्मविवर्धन या कुनाल इसी का पुत्र था। कुनाल को एक बार तक्षशिला में विद्रोह का दमन करने भेजा गया था। कुनाल के बाद अशोक ने उसके पुत्र सम्प्रति को युवराज बनाया था। नेपाली कथाओं में अशोक की संघमित्रा से इतर एक अन्य कन्या का भी उल्लेख है जिसका नाम चारुमती था। उसका विवाह नेपाल के 'क्षत्रिय' देवपाल के साथ हुआ था। पर चारुमती की माता का नाम अनुश्रुति से ज्ञात नहीं होता।

'राजतरङ्गिणी' में अशोक के पुत्र जालौक का उल्लेख किया गया है जो अशोक के पश्चात् कश्मीर के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ था।[1] तिब्बती अनुश्रुति में अशोक के एक अन्य पुत्र कुस्तन का वृत्तान्त मिलता है जिसका जन्म उसके राज्याभिषेक के तीसवें वर्ष में हुआ था। पर इन दोनों—जालौक और कुस्तन—की माताओं के नामों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

राज्यारोहण और राज्याभिषेक

राज्यारोहण

अशोक द्वारा अपने भाइयों की हत्या करके राज्य पाने की कथा कई ग्रन्थों में मिलती है। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के अनुसार अशोक ने अपने छः भाइयों की हत्या करके राज्य पाया था। 'दिव्यावदान' में प्रदत्त कथा से सूचित होता है कि बिन्दुसार अपने बड़े लड़के सुसीम को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था और सम्भवतः वही युवराज बनाया भी गया था। पर राधगुप्त की सहायता से अशोक ने सुसीम को मारकर राज्य हस्तगत कर लिया। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि एक बार तक्षशिला में बिन्दुसार के विरुद्ध विद्रोह हुआ। इस विद्रोह को शान्त करने के लिए बिन्दुसार ने अशोक को भेजा।[2] अशोक ने देवताओं द्वारा प्रदत्त चतुरङ्ग सेना के साथ तक्षशिला की ओर प्रस्थान किया। लेकिन अशोक के आने पर तक्षशिलावासियों ने निवेदन किया—'कुमार, न हम आपके विरुद्ध हैं और न राजा बिन्दुसार के। पर दुष्ट अमात्य हमारा परिभव करते हैं।' वे अशोक को स्वागत-सत्कार के साथ अपने नगर में ले गये। इस बीच में सुसीम ने प्रधानमन्त्री खल्लाटक को अप्रसन्न कर दिया। इस पर खल्लाटक ने पाँच सौ अमात्यों को सुसीम के विरुद्ध कर दिया और

---

[1]सोऽथ भूभृज्जालौकोऽभूत् भूलोक पुरनायकः।
यो यशः सुधया शुद्ध व्यदधात् ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥ 108 ॥
—राजतरंगिणी, प्रथम तरंग।

[2]ग्यारहवीं शती के लेखक क्षेमेन्द्र ने 'अशोकावदान' के आधार पर उस समय तक्षशिला के स्थानीय राजा का नाम, जो बिन्दुसार के अधीन रहा होगा, कुन्जरकर्ण लिखा है (बोंगार्ड-लेविन, पूर्वो॰, पृ॰ 82)।

उनके साथ मिलकर यह निर्णय किया कि अशोक को राजा के पद पर अभिषिक्त किया जाये। अपने इस निर्णय को क्रियान्वित करने के लिए इन अमात्यों ने तक्षशिला में फिर विद्रोह करा दिया। इस बार तक्षशिला के विद्रोह को शान्त करने के लिए बिन्दुसार ने सुसीम को भेजा। पर वह विद्रोह को शान्त करने में असमर्थ रहा। इसी बीच में बिन्दुसार बीमार पड़ गया। उसने अमात्यों से कहा कि वे सुसीम को बुला लें क्योंकि उसे राजपद पर अभिषिक्त करना है, और विद्रोह को शान्त करने के लिए अशोक को पुनः तक्षशिला भेज दें। लेकिन अमात्यों ने उसकी मृत्यु होते ही अशोक को राजा बना दिया। अशोक ने राधगुप्त को प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त किया।

जब सुसीम को बिन्दुसार की मृत्यु और अशोक द्वारा राज्य-प्राप्ति का समाचार ज्ञात हुआ तो वह तुरन्त तक्षशिला से चल पड़ा, परन्तु पाटलिपुत्र की परिखा में, जो दहकते हुए अङ्गारों से भरी थी, गिर कर मर गया।[1]

सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक ने अपने 99 भाइयों को मार कर राजगद्दी पर अधिकार किया था। 'महावंस' के अनुसार जब बिन्दुसार बीमार पड़ा तब अशोक उज्जयिनी का वायसराय था। 'दिव्यावदान' की कथा के अनुसार बिन्दुसार के रुग्ण होने के समय अशोक पाटलिपुत्र में था और अमात्यों ने सुसीम की उपेक्षा कर उसे राजसिंहासन पर आरूढ़ करा दिया था, पर 'महावंस' के अनुसार बिन्दुसार के अन्त काल के समय अशोक उज्जयिनी में था। ज्योंही उसे अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला, वह वहाँ से चल पड़ा और अपने बड़े भाई सुमन को परास्त कर राज्य प्राप्त कर लिया।[2] 'दिव्यावदान' में जिसे सुसीम कहा गया है 'महावंस' में शायद उसे ही सुमन कहा गया है। लेकिन 'दिव्यावदान' में अशोक के उज्जयिनी में 'कुमार' (प्रान्तीय शासक) नियुक्त होने का उल्लेख नहीं है, और 'महावंस' में तक्षशिला के विद्रोह और उसे शान्त करने के लिए अशोक के भेजे जाने की कथा नहीं दी गई है। हो सकता है कि तक्षशिला में विद्रोह को शान्त करने के बाद अशोक को उज्जयिनी का शासक बनाकर भेजा गया हो।

अशोक और तक्षशिला के सम्बन्ध विषयक एक संकेत एक लेख से भी मिलता है। तक्षशिला के सिरकप क्षेत्र के एक मकान पर एक राजपुरुष का उल्लेख करने वाला एक लेख एरेमाइक भाषा और तीसरी शती ई०पू० के पूर्वार्द्ध की लिपि में उत्कीर्ण मिला है। इसमें कहा गया है कि उस राजपुरुष की पदवृद्धि प्रियदर्शी की कृपा से हुई थी। यह

---

[1]दिव्यावदान (कॉवेल और नील), पृ० 369–171।

[2]बिन्दुसारस्स पुत्तानं सब्बेसं जेट्ठभातुनो।
सुमनस्स कुमारस्स त्तो सो हि कुमारको ॥38॥
असोको पितरा दिन्नं रज्जं उज्जेनियं हि सो।
हित्वा गतो पुप्फपुरं बिन्दुसारे गिलानके ॥39॥
कत्वा पुरं सकायत्तं मते पितरि भातरं।
घातेत्वा जेट्ठकं रज्जं अग्गहेसि पुरे वरे ॥40॥

लेख खण्डित है और स्वयं प्रियदर्शी नाम के भी केवल 'प्रियदृश्' अक्षर शेष हैं ।[1] लेकिन हो सकता है कि यह लेख उस समय का हो जब अशोक तक्षशिला का वायसराय था ।

राज्यारोहण तथा अभिषेक के मध्य चार वर्ष के अन्तराल की समस्या

'महावंस' के अनुसार राज्य पर स्वामित्व स्थापित होने के चार वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र में अशोक का अभिषेक हुआ ।[2] यह अभिषेक बुद्ध के निर्वाण के 218 वर्ष बाद हुआ था ।[3] राज्य-प्राप्ति और राज्याभिषेक में चार वर्ष के अन्तर का कारण सम्भवतः उसका अपने भाइयों के विरुद्ध संघर्षरत रहना था । चार वर्ष के संघर्ष के पश्चात् जब उसकी स्थिति सुरक्षित हो गई, तभी उसके राज्याभिषेक का आयोजन किया गया होगा । अशोक ने अपनी धर्मलिपियों में राज्याभिषेक के वर्षों का उल्लेख किया है, राज्य-प्राप्ति के वर्षों का नहीं (यथा, सडुवीसतिवस अभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापिता—छब्बीस वर्ष से अभिषिक्त मुझ द्वारा यह धर्मलिपि लिखवाई गई) । परन्तु राज्य-प्राप्ति तथा राज्याभिषेक में चार साल के अन्तर तथा अशोक और उसके भाइयों में युद्ध की बात को सब विद्वान् स्वीकार नहीं करते । स्मिथ ने गृह-युद्ध की कथा को पूर्णतः सही नहीं माना है, पर राज्य-प्राप्ति और अभिषेक में अन्तर को स्वीकार किया है । वह 99 भाइयों को मारकर राजसिंहासन प्राप्त करने की बात को 'मूर्खतापूर्ण गप्प' समझते हैं, यद्यपि 'दिव्यावदान' की कथा में उन्हें सत्य का कुछ अंश प्रतीत होता है । उन्होंने लिखा है : "तथापि यह सम्भव है कि उत्तरी इतिवृत्त, जिसके अनुसार अशोक और उसके सबसे बड़े भाई सुसीम में राज्य के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में परस्पर संघर्ष हुआ था, वास्तविक घटना पर आश्रित हो । यह वृत्तान्त सिंहली भिक्षुओं द्वारा उल्लिखित कथाओं की अपेक्षा अधिक ऐतिहासिक प्रतीत होता है ।"[4] भाण्डारकर भी 'महावंस' की कथा को विश्वसनीय नहीं मानते ।[5] एगरमोन्त और सेना ने गृह-युद्ध तथा अशोक द्वारा अपने भाइयों की हत्या किये जाने की सम्भावना अस्वीकृत की है । उनका कहना है कि (1) अशोक की क्रूरता विषयक दन्तकथाओं में मतैक्य नहीं है । 'दिव्यावदान' में यह संघर्ष दो भाइयों के बीच में होता है, 'महावंस' आदि के अनुसार अशोक और उसके सुसीम आदि 99 सौतेले भाइयों के बीच में, जो सबके सब मारे गये थे, जबकि तारानाथ के अनुसार अशोक ने केवल 6 भाइयों का वध किया था । (2) इन कथाओं को यह प्रदर्शित करने के लिए गढ़ा गया होगा कि बौद्ध धर्म स्वीकार करने के पूर्व अशोक कितना क्रूर (चण्डाशोक) था लेकिन बाद में वह किस प्रकार धर्मनिष्ठ

---

[1]इ० आई०, 19, पृ० 251; गोयल, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, पृ० 126–7 ।

[2]पत्वा चतूहि वस्सेहि एकरज्जं महायसो ।
पुरे पाटलिपुत्तस्मिं अत्तानमभिसेचयि ।। 22।।

[3]जिन निब्बाणतो पच्छा पुरे तस्साभिसेकतो ।
अट्ठारसं वस्ससतद्वयमेव विजानियं ।। 21 ।।

[4]स्मिथ, अशोक, अध्याय 1 ।

[5]भाण्डारकर, अशोक, अध्याय 1 ।

(धर्माशोक) हो गया था। इस प्रकार इन कथाओं का उद्देश्य यह दिखाना मात्र है कि बौद्ध धर्म किस प्रकार खोटी धातु को भी सोना बना देता है। (3) अशोक स्वयं अपने अभिलेखों में अपने भाइयों, बहिनों, रानियों तथा सन्तान का उल्लेख करता है। वह पाटलिपुत्र में तथा अन्यत्र अपने भाइयों के रनिवासों की विद्यमानता की चर्चा भी करता है। (4) साहित्य में उसके भाइयों के विषय में अनेक कथाएँ मिलती हैं। शुआन-च्वाङ्ग ने उसके भाई का नाम महेन्द्र बताया है। वह बड़ा उच्छृंखल था परन्तु अशोक द्वारा फटकारे जाने पर उसने गम्भीर चिन्तन किया और अर्हत् बन गया। उसे पाटलिपुत्र के पास एक गुफा निवास हेतु दे दी गई। फा-शिएन ने उसका उल्लेख नाम दिये बिना किया है। 'दिव्यावदान' में अशोक के भाई वीताशोक के अर्हत् बन जाने का वर्णन है। 'महावंस' के अनुसार अशोक ने अपने अनुज तिष्य को उपराजा बनाया था परन्तु योनक आचार्य महाधर्मरक्षित के उपदेश से वह भिक्षु बन गया और एक-विहारिक हुआ। 'थेरगाथा टीका' में वीताशोक को तिस्स एकविहारिक से भिन्न बताया गया है। (5) पुराणों में चार वर्ष के अन्तराल का कोई उल्लेख नहीं मिलता।[1]

लेकिन ये तर्क निर्णायक रूप से यह सिद्ध नहीं करते कि अशोक ने अपने भाइयों की हत्या नहीं की थी या गृहयुद्ध नहीं हुआ था। इनसे केवल यह सिद्ध होता है कि अशोक के शासनकाल में उसका कोई भाई जीवित था और कुछ भाइयों के अन्तःपुर विद्यमान थे। परन्तु यह जीवित भाई प्रायः उसका सहोदर बताया गया है, सौतेला नहीं तथा भाइयों के अन्तःपुरों की विद्यमानता से भाइयों का जीवित होना सिद्ध नहीं होता। अतः राज्य-प्राप्ति के लिए अशोक ने चाहे एक भाई को मारा हो, चाहे 99 सौतेले भाइयों को और चाहे छः भाइयों को, इतना सुनिश्चित लगता है कि उसने अपने कुछ भाइयों को परास्त करके ही सिंहासन पाया था।

जायसवाल का विचार था कि अशोक के राज्यारोहण और अभिषेक में चार वर्ष का अन्तर तो था परन्तु इसका कारण वह गृहयुद्ध को नहीं मानते। वह यह मानते हैं कि अशोक राज्यारोहण के समय 21 वर्ष का रहा होगा, 25 वर्ष का नहीं जो अभिषेक के लिये शास्त्रसम्मत आयु थी।[2] परन्तु एक तो व्यवहार में इस विषय में आयु का ध्यान कभी नहीं रखा जाता था। दूसरे, अशोक राज्यारोहण के समय 25 वर्ष से अधिक आयु का ही था, कम का नहीं (दे०, पीछे)। मुकर्जी भी चार वर्ष के अन्तराल को तो मानते हैं, परन्तु गृहयुद्ध की सम्भावना को नहीं। उनका तर्क है कि अशोक के अभिलेखों में तिथियों का उल्लेख अभिषेक के वर्ष से जानबूझ कर किया गया लगता है मानो वह यह ध्यान रख रहा हो कि इनके पाठकों को कहीं यह भ्रम न हो जाये कि उसका आशय राज्यारोहण के वर्ष से है। परन्तु ठीक इसी विधि के अनुसार दशरथ के अभिलेखों में तिथियाँ दी गई हैं जबकि उसके बारे में ऐसे अन्तराल की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

---

[1]सन्दर्भों के लिए दे०, मुकर्जी, अशोक, पृ० 4–8।

[2]जे० बी० ओ० आर० एस०, 3, पृ० 461।

अध्याय 14

अशोक की कलिंग-विजय और साम्राज्य की सीमायें

विजयें

कलिंग-विजय

अशोक अपने अभिलेखों में केवल एक ही शस्त्र-विजय का उल्लेख करता है और वह थी उसकी कलिंग-विजय। अपने 13 वें शिलालेख में वह बताता है : ''आठ वर्ष से अभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा कलिंगों (अर्थात् कलिंगदेश) को जीता गया। डेढ़ लाख मनुष्य वहाँ से अपहृत हुए, एक लाख वहाँ हत हुए (अर्थात् युद्ध में मारे गए) और उतनी ही संख्या में मृत हुए (बहुतवतके व मुटे)।[1] उसके बाद हाल ही में जीते गए कलिंग में देवानांप्रिय का धर्म-व्यवहार, धर्म-प्रेम और धर्मोपदेश तीव्र हुआ (अर्थात् देवानांप्रिय ने वहाँ तीव्र रूप से धर्म-व्यवहार, धर्म-प्रेम और धर्मोपदेश किया)। कलिंग को जीतकर देवानांप्रिय को अनुताप है। जब कोई अविजित (देश) जीता जाता है, वहाँ लोगों का वध, मरण और अपहरण होता है; यह देवानांप्रिय के लिए अत्यन्त वेदना देने वाली और गम्भीर (बात) है। इससे भी अधिक गम्भीर (बात) देवानांप्रिय के लिए (यह) है। वहाँ जो ब्राह्मण और श्रमण और अन्य सम्प्रदायों के गृहस्थ अनुयायी रहते हैं—जिनमें उच्चपदस्थ जनों की शुश्रुषा, माता-पिता की शुश्रुषा, गुरुओं की शुश्रुषा (एवं) मित्रों, परिचितों, सहायकों, जाति वालों, दासभृतकों के प्रति सम्यक्-व्यवहार (और) दृढ़ भक्ति पाई जाती है—उनमें भी आघात, वध और प्रियजनों का निष्कासन पाया जाता है। उन लोगों के भी, जो सुस्थित (अर्थात् सुख से स्थित) हैं (और) जिनका स्नेह कम

---

[1]हूल्श ने 'बहुतवतके व मुटे' का अर्थ किया है 'उसके कई गुने मृत हुए'। रोमिला थापर ने हूल्श का अनुसरण किया है। राजबली पाण्डेय ने एक स्थल पर इसका अर्थ किया है 'बहुत से मारे गए' (अशोक के अभिलेख, पृ० 19), दूसरे पर 'उससे भी अधिक मरे' (वही, पृ० 38) और तीसरे स्थल पर 'उससे कई गुना मृत हुए' (वही, पृ० 59)। बरुआ के अनुसार इस पंक्ति में पहिले बन्दी बनाए गए लोगों की संख्या दी गई है, फिर आहतों की और प्रस्तुत पद में मृतकों की जो पिछली संख्याओं से ज्यादा नहीं हो सकती थी। इसलिए वह इस पद का अर्थ करते हैं 'उतनी ही संख्या में मरे'। यह संख्या घायलों की संख्या के बराबर भी मानी जा सकती है और घायलों और अपहृतों की संख्याओं के योग के बराबर भी। हमें बरुआ का मत सही प्रतीत होता है।

नहीं हुआ है (अर्थात् वे लोग जो युद्ध के प्रभाव से बच कर सुखी जीवन व्यतीत कर सकते हैं), मित्र, परिचित और जाति वाले व्यसन को प्राप्त होते हैं और तब वहाँ (अर्थात् व्यसन को प्राप्त होने पर उन पर) भी आघात होता है। यह सब मनुष्यों का भाग्य है और देवानांप्रिय के लिए गंभीर (बात) है। एक भी सम्प्रदाय (ऐसा) नहीं है जिसमें (लोगों का) अनुराग न हो। इसलिए जितने भी लोग उस समय कलिंग में हत और मृत और अपहृत हुए उसका शतभाग या सहस्रभाग भी आज देवानांप्रिय के लिए गंभीर (बात) है।''

कलिंग-विजय की समीक्षा

अशोक के उपर्युक्त अभिलेख से स्पष्ट है कि कलिंग युद्ध में डेढ़ लाख मनुष्यों को बन्दी बनाया गया था, एक लाख मनुष्य मारे गए थे और इससे कई गुना और मर गये थे।[1] अशोक के अभिलेख में बहुवचनान्त 'कलिंगेषु' का प्रयोग देश के अर्थ में हुआ है। कलिंग बंगाल की खाड़ी के किनारे महानदी और गोदावरी का मध्यवर्ती प्रदेश था। प्लिनी ने इसे तीन भागों में विभक्त किया है—कलिंग, मध्यकलिंग और महाकलिंग। महाकलिंग से 'उत्कलिंग' और 'उत्कलिंग' से 'उत्कल' नाम बना है। प्राचीन अभिलेखों में त्रिकलिंग का उल्लेख आता है। रा० ला० मित्र के अनुसार प्लिनी के तीनों कलिंग मिलकर त्रिकलिंग कहलाते थे। कलिंग नन्दों के युग में मागध साम्राज्य का अंग था, नन्दों के बाद और अशोक के पूर्व यह कभी स्वतन्त्र हो गया था। सरकार के अनुसार अशोक के युग में यह पुरी-कटक प्रदेश से गञ्जाम-सिरीकाकुलम तक विस्तृत था। पराजित कलिंग की हानि से पता चलता है कि यह राज्य बहुत सबल था। मेगास्थेनिज़ के अनुसार कलिंग के राजा के पास 60,000 पैदल, 1,000 घुड़सवार और 700 लड़ाकू हाथी थे। उसकी राजधानी पर्थालिस थी। अशोक के समय तक इस सेना का विस्तार और ज्यादा हो गया होगा क्योंकि उस युद्ध में हताहतों की सही संख्या कई लाख हो गई थी। पर विजित राज्य की मात्र जनहानि ही नहीं हुई। अशोक ने बड़े मार्मिक शब्दों में नागरिकों के 'विनाश, वध या प्रियजनों से विछोह' का उल्लेख किया है। उसके लेख में अति आधुनिक ढंग से युद्ध की हानियों की तीन शीर्षों में गणना की गई है : (1) युद्ध में लड़ने वालों के वध, घायल या कैद होने से हानि, (2) इन लड़ने वालों के परिवारों की हानियाँ, और (3) संतप्त व्यक्तियों और उनके परिवारों के मित्रों को कष्ट। अंत में सम्राट् की मानसिक पीड़ा का वर्णन है।[2] एक ऐसे समाज में जिसका आधार संयुक्त परिवार था, युद्ध से योद्धाओं को ही नहीं बल्कि गैर-योद्धाओं को, पूरे नागरिक समाज को, क्षति हुई होगी। ऐसे समाज में युद्ध से हुई हानि का एक यथार्थ चित्र अशोक के अभिलेखों में है। किसी युद्ध का

[1]इतनी बड़ी संख्या में बन्दियों को जेलों में रखना बहुत कठिन था। तु०, आधुनिक काल में भारत में 90,000 पाकिस्तानी बन्दियों को जेलों में रखने में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ।

[2]मुकर्जी, अशोक, पृ० 15।

प्रभाव केवल योद्धाओं पर ही नहीं, जो मोर्चों पर लड़ते हैं, बल्कि पूरे नागरिक समुदाय पर पड़ता है। अशोक ने इस बात को भली-भाँति समझा था।[1]

अशोक ने कलिङ्ग को जीत कर अपने अधीन किया था और उसके शासन के लिये विशेष व्यवस्था की। यह व्यवस्था दो पृथक् लेखों में निरूपित की गई है जो धौली और जौगढ़ की शिलाओं पर उत्कीर्ण हैं। चतुर्दश शिलालेखों के सेट के ग्यारहवें से तेरहवें लेख इन शिलाओं पर उत्कीर्ण नहीं कराये गये थे। उनके स्थान पर वहाँ दो ऐसे विशेष लेख उत्कीर्ण कराये गये थे जिनका सम्बन्ध कलिङ्ग के शासन के साथ था। इन लेखों से लगता है कि कलिङ्ग को मौर्य साम्राज्य का एक पृथक् प्रान्त बना दिया गया था और उसका शासन करने के लिए एक कुमार की नियुक्ति की गई थी। कलिङ्ग की राजधानी तोसली थी और धौली की शिला पर उत्कीर्ण अतिरिक्त-लेख तोसली के महामात्रों को ही सम्बोधित किया गया है। कलिङ्ग का एक अन्य महत्त्वपूर्ण नगर समापा था। जौगढ़ की शिला पर उत्कीर्ण अतिरिक्त-लेख समापा के महामात्रों को सम्बोधित है।

जैसाकि हम आगे देखेंगे, अशोक के कलिंग युद्ध का घनिष्ठ सम्बन्ध उसके द्वारा बौद्ध धर्म के स्वीकार से है। यह प्रायः सर्वस्वीकृत है कि अशोक ने कलिंग युद्ध के उपरान्त बौद्ध धर्म अपना लिया था। परन्तु एगरमोन्त, भाण्डारकर तथा मुकर्जी ने यह माना है कि अशोक कलिंग युद्ध के पूर्व ही बौद्ध बन गया था। इसके लिये एगरमोन्त ने तारानाथ द्वारा उल्लिखित एक कथा को उद्धृत किया है। तारानाथ बताता है कि एक बार नागों ने, जो समुद्री आत्मायें थे, अशोक के मणिमुक्ता चुरा कर उसे अप्रसन्न कर दिया। अशोक ने आवश्यक पुण्यार्जन कर उन्हें परास्त किया और समस्त जम्बुद्वीप को जीता। एगरमोन्त ने इन नागों की पहिचान कलिंग-वासियों से की है जो कुशल समुद्री नाविक थे और अशोक के द्वारा 'पुण्यार्जन' को उसके द्वारा बौद्ध धर्म का स्वीकार माना है और इस प्रकार सुझाया है कि अशोक कलिंग युद्ध के पूर्व ही बौद्ध बन गया था। लेकिन हमें इस कथा की यह व्याख्या उचित नहीं लगती। इस कथा में अशोक द्वारा समस्त जम्बुद्वीप को जीतने की बात कही गई है जबकि अशोक ने कलिंग को ही जीता था। उसके द्वारा 'पुण्यार्जन' का अर्थ बौद्ध धर्म का स्वीकार मानना भी कुछ अतिरञ्जना ही होगी। लेकिन जैसाकि रोमिला थापर ने कहा है, यह सर्वथा सम्भव कि इस कथा में कलिंग युद्ध के इस सही कारण की ओर संकेत हो कि अशोक समुद्री व्यापार-मार्ग पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना चाहता था।[2] बोंगार्ड-लेविन ने भी कलिंग पर आक्रमण का कारण उस प्रदेश की भू-राजनीतिक स्थिति और व्यापारिक महत्ता को बताया है।[3]

---

[1]वही।

[2]थापर, रो०, पूपूर्वो०, ० 36।

[3]बोंगार्ड-लेविन, जी० एम०, मौर्यन इण्डिया, नई दिल्ली, 1985, पृ० 53।

अन्य विजयें

अशोक के अभिलेखों के साक्ष्यानुसार उसने कलिंग पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त (दे०, आगे) शस्त्र-विजय और भेरीघोष का परित्याग कर दिया था। लेकिन प्रश्न है कि कलिंग के पूर्व उसने किसी अन्य प्रदेश को जीता था या नहीं। इसका उत्तर मात्र साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर ही दिया जा सकता है। 'राजतरङ्गिणी' से सूचना मिलती है कि अशोक ने कश्मीर पर भी शासन किया था: "उसके बाद राजा शकुनि का प्रपौत्र एवं सत्यप्रतिज्ञ अशोक पृथ्वी का शासक हुआ। वह बड़ा पुण्यात्मा था। जिन धर्म को स्वीकार कर उसने शुष्कलेत्र और बितस्तात्र नामक दो स्थानों पर अनेक स्तूप बनवाये। उसने बितस्तात्रपुर के धर्मारण्य विहार में इतना ऊँचा जिन-मन्दिर बनावाया था कि उसकी ऊँचाई का निर्णय करने में दर्शकों की आँखें असमर्थ हो जाती थीं। उस परम प्रतापी एवं अतिशय धनाढ्य राजा ने धन-जन से परिपूर्ण छियानवे लाख दिव्य भवनों से विभूषित श्रीनगर नाम का बहुत बड़ा नगर बसाया। उस पूतात्मा ने चूने के बने श्रीविजयेश्वर मन्दिर का जीर्ण-शीर्ण प्राकार तुड़वाकर उसकी जगह पत्थरों का सुदृढ़ प्राकार बनवाया। आलस्यहीन राजा अशोक ने विजयेश्वर के समीप ही अशोकेश्वर नाम के दो प्रासाद बनवाये। कश्मीर को म्लेच्छों से आच्छादित होते देखकर उस राजा ने उनका समूल नाश करने की इच्छा से भगवान् शंकर को प्रसन्न करने के लिये कठोर तपस्या की। उस तप से सन्तुष्ट शंकरजी से उसने सुयोग्य पुत्र पाया।"[1] इस प्रसंग में स्मरणीय है कि कल्हण ने अशोक से पूर्व जिन राजाओं के नाम दिये हैं वे मौर्य वंश के नहीं हैं। वह चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार का उल्लेख नहीं करता। अशोक का प्रपितामह शकुनि भी, जिसका कल्हण उल्लेख करता है, अन्य साक्ष्य से अज्ञात है। परन्तु कल्हण ने अशोक का जो विवरण दिया है उससे स्पष्ट है कि कश्मीर का यह शासक वही अशोक था जिसने जिन(बौद्ध)धर्म को अपनाकर सैकड़ों स्तूपों और विहारों का निर्माण करवाया था। कल्हण के अनुसार कश्मीर की राजधानी श्रीनगर का निर्माण भी अशोक ने ही करवाया था। इसकी पहिचान कनिंघम ने श्रीनगर के उत्तर में तीन मील की दूरी पर स्थित पाण्ड्रेथान नामक कस्बे से की है।[2]

'दिव्यावदान' के अनुसार अशोक ने स्वश देश को भी जीता था। यह 'स्वश'

---

[1]प्रपौत्रः शकुनेस्तस्य भूपतेः प्रपितृव्यजः। अथा वहदशोकाख्यः सत्यसन्धो वसुन्धराम् ॥101॥
यः शान्तवृजिनो राजा प्रपन्नो जिनशासनम्। शुष्कलेत्रबितस्तात्रौ तस्तार स्तूपमण्डलैः ॥102॥
धर्मारण्यविहारान्तर्बितस्तात्रपुरेऽभवत् । यत्कृतं चैत्यमुत्सेधावधिप्राप्त्यक्षमेक्षणम् ॥103॥
स षण्णवत्या गेहानां लक्षैर्लक्ष्मीसमुज्ज्वलैः। गरीयसीं पुरीं श्रीमांश्चक्रे श्रीनगरीं नृपः ॥104॥
जीर्णं श्रीविजयेशस्य विनिवार्य सुधामयम्। निष्कल्मषेणाश्ममयः प्राकारो येन कारितः ॥105॥
सभायां विजयेशस्य समीपे च विनिर्ममे। शान्तावसादः प्रासादावशोकेश्वरसञ्ज्ञितौ ॥106॥
म्लेच्छैः संछादिते देशे स तदुच्छित्तये नृपः। तपःसंतोषिताल्लेभे भूतेशात्सुकृती सुतम् ॥107॥
—राजतरङ्गिणी, प्रथम तरंग।

[2]कनिंघम, ए०, एन्श्येण्ट ज्योग्रेफी ऑव इण्डिया, पृ० 110।

सम्भवत: खस है जो कश्मीर के समीप स्थित था। तारानाथ ने भी अशोक द्वारा नेपाल और खास्य की विजय का उल्लेख किया है।[1] यह खास्य और 'दिव्यावदान' का स्वश देश सम्भवतः अभिन्न हैं।

अशोक के काल में मौर्य साम्राज्य का विस्तार

अशोक के अभिलेखों के प्राप्ति-स्थलों का साक्ष्य

अशोक के साम्राज्य का विस्तार उसके अभिलेखों के प्राप्ति-स्थलों द्वारा जाना जा सकता है। जिन स्थानों पर ये अभिलेख उपलब्ध हुए हैं, निस्सन्देह वे अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत थे। उत्तरी भारत में ये लेख नेपाल की तराई, उत्तरी बिहार तथा देहरादून जिले में स्तम्भों व शिलाओं पर उत्कीर्ण मिले हैं, उत्तर-पश्चिम में पेशावर, कन्धार और काबुल से, पूर्वी भारत में धौली और जौगढ़ (उड़ीसा) से, पश्चिम में गिरनार (सौराष्ट्र) और सोपारा (थाना जिले में) से तथा दक्षिण में ब्रह्मगिरि, जटिङ्ग-रामेश्वर और आन्ध्र प्रदेश के अनेक स्थानों से। राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश में भी अनेक स्थानों पर उसके लेख उत्कीर्ण हैं। भारत, पाकिस्तान, अफगानिस्तान और नेपाल में, एक प्रकार से समस्त जम्बुद्वीप या भारतीय उप-महाद्वीप में, उसके लेख मिलने से यह अनुमान सहज में ही किया जा सकता है कि उसका साम्राज्य उत्तर में हिमालय की तराई तक, उत्तर-पश्चिम में हिन्दुकुश तक, पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक, पश्चिम में काठियावाड़ और अरब की खाड़ी तक तथा दक्षिण में वर्तमान कर्नाटक राज्य तक विस्तृत था। इसी सुविस्तीर्ण प्रदेश को अशोक ने अपना 'विजित' (दूसरा शि० ले०) और 'राजविषय' (तेरहवाँ शि० ले०) कहा है। परवर्ती युगों में इसके स्थान पर प्राय: 'विजय राज्य' शब्द प्रयुक्त होता था। 14 वें शि० ले० में अशोक के साम्राज्य को बहुत विशाल (महालके हि विजिते) कहा गया है।

अभिलेखों का अन्त:साक्ष्य

अशोक के अभिलेखों के अन्त:साक्ष्य से भी उसके साम्राज्य का विस्तार ज्ञात होता है। उसके लेखों में कुछ प्रदेशों और नगरों के नाम आये हैं : मगध, पाटलिपुत्र, खलतिक पर्वत, कौशाम्बी, लुम्बिनी ग्राम, कलिङ्ग, तोसली, समापा, खेपिङ्गल पर्वत, सुवर्णगिरि, इसल, उज्जैनी तथा तक्षशिला।[2] ये सब नाम ऐसे प्रसङ्गों में आये हैं जिनका सम्बन्ध अशोक के अपने साम्राज्य से था। अत: यह यहाँ सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मगध और कलिङ्ग प्रदेश, पाटलिपुत्र, तक्षशिला, तोसली आदि नगर और खलतिक पर्वत अशोक के राज्य के अन्तर्गत थे। इन स्थानों की

---

[1]बोंगार्ड-लेविन, पूर्वो०, पृ० 83।

[2]चट्टोपाध्याय, एस०, बिम्बिसार टु अशोक, कलकत्ता, 1977, पृ० 122।

स्थिति के आधार पर भी यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कलिङ्ग, मगध, वत्स, गन्धार, अवन्ति और दक्षिणापथ के अनेक प्रदेश अशोक के प्रभुत्व के अन्तर्गत थे।

अशोक के लेखों में उसके साम्राज्य के सीमान्तों पर स्थित अनेक राज्यों और उनके शासकों के नाम भी मिलते हैं। द्वितीय शि० ले० में उसने अपने सीमान्तों पर स्थित राज्यों का विवरण इस प्रकार दिया है: "देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के राज्य (विजित) में सर्वत्र (और) इसी प्रकार प्रत्यन्त (राज्यों) में यथा चोलों (और) पांड्यों (के प्रदेश में) (एवं) सत्यपुत्र, केरलपुत्र (तथा) ताम्रपर्णी तक, यवनराज अन्तियोक (के राज्य) में अथवा उन राजाओं के (राज्यों में) भी जो अन्तियोक (के राज्य) के समीप हैं, सर्वत्र देवानांप्रिय प्रियदर्शी की दो चिकित्साएँ व्यवस्थित हैं—मानव-चिकित्सा और पशु-चिकित्सा।"[1] तेरहवें शिला लेख में अशोक ने यवन राजा अन्तियोक और उसके राज्य के परे स्थित अन्य चार यवन राजाओं की चर्चा की है और अपने राज्य के दक्षिण में स्थित चोल, पाण्ड्य और ताम्रपर्णी राज्यों का उल्लेख कर इस बात पर संतोष प्रगट किया है कि इन सब राज्यों में देवानांप्रिय की धर्मानुशस्ति का पालन किया जाता है।[2] इस प्रकार अशोक की दृष्टि से 'प्रचंत' या 'प्रत्यन्त' राज्य दो प्रकार के थे—सुदूर दक्षिण के चोल और पाण्ड्यादि राज्य और उत्तर-पश्चिम के यवन राज्य। 'पचंत' अर्थ में ही 'अंत' शब्द का भी प्रयोग हुआ है (मानसेहरा शिला)। 13 वें शि० ले० से ज्ञात होता है कि 'अंता' साम्राज्य के बाहर के सीमावर्ती प्रदेश थे (अंता अविजिता)। इस शिलालेख में भी 'प्रचंतो' को 'सर्वत विजित' के (अर्थात् साम्राज्य के) बाहर बताया गया है। परन्तु परवर्ती साहित्य में और परवर्ती अभिलेखों में 'प्रत्यन्त' को किसी साम्राज्य के अन्तर्गत वे प्रदेश जो उसकी सीमा पर हों माना गया है, यथा समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में।

'चोडापाडासतियपुतकेतलपुतोआतंबपंणी' में प्रथम दो नाम बहुवचन में हैं, अत: जातिवाचक हैं और उन जातियों के प्रदेश के लिए प्रयुक्त हैं। शेष नाम एकवचन में हैं। भाण्डारकर ने इन्हें राजाओं के नाम माना था, परन्तु द्वितीय शिलालेख के मानसेहरा संस्करण में केतलपुतो और सतियपुतो तथा 13 वें शिलालेख में तंबपंणि नाम भी बहुवचन में आये हैं।[3] बहुत से विद्वान् इन राज्यों की भौगोलिक स्थिति उस क्रम में होनी अनिवार्य समझते हैं जिस क्रम से उनका उल्लेख अभिलेखों में हुआ है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है। **चोड** (=चोल जनपद) कावेरी द्वारा सिञ्चित प्रदेश था। उसकी प्राचीन राजधानी काञ्ची एवं बन्दरगाह कावेरीपत्तन था। यह एक द्रविड रट्ट (=द्रविड जनपद) था। अशोक द्वारा चोलों का उल्लेख बहुवचन में होने से बरुआ ने अनुमान लगाया है कि उस समय उनकी शासन व्यवस्था गणतान्त्रिक थी। परन्तु यह सम्भव होते हुये भी अनिवार्य नहीं है। प्राचीन भारत में प्रदेशों का

---

[1]गोयल, प्रा०भा०अ०सं०, पृ० 39।

[2]वही, पृ० 66–7।

[3]बरुआ, पूर्वो०, भाग 2, पृ० 230।

उल्लेख बहुवचन में करने का परम्परा थी। **पाडा** पाण्ड्य जनपद था। कात्यायन ने 'पाण्ड्य' शब्द की व्युत्पत्ति पाण्डु से मानी है। सिंहली इतिहास-ग्रन्थों में पाण्ड्यों को पाण्डु ही कहा गया है। उनकी राजधानी मदुरा थी। हाथिगुम्फा-अभिलेख में खारवेल 'पंड राजा' से मणिमुक्ता प्राप्त करने का उल्लेख करता है। उनका राज्य (रामनाद, मदुरा तथा तिन्नवेल्ली जिले) चोल और सतियपुत तथा केरलपुत राज्यों के बीच में था। **सतियपुत** की सही स्थिति निश्चित नहीं है। इसका एकवचन रूप किसी प्रदेश का नाम भी हो सकता है (यथा, केसपुत, पाटलिपुत आदि) और एक राजा का भी जिसका राज्य उसके नाम से विख्यात रहा हो। केरल के सभी पुराने राजा चेरमान् (चेर=केरल, मान्=पुत्र) कहलाते थे। पुत्रान्त नाम प्रदेश या जातिवाचक भी होते थे यथा वनपुत्र, राजपुत्र(=राजपूत), भोजपुत्र, शिविपुत्र आदि। कुछ विद्वानों ने सतियपुत की पहिचान काञ्ची से की है जो 'सत्यव्रत क्षेत्र' नाम से भी प्रसिद्ध रहा था, कुछ ने कोयम्बटूर के सत्यमंगलम् तालुके (तुलुव क्षेत्र) से, कुछ ने उत्तरी मालाबार के सत्यभूमि प्रदेश से, कुछ ने कांगनाडु की कोसर जाति से जो अपनी सत्यवादिता के लिए प्रसिद्ध थी, ब्युलर ने 'ऐतरेय ब्राह्मण' में उल्लिखित सात्वतों से, एम० जी० पायि ने 'मार्कण्डेय-पुराण' के शान्तिक से, किर्फेल ने 'महाभारत' के सतीय से तथा कर्न ने सतपुड़ा पर्वत से। हमें सबसे सही मत डी० आर० भाण्डारकर का लगता है जिन्होंने इसकी पहिचान मराठों में प्रचलित 'सातपुते' वंशनाम से की है। हो सकता है उनकी कोई शाखा प्राचीन काल में पाण्ड्य राज्य के पश्चिम में बस गई हो। **केरलपुत** (=केरल) मालाबार का समुद्रतटीय प्रदेश था। हूल्श तथा भाण्डारकार केरलपुत्र से 'केरल का राजा' आशय ग्रहण करते हैं। **तंबपंणी** (=ताम्रपर्णी) श्रीलंका (=सिंहल) को कहते थे। मेगास्थेनिज़ ने इसका उल्लेख 'ताप्रोबर्न' नाम से किया है। 'रामायण' में यह एक नदी का नाम है जो तिन्नेवेली जिले में बहती है। स्मिथ ने अशोक के अभिलेख में ताम्रपर्णी नदी का ही उल्लेख माना था। लेकिन बौद्ध साहित्य में अशोक द्वारा सिंहल में धर्म-प्रचारक भेजे जाने का उल्लेख है। सुदूर दक्षिण के उपर्युक्त प्रचंत राज्यों की, जो अशोक के 'विजित' के अन्तर्गत नहीं थे, स्थिति को दृष्टि में रखकर यह कहा जा सकता है कि अशोक के समय में मौर्य साम्राज्य की दक्षिणी सीमा को एक ऐसी रेखा द्वारा सूचित किया जा सकता है जो पूर्व में मद्रास के समीप से शुरू होकर वेण्कटगिरि (तिरुपति), गुट्टी, कुर्नूल और चितलद्रुग होती हुई पश्चिम में दक्षिणी कनारा जिले के उत्तरी भाग से जा मिले।[1]

अशोक के 'विजित' के उत्तर-पश्चिम सीमान्त पर अन्तियोक नामक यवन राजा के राज्य की स्थिति थी। उसके पड़ोस में तुरमय, अंतकिनि, मक तथा अलिकसुदर नामक यूनानी राजा थे। इनमें अंतियोक का उल्लेख द्वितीय शि० ले० में भी हुआ है। अन्य योन राजाओं का वहाँ नाम दिये बिना अंतियोक के पड़ोसियों के रूप में

[1]कों०हि०इं०, पृ० 499–500।

उल्लेख है। यहाँ अंतियोक के राज्य को छः सौ योजन की दूरी पर बताया गया है और शेष योन राज्यों को अंतियोक के राज्य के परे। दोनों ही स्थलों पर अंतियोक अशोक का निकटतम पड़ोसी है। **अंतियोक** (=द्वितीय एण्टियोकस थियोस) सीरिया नरेश (261–46 ई० पू०) था। वह सेल्युकस निकाटोर (312–280 ई०पू०) का पौत्र और प्रथम एण्टियोकस सोटर (280–61 ई० पू०) का पुत्र था। **तुरमय** मिस्र का यूनानी राजा (=द्वितीय तालेमी फिलाडेल्फस, 285–247 ई० पू०) था। **अंतिकिनी** मेसिडोनिया-नरेश (=एण्टिगोनस गोनेटस, 276–46 ई० पू०) था। **मक** उत्तरी अफ्रीका के सीरीन राज्य का स्वामी (=मगस, 300–258 अथवा 250 ई० पू०) था। वह तालेमी का सौतेला भाई था। **अलिकसुदर** (=अलेक्ज़ेण्डर) एपिरस का राजा (272–258 या 255 तक) था। कुछ विद्वान उसे कोरिंथ-नरेश का अलेक्ज़ेण्डर मानते हैं जिसने 252 से 244 ई०पू० तक शासन किया। परन्तु यह असम्भव है। ये सभी राजा सिकन्दर के सेनापतियों के वंशज थे।

द्वितीय शि० ले० के गिरनार संस्करण में आये 'अंतियकस सामीपं' (अन्तियोक के पड़ोस में) शब्दों से सभी विद्वान् उन शेष यूनानी राजाओं से तात्पर्य मानते हैं जिनको तेरहवें शि० ले० में गिनाया गया है। लेकिन सु० चट्टोपाध्याय का कहना है कि द्वितीय शि० ले० के अन्य संस्करणों में 'सामीपं' के बजाय 'सामंता' या 'समंत' पाठ है। वह इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यहाँ अन्तियोक के सामन्तों या अधीन राजाओं का उल्लेख है।[1] परन्तु यह धारणा सही नहीं है क्योंकि मौर्य युग में 'सामंत' शब्द का अर्थ भी पड़ोसी ही था, अधीन राजा नहीं।[2] जो भी हो, इन राजाओं के राज्यों की स्थिति से स्पष्ट है कि अशोक के 'विजित' की उत्तर-पश्चिमी सीमा हिन्दुकुश तक अवश्य ही विस्तृत थी। चन्द्रगुप्त मौर्य की सेल्युकस के साथ हुई सन्धि के परिणामस्वरूप उसे पेरोपेमिसदाय, एरिया, एरेकोशिया तथा गेड्रोशिया प्राप्त हुए थे। अशोक के शासनकाल में भी ये सब प्रदेश मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत थे। कश्मीर को शायद अशोक ने ही मौर्य 'विजित' में सम्मिलित किया था।

हिमालय की पर्वत श्रृंखलाएँ अशोक के साम्राज्य की उत्तरी सीमाएँ थीं। नेपाल की तराई निश्चय ही मौर्य 'विजित' के अन्तर्गत थी। नेपाल की घाटी पर भी उसका अधिकार था। नेपाल की एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार अशोक की कन्या चारुमती का विवाह वहाँ के 'क्षत्रिय' देवपाल के साथ हुआ था और अशोक ने वहाँ अनेक स्तूपों और चैत्यों का निर्माण कराया था। स्वयम्भूनाथ पर्वत पर उसने बौद्ध भिक्षुओं के लिए एक विहार भी बनवाया था। अशोक के दामाद देवपाल को राजा न कहकर 'क्षत्रिय' कहा जाना भी यह सिद्ध करता है कि नेपाल का राजकुल स्वतन्त्र नहीं था।[3]

---

[1] चट्टोपाध्याय, एस०, बिम्बिसार टु अशोक, कलकत्ता, 1977, पृ० 118।

[2] दे०, जे०आर०ए०एस०, 1963, भाग 1–2, पृ० 21–37।

[3] दे०, गोयल, श्रीराम, प्राचीन नेपाल का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 20।

साम्राज्य की अर्द्ध-स्वतन्त्र जातियाँ और उनकी स्थिति

अशोक का साम्राज्य पूर्व में बङ्ग और कलिङ्ग तक विस्तृत था और पश्चिम में समुद्र तक। इस विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत कतिपय ऐसे प्रदेश और जातियाँ थीं जिनकी स्थिति अर्द्ध-स्वतन्त्र इकाइयों की थी। तेरहवें शिलालेख में उसने लिखा है : "इसी प्रकार यहाँ राजविषय में तथा यवन-कम्बोजों में, नाभक-नाभपंक्तियों में, भोज-पिति-निकों में और आन्ध्र-पुलिन्दों में सर्वत्र देवानांप्रिय की धर्मानुशस्ति का (लोगों द्वारा) अनुसरण किया जाता है।"[1] रेप्सन का विचार था कि यवन, कम्बोज आदि अशोक के 'विजित' के अन्तर्गत न होकर उसके प्रभाव-क्षेत्र में थे। पर यह मत सही प्रतीत नहीं होता क्योंकि पाँचवें शिलालेख में अशोक ने यवन, कम्बोज आदि में धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की चर्चा की है। अगर ये प्रदेश मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं होते तो उनमें अशोक द्वारा धर्ममहामात्रों की नियुक्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

अशोक ने अपने राज्य या विजित के अन्तर्गत योन, कम्बोज आदि जिन जनपदों का उल्लेख किया है, उनमें योन यवन या यूनानी थे। **यवन** शब्द 'आयोनियन' से बना है। ईरानी लोग यूनानियों को यवन कहते थे। भारतीयों ने यह शब्द इसी अर्थ में ईरानियों से लिया। अशोक द्वारा उल्लिखित योन लोग न्यस नगर के निवासी थे जो काबुल और सिन्ध नदियों के मध्य स्थित था। यहाँ यवनों का एक अति प्राचीन उपनिवेश था। उन्होंने सिकन्दर के भारत-प्रवेश के समय उसका स्वागत किया था। कन्धार से प्राप्त द्विभाषीय लेख में यूनानी भाषा का प्रयोग पश्चिमोत्तर प्रदेशों में यूनानियों का महत्त्व प्रमाणित करता है। 'महाभारत' में एक स्थल पर (12.207.43) यवनों, कम्बोजों व गन्धारवासियों का इसी क्रम से उल्लेख मिलता है। 'अस्स-लायन सुत्त' में योनों और कम्बोजों को पश्चिमोत्तर जनपद बताया गया है। बुद्ध-घोष के अनुसार उन पर ईरानी प्रभाव था। 'महावंस' में योनों की राजधानी अलसन्द (=अलेक्ज़ेण्डिया) का उल्लेख है। **कम्बोज**[2] कश्मीर के दक्षिण में राजौरी प्रदेश के निवासी थे और **गंधालानं** गन्धार के। गन्धार तक्षशिला और पुष्कलावती वाला अर्थात् पेशावर प्रदेश था। 'अंगुत्तर निकाय' की सुप्रसिद्ध महाजनपद-सूची में कम्बोज व गन्धार भी गिनाये गये हैं। **रिस्टिक** नाम का संस्कृत रूप राष्ट्रिक है। भाण्डारकर के अनुसार वे नासिक व पूना के आस-पास रहते थे। खारवेल के हाथिगुम्फा-लेख में रठिकों का उल्लेख है। 'राष्ट्रिय' शब्द उच्च पदाधिकारी 'गवर्नर' अर्थ में भी आता था। **पेतणिक** की पहिचान निश्चित नहीं है। 13 वें शिलालेख में रिस्टिक-पेतणिकों के स्थान पर 'भोज-पेतणिकों' का उल्लेख है। कुछ विद्वान्, जैसे रा० ब० पाण्डेय, इसे पैत्रयाणिक नाम की जाति मानते हैं तथा कुछ इस नाम का सम्बन्ध महाराष्ट्र के

[1]गोयल, प्रा० भा०अ०सं०, पृ० 66-7।

[2]कम्बोज की पहिचान पर विस्तृत विवेचन के लिए द्र०, बोंगार्ड-लेविन, पूर्वो०, पृ० 243 अ०।

प्रतिष्ठान नगर से जोड़ते हैं। परन्तु भाण्डारकर का कहना है कि यहाँ पेतेनिक का अर्थ जागीरदार या लघु राजा है। वह रिस्टिक-पेतेनिक को एक शब्द मानते हैं। **अपलंता** का अर्थ है अपरान्त की जातियाँ और 'अपरान्त' का शाब्दिक अर्थ है 'पश्चिमी सीमा'। वैसे यह पश्चिमी भारत के एक प्रदेश का नाम भी था जिसका उल्लेख शक-सातवाहन अभिलेखों में व साहित्य में प्रायः हुआ है। बरुआ ने यहाँ अपरान्त का अर्थ 'पश्चिमी सीमा' माना है।

भोज-पेतेनिक के बाद अशोक के अभिलेखों में 'आन्ध्र-पुलिन्द' का उल्लेख है। गोदावरी और कृष्णा नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश को 'आन्ध्र' कहा जाता है। मौर्य युग में आन्ध्र राज्य बहुत शक्तिशाली था। प्लिनी के अनुसार आन्ध्र में तीस ऐसे नगर थे जो दुर्गों के रूप में थे, और वहाँ की सेना में एक लाख पदाति, दो हजार अश्वारोही और एक हजार हाथी थे। क्लासिकल लेखकों ने कलिङ्ग की जो सैनिक शक्ति बताई है, आन्ध्र की सैन्य शक्ति उससे अधिक थी। 'पुलिन्द' नाम के लिए पारिद (गिरनार), पालद (कालसी) और पलिद (शहबाज़गढ़ी) शब्द भी मिलते हैं। 'वायु-पुराण' के अनुसार पुलिन्दों का निवास विन्ध्याचल के क्षेत्र में था।[1] 'मत्स्य-पुराण' से भी इसकी पुष्टि होती है। परन्तु कुछ विद्वान् अशोक के लेखों के पारिद, पालक या पलिद को पुलिन्द का रूपान्तर मानने को तैयार नहीं हैं। पुराणों में पारद नामक एक जाति का उल्लेख मिलता है जिसकी गणना शक, यवन, कम्बोज, पल्हव आदि के साथ की गई है। कालसी शिला पर उत्कीर्ण 'पालद' शब्द और पुराणों के 'पारद' में सादृश्य स्पष्ट है। पर अशोक के लेखों में पारिद या पालद शब्द आन्ध्र के साथ आया है जबकि पारदों का निवास उत्तरी या उत्तर-पश्चिमी भारत में था।

अशोक के तेरहवें शिलालेख में 'अटवि' का उल्लेख है : "और यदि कोई अपकार भी करता है, देवानांप्रिय के लिए (वहाँ तक) क्षन्तव्य है जहाँ तक क्षमा करना शक्य है। जो भी अटवी जन (अर्थात् वनवासी) देवानांप्रिय के राज्य में (रहते) हैं उन पर भी वह अनुग्रह करता है (और उनको) (कर्त्तव्य का) बोध कराता है। देवानांप्रिय का अनुताप और प्रभाव (अर्थात् प्रताप) उनको बताया जाना चाहिए। क्यों?—(जिससे वे) गुरुतर राजापकार करने से बचें और (ऐसे अपराध करके) मारे न जाएँ।"[2] जिस प्रकार अशोक ने कम्बोज, गन्धार, आन्ध्र, पुलिन्द आदि जातियों का अपने 'विजित' के अन्तर्गत उल्लेख किया है, वैसे ही अटवि को भी अपने 'विजित' के अन्दर गिना है। प्राचीन भारत में अनेक प्रदेश सघन जङ्गलों से आच्छादित थे। उनमें जो जातियाँ निवास करती थीं उन्हें अटवि या आटविक कहते थे। कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में अटवि-सेना के महत्त्व का विवेचन किया गया है। पुराणों में आटव्य शब्द पुलिन्द, विन्ध्यमूलीय और वैदर्भ के साथ आया है। एक

---

[1]पुलिन्दा विन्ध्यमूलिका वैदर्भा दण्डकैः सह।
—वायु-पुराण, 55.126।

[2]गोयल, श्रीराम, प्रा०भा०अ०सं०, पृ० 66।

गुप्तकालीन दानपत्र में डभाल राज्य के राजा हस्ती को अट्ठारह अटवि राज्यों का स्वामी कहा गया है। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने अटवि राजाओं को अपना परिचारक बनाया था। यह मानना असंगत नहीं होगा कि अटवि प्रदेश बुन्देलखण्ड से लगा कर उड़ीसा तक फैला हुआ था। मौर्यों ने इसे भी जीतकर अपने 'विजित' के अन्तर्गत कर लिया।

स्मारकों का साक्ष्य

अशोक के भवनों और स्मारकों से भी उसके साम्राज्य के विस्तार का ज्ञान होता है। कश्मीर और नेपाल में उसके द्वारा निर्मित नगर और भवनों की चर्चा की जा चुकी है। शुआन-च्वांग ने कपिशा, जलालाबाद, तक्षशिला, सिंहपुर, उरशा, थानेसर, श्रुघ्न, गोविसन, अहिच्छत्रा, पीलोसन, कन्नौज, समतट, कर्णसुवर्ण, पुण्ड्रवर्द्धन आदि में उसके बनवाये हुए स्तूप देखे थे।[1] ताम्रलिप्ति (बंगाल) में भी अशोक ने एक स्तूप बनवाया था। शुआन-च्वांग के अनुसार समतट या ब्रह्मपुत्र के डेल्टा में उसका एक स्तूप था। पुण्ड्रवर्द्धन (उत्तरी बंगाल) और कर्णसुवर्ण (आधुनिक बर्दवान) में भी उसके स्तूपों की विद्यमानता शुआन-च्वांग ने बताई है। इस चीनी यात्री ने चोल तथा द्रविड देश में भी उसके स्तूप देखे थे। वस्तुतः शुआन-च्वांग ने जहाँ-जहाँ उसके स्तूप देखे थे उनमें अधिकांश जगह पर उसके लेख भी मिलते हैं।[2]

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से अशोक के साम्राज्य की सीमाओं और स्वरूप का पर्याप्त स्पष्ट चित्र उभड़ आता है। यद्यपि अशोक का विजित बहुत विशाल था परन्तु उसके अन्तर्गत सब प्रदेशों पर उसका पूर्ण और सीधा नियन्त्रण नहीं था। कम्बोज, गन्धार, यवन, राष्ट्रिक, भोज, पितनिक, आन्ध्र, पुलिन्द, नाभक, नाभपंक्ति तथा अटवि प्रदेश ऐसे थे जिनको कुछ आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। शेष समस्त जम्बुद्वीप—भारतीय उपमहाद्वीप—दक्षिण के कुछ भागों को छोड़कर, उसके अधीन था।[3] पूर्व में उसका अधिकार ब्रह्मपुत्र तक स्थापित लगता है।[4]

दक्षिण भारतीय तथा यूनानी राज्यों से अशोक के सम्बन्ध

अशोक ने अपने दूसरे तथा तेरहवें शिलालेखों में जिन विदेशी राज्यों और राजाओं का उल्लेख किया है वे दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—पश्चिमी दिशा के अन्तियोक, तुरमय, अन्तिकिनि, मक तथा अलिकसुदर एवं दक्षिण के चोड, पाण्ड्य, ताम्रपर्णी सतियपुत तथा केरलपुत। अन्तियोक (261–246 ई० पू०) सेल्युकस का पौत्र था।

[1]चट्टोपाध्याय, एस०, बिम्बिसार टु अशोक, पृ० 121।
[2]मुकर्जी, पूर्वो०, पृ० 14।
[3]विस्तृत विवेचन के लिए दे०, बरुआ, पूर्वो०, अध्याय 3।
[4]चट्टोपाध्याय, पूर्वो०, पृ० 119।

वह अशोक का समकालीन था। उसके राज्य से परे तुरमय, अंतकिन, मक तथा अलिकसुदर नामक जिन चार अन्य यवन राजाओं के राज्य थे, उनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। अशोक ने इन पाँचों राजाओं का उल्लेख धर्मविजय के प्रसंग में किया है। उसको इस बात का संतोष था कि इन सबके राज्यों में देवानांप्रिय की धर्मानुशस्ति का अनुसरण किया जा रहा है। अपने 'विजित' में धर्म विजय के लिए अशोक ने धर्ममहामात्र, स्त्र्यध्यक्ष महामात्र, ब्रजभूमिक आदि विशेष राजपुरुषों की नियुक्ति की थी और अपने राजपुरुषों को आदेश दिया था कि वे जनता को धर्म का तत्त्व बताने के लिए निरन्तर अनुसंयान (दौरे) करते रहें। उसने जनता के हित-कल्याण के लिए कुएँ खुदवाए तथा छायादार वृक्ष लगवाए। प्रश्न है कि उपर्युक्त पाँच यवन राजाओं के राज्यों में और चोड, पाण्ड्य, सतियपुत, केरलपुत और ताम्रपर्णी में—जो अशोक के 'विजित' के अन्तर्गत नहीं थे—धर्म विजय के लिए किन साधनों का उपयोग किया गया था। इस प्रश्न के उत्तर से यह भी स्पष्ट हो जायगा कि विदेशी राजाओं के साथ अशोक के सम्बन्धों का क्या रूप था। इस प्रश्न पर विस्तार से विचार धर्म विजय के प्रसंग में किया गया है।[1]

---

[1]अशोक के साम्राज्य की सीमाओं के विस्तार से अध्ययन के लिए द्र०, बोंगार्ड-लेविन, पूर्वो०, पृ० 239–47।

अध्याय 15

अशोक और बौद्ध धर्म

अशोक द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार

अशोक के व्यक्तिगत रूप से बौद्ध होने के प्रमाण

इतिहास में अशोक एक बौद्ध नरेश के रूप में प्रसिद्ध है। इसलिए यह सिद्ध करने का प्रयास करना अब निरर्थक-सा लगता है कि वह व्यक्तिगत रूप से बौद्ध हो गया था। फिर भी इस विचार-बिन्दु को स्पष्ट कर देना आवश्यक है क्योंकि कतिपय विद्वानों के मन में इस विषय में कुछ सन्देह रहा है। जब अशोक के अभिलेखों का अध्ययन प्रारम्भ ही हुआ था तब एच० एच० विल्सन ने उसके बौद्ध होने में शंका की थी और एडवर्ड टॉमस ने प्रतिपादित किया था कि अशोक पहिले जैन था, बाद में बौद्ध हो गया था।[1] जे० एफ० फ्लीट का भी कहना था कि अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित धंम बौद्ध धर्म नहीं हो सकता क्योंकि इनमें कहीं भी बुद्ध का उल्लेख नहीं है और संघ का भी मात्र एक बार उल्लेख है और वह भी इस ढंग से किया गया है जिससे लगता है कि उसे अन्य मतों के बराबर माना गया था।[2] दीक्षितार ने तो अशोक का व्यक्तिगत धर्म 'ब्राह्मण धर्म' बताया था[3] जबकि टी० एल० शाह उसे जैन मानते हैं।[4] परन्तु अब इस वाद-विवाद की आवश्यकता नहीं रह गई है। इस विषय में ये तथ्य उल्लेख्य हैं :

(1) हमारे सभी साक्ष्य यह बताते हैं कि अशोक बौद्ध था। एशिया के बौद्ध देशों में वह एक बौद्ध नरेश के रूप में स्मरण किया जाता है। इसके विपरीत ऐसा कोई साहित्यिक, धार्मिक या आभिलेखिक प्रमाण प्राप्त नहीं है जो यह बताता हो कि उसने कोई और धर्म स्वीकार किया था।

(2) भाब्रु पाषाण फलक-लेख में अशोक संघ को अभिवादन करके (संघं अभिवादेतूनं) बुद्ध, धंम और संघ में अपनी श्रद्धा और अनुरक्ति अभिव्यक्त करता है (बुधसि धंमसि संघसी ति गालवे च प्रसादे च)। यह स्पष्टतः बौद्ध धर्म के त्रिरत्न में श्रद्धा की अभिव्यक्ति है।

---

[1]टॉमस, 'दि अर्ली फेथ ऑव अशोक', जे० आर० ए० एस० (एन० एस०), 11, 1877, पृ० 155–234।

[2]वही, 1908, पृ० 49–52।

[3]दीक्षितार, मौर्य पोलिटी, पृ० 276–99।

[4]शाह, टी० एल०, एन्श्येण्ट इण्डिया, 2, खण्ड 4, बड़ौदा, 1939, पृ० 302–5।

(3) इसी लेख में अशोक कुछ धर्म-पलियायों (बौद्ध धर्म के ग्रन्थों) को भिक्षुओं, भिक्षुणियों, उपासकों तथा उपासिकाओं द्वारा सुने जाने और मनन किये जाने के योग्य बताता है।

(4) आठवें शिलालेख में वह अपने शासन के दसवें वर्ष में सम्बोधि (बोधगया) की, रुम्मिनदेई लघु स्त० ले० में शासन के बीसवें वर्ष में भगवान् बौद्ध के जन्म-स्थल की एवं निगलीसागर लघु स्त० ले० में चौदहवें वर्ष में कनकमुनि बुद्ध के स्तूप को बढ़वाने तथा बीसवें वर्ष में उसकी यात्रा करने की घोषणा करता है।

(5) प्रयाग, सारनाथ तथा साञ्ची संघभेद-लेखों में वह बौद्ध संघ के भेदों को दूर करने के लिए अपने प्रयास का वर्णन करता है।

(6) मास्की लघु शि० ले० में वह अपने को 'बुद्धशाक्य' कहता है।

(7) अहरौरा लघु शि० ले० के अनुसार उसने बुद्ध के अवशेषों को 'मञ्चारूढ़' करवाया था।

(8) उसने बौद्ध स्तूपों का निर्माण करवाया था तथा सभी परम्पराओं के अनुसार बौद्ध संघ को अपरिमित दान दिया था।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि अशोक व्यक्तिगत रूप से बौद्ध हो गया था। परन्तु इसके साथ ही अभिलेखों और कथाओं से प्रमाणित है कि अपने राज्यारोहण के समय वह बौद्ध नहीं बना था (यद्यपि उस समय भी उसकी कुछ रुचि इस धर्म में भी होने के प्रमाण अब उपलब्ध हैं), यह धर्म उसने अपने अभिषेक के कुछ वर्ष बाद अपनाया था। इसलिये उसके बौद्ध होने के साथ अनेक प्रश्न जुड़े हैं यथा, वह बौद्ध कब बना? किन परिस्थितियों में बना? क्या वह यकायक बौद्ध बना था? आदि। इन प्रश्नों के उत्तर साहित्य और अभिलेखों में न्यूनाधिक अन्तर के साथ मिलते हैं और आधुनिक विद्वानों में भी इनके विषय में मतभेद हैं। इनका समुचित समाधान करने के बाद ही हम बौद्ध धर्म के लिए उसकी सेवाओं का सही विवेचन करने में समर्थ हो सकते हैं।

अशोक द्वारा बौद्ध धर्म का स्वीकार : साहित्यिक साक्ष्य : उसने बौद्ध धर्म यकायक स्वीकार किया था

बौद्ध साहित्य में बौद्ध धर्म के साथ अशोक के सम्बन्ध विषयक जो अनुश्रुतियाँ मिलती हैं उनमें कुछ सही हो सकती हैं, कुछ में न्यूनाधिक सत्यांश है तथा कुछ पूर्णतः कल्पनाश्रित हैं। बौद्ध कथाओं के अनुसार अशोक पहिले बौद्ध धर्म का अनुयायी नहीं था। वह बहुत अत्याचारी तथा क्रूर (चण्डाशोक) था। उसने अपने भाइयों को मारकर सिंहासन प्राप्त किया था और जनता के साथ नृशंस व्यवहार किया था। परन्तु बाद में बौद्धों के सम्पर्क में आने के कारण उसकी मनोवृत्ति में परिवर्तन आया और वह बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर एक आदर्श नरेश बन गया। 'महावंस' के अनुसार जब अशोक ने अपने बड़े भाई सुमन को मारकर सिंहासन प्राप्त किया, तब सुमन की पत्नी गर्भवती थी। वह

अशोक की क्रोधाग्नि से बचने में सफल हुई। उसे एक चाण्डाल ग्राम के जेट्ठ नामक मुखिया ने अपने पास आश्रय प्रदान किया। वहाँ उसे निग्रोध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जेट्ठ चाण्डाल सात वर्ष तक निरन्तर निग्रोध और उसकी माता की भली-भाँति सेवा करता रहा। निग्रोध में साधु के सब लक्षण विद्यमान थे। स्थविर महा-वरुण ने उसे प्रव्रज्या प्रदान की। एक बार निग्रोध पाटलिपुत्र के राजप्रासाद के पास से जा रहा था तो अशोक का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ। उसने निग्रोध से तथा-गत द्वारा उपदिष्ट धर्म के सम्बन्ध में प्रश्न किये। निग्रोध का दिया उपदेश सुनकर अशोक की बौद्ध धर्म में श्रद्धा हो गई। इसके पश्चात् उसने बौद्ध धर्म में दीक्षा ग्रहण कर ली और संघ को बहुत दान दिया।[1]

सातवीं शती के चीनी यात्री शुआन-च्वांग द्वारा अशोक के बौद्ध धर्म को स्वी-कार करने के सम्बन्ध में दी गई कथा इस प्रकार है : जब अशोक सिंहासनारूढ़ हुआ तब अत्यन्त क्रूर और स्वेच्छाचारी था। जीवित प्राणियों को अनेक प्रकार से कष्ट प्रदान करने के लिए उसने एक नरक-गृह का निर्माण करवाया था। इसमें मनुष्यों को पीड़ा देने के लिए नाना प्रकार के साधन थे। पिघली हुई गरम धातु से पूर्ण तीन विशाल भट्ठियाँ बनायी गई थीं, दराँतियाँ रखी गई थीं और यातना देने के वे सब साधन एकत्र किये गये थे जो नरक में विद्यमान माने गये हैं। अशोक ने एक क्रूर व्यक्ति को इस नरक का अध्यक्ष नियुक्त किया। हर अपराधी को, चाहे उसका अपराध कोई भी क्यों न हो, इस नरक में भेज दिया जाता था और सब प्रकार के कष्ट देकर मार दिया जाता था। बाद में तो जो व्यक्ति इसके पास से होकर गुजरता था, उसे पकड़ लिया जाता था और विविध प्रकार के कष्ट देकर मार दिया जाता था। एक दिन एक श्रमण, जिसे भिक्षु बने हुए अधिक समय नहीं हुआ था, भिक्षा माँगता हुआ नरक-गृह के द्वार पर आ पहुँचा। नरक-गृह के अध्यक्ष ने उसे भी पकड़ लिया लेकिन नरक-गृह के भयंकर दृश्यों को देखकर श्रमण का हृदय दया से परिपूर्ण हो गया। उसे निश्चय हो गया कि सब सांसारिक पदार्थ अनित्य हैं और उसने अर्हत् पद प्राप्त कर लिया। अतः जब उसे खौलते हुए कड़ाहे में डाला गया, तो वह कड़ाहे के तल में एक कमल पर आसीन दिखायी दिया। नरक-गृह के अध्यक्ष ने अशोक को इस विचित्र घटना की सूचना दी। अशोक ने स्वयं आकर इस दृश्य को देखा और इस चमत्कार की प्रशंसा की। अब अशोक की आज्ञा से नरक-गृह के अध्यक्ष को खौलते हुये कड़ाहे में डाल दिया गया, नरक-गृह की दीवारें भूमिसात् कर दी गई और नरक-गृह की क्रूर यातनाओं का अन्त कर दिया गया। इसके बाद राजा की भेंट उपगुप्त नामक अर्हत् से हुई। उसने अशोक को बौद्ध धर्म में दीक्षित कर लिया।[2] शुआन-च्वांग ने पाटलिपुत्र के उस स्थान का भी उल्लेख किया है जहाँ अशोक ने नरक-गृह का निर्माण करवाया था। वह बताता है कि अशोक के पुराने प्रासाद के उत्तर में एक

---

[1]महावंस, 5.41–72।

[2]बील, रिकार्ड्स, 2, पृ० 86–8।

प्रस्तर-स्तम्भ था जो दसियों फुट ऊँचा था। यह उसी स्थान पर था जहाँ उसने एक नरक-गृह बनवाया था।[1]

शुआन-च्वांग ने अशोक द्वारा उज्जयिनी में बनवाये हुए एक अन्य नरक-गृह का भी उल्लेख किया है। उज्जयिनी का विवरण देते हुए उसने लिखा है कि नगर के समीप ही एक स्तूप है जो उस स्थान पर है, जहाँ अशोक ने एक नरक-गृह बनवाया था।[2] राजा बनने से पूर्व अशोक उज्जयिनी में वायसराय रह चुका था। अतः आश्चर्य नहीं कि बौद्ध कथाओं में उसे वहाँ भी एक नरक-गृह के निर्माण करवाने का श्रेय दे दिया हो।

इस सम्बन्ध में 'दिव्यावदान' की कथा इस प्रकार है : जब अशोक राजा बना तो वह अत्यन्त क्रूर और अत्याचारी था। एक बार उसने क्रोधित होकर अपनी तलवार से स्वयं कुछ अमात्यों के सिर धड़ से अलग कर दिये और एक अवसर पर अन्तःपुर की पाँच सौ स्त्रियों को जीते जी आग में जलवा दिया। अब अमात्यों ने उससे प्रार्थना की कि वह अपने हाथों को इस प्रकार अपवित्र न करे और अपराधियों को दण्ड देने के लिए किसी अन्य व्यक्ति को नियुक्त कर दे। अशोक ने चण्डगिरिक नाम के अत्यन्त क्रूर और भयंकर व्यक्ति को 'वध्य-घातक' के पद पर नियुक्त कर दिया। साथ ही उसने एक भयंकर बन्धनागार बनवाया। यह बाहर से अत्यन्त सुन्दर और दर्शनीय था। लोग उसे देखते ही सोचते थे कि अन्दर जाकर भी इसे देखना चाहिये। परन्तु अशोक की आज्ञा थी कि जो कोई भी इस बन्धनागार में प्रविष्ट हो जाये, नानाविध यातनाएँ देकर उसकी हत्या कर दी जाये। इसलिए जो कोई भी इस बन्धनागार में प्रविष्ट हो जाता था बचकर नहीं लौट पाता था। एक बार समुद्र नाम का बालपण्डित या बालभिक्षु जो प्रव्रज्या के पूर्व श्रावस्ती का श्रेष्ठी था, इस बन्धनागार में चला गया। चण्डगिरिक ने उसे एक धधकती हुई भट्ठी में डाल दिया। परन्तु जब चण्डगिरिक ने नीचे की ओर झाँक कर देखा तो पाया कि बालपण्डित एक कमल पर बैठा हुआ था। उसके चारों ओर ज्वालाएँ उठ रही थीं पर उनसे भिक्षु का कुछ भी नहीं बिगड़ रहा था। इस चमत्कार की सूचना अशोक को दी गई। वह बालपण्डित की चमत्कारिक शक्ति को देखकर आश्चर्यचकित रह गया। वह बालपण्डित के उपदेश से भी बहुत प्रभावित हुआ। परिणामस्वरूप बन्धनागार को तोड़ दिया गया और चण्डगिरिक को अग्नि के अर्पित कर दिया गया।[3]

'दिव्यावदान' और शुआन-च्वांग द्वारा प्रदत्त कथाएँ प्रायः समान हैं। उनमें और 'महावंस' की कथा में भी यह बात समान है कि अशोक ने सिंहासन प्राप्त करने के कुछ वर्ष पश्चात् एक बौद्ध भिक्षु के उपदेश से बौद्ध धर्म को अपनाया था। 'महा-

[1]वही, पृ० 85।
[2]वही, पृ० 271।
[3]कॉवेल और नील, दिव्यावदान, पृ० 373–76।

वंस' के अनुसार भी अशोक पहले क्रूर और अत्याचारी था और उसने अपने 99 भाइयों को मार कर सिंहासन पाया था। इन कथाओं में कितना सत्यांश है कहना कठिन है, परन्तु कुछ बातें अनायास कही जा सकती हैं। एक, ये कथाएँ बताती हैं कि अशोक चण्डाशोक से धर्माशोक यकायक बना था, धीरे-धीरे नहीं। दूसरे, इनमें उसे बौद्ध बनाने का श्रेय किसी बौद्ध अर्हत् को दिया गया है जिसके चमत्कारों से प्रभावित होकर अशोक ने यह धर्म स्वीकार किया था। तीसरे, इन कथाओं में बौद्ध बनने के पूर्व अशोक के चरित्र में क्रूरता के तत्त्वों को अतिरञ्जित रूप में वर्णित किया गया है। स्पष्टत: बौद्ध ग्रन्थों के लेखकों का उद्देश्य यह प्रदर्शित करना था कि बौद्ध धर्म के प्रभाव से चण्डाशोक जैसा नर-राक्षस भी किस प्रकार देवतुल्य चरित्र वाला हो गया था। अत: उसके नरक-गृह और बन्धनागार का बौद्ध साहित्य में जिस तरह वर्णन है[1] उसे यथावत् स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अशोक द्वारा बौद्ध धर्म का स्वीकार : आभिलेखिक साक्ष्य : उसकी रुचि बौद्ध धर्म में धीरे-धीरे सबलतर हुई थी

अभिलेखों में अशोक की बौद्ध धर्म में क्रमश: वर्द्धमान रुचि के विषय में निम्नलिखित तथ्य उल्लिखित मिलते हैं :

(1) अशोक ने अपने लघु शि० ले० के विभिन्न संस्करण बौद्ध उपासक बनने के 'ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय उपरान्त' उत्कीर्ण करवाये थे।

(2) तेरहवें शि० ले० के अनुसार उसकी धर्म विजय में रुचि प्रधानत: कलिंग युद्ध की, जो उसके शासनकाल के आठवें वर्ष में लड़ा गया था, भीषणता से अनुतप्त होकर (सो अस्ति अनुसोचनं देवनप्रिअस विजिनिति कलिगनि—शहबाजगढ़ी संस्करण) जाग्रत हुई थी (अधुना लधष कलिग्येषु तिवे धंमवाये धंमकामता धंमानुषथि चा—कालसी संस्करण)।

(3) अपने शासन के दसवें वर्ष में उसने सम्बोधि (बोधगया) की यात्रा करके धर्म यात्राओं का शुभारम्भ किया था : "बहुत समय हुआ, राजा लोग विहार यात्राओं पर जाते थे। इनमें मृगया और इसी प्रकार के अन्य आमोद होते थे। किन्तु देवानां-प्रिय प्रियदर्शी राजा (अपने) अभिषेक के दसवें वर्ष में सम्बोधि (बोधगया) गये। इससे (यह) धर्म यात्रा (की प्रथा प्रारम्भ हुई)। इसमें यह होता है : ब्राह्मणों और श्रमणों का दर्शन तथा उनको दान, वृद्धों का दर्शन और धन से उनके पोषण की व्यवस्था, जनपद के लोगों का दर्शन, धर्म का आदेश और धर्म के सम्बन्ध में परि-प्रश्न।"[2]

---

[1]दे०, जीन शीलुस्की, दि लीजेण्ड्स् ऑव एम्परर अशोक इन इण्डियन एण्ड चाइनीज़ टैक्स्ट्स्, कलकत्ता, 1967।

[2]पाण्डेय, रा० ब०, अशोक के अभिलेख, पृ० 12।

(4) अपने चतुर्थ शि० ले० में, जो 12वें वर्ष में लिखवाया गया था, अशोक अपनी धंम विजय में सफलता का गर्वपूर्वक वर्णन करता है।

इन तथ्यों तथा अन्य अभिलेखों से ज्ञात छिटपुट तथ्यों से अशोक की बौद्ध धर्म में आस्था के विकास की क्रमिक अवस्थाएँ जानी जा सकती हैं। लेकिन इसके पूर्व आभिलेखिक साक्ष्य की विस्तृत मीमांसा करना आवश्यक है।

रूपनाथ लघु शि० ले० का साक्ष्य

अशोक के लघु शि० ले० का रूपनाथ संस्करण इस प्रकार है : "देवानांप्रिय ने ऐसा कहा—ढाई से कुछ अधिक वर्ष व्यतीत हुए जब से मैं प्रकाश्यरूपेण शाक्य (=बौद्धोपासक) हूँ। किन्तु (मैं) तीव्र पराक्रमी (=तीव्र धर्मोद्यमी) नहीं रहा। एक से कुछ अधिक वर्ष से, जब से मैंने संघ की शरण ली है, (तब से) तीव्रपराक्रम (=उद्योग) कर रहा हूँ। इस काल तक जम्बुद्वीप में देवता (जो) (मानवों से) अमिश्र थे वे अब (मानवों से) मिश्र (सम्बन्धवान्) कर दिये गये हैं। यह फल पराक्रम (अर्थात् उद्योग) का ही है। यह केवल उच्चपदस्थ व्यक्तियों को ही प्राप्तव्य नहीं है, क्षुद्र पराक्रम (=मामूली उद्योग) से भी विपुल स्वर्ग उपलब्ध हो सकता है। इस प्रयोजन के लिए श्रावण की व्यवस्था की गई—क्षुद्र और उदार (सभी लोग) पराक्रम (अर्थात् उद्योग), करें और प्रत्यन्त (अर्थात् सीमावर्ती जन) भी जानें कि यह पराक्रम—क्या ?—चिरस्थायी हो। यह अर्थ (अर्थात् प्रयोजन, अर्थात् धर्म-श्रावण) अधिकाधिक बढ़ेगा, विपुल रूप से बढ़ेगा, न्यूनाधिक रूप से ड्योढ़ा बढ़ेगा। इस अर्थ को (विषय को) (आप) सुयोग से पर्वतों पर लिखवायें। यहाँ (अर्थात् साम्राज्य में जहाँ कहीं भी) शिला-स्तम्भ हैं (इसे) शिला-स्तम्भों पर लिखवाया जाय। और इसके व्यंजनानुसार (अर्थात् इस आदेश के शब्दानुसार) जहाँ तक आपका आहार (कार्य-क्षेत्र) है सर्वत्र (अपने राजपुरुषों को) भेजें। यह श्रावण (अर्थात् धर्म संदेश) प्रवास के समय किया गया (जब) 256 (दो सौ छप्पन रात अर्थात् दिन अर्थात् पड़ाव) बीत चुके थे।"

अशोक के इस लघु शिला-लेख के अन्य संस्करण सहसराम, बैराट, मास्की, एर्रगुडी, सिद्धपुर, जटिंग-रामेश्वर, ब्रह्मगिरि, गोविमठ, पालकिगुण्डु, राजुल-मण्डगिरि, गुजर्रा, अहरौरा और नई दिल्ली से मिले हैं। भाषा और मामूली से कुछ अन्य परिवर्तनों को छोड़ कर, प्रस्तुत समस्या की दृष्टि से, ये रूपनाथ संस्करण के समान हैं। परन्तु : (1) गुजर्रा और मास्की संस्करणों में अशोक का नाम से उल्लेख है (गुजर्रा : देवानांपियस असोकस राजस। मास्की : देवानांपियसा असोकस)। (2) मास्की तथा कुछ अन्य खण्डित लेखों में 256 संख्या उल्लिखित नहीं है। (3) ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर तथा जटिंग-रामेश्वर लघु शि० ले० में 256 पड़ावों का उल्लेख करने के बाद कुछ और वाक्य जुड़े हैं जिनमें माता-पिता व गुरुजनों की सेवा करने का उपदेश दिया गया है। कुछ विद्वान् इन्हें द्वितीय लघु शि० ले० कहते हैं। (4) अहरौरा-लेख के अन्त में

बुद्ध के अवशेषों की स्थापना का उल्लेख है।

अशोक के लघु शिला लेख में उसे प्रकास सके (=प्रकाशं शाक्यः, शाक्यः=बौद्ध उपासक) कहा गया है। राजबली पाण्डेय ने इसे 'उपासक' अर्थ में लिया है। परन्तु 'उपासक' शब्द लघु शि० ले० के अन्य संस्करणों में तो आया है लेकिन रूपनाथ और मास्की संस्करणों में स्पष्टतः 'सके' शब्द है। अतः मास्की लघु शि० ले० के 'बुध सके' का अर्थ 'बुद्ध शाक्य'=बौद्ध ही हो सकता है। वराहमिहिर ने 'शाक्य' को बौद्धोपासक अर्थ में ग्रहण किया है। यही अर्थ कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में माना है। इस साक्ष्य से अतिरिक्त रूप से प्रमाणित है कि अशोक व्यक्तिगत रूप से बौद्ध हो गया था। कुछ विद्वान् 'सके' को 'श्रावक' अर्थ में लेते हैं। लेकिन यह सम्भव नहीं लगता।

अपने लघु शिला-लेख में अशोक कहता है कि वह ढाई वर्ष से कुछ अधिक हुए तब से बौद्धोपासक था, 'किन्तु तीव्र पराक्रमी नहीं रहा' (नो चु बढ़ि पकते)। ब्रह्मगिरि व सिद्धपुर संस्करणों में इसके बाद 'हुसं एकं सवछरं'='एक वर्ष तक' शब्द और आये हैं। कुछ विद्वान् इसका अर्थ यह मानते हैं कि अशोक ने 'ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय' तक तो विशेष पराक्रम नहीं किया परन्तु इस 'ढाई वर्ष से अधिक' के उपरान्त व्यतीत होने वाले एक वर्ष में विशेष पराक्रम दिखाया। इस प्रकार वह यहाँ कुल मिलाकर करीब चार वर्ष का वर्णन मानते हैं। परन्तु रूपनाथ संस्करण का ब्रह्मगिरि व सिद्धपुर संस्करणों के साथ समवेत अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के तीव्र पराक्रम का 'एक वर्ष से कुछ अधिक समय' उसके द्वारा उल्लिखित 'ढाई वर्ष से कुछ अधिक' समय के अन्दर सम्मिलित था। इस प्रकार वह अपने पराक्रम के समय को, जो लघु शि० ले० लिखवाने के पूर्व बीता, कुल 'ढाई वर्ष से अधिक' बताता है जिसमें एक वर्ष तक उसने विशेष पराक्रम नहीं दिखाया परन्तु इसके बाद, संघ में शरण लेने पर, उसने एक वर्ष से कुछ अधिक समय में तीव्र पराक्रम दिखाया।

लघु शिला-लेख में आये पदांश 'संघं उपेते' (उपगते, उपयाते, उपयीते, उपेते=पास जाना, सम्बद्ध होना, शरण में जाना) का अर्थ बहुत विवादग्रस्त है। ब्युलर तथा कर्न ने इससे यह तात्पर्य माना है कि अशोक कुछ समय के लिए भिक्षु हो गया था और उसने राजपद छोड़ दिया था क्योंकि राजपद भिक्षु जीवन के साथ संगत नहीं था। स्मिथ का कहना है कि अशोक राजपद छोड़े बिना भिक्षु हो गया था। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि ई-चिंग ने अशोक की भिक्षु रूप में प्रतिमा देखी थी तथा कुमारपाल चालुक्य तथा बर्मा व तिब्बत के कुछ नरेश राजपद का उपभोग करते हुए ही भिक्षु बन गये थे। सेना का कहना है कि अशोक ने संघ की यात्रा करके वहाँ अपने बौद्ध होने की घोषणा की थी। बरुआ के अनुसार अशोक पहले उपासक था। इसका अर्थ है कि वह सभी सम्प्रदायों में रुचि रखता था। इसके बाद वह संघ की शरण में गया अर्थात् बौद्ध उपासक बन गया। लेकिन इसके बाद भी वह राजा बना रहा। 10वें वर्ष

सम्बोधि की यात्रा करते समय तथा 20वें वर्ष लुम्बिनी की यात्रा करते समय वह निश्चय ही राजपद का उपभोग कर रहा था। अपने मत के समर्थन में बरुआ ने बुद्धघोष द्वारा प्रदत्त उस कथा की ओर ध्यान दिलाया है जिसके अनुसार राजत्व प्राप्त करने के बाद अशोक ने क्रमशः कई सम्प्रदायों में दिलचस्पी ली थी परन्तु सबको खोखला पाया था। अन्त में एक युवा बौद्ध भिक्षु ने उसे बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख किया। बरुआ ने 'संघं उपेते' का अर्थ अन्य सम्प्रदायों से बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख होना माना है। लेकिन रूपनाथ व मास्की अभिलेखों में, विशेषतः मास्की लेख में, 'बुध सके' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि अशोक संघ में जाने के पूर्व ही बौद्ध बन गया था। हूल्श तथा भाण्डारकर के अनुसार अशोक बौद्ध भिक्षु तो कभी नहीं बना परन्तु उपासक के रूप में कुछ समय संघ में रहा था। अगर अशोक के संघ में जाने के बाद का 'एक वर्ष से कुछ अधिक समय' 'ढाई वर्षों से अधिक' के अन्तर्गत सम्मिलित है तो संघ में जाने का अर्थ भिक्षु बनना नहीं हो सकता क्योंकि वह स्पष्ट कहता है कि इन 'ढाई वर्षों से अधिक समय' तक वह 'उपासक' मात्र था (बैराठ व सिद्धपुर लघु शि० ले०)। 'संघं उपेते' वास्तव में उपासकों द्वारा प्रव्रज्या-मन्त्र में प्रयुक्त होने वाले पद 'संघं शरणं गच्छामि' का भावानुवाद मात्र हो सकता है। भाण्डारकर ने चरणदास चटर्जी का यह सुझाव माना है कि अशोक की इस स्थिति को जब वह उपासक मात्र होते हुए भी संघ से सम्बद्ध था 'भिक्षुगतिक' कहा जा सकता है। इस शब्द का प्रयोग 'महावग्ग' में मिलता है जहाँ 'भिक्षुगतिक' उन लोगों को कहा गया है जो भिक्षु जीवन की ओर पूर्णतः उन्मुख होते हुए और संघ से सम्बद्ध होते हुए भी किसी कारणवश भिक्षु नहीं बन पाते थे। यह उपासकत्व व भिक्षुत्व के बीच की अवस्था होती थी। इस मत को राजबली पाण्डेय ने भी माना है।[1] रोमिला थापर ने 'संघं उपेते' को बौद्ध संघ के निकट सम्पर्क में आने के अर्थ में लिया है। आर० के० मुकर्जी का कहना है कि अशोक के भिक्षु बनने का कोई प्रमाण नहीं है। उन्होंने ध्यान दिलाया कि 'महावंस' के अनुसार अशोक ने, जो उस समय तक धर्माशोक बन चुका था, स्वयं प्रव्रज्या न लेकर अपने पुत्र और पुत्री को प्रव्रज्या लेने की अनुमति दी थी। इससे वह 'उपासक' मात्र से 'शासनदायाद' अर्थात् 'संघ का बान्धव' बन गया। इस सम्बन्ध में जनश्रुति में किसी प्रकार की अस्पष्टता नहीं है कि अशोक ने स्वयं ही भिक्षु बनना स्वीकार नहीं किया था। अतः 'संघं उपेते' का तात्पर्य यह नहीं माना जा सकता कि वह भिक्षु बन गया था। साँची के एक मूर्ति फलक में उसे रामग्राम के स्तूप का दर्शन करते हुए दिखाया गया है। उस समय वह भिक्षु वेश धारण नहीं किये है वरन् रथ पर चढ़े हुए एवं हाथियों, घुड़सवारों तथा परिचरों से घिरे हुए सम्राट् के रूप में अंकित है। दो अन्य मूर्त्तियों में वह सम्राट् के रूप में ही मृगदाव और बोधगया में दर्शन करते हुए दिखाया गया है।[2]

[1]सन्दर्भों के लिए दे०, गोयल, प्रा०भा०अ०सं०, पृ० 81।

[2]मुकर्जी, अशोक, पृ० 53, टि० 1।

अशोक ने लघु शिला-लेख तब लिखवाये थे जब वह दौरे पर (व्युठेन) था। रूपनाथ संस्करण में 'व्युठेन सावने कटे 200+50+6 सत विवासा (सो) त (ति)' पद के प्रयोग से स्पष्ट है कि 'व्युठेन' या 'व्युथेन' तथा 'विवास' दोनों की व्युत्पत्ति वि√वस् से हुई है। 'विवास' शब्द का प्रयोग अशोक के अभिलेखों में अनेकत्र 'प्रवास' या 'दौरे' के अर्थ में हुआ है (यथा, 'विवासयाथ' तथा 'विवासापयाथा', सारनाथ लघु शि० ले०)। 'विवुथ' स्पष्टतः संस्कृत 'व्युषित' का प्राकृत रूप है।[1] अतः इसका यहाँ अर्थ होगा 'यह श्रावण (घोषणा) तब की गई जब मुझे प्रवास में 256 दिन बीत चुके थे।' ए० के० नारायण ने 'विवुथेन' का अर्थ 'विवटेन' अर्थात् 'खुलेआम' या 'प्रकाशित' किया है। परन्तु, जैसाकि दि० च० सरकार ने कहा है, यह अर्थ एकदम अस्वीकार्य है। 'श्रावण' (=घोषणा) तो स्वयं प्रकाशित होती है, इसके साथ प्रकाशित क्रिया-विशेषण अनावश्यक है। जैसाकि अब अधिकांश विद्वान् मानते हैं, इस शब्द की व्युत्पत्ति वि√वस् से हुई है। एक अन्य मत के अनुसार यहाँ अशोक यह कह रहा है कि यह श्रावण बुद्ध परिनिर्वाण (ब्युलर व गो०रा० शर्मा) अथवा निर्वाण अर्थात् सम्बोधि (भाण्डारकर) के 256वें वर्ष में घोषित किया गया। परन्तु ये सभी सुझाव अब अधिकांश विद्वानों को अस्वीकार्य हैं।

अहरौरा लघु शि० ले० का साक्ष्य

अहरौरा लघु शि० ले० की अन्तिम दो पंक्तियों में एक रोचक सूचना मिलती है: 'यह (लघु शि० ले०) श्रावण प्रवास में बुद्ध के अवशेषों के मञ्चारूढ़ किये जाने के दो सौ छप्पन रातों (अर्थात् दिनों) बाद किया गया' (दुवे सपंना लाति सति=दो सौ छप्पन रात, अर्थात् दो सौ छप्पन दिन)। 'रात' का 'सम्पूर्ण दिन व रात' के अर्थ में प्रयोग प्राचीन काल में खूब प्रचलित था (दे०, महाभारत, 3.82.62)। दिन के स्थान पर रात्रि शब्द का प्रयोग दैनिक 'पड़ाव' का द्योतक है। लघु शि० ले० के अन्य संस्करणों में यह संख्या अंकों में 200+50+6 लिखी है, केवल सहसराम-संस्करण में शब्दों और अंकों दोनों में मिलती है। प्रस्तुत लेख में यह केवल शब्दों में लिखी है। लेकिन जे० एस० नेगी का कहना है कि 'आलोढ़े' शब्द के उपरान्त जो चिह्न दिखायी देता है (जिसे नारायण ने 'त्वा' अथवा 'च' पढ़ा है, मिराशी ने 'च' और सरकार ने विराम चिह्न माना है) वह वास्तव में अंकों में लिखित 256 संख्या का, जो अब मिट गई है, अवशिष्ट भाग है। इस लेख में अशोक द्वारा बुद्ध के देहावशेषों को मञ्चारूढ़ करवाये जाने का उल्लेख है (अं मंचे बुधस सलीले आलोढ़े=जब से बुद्ध के सलील=शरीर=देहावशेष मञ्चारूढ़ हुए, अर्थात् पूजार्थ मञ्च पर स्थापित किये गये)। यहाँ मञ्च से आशय स्तूप से है। ए० के० नारायण ने यहाँ "अमं (म्हं) [? च] बुधस सलीले आलोढ़े" पाठ मानकर इसका अर्थ किया है "अपने

---

[1]दे०, सरकार, आई०एच०क्यु०, 38, पृ० 222–4; दे०, बोगार्ड-लेविन, पूर्वो०, पृ० 341।

बुद्ध (=गौतम बुद्ध; कनकमुनि आदि पूर्वगामी बुद्धों से भिन्न) के अवशेषों को प्रतिष्ठित कराने के बाद"। मिराशी ने इसका पाठ "संवंसं बुधस सलीले आलोढे" मानकर यहाँ "सम्यक् सम्बुद्ध के देहावशेष को प्रतिष्ठित कराकर" अर्थ किया है। गो० रा० शर्मा ने 'बुधस सलीले आलोके' पाठ स्वीकृत करके इसका अर्थ "बुद्ध परि-निर्वाण के उपरान्त" बताया है। अहरौरा-लेख के उपलब्ध होने के पूर्व भी 256 संख्या को ब्युलर ने महापरिनिर्वाण संवत् का वर्ष बताया था और भाण्डारकर ने इसे परिनिर्वाण के बजाय निर्वाण (बुद्ध द्वारा सम्बोधि प्राप्ति के वर्ष) से गिना था। लेकिन ब्युलर व शर्मा के मत को मानने पर यह लेख बुद्ध के परिनिर्वाण के 256 वर्ष उपरान्त (483–256=227 ई० पू०) मानना होगा और भाण्डारकर के मत को मानने पर 227 से 45 वर्ष पूर्व का अर्थात् 227+45=272 ई० पू० का (क्योंकि बुद्ध को सम्बोधि महापरिनिर्वाण के 45 वर्ष पूर्व प्राप्त हुई थी)। ये दोनों सम्भावनाएँ ही अस्वीकार्य हैं। भाण्डारकर का मत तो प्रस्तुत लेख के कथन के (बुधस सलीले आलोढ़े) के भी विरुद्ध होगा। स्मरणीय है कि इस लेख को प्रायः अशोक के प्रारम्भिक अभि-लेखों में माना जाता है। दूसरे, यह प्रश्न भी उठता है कि अशोक ने बुद्ध संवत् का प्रयोग केवल इसी लेख में क्यों किया है, अन्य अभिलेखों में क्यों नहीं। शंकरनारायणन् ने इस अंश का पाठ "आंमं च बुधस सलीले आलोढ़े ति" सुझाकर इसका संस्कृत रूप "आश्मं च बुद्धस्य शरीरं आरूढ़ं (=आरोपितं इति)" बताया है और यहाँ बुद्ध मूर्त्ति की अथवा बुद्ध के किसी प्रतीक की स्थापना का उल्लेख माना है। परन्तु 'शरीर' शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य व अभिलेखों में 'प्रतिमा' अर्थ में नहीं वरन् 'देहावशेष' अर्थ में ही मिलता है। बौद्ध परम्परानुसार भगवान् बुद्ध के अवशेष पहले कुसिनारा में मल्लों के पास थे जिनके राज्य में उनका देहावसान हुआ था। लेकिन बाद में मगध नरेश अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवियों, कपिलवस्तु के शाक्यों, अल्लकप्प के बुलियों, रामग्राम के कोलियों, वेठदीप के एक ब्राह्मण तथा पावा के मल्लों ने उनको कुसि-नारा के मल्लों के साथ मिलकर आठ भागों में बाँट लिया और उन पर स्तूप बन-वाये। बाद में अशोक ने उन स्तूपों को खुलवाकर उनके स्थान पर पवित्र अवशेषों को पुनर्स्थापित कराने के लिए 84,000 स्तूपों का निर्माण कराया। अहरौरा-अभिलेख अशोक द्वारा बुद्धावशेषों पर स्तूप बनवाये जाने का उल्लेख करने वाला प्रथम अभिलेख है। इस प्रकार यह अतिरिक्त रूपेण प्रमाणित करता है कि अशोक ने व्यक्तिगत रूप से बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। बाद में बुद्ध के पवित्र अवशेषों को इस प्रकार स्थापित कराने की परम्परा बराबर प्रचलित रही।

तेरहवें शि० ले० का साक्ष्य

अपने शासन के आठवें वर्ष में ही अशोक ने कलिङ्ग देश की विजय की थी। इस विजय में मनुष्यों का जो संहार हुआ और जनता को जो कष्ट उठाने पड़े, अशोक

ने उन पर अपने तेरहवें शि० ले० में भारी अनुताप प्रगट किया है: "आठ वर्ष से अभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा कलिंगों (अर्थात् कलिंगदेश) को जीता गया। डेढ़ लाख मनुष्य वहाँ से अपहृत हुए, एक लाख वहाँ हत हुए (अर्थात् युद्ध में मारे गये) और उतनी ही संख्या में मृत हुए। उसके बाद हाल में जीते गये कलिंग में देवानांप्रिय का धर्म-व्यवहार, धर्म-प्रेम और धर्मोपदेश तीव्र हुआ (अर्थात् देवानांप्रिय ने वहाँ तीव्र रूप से धर्म-व्यवहार, धर्म-प्रेम और धर्मोपदेश किया)। कलिंग को जीतकर देवानांप्रिय को अनुताप है। जब कोई अविजित (देश) जीता जाता है, वहाँ लोगों का वध, मरण और अपहरण होता है; यह देवानांप्रिय के लिए अत्यन्त वेदना देने वाली और गम्भीर (बात) है। इससे भी अधिक गम्भीर (बात) देवानांप्रिय के लिए (यह) है। वहाँ जो ब्राह्मण और श्रमण और अन्य सम्प्रदायों के गृहस्थ अनुयायी रहते हैं—जिनमें उच्चपदस्थ जनों की शुश्रुषा, माता-पिता की शुश्रुषा, गुरुओं की शुश्रुषा (एवं) मित्रों, परिचितों, सहायकों, जाति वालों, दासभृतकों के प्रति सम्यक्-व्यवहार (और) दृढ़ भक्ति पाई जाती है—उनमें भी आघात, वध और प्रिय-जनों का निष्कासन पाया जाता है। उन लोगों के भी, जो सुस्थित (अर्थात् सुख से स्थित) हैं (और) जिनका स्नेह कम नहीं हुआ है (अर्थात् वे लोग जो युद्ध के प्रभाव से बच कर सुखी जीवन व्यतीत कर सकते हैं), मित्र, परिचित और जाति वाले व्यसन को प्राप्त होते हैं और तब वहाँ (अर्थात् व्यसन को प्राप्त होने पर) उन पर भी आघात होता है। यह सब मनुष्यों का भाग्य है और देवानांप्रिय के लिए गम्भीर (बात) है। एक भी सम्प्रदाय (ऐसा) नहीं है जिसमें (लोगों का) अनुराग न हो। इस-लिए जितने भी लोग उस समय कलिंग में हत और मृत और अपहृत हुए उनका शतभाग या सहस्रभाग भी आज देवानांप्रिय के लिए गम्भीर (बात) है।"[1]

इस लेख से लगता है कि कलिंग विजय के कारण ही अशोक की प्रवृत्ति बौद्ध धर्म की ओर हुई। वहाँ लाखों मनुष्यों का वध, मरण और अपहरण देखकर उसके मन में युद्ध के प्रति ग्लानि उत्पन्न हुई, धर्म की प्रवृत्ति अङ्कुरित हुई और वह बौद्ध उपासक बन गया। अतः यह मानना असंगत नहीं होगा कि अशोक ने बौद्ध धर्म को अभिषेक के लगभग आठ वर्ष पश्चात् स्वीकार किया था। यह तथ्य रोचक है कि अशोक द्वारा बौद्ध धर्म के स्वीकार की अभिलेखों से ज्ञात यह तिथि 'महावंस' से परोक्षतः समर्थित होती है। 'महावंस' की कथा के अनुसार अशोक भिक्षु निग्रोध से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुआ था। यह निग्रोध अशोक के भाई सुमन का पुत्र था और उसका जन्म अशोक द्वारा सिंहासन के लिए संघर्ष में सुमन की हत्या किये जाने के बाद हुआ था। जिस समय निग्रोध की अशोक से भेंट हुई, निग्रोध की आयु सात वर्ष थी। इसलिए इस कथा के अनुसार जब अशोक ने बौद्ध धर्म स्वी-कार किया उसको शासन करते हुए आठवाँ वर्ष चल रहा होगा।

---

[1]गोयल, प्रा० भा० अ० सं०, पृ० 66।

उपर्युक्त विवेचन से हम ये निष्कर्ष निकाल सकते हैं : (1) कलिंग विजय में हुई जनहानि और मानवीय कष्टों से उत्पन्न ग्लानि के कारण अशोक बौद्ध धर्म की ओर विशेषत: आकृष्ट हुआ था। साहित्य में यह श्रेय किसी बौद्ध अर्हत् को दे दिया गया है और कलिंग युद्ध की विभीषिका के बजाय उसकी व्यक्तिगत क्रूरता के कारण उत्पन्न ग्लानि को तात्कालिक कारण बताया गया है। (2) बौद्ध उपासक बनने के बाद उसने ढाई वर्ष तक विशेष 'पराक्रम' नहीं किये। विशेष पराक्रम उसने 'संघ में जाने' के बाद शुरू किया जो लघु शिला लेख लिखवाये जाने के 'लगभग एक वर्ष' पूर्व की घटना थी। (3) अपने अभिषेक के दसवें वर्ष उसने सम्बोधि की यात्रा की थी। (4) अभिषेक के 12वें वर्ष तक उसकी 'धंमविजय' में सफलता इतनी हो गई थी कि वह उसमें गर्व कर सके।

अशोक पर विभिन्न धर्मों का प्रभाव

भाण्डारकर, मुकर्जी इत्यादि विद्वानों का मत है कि 13वें शिलालेख से यह प्रमाणित नहीं होता कि अशोक ने कलिंग युद्ध में हुई जनहानि और मानवीय कष्टों से उत्पन्न ग्लानि के कारण बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। हाल ही में बोंगार्ड-लेविन ने भी यही प्रतिपादित किया है।[1] भाण्डारकर के शब्दों में इस शिलालेख में अशोक "जो कुछ कहता है वह यह नहीं है कि युद्ध के अत्याचारों ने उसे गम्भीर और अनुशोक-मग्न कर दिया है और उसका मन बौद्धमत की ओर फेर दिया है, बल्कि स्पष्ट रूप से यह कि वह पहिले से ही बौद्ध था और इसलिए इस युद्ध के लिए लज्जित है ··· निस्सन्देह कलिंग-विजय और बौद्ध-धर्म-ग्रहण दोनों घटनाएँ उसके अभिषेक के आठवें वर्ष में हुईं, पर पहिली घटना दूसरी का कारण नहीं थी।"[2] बोंगार्ड-लेविन ने ध्यान दिलाया है कि अशोक के पृथक् कलिंग शिला-लेखों में कलिंग युद्ध जनित पश्चाताप की चर्चा नहीं है जो होती अगर उसने बौद्ध धर्म को उस युद्ध से हुई ग्लानि के कारण स्वीकार किया होता। रोमिला थापर का कहना है कि अशोक के धर्म-परिवर्तन की एक निश्चित तिथि बताने का प्रयास करना यथार्थ के विपरीत जाना है क्योंकि उस युग में हिन्दू धर्म से बौद्ध धर्म का स्वीकार धर्म-परिवर्तन जैसी बात नहीं होती थी। लेकिन अशोक अपने लघु शिखा-लेख में स्पष्ट रूप से कहता है कि "ढाई वर्ष से कुछ अधिक वर्ष हुए जब से मैं प्रकाश्यरूप से शाक्य (बौद्ध उपासक) हूँ।" उसका यह कथन सिद्ध करता है कि धर्म-परिवर्तन उसके जीवन की एक विशिष्ट और निश्चित घटना थी। रोमिला थापर का यह भी कहना है कि अशोक के धार्मिक विचारों पर तत्कालीन समाज और मौर्य राजसभा में बौद्ध, जैन, आजीविक, यूनानी आदि विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा होगा। थापर के अनुसार अशोक अपने युग की देन था, कोई पैगम्बर, सम्बोधि-प्राप्त अथवा किसी महात्मा द्वारा अचानक धर्मनिष्ठा जाग्रत किया हुआ व्यक्ति नहीं।

---

[1]बोंगार्ड-लेविन, जी० एम०, मौर्यन इण्डिया, नई दिल्ली, 1985, पृ० 85 अ०।

[2]भाण्डारकर, पूर्वो०, पृ० 69–70।

उनकी यह मान्यता एक सीमा तक सही है और अशोक क्या सभी राजाओं पर लागू होती है। लेकिन रोमिला थापर विचारों के इतिहास में व्यक्ति की भूमिका को सर्वथा नकारती-सी लगती हैं। अतः हम उनके कथन को उस अर्थ में ग्रहण नहीं कर सकते जो उससे ध्वनित है। लेकिन अगर उनकी स्थापना को इस रूप में लिया जाये कि अशोक की बौद्ध धर्म में रुचि मुख्यतः तत्कालीन धार्मिक वातावरण के प्रभाव का परिणाम थी, तो इसे सही माना जा सकता है। इस प्रसंग में हम कुछ ऐसे तथ्यों की ओर ध्यान दिलाना चाहेंगे जिनमें अधिकांश की चर्चा रोमिला थापर ने नहीं की है। एक, मौर्य राजपरिवार का बौद्ध धर्म के साथ सम्बन्ध चन्द्रगुप्त मौर्य के जमाने से ही था। 'थेरगाथा' की टीका के अनुसार चाणक्य के उकसाने पर चन्द्रगुप्त ने बौद्ध संघ के एक आचार्य के पिता को बन्दी बना लिया था।[1] इससे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त बौद्धों के निकट सम्पर्क में आया था—चाहे बौद्ध धर्म विरोधी के रूप में ही सही। दूसरे, 'भविष्य-पुराण' (3. 6.43) में चन्द्रगुप्त बौद्ध धर्म का संरक्षक (बौद्धधर्मतत्पर) बताया गया है।[2] मौर्य परिवार के साथ बौद्ध धर्म के इस निकट सम्बन्ध का प्रभाव परोक्षतः अशोक पर भी पड़ा होगा। तीसरे, राजा बनने के पूर्व स्वयं अशोक भी बौद्धों के सम्पर्क में रहा था। इसका अब आभिलेखिक प्रमाण भी उपलब्ध है। 1975 में भोपर्दिकर और के० डी० बनर्जी ने मध्य प्रदेश के सेहोर जिले में नर्मदा की मध्यवर्ती उपत्यका में शाहगञ्ज और रेहती के बीच वाले प्रदेश से 45 गुहा शरण-स्थल (प्राकृतिक गुहाएँ) खोज निकाले थे। इनको बुधनी (बौद्धनिवास) गुहाएँ कहा जाता है। इनमें कुछ गुफाओं में स्वस्तिक, त्रिरत्न, कलश आदि धर्मचिह्न बने हैं, कुछ धूमिल अभिलेख मिलते हैं तथा पत्थर की बेञ्च वगैरह बनी हैं। स्पष्टतः इन नैसर्गिक गुहाओं को कुछ काट-छाँट कर इन्हें भिक्षुओं के रहने योग्य बना दिया गया था। पानगोरारिया के समीप स्थित सरु-मरु की कोठड़ी नाम से प्रसिद्ध ऐसे ही नैसर्गिक गुहा शरण-स्थल से दो अभिलेख मिले हैं—इनमें एक अशोक का लघु शिला-लेख है तथा दूसरा अभिलेख यह घोषित करने के लिए उत्कीर्ण किया गया था कि जब पियदसी 'महाराज-कुमार' था तब इस गुफा में आया था। इससे प्रश्नातीत रूप से प्रमाणित है कि एक राजकुमार के रूप में भी अशोक की रुचि बौद्ध भिक्षुओं में थी।[3]

यूनानी विचारधारा से अशोक का सम्पर्क पर्याप्त घनिष्ठ रहा हो सकता है। उसके पिता बिन्दुसार की रुचि यूनानियों और यूनानी दर्शन में थी। स्ट्रैबो के अनुसार डीमेकस को चन्द्रगुप्त के पुत्र अमित्रघात (=बिन्दुसार) की राजसभा में भेजा गया था। प्लिनी के अनुसार मिस्र के तालेमी द्वितीय फिलाडेल्फस ने (285–247 ई० पू०) डायोनाइसियस को भारत में दूत बनाकर भेजा था। तालेमी बिन्दुसार और अशोक दोनों का समकालीन था, परन्तु रायचौधुरी का कहना है कि क्लासिकल लेखक अशोक से

---

[1]बोंगार्ड-लेविन, पूर्वो०, पृ० 110, टि० 118।

[2]चन्द्रगुप्तस्ततः पश्चात् पौरसाधिपतेः सुताम्। सुलूवस्य तथोद्वाह्य यावनीं बौद्धतत्परः॥

[3]गुप्त, एस० पी०, दि रूट्स् ऑव इण्डियन आर्ट, पृ० 196, 225।

परिचित नहीं लगते, अतः यह भारतीय-नरेश बिन्दुसार रहा होगा।[1] हेगेसेण्डर के आधार पर ऐथेनियस ने लिखा है कि बिन्दुसार ने सेल्युकस (एक अन्य पाठानुसार प्रथम एण्टियोकस)[2] से अंजीर, यूनानी शराब तथा एक यूनानी सोफिस्ट को भारत भेजने का आग्रह किया था। इयाम्बोलस नामक यूनानी लेखक का सम्बन्ध भी बिन्दुसार से जोड़ा गया है। यह लेखक सिंहल से भारत आया था और एक ऐसे राजा द्वारा सम्मानित हुआ था जो 'पाटलिपुत्र का स्वामी' तथा 'यूनानियों से प्रेम करने वाला' था। डायोडोरस ने इस तथ्य का उल्लेख किया है और एपोलोनियस ने इसे डायोडोरस से उद्‌धृत किया है।

अशोक को यूनानी संस्कृति और विचारधारा का ज्ञान मेगास्थेनिज़ और उसके बाद में आने वाले यूनानियों के साथ मौर्य राजपरिवार तथा राजसभा के सम्पर्क के कारण से ही नहीं, उस यूनानी राजकुमारी के द्वारा भी हुआ होगा जिसका विवाह सेल्युकस और चन्द्रगुप्त के बीच हुई सन्धि के बाद स्वयं चन्द्रगुप्त अथवा बिन्दुसार के साथ हुआ था। 'भविष्य-पुराण' के पीछे उद्‌घृत श्लोक का सुलूब स्पष्टतः सेल्युकस है। इसलिए यह मानना अधिक उचित होगा कि स्वयं चन्द्रगुप्त का विवाह ही इस यूनानी राजकुमारी से हुआ था यद्यपि कुछ विद्वान् इस राजकुमारी का पति बिन्दुसार को मानते हैं।[3] जो भी हो, अशोक में यूनानी रक्त तक होने की सम्भावना से एकदम इंकार नहीं किया जा सकता।

अशोक आजीविकों के भी सम्पर्क में निश्चित रूप से आया था। यह तथ्य उसके द्वारा आजीविकों को गुहाएँ दान में देने से स्पष्ट है। 'महावंसटीका' में जनसान नामक आजीविक को उसकी माता का कुलकुरु कहा गया है (देविया कुलूपगो जनसानो नाम एको आजीविको)। 'दिव्यावदान' में बिन्दुसार पिंगलवत्स नामक आजीविक की सहायता अपने पुत्रों की परीक्षा हेतु लेता है।

अशोक निश्चित रूप से जैन धर्म के सम्पर्क में भी आया होगा जिसका मौर्य राजपरिवार, मन्त्रियों तथा राजसभा पर प्रभाव चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में गम्भीर रूप से पड़ा था। ब्राह्मण धर्म उस युग में लोकप्रिय था ही। स्वयं अशोक के अभिलेख श्रमणों के साथ ब्राह्मणों का बराबर उल्लेख करते हैं। कुछ बौद्ध ग्रन्थों में बिन्दुसार की रुचि ब्राह्मण धर्म में बताई गई है।[4]

इस प्रकार अशोक का वैचारिक व्यक्तित्व अनेक विचारधाराओं के प्रभाव द्वारा निर्मित हुआ था। इसलिए इन बौद्ध परम्पराओं को सही मानते हुए भी कि उसने अपना धर्म छोड़कर (जो स्पष्टतः ब्राह्मण धर्म रहा होगा) बौद्ध धर्म स्वीकृत किया था और इसका तात्कालिक कारण किसी बौद्ध अर्हत् का उपदेश था, हम यह भी

[1]रायचौधुरी, पो० हि० ए० इं०, पृ० 266।

[2]यही पाठ सही लगता है। दे०, चट्टोपाध्याय, पूर्वो०, पृ० 99–101; बोंगार्ड-लेविन, पूर्वो०, पृ० 80।

[3]जे०बी०ओ०आर०एस०, 16, पृ० 35, टि० 28; एलन, कैम्ब्रिज शोर्टर हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० 33।

[4]बोंगार्ड-लेविन, पूर्वो०, पृ० 81।

मानते हैं कि अशोक की बौद्ध धर्म में रुचि कुमारावस्था से ही थी और धीरे-धीरे बढ़ी थी। कलिंग युद्ध से उत्पन्न ग्लानि और किसी बौद्ध अर्हत् का प्रभाव उसके द्वारा बौद्ध धर्म के स्वीकार के तात्कालिक कारण रहे होंगे।

बौद्ध धर्म के लिए अशोक के कार्य

बौद्ध तीर्थों की यात्राएँ : आभिलेखिक साक्ष्य

बौद्ध धर्म स्वीकार करने के उपरान्त अशोक ने बौद्ध तीर्थस्थलों की यात्रा की। 'दिव्यावदान' में उसकी तीर्थ यात्राओं का विस्तार से वर्णन है। इसमें बताया गया है कि अमात्यों के परामर्श पर अशोक ने बौद्ध तीर्थों की यात्रा के लिए उपगुप्त नामक बौद्ध भिक्षु की सहायता प्राप्त की जो गुप्त नामक गान्धिक का पुत्र था। लेकिन अभिलेखों में उपगुप्त का नाम नहीं मिलता। अपने आठवें शि० ले० में वह बताता है कि उसके पूर्व राजा लोग विहार यात्रायें किया करते थे। इनमें शिकार खेला जाता था और अन्य अनेक प्रकार से आमोद-प्रमोद व मनोरञ्जन किये जाते थे। अशोक ने विहार यात्राओं के स्थान पर धर्म यात्राओं को प्रारम्भ किया। इनमें श्रमणों और ब्राह्मणों का दर्शन करना, उन्हें दान देना, वृद्धों का दर्शन करना, उन्हें दान देना, जनपद के लोगों से भेंट करना, उन्हें धर्म का उपदेश देना और उनकी धर्म-सम्बन्धी जिज्ञासा को शान्त करना आदि कार्य किये जाते थे। अशोक को इनमें आनन्द की अनुभूति होती थी। उसकी धर्म यात्राओं का प्रयोजन धर्म विजय की नीति को सफल बनाना था। अशोक ने अपने राज्याभिषेक के दस साल बाद ही धर्म यात्राओं को प्रारम्भ कर दिया था। अपने आठवें शि० ले० में वह बताता है, कि अपने अभिषेक के दस वर्ष बीत जाने पर वह 'सम्बोधि' गया था और तब से धर्म यात्राओं का प्रारम्भ हुआ था। इसके बाद उसके द्वारा अपने अभिषेक के बीसवें वर्ष में भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान तथा कनकमुनि बुद्ध के स्तूप के दर्शनार्थ यात्रा किये जाने का उल्लेख मिलता है। रुम्मिनदेई-अभिलेख में कहा गया है : "बीस वर्षों से अभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा स्वयं आकर (इस स्थल को) गौरवान्वित किया गया क्योंकि यहाँ शाक्य मुनि उत्पन्न हुए थे। पत्थर की दृढ़ दीवार बनवाई गई और पाषाण स्तम्भ स्थापित किया गया, क्योंकि यहाँ भगवान् उत्पन्न हुए थे। लुम्बिनी ग्राम बलि (नामक कर से) मुक्त किया गया और अष्टभागी बना दिया गया।"[1] पहिले बुद्ध के जन्म-स्थल लुम्बिनी की स्थिति के सम्बन्ध में मतभेद था। अशोक के इस स्तम्भ-लेख से यह सुनिश्चित रूप से ज्ञात हो गया कि आधुनिक रुम्मिनदेई ही प्राचीन लुम्बिनी वन या लुम्बिनी ग्राम है। अपनी यात्रा के उपलक्ष्य में अशोक ने लुम्बिनी ग्राम को 'उद्बलिक' (जिससे बलि न ली जाए) और 'अष्टभागी' कर दिया। प्राचीन भारत में उपज का छठा भाग भूमि-कर के रूप में लिया जाता था। इसी कारण इस भूमि-कर को 'षड्भाग' कहते

[1]गोयल, प्रा० भा० अ० सं०, पृ० 118।

थे। लुम्बिनी ग्राम के प्रति अपनी श्रद्धा और सम्मान प्रदर्शित करने के लिए अशोक ने आदेश दिया कि वहाँ से उपज का केवल आठवाँ भाग कर के रूप में लिया जाए।

रुम्मिनदेई के समीप ही निगालीसागर स्तम्भ है। उस पर भी अशोक का एक लेख उत्कीर्ण है। इस स्थान पर कनकमुनि बुद्ध का एक स्तूप था जिसे अशोक ने दुगुना बढ़वाया था। यह वृद्धि अशोक के अभिषेक के चौदह वर्ष पश्चात् की गई थी और बीसवें वर्ष में अशोक ने स्वयं वहाँ की यात्रा की थी। अशोक का इस स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख इस प्रकार है : "चौदह वर्ष से अभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा कनकमुनि बुद्ध का स्तूप दुगुना बढ़वाया गया (तथा) बीस वर्ष से अभिषिक्त (राजा) द्वारा स्वयं आकर उसको गौरवान्वित किया गया और (शिला-स्तम्भ) खड़ा किया गया।"[1]

अशोक की तीर्थयात्राएँ : साहित्यिक साक्ष्य

अशोक की बौद्ध तीर्थ स्थलों की यात्राओं का विवरण 'दिव्यावदान' में भी मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार इन यात्राओं में अशोक ने बौद्ध आचार्य उपगुप्त से सहायता ली थी। उपगुप्त के साथ वह सर्वप्रथम लुम्बिनी वन गया जहाँ भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था (अस्मिन् महाराज प्रदेशे भगवान् जातः)। 'दिव्यावदान' के ये शब्द रुम्मिनदेई (=लुम्बिनी) में अशोक द्वारा स्थापित स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख के इन शब्दों का स्मरण कराने वाले हैं : हिद भगवे जातेति (इह भगवान् जातः इति) जिसका अर्थ है 'यहाँ भगवान् का जन्म हुआ था'। लुम्बिनी के पश्चात् अशोक ने उपगुप्त के मार्ग-दर्शन में कपिलवस्तु, बोधगया, सारनाथ, श्रावस्ती आदि की यात्रा की। उपगुप्त अशोक को उन स्थानों पर भी ले गया जहाँ बुद्ध के सारिपुत्र, आनन्द, मौद्गलयायन, महाकश्यप आदि शिष्यों के स्तूप थे। स्मिथ ने माना है कि भौगोलिक सुविधा की दृष्टि से अशोक की तीर्थयात्राओं का क्रम इस प्रकार होना चाहिए—लुम्बिनी, कपिल-वस्तु, सारनाथ, श्रावस्ती, बोधगया तथा कुशीनगर।[2] परन्तु यह आवश्यक नहीं है।

संघ को दान

यह तथ्य कि अशोक ने संघ को अतुल दान दिया था, बौद्ध साहित्य में प्रायः उल्लि-खित है। वस्तुतः उसके काल में संघ में जो अशोभनीय वातावरण पैदा हो गया था उसका कारण ही था संघ की भौतिक समृद्धि। बौद्ध साहित्य में अशोक के दानकार्य को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बताया गया है। एक किंवदन्ती के अनुसार अशोक ने बौद्ध भिक्षुओं को अपना समस्त राजपाट दान में दे दिया था। फा-शिएन ने अशोक द्वारा पाटलिपुत्र में स्थित एक स्तम्भ लेख की चर्चा की है जिसके अनुसार अशोक ने भिक्षुओं के संघ को जम्बुद्वीप का दान कर दिया और फिर उसे प्रचुर धन देकर

---

[1]गोयल, प्रा० भा० अ० सं०, पृ० 123।

[2]स्मिथ, अ० हि० इं०, पृ० 167।

वापिस ले लिया। ऐसा उसने तीन बार किया था।[1] इस प्रसंग में 'दिव्यावदान' की एक कथा भी उल्लेख्य है। इसके अनुसार जब अशोक में बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई तो उसने भिक्षुओं से प्रश्न किया—'भगवान् के लिए सबसे अधिक दान किसने दिया है?' भिक्षुओं ने उत्तर दिया—'गृहपति अनाथपिण्डिक ने।' 'भगवान् के लिए उसने कितना दान दिया था?' 'सौ करोड़', भिक्षुओं ने बताया। इस पर अशोक ने सोचा 'मैं भी इतना दान करूँगा।' अपने निश्चय को पूरा करने के लिए उसने हजारों स्तूप, विहार आदि का निर्माण कराया और लाखों भिक्षुओं को भोजन और आश्रय दिया। इस प्रकार उसने धीरे-धीरे नब्बे करोड़ तो भगवान् के नाम पर भिक्षुओं, विहारों और संघ को दान कर दिया, पर दस करोड़ देना शेष बच गया। इस कारण उसे बहुत कष्ट हुआ। अब उसने राजकोष से शेष धन को दान करने का निश्चय किया। परन्तु उस समय कुनाल का पुत्र (अशोक का पौत्र) सम्पदि (सम्प्रति) युवराज था। उससे अमात्यों ने कहा—'कुमार! राजा अशोक अब अल्पकाल तक ही रहेंगे। यह धन कुक्कुटाराम भेजा जा रहा है। राजाओं की शक्ति कोष पर ही निर्भर करती है। इसलिए (धन को कुक्कुटाराम भेजने से) मना कर दो।' कुमार ने भाण्डागारिक को राजकोष से दान देने से मना कर दिया। पहिले अशोक सुवर्णपात्र में भिक्षुओं को भोजन भेजा करता था। इसका निषेध हो जाने पर उसने चाँदी के पात्र में भोजन भेजना चाहा, फिर लोहे के पात्र में और अन्त में मिट्टी के पात्र में। परन्तु हर बार उसे रोक दिया गया। अब उसके पास कुल आधा आँवला शेष बचा। अब अशोक ने अमात्यों और पौरों को बुला कर प्रश्न किया—'इस समय राज्य का स्वामी कौन है?' अमात्य प्रणाम करके बोला—'देव ही पृथिवी के स्वामी हैं।' यह सुनकर अशोक की आँखों से आँसू फूट पड़े। उसने अमात्य से कहा, 'तुम मुझ पर कृपा कर झूठ क्यों कह रहे हो? मैं तो राज्य से च्युत हो गया हूँ। मेरे पास तो केवल यह आधा आँवला ही शेष बचा है जिस पर मेरा प्रभुत्व है। ऐसे ऐश्वर्य को धिक्कार है।' अब अशोक ने वह आधा आँवला ही संघ की सेवा में भेज दिया। शुआन-च्वांग ने कुक्कुटाराम के समीप बने स्थित आमलक स्तूप का उल्लेख किया है जो अशोक द्वारा दान दिये गये आमलक पर बनवाया गया था। लामा तारानाथ ने भी अशोक द्वारा संघ को दिये गये अतुल दान का उल्लेख किया है।[2]

संघभेद दूर करने के प्रयास

बौद्ध संघ में मतभेद भगवान् बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त ही प्रारम्भ हो गये थे। साहित्यिक परम्परानुसार वैशाली में आयोजित द्वितीय बौद्ध संगीति (383 ई० पू०) के पूर्व संघ में दस बातों को लेकर मतभेद था। इनमें कुछ बातें आज बड़ी मामूली

---

[1]लेगे, फा-शिएन, पृ० 80।

[2]दे०, चट्टोपाध्याय, एस०, बिम्बिसार टु अशोक, पृ० 149–52; बोंगार्ड-लेविन, मौर्यन इण्डिया, पृ० 98 अ०।

लगती हैं—यथा, भिक्षुओं को अपने पास नमक रखना चाहिये या नहीं, उन्हें बैठने के लिए बॉर्डरयुक्त चटाई का प्रयोग करना चाहिये या नहीं, भोजन के बाद छाछ पीना चाहिये या नहीं—लेकिन उस युग में भिक्षुओं में इनको लेकर गम्भीर विवाद पैदा हो गये थे। इन मतभेदों में एक ही ऐसा था जो गम्भीर था और वह था संघ को दान में सोना चाँदी स्वीकार करना चाहिये या नहीं। इस मुद्दे को 'विनय' में भी गम्भीरतम बताया गया है और ए० के० वार्डर आदि आधुनिक विद्वान् भी इसे गम्भीरतम मानते हैं।[1] वैशाली की संगीति में इन मतभेदों को दूर करने का प्रयास किया गया था परन्तु ये पूरी तरह समाप्त नहीं हुए थे। वैशाली की संगीति के उपरान्त भिक्षुओं के पारस्परिक वाद-विवादों को लेकर अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ। संघ की वर्द्धमान समृद्धि से आकृष्ट होकर अनेक ऐसे व्यक्ति भी भिक्षु बन गये जिनकी सद्धर्म में श्रद्धा नहीं थी। वे इन मतभेदों में वृद्धि का अतिरिक्त स्रोत बने। अशोक द्वारा संघ को दी गई आर्थिक सहायता से यह समस्या और बढ़ी। इसकी प्रतिध्वनि उसके संघ-भेद अभिलेख में है। इस लेख के सारनाथ संस्करण में कहा गया है :

"देवा [नांप्रिय प्रियदर्शी राजा आज्ञा करते हैं—] [जो पाटलिपुत्र में महामात्र हैं उनके लिए—"मेरे द्वारा संघ संघटित किया गया।] पाट[लिपुत्र में ऐसा करना चाहिए जिससे] किसी के द्वारा संघ का भेदन शक्य न हो। जो भी कोई भिक्षु अथवा भिक्षुणी संघ भंग करेगा, वह श्वेत वस्त्र पहिनाकर अयोग्य स्थान में (अर्थात् भिक्षुओं के लिए निषिद्ध स्थान में) रखा जायेगा (अर्थात् संघ से निकाल दिया जायेगा)। इस प्रकार यह आज्ञा भिक्षु-संघ और भिक्षुणी-संघ में विज्ञप्त होनी चाहिये। इस प्रकार देवानांप्रिय ने कहा, इस प्रकार की एक लिपि (=प्रतिलिपि) आप लोगों के पास चौपाल (कचहरी ?) में सुरक्षित रखी होनी चाहिये। और इसी प्रकार की एक लिपि (=प्रतिलिपि) आप उपासकों (गृहस्थों) के पास सुरक्षित रखें। ये उपासक प्रत्येक उपोसथ दिवस को इस आज्ञा में विश्वास प्राप्त करने के लिए आवें। और उपोसथ के दिन निश्चित रूप से एक-एक महामात्र (अर्थात् प्रत्येक महामात्र बारी-बारी से) इस आज्ञा में विश्वास प्राप्त कराने के लिए और अच्छी तरह समझाने के हेतु पोसथ में आवेगा। और जहाँ तक आपका आहार (=कार्यक्षेत्र) है आप इस आज्ञा का अक्षरशः पालन करते हुए (इस आदेश की प्रतिलिपियों को) सर्वत्र भेजिये। इसी प्रकार सभी कोट्टों (और) प्रान्तों में इस आज्ञा का अक्षरशः पालन करते हुए (प्रतिलिपियों को) भेजिये।"[2]

इस लेख के साँची संस्करण में, जो बहुत खण्डित है, कहा गया है :

"...भंग नहीं किया जा सकता। संघ संघटित किया गया भिक्षुओं और भिक्षुणियों का (तब तक के लिए) जब तक (मेरे) पुत्र-पौत्र (राज्य करेंगे) (और) चन्द्र सूर्य (स्थित रहेंगे)। जो संघ भंग करता है (चाहे वह) भिक्षु (हो) या भिक्षुणी,

[1]द्रे०, गोयल, एस० आर०, ए रिलीजस हिस्ट्री ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, 1, पृ० 297 अ०।

[2]गोयल, श्रीराम, प्रा० भा० अ० सं०, पृ० 114।

(उसे) श्वेत वस्त्र पहिनाकर (भिक्षुओं के लिए) अयोग्य स्थान पर बसा देना चाहिए। मेरी इच्छा है—क्या ?—संघ संघटित (और) चिरस्थायी हो।"[1] इस अभिलेख में आये 'संघ समग्र कर दिया गया' (संघे समगे कटे) शब्दों का अर्थ है कि इसके पूर्व संघ संघटित नहीं था। 'सुत्त विभंग' के अनुसार 'समग्र संघ' का मतलब था 'एक आवास में एक सीमा के भीतर रहने वाले भिक्षुओं का समूह।' संघ को संयुक्त तब माना जाता था जब सब सदस्य अट्ठारह बातों (अट्ठारसहि वत्थूहि) पर एकमत रहते थे, जैसे धंम क्या है, धंम क्या नहीं है, विनय क्या है, विनय क्या नहीं है, अपराध क्या है, अपराध क्या नहीं है, आदि (महावग्ग 10; चुल्लवग्ग 7)। एकता की कसौटी किसी संघ की 'उपोसथ' होता था। सामान्यतः पोसथ और उपोसथ में कोई अन्तर नहीं होता था। बौद्ध व जैन धर्मों में इनका आयोजन प्रायः शुक्ल पक्ष की अष्टमी के दिन होता था जब दोपहर बाद व्रत रखा जाता था। वैदिक धर्म में उपवसथ वैदिक यज्ञ दर्श और पूर्णमास का दिन माना जाता था जो व्रत और उपवास के लिए निश्चित था। 'शतपथ' के अनुसार यजमान यह विश्वास करता था कि उस दिन देवता उसके पास बसते थे (उप+वस) और वह अपनी पत्नी के साथ देवता (=अग्नि) के पास रहता था। वैदिक परम्परा में भी पक्ष का आठवाँ दिन उपवास और कथा-वार्ता का होता था। सारनाथ-अभिलेख में 'पोसथ' और 'उपोसथ' के अर्थ में जरा-सा अन्तर है। यहाँ 'पोसथ' का प्रयोग पक्ष के आठवें दिन उपासकों के संघ में आने पर होने वाली धर्मचर्चा आदि के लिए किया गया है और 'उपोसथ' का भिक्षु और भिक्षुणियों द्वारा उस दिन पातिमोक्ख नियमों के दोहराने के लिए।

'विनय' में बताया गया है कि किस प्रकार के अपराध से संघ में किस प्रकार का भेद होता था—भण्डनम्, कलह, विग्गह, विवाद, संघभेद, संघराजि, संघवत्थानम्, संघनानाकरणम्।[2] अशोक दावा करता है कि उसने संघ भेद को सदैव के लिए समाप्त कर दिया था। यह दावा स्पष्टतः अतिरञ्जित है। 'दीपवंस', 'महावंस' तथा 'समन्त-पासादिका' में अशोक के संघभेद को दूर करने के प्रयास का उल्लेख मिलता है। कहा गया है कि अशोकाराम में सात वर्ष तक उपोसथ नहीं हुआ था क्योंकि श्रद्धावान् भिक्षु संघ में फूट डालने वालों के साथ इसमें सम्मिलित होने के लिए तैयार नहीं थे। संघ में फूट डालने वाले भिक्षु वास्तव में सद्धर्म में श्रद्धा नहीं रखते थे; वे लोभ के कारण भिक्षु बन गये थे। परिणामतः संघ में अशोभनीय व्यवहार व दलबन्दी का बोलबाला हो गया था। अशोक ने इस पर एक उच्चपदाधिकारी को मतभेद समाप्त करके सब भिक्षुओं को उपोसथ में सम्मिलित करने का आदेश दिया। उस अधिकारी ने अशोक के आदेश को गलत समझा और उसने उपोसथ में सम्मिलित न होने वाले भिक्षुओं का वध करना प्रारम्भ कर दिया। इसकी सूचना मिलने पर अशोक

[1]गोयल, प्रा० भा० अ० सं०, पृ० 110।

[2]विस्तार के लिए दे०, मुकर्जी, अशोक, पृ० 196 अ०।

ने मोग्गलिपुत्त तिस्स को भेजा और उन सब भिक्षुओं को, जो विभज्जवाद में विश्वास नहीं करते थे, श्वेत वस्त्र पहिनाकर संघ से निकाल दिया (सेतकानि वत्थानि दत्वा उपपब्बाजेसि) और इस तरह संघ में एकता स्थापित की। इसी समागम में तिस्स ने 'कथावत्थु' की रचना की। इस कथा का समर्थन संघभेद अभिलेखों से भी होता है। परोक्षतः इससे भिक्षुओं का समागम आयोजित किये जाने का समर्थन भी होता है। भाण्डारकर के अनुसार 'संघ को संघटित कर दिया गया है' वाक्य से प्रमाणित होता है कि अशोक के पूर्व अनेक सम्प्रदाय अस्तित्व में आ चुके थे, लेकिन शायद उनमें मतभेद उतना ज्यादा नहीं था जितना सिंहली परम्परा में बताया गया है। दूसरे, यह भी ध्यान देने की बात है कि अशोक के अभिलेख में प्रयुक्त 'संघ' शब्द सापेक्ष है; इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वह एक ही सम्प्रदाय के संघ की बात कह रहा है। शायद अशोक का मन्तव्य मात्र इतना ही था कि किसी एक विहार में एक ही बौद्ध सम्प्रदाय के अनुयायी रहें जिससे उनमें मतभेद के कारण कलह न हो। किसी भिक्षु को मात्र इसलिए दण्डित करना क्योंकि वह अन्य भिक्षुओं से मतभेद रखता था, स्वयं अशोक की सहिष्णुता व समवाय नीति के विरुद्ध होता। परन्तु बौद्ध साहित्य निश्चय ही उसे थेरवादी सम्प्रदाय से सम्बन्धित बताता है। अन्य बौद्ध सम्प्रदाय उसकी विशेष चर्चा तक नहीं करते।[1]

अशोक के संघभेद-अभिलेख में उल्लिखित 'संघ' का अर्थ सम्पूर्ण बौद्ध संघ नहीं, किसी प्रदेश का बौद्ध विहार माना जाना चाहिए। अशोक के इस कथन से ऐसा लगता है कि कोई भी भिक्षु या भिक्षुणी संघभेद कर सकता था। परन्तु 'चुल्लवग्ग' 7.5 में कहा गया है कि संघभेद केवल भिक्षु कर सकता है, भिक्षुणी, उपासक, उपासिकाएँ अथवा शिष्य गण संघभेद का प्रयास मात्र कर सकते हैं। 'महावग्ग' 3.11.5 में भिक्षुणियों के द्वारा संघभेद की सम्भावना मानी गई है। 'पातिमोक्ख' में संघभेद की प्रक्रिया इस प्रकार बताई गई है : समागम (असेम्बली) में संघ में फूट डालने के लिए (संघस्स भेदाय) प्रयास करना, फूट डालने वाले विषयों को बार-बार उठाना, दोषी भिक्षुओं के दोष को उनको अपना पक्षधर मानकर ढकने की कोशिश करना।

अशोक के अनुसार संघभेद के दोषी भिक्षुओं को 'श्वेत वस्त्र पहिनाकर' (ओदतानि दुसानि सनंधापयितु) अर्थात् काषाय वस्त्र उतरवाकर संघ से निकाला जा सकता था। पालि ग्रन्थों में श्वेत वस्त्रों को गृहस्थों और तित्थियों अर्थात् बौद्धेतर सम्प्रदायों के साधुओं का चिह्न बताया गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्वेत वस्त्र पहिनाने पर उन भिक्षुओं का गृहस्थ हो जाना जरूरी नहीं था, वे अन्य सम्प्रदायों में साधुओं के रूप में लौट सकते थे। पालि ग्रन्थों में प्रदत्त उपर्युक्त कथा में 'उपपब्बाजेसि' का अर्थ यह भी माना गया है कि अशोक ने अशोकाराम के श्रद्धाहीन भिक्षुओं को अपने-अपने पुराने सम्प्रदायों के संघों में लौटने के लिए बाध्य किया था। यहाँ यह

[1]बरुआ, इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव अशोक, 2, पृ० 380।

स्मरणीय है कि संघभेद के अपराधी को उसके अपराध की गरिमा के अनुसार दण्ड मिलता था। 'नासनं' या संघ से पूर्ण निष्कासन कठोरतम दण्ड था। किसी सामान्य अपराध का प्रायश्चित न करने या मिथ्यावाद को न छोड़ने पर संघ से निलम्बन (उक्खेपनं) का दण्ड मिलता था तथा प्रायश्चित योग्य असद् व्यवहार के लिए लघुकाल के लिए निष्कासन (पब्बजानं) का दण्ड दिया जाता था। 'समन्तपासादिका' में बुद्धघोष ने 'अभिक्खो आवासो' में चेतियघर (समाधि-स्थल), बोधिघर, समञ्जनी अट्टक (स्नान घर), दारूअट्टक, पानीय माल, वचोकुटी (मलमूत्र त्यागने का स्थान) और द्वार कोट्ठक गिनाये हैं। लेकिन श्वेत वस्त्र पहिनाकर निकाले गये भिक्षुओं को इन स्थानों पर वास करने के लिए नहीं कहा जा सकता था।

संघभेद को रोकने के लिए अशोक द्वारा जारी किया गया आदेश बौद्ध संघ के इतिहास में अनूठा था। इस प्रकार का आदेश किसी और सम्प्रदाय के संघ के लिए जारी नहीं किया गया। अशोक ने अपने को बौद्ध संघ का अध्यक्ष तो नहीं बनाया परन्तु अपने को धर्म के रक्षक के रूप में अवश्य ही प्रस्तुत किया। हिन्दू धर्म में भी माना गया है कि कुल, जाति, जनपद अथवा संघ के नियमों की अवहेलना करने वालों को राजदण्ड दिया जा सकता था।

अशोक के संघभेद-लेखों के आधार पर अनेक विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि बौद्ध संघ में एकता को स्थापित रखने के लिए अशोक ने अपनी राजशक्ति का उपयोग किया था। उसने संघ में फूट डालने वालों के लिए न केवल दण्ड की व्यवस्था की है बरन् महामात्रों को यह आदेश भी दिया है कि वे इस राजकीय आज्ञा को भिक्षु-संघ और भिक्षुणी-संघ में विज्ञप्त करा दें और अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में इसका सर्वत्र पालन कराएँ। भाण्डारकर का कहना है कि अशोक बौद्ध संघ (Buddhist Church) का भी अधिपति बन गया था।[1] राजा और 'पोप' दोनों की शक्तियाँ उसमें निहित थीं। पर बौद्ध संघ का संगठन ऐसा नहीं था कि कोई व्यक्ति उसका अधिपति बन सके। बुद्ध ने संघ का संगठन वज्जिसंघ के लोकतान्त्रिक संगठन के अनुरूप किया था। दूसरे, बौद्ध होते हुए भी अशोक सब धर्मों, सम्प्रदायों और पाषण्डों का आदर करता था, सबको दान देता था और राजा के रूप में किसी के प्रति विशेष पक्षपात नहीं करता था। उसके अभिलेखों में स्थान-स्थान पर ब्राह्मणों और श्रमणों का साथ-साथ उल्लेख है और कहा गया है कि दोनों का सम्मान किया जाए और दोनों को दान दिया जाए। यदि अशोक बौद्ध संघ का अधिपति होता तो उसके लिए ब्राह्मणों और श्रमणों को एक दृष्टि से देख पाना सम्भव नहीं होता।

लेकिन प्रश्न उत्पन्न होता है कि बौद्ध संघ में फूट न पड़ने देने के उद्देश्य से जो आदेश अशोक द्वारा जारी किये गये थे वे उसने किस अधिकार से जारी किये थे?

---

[1] भाण्डारकर, अशोक, पृ० 99।

प्राचीन धर्मग्रन्थों में कहा गया है कि कुल, जाति, जनपद, ग्राम आदि के संघों द्वारा की गई संविदा का उल्लंघन करने वाला राज्य की ओर से दण्डित किया जाए। इस दण्ड का रूप राष्ट्र (देश) से बहिष्कृत कर देना था।[1] कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में देश-संघों, जाति-संघों और कुल-संघों द्वारा किये गये 'समय' (संविदा) का उल्लंघन या अतिक्रमण न किया जाना (अनपाकर्म) बहुत आवश्यक बताया गया है।[2] जो लोग भिक्षु या भिक्षुणी बनकर संघ में सम्मिलित होते थे, उनके लिए विनय के नियमों का पालन करना आवश्यक था। ऐसा न करने वालों के लिए अशोक द्वारा संघ से बहिष्कार का विधान किया जाना स्वाभाविक था। इसके लिए यह मानना आवश्यक नहीं है कि वह संघ का अधिपति बन गया था।

बौद्ध साहित्य का प्रचार

अशोक ने एक राजा के रूप में बौद्ध साहित्य के प्रचार में भी रुचि ली। इस विषय में उसके भाब्रु पाषाण फलक-लेख का साक्ष्य इस प्रकार है : "मगध के राजा प्रियदर्शी ने संघ को अभिवादन करके कहा—(मैं आपके) स्वास्थ्य और सुखविहार की (कामना करता हूँ)। आप लोगों को विदित है (कि) बुद्ध, धंम और संघ में मेरी कितनी श्रद्धा और अनुरक्ति है। भदन्तो ! जो कुछ भी भगवान् बुद्ध द्वारा भाषित है वह सब सुभाषित है। किन्तु भदन्तो ! जो कुछ मुझे दिखाई देता है (अर्थात् प्रतीत होता है) कि 'धर्म चिरस्थायी होगा' योग्य हूँ मैं उसे कहने को (अर्थात् उसे कहना, उसकी घोषणा करना मेरा कर्त्तव्य है)। भदन्तो ! ये धर्म पर्याय हैं—विनयसमुकस, अलियवसानि, अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेयसूत, उपतिसपसिन तथा लाघुलोवाद में मुषावाद का विवेचन करते हुए भगवान् बुद्ध द्वारा जो कुछ भी कहा गया है। भदन्तो ! मैं चाहता हूँ—क्या ?—कि इन धर्मपर्यायों को बहुसंख्यक भिक्षुपाद व भिक्षुणियाँ प्रतिक्षण सुनें और (उन पर) मनन करें। इसी प्रकार उपासक और उपासिकाएँ भी। भदन्तो ! इसी प्रयोजन के लिए इसे लिखवाता हूँ कि (लोग) मेरे अभिप्राय को जान लें।"[3]

हूल्श व बरुआ ने इस लेख में आये 'मागधे संघं' पदांश में 'मागध' को राजा का विशेषण माना है। उन्होंने अपने समर्थन में 'विनय पिटक' (राजा मागधो सेनियो बिम्बिसारो), 'महापरिनिब्बान सुत्तन्त' (राजा मागधो अजातसत्तु) तथा भरहुत-लेख (राजा पसेनदि कोसलो) के उदाहरण दिये हैं। हूल्श 'मागध' का अर्थ 'मगध का'

---

[1]यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥
—मनुस्मृति, 8.220।

[2]'तेन देशजातिकुलसंघानां समयस्यानपाकर्म व्याख्यातम्।
—अर्थशास्त्र, 3.10।

[3]गोयल, श्रीराम, प्रा० भा० अ० सं०, पृ० 90।

करते हैं और बरुआ 'मगधजातीय'। लेकिन राजबली पाण्डेय का कहना है कि अशोक के अभिलेखों में राजा के विशेषण प्रायः पूर्वगामी हैं इसलिए यहाँ 'मागध' शब्द संघ का विशेषण होना चाहिये। परन्तु राजस्थान में उत्कीर्ण कराये गये लेख में 'मगध के संघ' की चर्चा होना सम्भव नहीं लगता। सरकार ने इस पद की संस्कृतच्छाया "राजा (मगधदेशीयः) संघं" दी है। जो भी हो, इस लेख से न केवल यह प्रमाणित है कि अशोक व्यक्तिगत रूप से बौद्ध हो गया था, वरन् इससे यह भी ज्ञात होता है कि उसकी किन बौद्ध ग्रन्थों में रुचि थी और किन ग्रन्थों का उसने प्रचार किया था। उसके अभिलेखों में किसी धर्म के सिद्धान्तों की परम्परा के लिए 'आगम' शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] 'निकाय' शब्द का प्रयोग उसने राजपुरुषों या सम्प्रदायों के वर्गों के लिए किया है, बौद्ध धर्मग्रन्थों के समूह के लिए नहीं। 'पिटक' शब्द उसके लेखों में पूर्णतः अज्ञात है। इससे लगता है कि उसके समय तक 'पिटक' और उसके अन्तर्गत 'निकाय' साहित्य अपने वर्तमान रूप में अस्तित्व में नहीं आये थे। इस लेख में अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रन्थों के लिए 'पलियाय' शब्द का प्रयोग किया है। स्वयं बुद्ध ने यह शब्द धम्म के किसी पक्ष पर प्रदत्त तर्कसंगत उपदेश के लिए सुझाया था।[2] स्वयं 'पालि' शब्द भी 'पलियाय' का सम्बन्धी है। सर्वास्तिवादी साहित्य में 'पर्यायसूत्र' शब्द का प्रयोग हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अशोक के समय पालि त्रिपिटक तो अस्तित्व में नहीं आया था, कुछ धंम पलियाय—धंमपर्याय—थे जिसमें बुद्धवचन सुत्तों के रूप में संगृहीत थे। अशोक ने इनमें कुछ प्रमुख सुत्तों का चयन करके उन्हें लोकप्रिय बनाने की चेष्टा की। इस प्रकार के प्रयास अन्य लोगों ने भी किये जैसा कि 'महा-वंस', 'मिलिन्दपञ्हो' व 'विसुद्धिमग्ग' जैसे ग्रन्थों में उपलब्ध इस प्रकार की सूचियों से स्पष्ट है।

अशोक ने जिन धंमपलियायों का नाम लिया है उनकी पहिचान आजकल उप-लब्ध किन प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों से की जाये, इसके विषय में पर्याप्त विवाद है। कुछ विद्वान् जैसे एन० के० शास्त्री मानते हैं कि इन ग्रन्थों की पहिचान सदैव सन्देहग्रस्त रहेगी क्योंकि अशोक ने सिवाय 'राहुलवाद' के (जिसमें उसके अनुसार मृषावाद का विवेचन था) और किसी ग्रन्थ की विषय-वस्तु की ओर संकेत नहीं किया है। दूसरे, प्राचीन काल में एक ही ग्रन्थ कई नामों से प्रचलित हो जाता था, इसलिए आजकल उनको पहिचानने में परेशानी होना स्वाभाविक है। विभिन्न विद्वानों ने इस विषय में जो मत रखे हैं उनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं :

1. **विनयसमुकस**=संस्कृत नाम 'विनयसमुत्कर्ष'। एन० एस० मित्र : 'दीघ निकाय' का 'सिगालोवाद सुत्त'। जनार्दन भट्ट : 'पातिमोक्ख'। भाण्डारकर : 'सुत्त निपात'

---

[1]दे०, 12वाँ शि० ले०—कलाणागमा।

[2]बरुआ, अशोक एण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स्, भाग 2, पृ० 29।

का 'तुवट्ठकसुत्त'। सरकार : 'अंगुत्तर' का 'अट्ठवसवग्ग'। अन्य : 'धम्मचक्कपवत्तन सुत्त', 'मज्झिम०' का 'सप्पुरिस सुत्त'।

2. **अलियवसानि**=आर्यवंशाः, आर्यवासाः। बरुआ, भाण्डारकर और धर्मानन्द कौशाम्बी : 'अंगुत्तर', 2, का 'महाअरियवंस'। रीज डेविड्स् : 'अंगुत्तर', 3, का 'अरियवंस'।

3. **अनागतभयानि**। बरुआ : यह अंगुत्तर, 3, में है।

4. **मुनिगाथा**। बरुआ : 'सुत्त निपात' का 'मुनिसुत्त'। यह 'दिव्यावदान' में भी 'मुनिगाथा' नाम से उल्लिखित है।

5. **मोनेयसूत**=संस्कृत 'मौनेयसूत्रम्'। कौशाम्बी, भाण्डारकर व सरकार : 'सुत्त निपात' का 'नालक सुत्त'। रीज़ डेविड्स् : 'इतिवत्तुक' का लघु 'मोनेय सुत्त'।

6. **उपतिसपसिने**=संस्कृत 'उपतिष्यप्रश्न'। भाण्डारकर तथा सरकार : 'मज्झिम' का 'रथविनीतसुत्त'। रा० ब० पाण्डेय : 'सुत्त निपात' का 'सारिपुत्त सुत्त'। उपतिस सारिपुत्त का ही दूसरा नाम था। 'रथविनीतसुत्त' में सारिपुत्त के प्रश्न ही दिये गये हैं।

7. **लाहुलोवाद**=संस्कृत नाम 'राहुलवाद'। सेना : 'मज्झिम', 2, का 'अम्बलट्ठिक राहुलोवाद'। 'मज्झिम' में दो राहुलवाद और हैं, 'महाराहुलवाद' और 'चूल (लघु) राहुलवाद'। स्पष्ट है अशोक को 'अम्बलट्ठिक राहुलवाद' के अलावा अन्य राहुलवाद भी ज्ञात थे।

भाण्डारकर ने अशोक के धर्मपर्यायों की पहिचान के लिए बुद्धघोष के 'विशुद्धि-मग्ग' की एक कथा की ओर ध्यान दिया है। इसमें कहा गया है कि एक तरुण भिक्षु तीन मास तक अपनी माता के पास रहने के बावजूद यह कभी नहीं कहता कि "तू मेरी माँ है, मैं तेरा पुत्र हूँ"। वह इस आदर्श को निभा सका क्योंकि उसने बुद्ध द्वारा 'रथविनीतपटिपद्म', 'नालकपटिपद्म', 'तुवटकपटिपद्म' तथा 'महाअरियवंसपटिपद्म' में बताये गये आचार-मार्ग का पालन किया था। इस प्रकार बुद्धघोष इन चार बौद्ध धर्मग्रन्थों की उपयोगिता पर विशेष बल देता है। इनकी पहिचान अशोक के द्वारा प्रचारित 'मोनेयसुत' ('नालकपटिपद्म'), 'उपतिसपसिन' ('रथविनीतपटिपद्म'), 'अलिय-वसानि' ('महाअरियवंसपटिपद्म' तथा 'विनयसमुकस' ('तुवट्ठकपटिपद्म') से की जा सकती है।

अशोक के द्वारा उल्लिखित पलियायों को प्रायः 'ग्रन्थ' कहा जाता है। परन्तु ध्यान रखना चाहिये कि उस समय तक ये 'ग्रन्थ' पुस्तकाकार नहीं थे, मौखिकरूपेण स्मरण किये जाते थे। स्वयं बौद्ध परम्परानुसार बौद्ध उपदेशों को लिखित रूप सर्व-प्रथम लंका में प्रथम शती ई० पू० के अन्त में मिला था। दूसरे, जैसा कि हमने अन्यत्र दिखाया है, ब्राह्मी लिपि का आविष्कार ही अशोक के युग में हुआ था। अतः उसके शासन काल में इन ग्रन्थों का पुस्तकाकार होना असम्भव न होते हुए भी

दुःसम्भाव्य था।[1]

तीसरी बौद्ध संगीति का आयोजन

बौद्ध धर्म की प्रथम संगीति (बुद्धवचन की संगायना के लिए आयोजित महासभा) बुद्ध के महापरिनिर्वाण के दो माह पश्चात् राजगृह में आयोजित हुई थी और दूसरी 385 ई०पू० में वैशाली में। दूसरी संगीति का आयोजन स्थविर यश द्वारा किया गया था। इस संगीति का प्रयोजन यही था कि बौद्धों में जो अनेक सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये थे उन पर विचार कर सत्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाये। इसके अतिरिक्त इस संगीति को उन मतभेदों पर भी विचार करना था जो भिक्षुओं में विनय के नियमों के सम्बन्ध में उत्पन्न हो गये थे। इन नियमों के विषय में प्राच्य और पाश्चात्य भिक्षुओं में गम्भीर मतभेद था। प्राच्य भिक्षु पाटलिपुत्र और वैशाली के निवासी थे और पाश्चात्य भिक्षु कौशाम्बी और अवन्ति आदि के। वैशाली की इस संगीति में विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों के मतभेदों पर विचार किया गया, पर उसे इन्हें दूर करने में सफलता नहीं मिली।

वैशाली की संगीति के उपरान्त अशोक के समय तक बौद्ध धर्म अठारह निकायों (सम्प्रदायों) में विभक्त हो गया था। इनके नाम निम्नलिखित थे—स्थविरवाद, हैमवत, वृजिपुत्रक, धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय, सम्मितीय, षाण्णागरिक, सर्वास्तिवादी, महीशासक, धर्मगुप्त, काश्यपीय, सौत्रान्तिक, महासांघिक, प्रज्ञप्तिवादी, चैतीय, लोकोत्तरवादी, एकव्यावहारिक और गोकुलिक। इनमें से पहिले बारह स्थविरवाद से उद्भूत हुए थे और शेष छः महासांघिक सम्प्रदाय से।

तीसरी बौद्ध संगीति बौद्ध परम्परानुसार अशोक के शासन काल में पाटलिपुत्र के अशोकाराम में महापरिनिर्वाण के 236 वर्ष बाद (दीपवंस) और अशोक के अभिषेक के सत्रहवें वर्ष में (महावंस) आयोजित हुई। इसका अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स था। कुछ बौद्ध ग्रन्थों में यह श्रेय उपगुप्त को दिया गया है। कदाचित् मोद्गलिपुत्र तिष्य और उपगुप्त एक ही व्यक्ति के नाम रहे हों।[2] इस संगीति द्वारा यह प्रयास किया गया कि विविध बौद्ध सम्प्रदायों के मतभेदों को दूर कर सही सिद्धान्तों का निर्णय किया जाये। इसके लिए तिष्य ने एक हजार परम विद्वान् और धार्मिक भिक्षुओं को चुन लिया। इन भिक्षुओं की सभा उसकी अध्यक्षता में नौ मास तक चली। अन्त में उसके द्वारा विरचित 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ को प्रमाण रूप में

---

[1]दे०, गोयल, श्रीराम, 'ब्राह्मी स्क्रिप्ट : एन इन्वेन्शन ऑव दि अर्ली मौर्य पीरियड', एस० पी० गुप्त तथा के० एस० रामचन्द्रन द्वारा सम्पादित 'दि ओरिजिन ऑव ब्राह्मी स्क्रिप्ट' (दिल्ली, 1979) में प्रकाशित शोध-लेख, पृ० 1–53; कौटिल्य एण्ड मेगास्थेनिज, मेरठ, 1985, पृ० 82–100; प्रा० भा० अ० सं०, पृ० 18–30; मागध साम्राज्य का उदय, 1981, पृ० 5–8।

[2]वैडल ने मोग्गलिपुत्त तिस्स की पहिचान उपगुप्त से की है। टॉमस भी इससे सहमत हैं। मतान्तर के लिए दे०, जीन शीलुस्की, पूर्वो०। दे०, ए०न०मौ०, पृ० 245।

स्वीकृत किया गया। यह ग्रन्थ थेरवादी सम्प्रदाय के 'अभिधम्म पिटक' के अन्तर्गत है। 'महावंस' के अनुसार अशोक के समय तक बौद्ध सम्प्रदायों के पारस्परिक झगड़े इतने अधिक बढ़ गए थे कि पाटलिपुत्र के अशोकाराम में सात वर्ष तक 'उपोसथ' भी नहीं हो सका था। बौद्ध संघ को 'चातुर्दिश' माना जाता था अर्थात् कोई भी भिक्षु, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न हो, संघ में सम्मिलित हो सकता था। लेकिन संघ में एक पक्ष में एक बार होने वाले उपोसथ में प्रत्येक भिक्षु को कहना पड़ता था कि विगत पक्ष (पन्द्रह दिन) में उसने 'विनय' विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया है। परन्तु एक बौद्ध सम्प्रदाय के अनुसार जो बातें विहित थीं वे अन्य सम्प्रदायों के अनुसार निषिद्ध थीं। जैसे महासांघिक भिक्षु दोपहर के बाद भोजन करने में कोई दोष नहीं मानते थे पर स्थविरवादी इसे 'विनय' के प्रतिकूल समझते थे। अतः उपोसथ में महासांघिक भिक्षु दोपहर के बाद भोजन ग्रहण करने पर भी यही कहता था कि उसने 'विनय' के नियमों का उल्लंघन नहीं किया है। पर स्थविरवादी भिक्षु उसके इस दावे को स्वीकार नहीं करते थे। इस प्रकार उत्पन्न हुए विवाद के कारण जम्बुद्वीप के विभिन्न विहारों में सात वर्ष तक उपोसथ नहीं हो सका। पाटलिपुत्र के अशोकाराम में भी सात वर्ष से उपोसथ नहीं हुआ था। जब अशोक को यह ज्ञात हुआ तो उसने अपने एक अमात्य को यह आज्ञा दी कि वह अशोकाराम में उपोसथ करवाये। अमात्य ने राजा की आज्ञा को क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया, पर असफल रहा। बहुत से भिक्षु राजा की आज्ञा का पालन करने के लिए तैयार नहीं हुए। इस पर अमात्य को क्रोध आ गया और उसने उन सब भिक्षुओं को तलवार के घाट उतार दिया। इस बात से अशोक बहुत दुखी हुआ। उस समय मोग्गलिपुत्त तिस्स नामक स्थविर अपने ज्ञान और विद्वत्ता के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। अशोक अत्यन्त आदर के साथ तिस्स को पाटलिपुत्र लाया। उसने तिस्स से यह प्रश्न किया कि भगवान् बुद्ध के वास्तविक सिद्धान्त क्या थे। तिस्स ने इसका उत्तर दिया कि सुगत विभज्जवादी थे। इस पर अशोक ने उन सब भिक्षुओं को अशोकाराम से बहिष्कृत करा दिया जो विभज्जवाद से इतर किसी अन्य सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इसके पश्चात् एक सहस्र विभज्जवादी भिक्षुओं की संगीति अशोकाराम में हुई जिसकी अध्यक्षता तिस्स ने की। इस संगीति द्वारा 'कथावत्थु' को बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया। विभज्जवाद स्थविरवाद को ही कहते थे। अतः तिस्स के नेतृत्व में हुई संगीति ने स्थविरवाद का समर्थन किया था।

तृतीय बौद्ध संगीति का विशद रूप से वर्णन 'महावंस' के पाँचवें परिच्छेद में मिलता है। पर इसका उल्लेख न तो 'दिव्यावदान' आदि संस्कृत ग्रन्थों में मिलता है और न चीनी यात्रियों के विवरणों में। अशोक के अभिलेखों में भी कहीं इसका उल्लेख नहीं है। इससे कुछ विद्वानों ने इस संगीति की ऐतिहासिकता में सन्देह किया है। पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि इस संगीति में केवल विभज्जवाद या स्थविरवाद के भिक्षु ही सम्मिलित हुए थे। अतः अन्य सम्प्रदायों के ग्रन्थों में इसकी उपेक्षा किया

जाना स्वाभाविक था। इसी तरह इसका अभिलेखों में अनुल्लेख भी व्याख्येय है क्योंकि वस्तुत: इसका सम्बन्ध संघ की गतिविधियों से था, यह राज्य की गतिविधियों का अंग नहीं थी।

हाल ही में बोंगार्ड-लेविन ने ध्यान दिलाया है कि सिंहली परम्परा में यह स्पष्टत: कहा गया है कि अपने अधिकारी द्वारा अशोकाराम में बौद्ध भिक्षुओं की हत्या और मोग्गलिपुत्त तिस्स से अपनी भेंट के बाद अशोक ने बौद्ध भिक्षुओं की एक सभा आयोजित करके संघ में एकता स्थापित की थी और उन भिक्षुओं को, जो बुद्धवचन में वास्तव में श्रद्धावान् नहीं थे, संघ से निकाल दिया था। इसके बाद वह संघ का भार तिस्स पर छोड़कर राजधानी लौट गया था। उसके लौट जाने के बाद तिस्स ने विभज्जवादी भिक्षुओं की संगीति आयोजित की थी जो तृतीय संगीति कहलाई। बोंगार्ड-लेविन ने संघभेद स्तम्भ-लेख के साक्ष्य को अशोक द्वारा आयोजित भिक्षु-सभा से जोड़ा है। इसका उद्देश्य मात्र संघभेद दूर करना था। विभज्जवादियों की संगीति इससे सर्वथा भिन्न घटना थी। बोंगार्ड-लेविन ने उत्तरी परम्पराओं में उल्लिखित पञ्चवार्षिक सभाओं का, जिन्हें अशोक द्वारा आयोजित बताया गया है, सम्बन्ध भी दक्षिणी अनुश्रुतियों की उपर्युक्त भिक्षु-सभा से जोड़ा है।

तृतीय संगीति द्वारा धर्म-प्रचार

तृतीय संगीति के कारण बौद्ध धर्म में नये उत्साह का संचार हुआ। इसके परिणाम-स्वरूप विविध देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए अनेक प्रचारक भेजे गये। 'दीपवंस' और 'महावंस' के अनुसार इन प्रचार-मण्डलियों के नेता और उनके प्रचार-क्षेत्र इस प्रकार थे :

देश	प्रचारक-मण्डल के नेता
कश्मीर-गन्धार	मज्झन्तिक (मध्यान्तिक)
महिसमण्डल	महादेव
वनवासी (वनवास)	रक्खित (रक्षित)
अपरन्तक (अपरान्तक)	धम्मरक्खित (धर्मरक्षित)
महारट्ठ (महाराष्ट्र)	महाधम्मरक्खित (महाधर्मरक्षित)
योनलोक (यवन देश)	महारक्खित (महारक्षित)
हिमवन्त प्रदेश	मज्झिम
सुवर्णभूमि	सोण और उत्तर
लङ्का द्वीप	महेन्द्र, सम्बल, भद्रशाल आदि।

'महावंस' और 'दीपवंस' की इस अनुश्रुति में जिन देशों के नाम दिये गये हैं उनमें लङ्का द्वीप, सुवर्णभूमि और यवन देश अशोक के साम्राज्यों के अन्तर्गत नहीं थे। हिमवन्त प्रदेश में भी कुछ ऐसे क्षेत्र हो सकते हैं जो उसके अधिकार में न रहे

हों। शेष सब देश मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत थे। महिस मण्डल की भौगोलिक स्थिति स्पष्ट नहीं है। कुछ विद्वानों ने इसे वर्तमान कर्नाटक में माना है और कुछ ने नर्मदा नदी के दक्षिणवर्ती प्रदेश में। वनवासी उत्तरी कनारा क्षेत्र में था और अपरान्तक बम्बई के उत्तर में समुद्र तट के साथ-साथ। महारट्ठ वर्तमान महाराष्ट्र का द्योतक है या रठिक (राष्ट्रिक) और पितनिक (पैठानिक) जनपदों का। कश्मीर और गन्धार भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश थे ही। यवन जनपद से आशय या तो अशोक के साम्राज्य में स्थित यूनानी जनपद से है और या पश्चिमी एशिया के यूनानी राज्यों से। सुवर्णभूमि उस प्रदेश को कहते थे जहाँ अब पेगू और मॉलमीन हैं और जो अब बर्मा देश के अन्तर्गत हैं। ताम्रपर्णी लंका या सिंहल द्वीप ही है।

बौद्ध अनुश्रुति के प्रचारक-मण्डलों के नेताओं का अस्तित्व कुछ प्राचीन लेखों से भी ज्ञात है। साञ्ची के दूसरे स्तूप में पाई गई एक पाषाण धातुमंजूषा (वह संदूकड़ी जिसमें अस्थि या फूल रखे गये हों) पर 'मोग्गलिपुत्त' उत्कीर्ण है।[1] एक अन्य धातु-मंजूषा के तले पर तथा ढक्कन के ऊपर और अन्दर हारितिपुत, मझिम तथा सब-हिमवतचरिय नाम खुदे हैं। स्पष्टतः इन मंजूषाओं में इन नामों के उपर्युक्त धर्म-प्रचारकों के धातु (अस्थि या फूल) रखे थे और वह स्तूप इन्हीं के ऊपर बनाया गया था। साञ्ची से पाँच मील की दूरी पर एक अन्य स्तूप में भी धातु मञ्जूषाएँ पाई गई हैं जिनमें से एक पर कस्सपगोत और दूसरी पर दुन्दुभिसर के दामाद गोतिपुत के नाम उत्कीर्ण हैं। 'महावंस' में हिमवन्त प्रदेश में धर्म प्रचार के लिए भेजे गये प्रचारकों में से केवल एक मज्झिम का नाम दिया गया है। पर 'दीपवंस' में उसके अतिरिक्त कस्सपगोत और दुन्दुभिसर के भी नाम हैं। निस्सन्देह कस्सपगोत और दुन्दुभिसर मज्झिम के साथ हिमवन्त प्रदेशों में धर्म प्रचार के लिए गये थे। अशोक के अभिलेखों में कम्बोज, गन्धार, योन जनपद, नाभक-नाभपंक्ति, भोज, राष्ट्रिक, पितनिक, आन्ध्र और पुलिन्द आदि जातियों में धर्म महामात्रों की नियुक्ति का उल्लेख है और अन्तियोक आदि पाँच यवन राजाओं के राज्यों में तथा चोल, पाण्ड्य, सतियपुत, केरलपुत और ताम्रपर्णी में 'धंम विजय' के लिए अन्तःमहामात्रों की नियुक्ति तथा दूत भेजे जाने की चर्चा है। ये धर्ममहामात्र उन प्रचारकों से भिन्न लगते हैं जिन्हें तृतीय संगीति की समाप्ति पर तिष्य ने धर्म-प्रचार के लिए भेजा था। फिर भी अशोक द्वारा धंम विजय के लिए जो 'पराक्रम' (प्रयत्न) किया गया वह बौद्ध धर्म के प्रचारकों के लिए बहुत सहायक हुआ होगा।

'महावंस' में उल्लिखित धर्म-प्रचारकों में एक योन धम्मरक्खित था। यह स्थविर स्पष्टतः यवनजातीय था और इसे अपरान्तक देश में धर्म प्रचार के लिए भेजा गया था। अशोक के काल तक अनेक यवनों ने बौद्ध धर्म अपना लिया था और उनमें से

[1]यह मोग्गलिपुत्त साहित्य का मोग्गलिपुत्त तिस्स नहीं हो सकता क्योंकि यह दुदभिसर के उत्तराधिकारी गोतिपुत्त का शिष्य था और यह दुदभिसर वही हो सकता है जो हिमालय प्रदेश गया था (ए०न०मौ०, पृ० 245)।

कुछ ने संघ में इतनी ऊँची स्थिति प्राप्त कर ली थी कि उनमें से किसी को एक प्रचारक-मण्डल का नेता बनाया जा सके। 'महावंस' के नामों में चार प्रचारक-मण्डलों के नेताओं के नाम परस्पर मिलते-जुलते हैं : रक्खित (वनवासी), योन धम्म-रक्खित (अपरान्तक), महारक्खित (यवन देश) और महाधम्मरक्खित (महाराष्ट्र)। इससे बहुत से विद्वानों को यह सन्देह होता है कि 'महावंस' की अनुश्रुति कल्पिनाश्रित है। पर धर्माचार्यों के नामों का इस प्रकार एक सदृश होना सामान्य बात थी।

(1) **लंका**—लंका जाने वाले प्रचारक-मण्डल का नेता थेर महामहिन्द या महेन्द्र था। वह अशोक का पुत्र था। उसके साथ कम-से-कम चार भिक्षु और गये थे : इट्टिय, उत्तिय, सम्बल और भद्दसाल (भद्रशाल)। भिक्षु बनते समय महेन्द्र की आयु बीस साल की थी और उसकी बहिन संघमित्रा की अट्ठारह साल। उस समय लंका का राजा 'देवानांप्रिय तिष्य' था। अशोक से उसकी मित्रता थी। राजगद्दी पर बैठने के पश्चात् तिष्य ने अपना एक दूतमण्डल अपने भाञ्जे महारिट्ठ के नेतृत्व में अशोक के पास भेजा। पाँच मास तक लंका का दूतमण्डल पाटलिपुत्र में रहा। इसके बाद जिस मार्ग से वह आया था उसी से लंका वापिस लौट गया। उसके द्वारा अशोक ने लंका नरेश से बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का आग्रह किया।[1] यही सन्देश महेन्द्र भी ले गया। लंका में महेन्द्र जिस जगह उतरा उसका नाम महिन्दतल पड़ गया। कहा जाता है कि तिष्य ने चालीस हजार साथियों के साथ महेन्द्र का स्वागत किया और उसका उपदेश सुनकर बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। तदनन्तर उसकी पुत्री राजकुमारी अनुला ने भी यह इच्छा प्रकट की कि वह अपनी पाँच सौ सहचरियों के साथ बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण करे। पर उसे निराश होना पड़ा क्योंकि स्त्री को दीक्षा कोई भिक्षुणी ही दे सकती थी। इस पर तिष्य ने महारिट्ठ के नेतृत्व में एक दूतमण्डल पाटलिपुत्र पुनः भेजा। उसने महेन्द्र की बहिन संघमित्रा को लंका आने के लिए निमन्त्रित किया ताकि कुमारी अनुला और लंकानिवासिनी अन्य महिलाएँ बौद्ध धर्म की दीक्षा ले सकें। वह बोधिवृक्ष की एक शाखा को भी अपने साथ लंका लाया। लंका में बोधिवृक्ष की शाखा का बड़े सम्मान के साथ आरोपण किया गया। अनुराधपुर के महाविहार में यह विशाल वृक्ष अब तक विद्यमान है और संसार के सबसे पुराने वृक्षों में से एक है। लंका आकर संघमित्रा ने राजकुमारी अनुला और उसकी पाँच सौ सखियों को दीक्षित किया। अशोक ने तिष्य के पास बुद्ध का भिक्षापात्र और अनेक 'धातु' (शरीर के अवशेष) भी भेजीं जिन पर स्तूपों तथा चैत्यों का निर्माण करवाया गया। तिष्य की श्रद्धा के कारण लंका में बहुत-से बौद्ध विहारों, चैत्यों आदि का निर्माण हुआ और शीघ्र ही लंकावासी बुद्ध के अनुयायी हो गये। संघमित्रा के

[1]अहं बुद्धञ्च धम्मञ्च सङ्घञ्च सरणं गतो।
उपासकत्तं वेदेसि सक्य पुत्तस्स सासने॥
त्वं पिमानि रतनानि उत्तमानि नरुत्तम।
चित्तं पसादयित्वान सद्धाय सरणं भज॥—महावंस, 11.33-34।

निवास के लिए तिष्य ने जो विहार बनवाया था उसी में संघमित्रा की 79 वर्ष की आयु में मृत्यु हुई। महेन्द्र की मृत्यु उससे एक साल पूर्व 80 वर्ष की आयु में हो चुकी थी। 'महावंस' और 'दीपवंस' के अनुसार महेन्द्र अशोक का पुत्र था पर 'दिव्यावदान' में महेन्द्र को अशोक का भाई कहा गया है। शुआन-च्वांग ने भी महेन्द्र को अशोक का अनुज लिखा है। इसके और लंका के इतिवृत्त में एक भेद यह भी है कि इसके अनुसार महेन्द्र दक्षिण भारत में प्रचार करते हुए गया था, सीधे लंका देश नहीं। 'दिव्यावदान' के अनुसार महेन्द्र कावेरी के तटवर्ती प्रदेश में भी गया था, और वहाँ उसने एक विहार का निर्माण कराया था। सातवीं सदी में शुआन-च्वांग ने इस विहार को देखा था।

अनेक इतिहासकारों की मान्यता है कि सिंहली अनुश्रुति में बहुत-सी बातें केवल कल्पनाश्रित हैं। 'महावंस' के अनुसार तो स्वयं बुद्ध ने भी सिंहल की यात्रा की थी जबकि बुद्ध के धर्म-प्रचार का क्षेत्र भारत के मध्यदेश तक सीमित था। बौद्ध धर्म के इतिहास में अशोक के असाधारण महत्त्व के कारण सिंहलवासियों ने उसका सम्बन्ध अपने साथ जोड़ने का प्रयास किया होगा। परन्तु हमें यह शंकावाद पूरी तरह तर्कसम्मत नहीं लगता। हमें ऐसा लगता है कि 'महावंस' आदि में संकलित प्राचीन बौद्ध अनुश्रुतियों पर पूरी तरह श्रद्धावान् तो नहीं हुआ जा सकता पर साथ ही इनकी पूर्णतः उपेक्षा भी अनुचित होगी। महेन्द्र और संघमित्रा की कथा स्थूलतः तो सही होना ही चाहिये।[1] अजन्ता के एक भित्तिचित्र में अशोक द्वारा लंका में दूतमण्डल भेजे जाने का चित्रण हुआ है, ऐसा प्रायः माना जाता है।[2]

(2) **हिमवन्त देश**—स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने हिमालय क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए जो प्रचारक भेजे थे उनका नेता 'महावंस' में मज्झिम को बताया गया है। 'दीपवंस' में मज्झिम के अतिरिक्त कस्सपगोत और दुन्दुभिसर के नाम भी हैं। 'महावंस' की टीका में दो अन्य भी नाम दिये गये हैं, सहदेव और मूलकदेव। साञ्ची के एक स्तूप के समीप उपलब्ध हुई धातुमंजूषाओं पर हिमवताचार्य के रूप में मज्झिम, कस्सपगोत और दुन्दुभिसर के नाम उत्कीर्ण मिले हैं। इससे सिंहली कथा की सत्यता प्रमाणित होती है। 'महावंस' के अनुसार बहुत-से गन्धर्वों, यक्षों और कुम्भण्डकों ने वहाँ बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की। पण्डक नाम के एक यक्ष ने अपनी पत्नी यक्षी हारिती के साथ धर्म के प्रथम फल को प्राप्त किया और अपने पाँच सौ पुत्रों को यह उपदेश दिया—'जैसे तुम अब तक क्रोध करते आये हो, वैसे अब भविष्य में मत करना। क्योंकि सब प्राणी सुख की कामना करते हैं, अतः अब कभी किसी का घात न करो। जीवमात्र का कल्याण करो। सब मनुष्य सुख के

---

[1]ए०न०मौ०, पृ० 246।

[2]मुकर्जी, अशोक, हिन्दी, पृ० 30। अशोक के लंका के साथ सम्बन्ध से संकेतित है कि उसके पास एक जलबेड़ा भी था।

साथ रहें ।'[1]

वैसे कश्मीर और गन्धार देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए स्थविर मज्झन्तिक के नेतृत्व में एक प्रचारक-मण्डल भेजा गया था। 'महावंस' के अनुसार उस समय इन देशों में 'आरवाल' नामक नागराज का शासन था। अपनी शक्ति से वह एक महान् जलप्रवाह द्वारा कश्मीर और गन्धार की फसलों को नष्ट करने में तत्पर था। उस नागराज ने स्थविर मज्झन्तिक को भयभीत करने का प्रयत्न भी किया। परन्तु मज्झन्तिक ने अपनी उत्कृष्ट अलौकिक शक्ति से उसका सामना किया। नागराज के हृदय में स्थविर के प्रति प्रगाढ़ आस्था उत्पन्न हो गई और उसने चौरासी हजार नागों के साथ बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। इस कथा में कश्मीर के इतिहास की एक ऐसी घटना की स्मृति बहुत अस्पष्ट रूप से सुरक्षित लगती है जिसका सम्बन्ध वहाँ के मूल नाग निवासियों के भारत के धर्म और संस्कृति के प्रभाव में आने के साथ हो सकता है। शुआन-च्वांग ने कश्मीर में अशोक द्वारा बनवाए गये चार स्तूप देखे थे। उसकी यात्रा के विवरण में भी कश्मीर में बौद्ध धर्म के प्रचार का श्रेय मध्यान्तिक (मज्झन्तिक) को ही दिया गया है। उसके अनुसार एक बार जब भगवान् बुद्ध उद्यान देश में एक दानव को परास्त कर आकाश-मार्ग से मध्यदेश (भारत) को वापस लौट रहे थे, तब कश्मीर के ठीक ऊपर आने पर उन्होंने अपने शिष्य आनन्द को बताया था; "मेरे निर्वाण के पश्चात् अर्हत मध्यान्तिक इस देश में एक राज्य स्थापित करेगा, यहाँ के निवासियों को सभ्य बनायेगा और अपने प्रयत्न से यहाँ बुद्ध-शासन का विस्तार करेगा।"[2]

तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार भी कश्मीर में बौद्ध धर्म का प्रचार मध्यान्तिक (मज्झन्तिक) द्वारा ही किया गया था। हिमवन्त प्रदेश में प्रचार के लिए गये स्थविरों के नामों में साञ्ची से प्राप्त धातु-मंजूषाओं में 'हिमवताचार्य' विशेषण का प्रयोग भी इन बौद्ध कथाओं की सत्यता का परिचायक है।

नेपाल में भी अशोक के शासन काल में बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ था। नेपाल में ऐसे अनेक मन्दिर विद्यमान हैं जिन्हें अशोक द्वारा निर्मित माना जाता है। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने नेपाल की यात्रा भी की थी, और इस यात्रा में उसकी पुत्री चारुमती भी उसके साथ थी। उसका विवाह नेपाल के ही एक 'क्षत्रिय' देवपाल के साथ हुआ था। असम्भव नहीं है कि स्थविर मज्झिम के नेतृत्व में जो प्रचारक हिमवन्त प्रदेश में बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए गये हों, वे या उनमें से कुछ नेपाल भी गये हों और वहाँ बौद्ध धर्म का सूत्रपात इन प्रचारकों द्वारा किया

[1]मा दानि कोधं जनयित्थ इतो उद्धं यथा पुरे
सस्सघातं च मा कत्थ, सुखकामा हि पाणिनो ।।
करोथ मेत्तं सत्तेसु, वसन्तु मनुजा सुखं ।
—महावंस, 12.22–23 ।

[2]बील, रिकार्ड्स्, 1, पृ० 149–50 ।

गया हो। नेपाली अनुश्रुतियों के अनुसार वहाँ की पुरानी राजधानी पाटन या ललित-पत्तन अशोक ने ही बसाई थी। पाटन में तथा उसके चारों ओर अशोक ने बहुत-से स्तूप बनवाये थे जिनमें से पाँच अब तक विद्यमान हैं। अशोक की पुत्री चारुमती ने अपने पति देवपाल के नाम पर वहाँ देवपत्तन नामक नगर बसाया था।

चीन की एक प्राचीन कथा के अनुसार 217 ई०पू० में कुछ बौद्ध प्रचारक छिन् वंशीय सम्राट् शी हुआंग-टी के दरबार में गये थे। इस अनुश्रुति को प्राय: विश्वसनीय नहीं माना जाता क्योंकि इतने अधिक प्राचीन काल में भारतीय भिक्षुओं का सुदूर-वर्ती चीन जाना कठिन था। परन्तु यह बात एकदम असम्भव भी नहीं थी। दूसरी शती ई० पू० में भारत और चीन में व्यापार सम्बन्ध थे।[1] अत: 246 ई० पू० के लगभग स्थविर मज्झिम के नेतृत्व में हिमवन्त प्रदेशों में गये भिक्षुओं में कुछ चीन भी पहुँच गये हों तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

असम अशोक के साम्राज्य का अंग नहीं था। वहाँ अशोक का कोई स्मारक नहीं मिला है। शुआन-च्वांग के समय तक वहाँ कोई बौद्ध स्मारक था ही नहीं।

यवन देश—भारत के पश्चिम में अन्तियोक आदि पाँच यवन राजाओं के राज्यों में अशोक ने धंम विजय का प्रयास किया था। इसलिए जब स्थविर महारक्खित अपने प्रचारक-मण्डल के साथ वहाँ धर्म प्रचार के लिए गया होगा तो उसने अपने लिए मैदान तैयार पाया होगा। 'महावंस' के अनुसार "स्थविर महारक्खित 'योन-विसय' (यवन देश) में गया। वहाँ उसने जनता को 'कालकाराम सुत्तन्त' का उपदेश दिया। एक लाख सत्तर हजार मनुष्यों ने बुद्ध मार्ग के फल को प्राप्त किया और दस हजार ने प्रव्रज्या ग्रहण की।" ईसा के जन्म के समय पश्चिमी एशिया के प्रदेशों में ईसीन और थेराथून नाम के विरक्त लोग रहते थे। ईसा स्वयं भी इनके ससंर्ग में रहे थे।[2] ये साधु शायद स्थविर महारक्खित के ही उत्तराधिकारी थे। सीस्तान में हेलमण्ड के समीप एक बौद्ध विहार के भग्नावशेष इस बात का प्रमाण हैं कि कभी ईरान (पर्शिया) में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ था। मनीशियन नामक सम्प्रदाय पर बौद्ध धर्म का स्पष्ट प्रभाव था। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक 'मणि' को 'तथागत' कहा जाता था और इसका धर्मग्रन्थ एक बौद्ध 'सुत्त' के रूप में लिखा गया था। इस धर्मग्रन्थ में बुद्ध और बोधिसत्त्व का भी उल्लेख है।[3] अलबरूनी ने लिखा है कि "पुराने समय में खुरासान, पर्शिया, ईराक, मोसल और सीरिया की सीमा तक के सब प्रदेश बौद्ध धर्म के अनुयायी थे।"[4] अलबरूनी का समय १०वीं-११वीं शती है। उसके समय तक इन सब देशों में इस्लाम का प्रचार हो चुका था, पर तब भी यह स्मृति नष्ट नहीं हुई थी कि विगत समय में ये सब देश बौद्ध थे। अत: सम्भव है वहाँ बौद्ध

[1]को०हि०ई०, 2, पृ० 766।

[2]ए०इं०यू०, पृ० 629–31।

[3]वही।

[4]साचऊ, अलबरूनीज इण्डिया, पृ० 21।

धर्म का प्रचार अशोक के काल में स्थविर महारक्खित द्वारा किया गया हो।

सुवर्णभूमि—बंगाल की खाड़ी के पूर्व में स्थित प्रदेशों को प्राचीन समय में 'सुवर्णभूमि' कहा जाता था। दक्षिणी बर्मा का प्राचीन नाम सुवर्णभूमि ही था। मलय प्रायद्वीप और उससे परे दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रदेशों को भी सुवर्णभूमि प्रायः कहा जाता था। जातक कथाओं के अनुसार चम्पा के व्यापारी जलमार्ग द्वारा सुवर्णभूमि से व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। 'महावंस' के अनुसार स्थविर उत्तर और सोण सुवर्णभूमि में धर्म-प्रचार के लिए गये थे। उस समय वहाँ ज्यों ही कोई राजकुमार उत्पन्न होता था, एक राक्षसी उसे खा जाती थी। स्थविरों ने अपने अलौकिक प्रभाव से राजकुमार का भक्षण करने वाली राक्षसी को वश में कर लिया और अभय की स्थापना कर वहाँ के लोगों को 'ब्रह्मजालसुत्त' का उपदेश दिया। स्थविरों के उपदेश से प्रभावित होकर एक हजार पाँच सौ पुरुषों और इतनी ही स्त्रियों ने संघ में प्रवेश किया। क्योंकि सुवर्णभूमि के राजकुमार का जीवन सोण और उत्तर के प्रयत्न से बचा था, अतः वह और उसके बाद के सब राजकुमार 'सोणुत्तर' कहाए। बर्मा, मलाया, स्याम, सुमात्रा आदि दक्षिण-पूर्वी एशियायी देशों में बौद्ध धर्म लोकप्रिय रहा है। यहाँ के अनेक प्रदेशों में तो अब भी बौद्ध धर्म की ही प्रधानता है। इनमें बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रारम्भ अशोक के शासन काल में स्थविर सोण और उत्तर के नेतृत्व में हुआ था, 'महावंस' की अनुश्रुति का यही अभिप्राय है।[1]

खोतन—मौर्य युग में भारत का मध्य एशिया से घनिष्ठ सम्बन्ध था। गत दशकों में तुर्किस्तान, विशेषतः खोतन में जो खुदाई हुई है उससे अनेक बौद्ध मूर्त्तियाँ, स्तूप और विहार आदि प्रकाश में आये हैं। इनसे स्पष्ट है कि यह प्रदेश प्राचीन काल में बृहत्तर भारत का अंग था। फा-शिएन तथा शुआन-च्वांग की यात्राओं के विवरण इसका अतिरिक्तरूपेण समर्थन करते हैं।

सिंहली अनुश्रुतियों में किसी ऐसे प्रचारक-मण्डल का उल्लेख नहीं है जो खोतन में बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ गया हो। लेकिन तिब्बती और चीनी अनुश्रुतियों से इसका सबल संकेत मिलता है कि बौद्ध धर्म वहाँ अशोक के काल में ही प्रविष्ट हो गया था। तिब्बती अनुश्रुति संक्षेप में इस प्रकार है : एक बार शाक्यमुनि बुद्ध खोतन आये। उनके प्रभाव से खोतन की झील सूख गई और खोतन देश मनुष्यों के निवास के योग्य हो गया। भगवान् बुद्ध की मृत्यु के 234 वर्ष बाद भारत में धर्माशोक का राज्य था। वह पहिले बड़ा क्रूर और अत्याचारी था पर बाद में धार्मिक हो गया। इस समय तक खोतन की झील सूख चुकी थी पर देश आबाद नहीं हुआ था। अभिषेक के तीसवें साल में अशोक की महारानी के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ज्योतिषियों ने बताया कि यह बालक पिता के जीवन काल में ही राजा बन जायेगा। यह जानकर

[1]फ्लीट के मतानुसार बौद्ध अनुश्रुतियों की सुवर्णभूमि की पहिचान बंगाल के कर्णसुवर्ण या सोन नदी के प्रदेश से की जानी चाहिए (जे०आर०ए०एस०, 1910, पृ० 428)। यह मत स्पष्टतः अग्राह्य है।

अशोक ने आज्ञा दी कि इस बालक का परित्याग कर दिया जाये। परन्तु इसके पश्चात् भी भूमि माता द्वारा बालक का पालन होता रहा। इसी कारण उसका नाम कु-स्तन (कु=भूमि जिसके लिए स्तन हो) पड़ गया। उस समय चीन के एक प्रदेश में बोधिसत्त्व का शासन था। उसके 999 पुत्र थे। बोधिसत्त्व ने वैश्रवण से प्रार्थना की कि उसके एक पुत्र और हो जाये ताकि उसके पुत्रों की संख्या पूरी एक सहस्र हो जाये। वैश्रवण कुस्तन को चीन ले गया और उसे बोधिसत्त्व के पुत्रों में सम्मिलित कर दिया। एक दिन जब कुस्तन का बोधिसत्त्व के पुत्रों से झगड़ा हुआ तो उन्होंने उससे कहा—'तू सम्राट् का पुत्र नहीं है।' यह सुनकर कुस्तन अपने दस हजार साथियों के साथ पश्चिम की ओर चल पड़ा और खोतन देश के मेस्कर नामक स्थान पर जा पहुँचा। इधर राजा धर्माशोक का एक मन्त्री, जिसका नाम यश था, राजा की आँखों में खटकने लगा। यश को जब यह बात मालूम हुई तो उसने अपने सात हजार साथियों को साथ लेकर भारत से प्रस्थान कर दिया और खोतन देश मे उ-थेन नदी के दक्षिणी तट पर जा पहुँचा। वहाँ उसकी भेंट कुस्तन से हुई। कुस्तन ने अपने चीनी साथियों के साथ और यश ने अपने भारतीय साथियों के साथ परस्पर सहयोग करके इस प्रदेश को आबाद किया। कुस्तन राजा बना और यश उसका मन्त्री। कुस्तन के चीनी साथी उ-थेन नदी के निचले भाग में बसे और यश के भारतीय साथी उ-थेन के उपरले भाग में। बीच के क्षेत्र में चीनी और भारतीय साथ-साथ निवास करने लगे। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार इसीलिए खोतन देश आधा चीनी है और आधा भारतीय। अतः वहाँ के निवासियों की भाषा न तो भारतीय ही है और न चीनी ही, अपितु दोनों का मिश्रण है। अक्षर बहुत-कुछ भारतीय लिपि से मिलते-जुलते हैं, लोगों की आदतें चीन से प्रभावित हैं एवं धर्म और भाषा भारत से मिलते हैं।[1] आजकल भी खोतन प्रदेश के निवासियों के चेहरे-मुहरे कश्मीरियों से मिलते-जुलते हैं।[2]

बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार कुस्तन जब बोधिसत्त्व को छोड़कर नये राज्य की खोज में चला था तो उसकी आयु केवल बारह वर्ष थी। जब उसने ली-युल (खोतन) राज्य की स्थापना की, तब वह सोलह साल का हो चुका था। भगवान् बुद्ध के निर्वाण से ठीक 234 वर्ष बाद खोतन राज्य की स्थापना हुई। तब अशोक जीवित था। अतः ज्योतिषियों की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई कि कुमार कुस्तन अपने पिता के जीवन काल में ही राजा बन जायेगा। इस प्रकार इस तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार अशोक के समय में खोतन में भारतीयों द्वारा अपना एक उपनिवेश बसाया गया था जिसमें उन्हें चीनी जनों का सहयोग प्राप्त था। कुस्तन और यश धर्म-प्रचारकों के रूप में खोतन नहीं गये थे। वे वहाँ उपनिवेश बसाने के लिए गये थे। कुस्तन के अशोक-पुत्र होने की बात सन्देहास्पद हो सकती है, पर यह तथ्य कि

---

[1]राकिहल, लाइफ ऑव बुद्ध, अध्याय 8; बील, रिकार्ड्स्, 1, पृ० 143; 2, पृ० 309।

[2]ए० न० मौ०, पृ० 250।

खोतन के इतिहास का प्रारम्भ भारत के एक उपनिवेश के रूप में हुआ था और अशोक के समय में ही वहाँ भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रवेश प्रारम्भ हो गया था, सही हो सकता है।

खोतन के सम्बन्ध में चीनी अनुश्रुति तिब्बती अनुश्रुति से भिन्न हैं। शुआन-च्वांग के अनुसार जब कुमार कुनाल तक्षशिला में नियुक्त था तो उसकी विमाता तिष्य-रक्षिता ने ईर्ष्यावश अशोक की दन्तमुद्रा के साथ उसे अन्धा करने की आज्ञा तक्षशिला के अमात्यों के पास भेज दी। राजकीय आज्ञा का पालन किया जाना चाहिये, यह कहकर कुनाल ने स्वयं अपनी आँखों को निकलवा दिया। जब अशोक को अपने प्रिय पुत्र कुनाल के अन्धा किये जाने का समाचार मिला तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने तक्षशिला के उन सब लोगों को देशनिकाला दे दिया जिन्होंने कि कुनाल को अन्धा करने में हाथ बटाया था। वे सब हिमाच्छादित पर्वतमाला को पार करके मरुभूमि में जाकर बस गये और एक व्यक्ति को राजा बना लिया। उस समय पूर्वी देश के राजा का एक पुत्र भी अपने राज्य से बहिष्कृत होकर मरुभूमि के पूर्वी प्रदेश में निवास कर रहा था। उस प्रदेश के निवासियों ने उसे अपना राजा बना लिया। इस प्रकार खोतन प्रदेश में दो राज्य हो गये जिनमें प्रायः संघर्ष रहता था। इन संघर्षों में अन्त में पूर्वी राज्य की जीत हुई। उसे वैश्रवण की कृपा से एक पुत्र मिला जो कु (पृथिवी) के स्तन से दुग्ध-पान कर बड़ा हुआ था। इसीलिए वह कुस्तन कह-लाया।[1] इस कथा में तिब्बती अनुश्रुति की कथा से अनेक भिन्नताएँ हैं पर यह बात समान है कि भारतीय लोग खोतन में जाकर बसे थे और इस देश में भारतीय और चीनी दोनों संस्कृतियों का सम्मिश्रण हुआ था।

एक अन्य कथा के अनुसार खोतन को अशोक के पुत्र कुनाल द्वारा आबाद किया गया था। जब तिष्यरक्षिता के कुचक्र के कारण कुनाल को अन्धा कर दिया गया तो वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों ने बहुत उद्वेग अनुभव किया। उन्होंने निश्चय किया कि तक्षशिला को छोड़कर कहीं विदेश में जाकर बस जाएँ। वे खोतन गये और कुनाल को राजा बना कर रहने लगे।[2]

दक्षिण भारत—अशोक के पूर्व बौद्ध धर्म का प्रचार मुख्यतः विन्ध्याचल के उत्तर में ही हुआ था। दक्षिण भारत में बुद्ध के अष्टाङ्गिक आर्य मार्ग का अनुप्रवेश अशोक के समय में हुआ। धर्मविजय के हेतु रठिक, भोज, पेतनिक, आन्ध्र और पुलिन्द में (जिनकी स्थिति दक्षिण भारत में थी) धर्म-महामात्रों को नियुक्त किया था। स्थविर मोद्गलि-पुत्र तिष्य द्वारा प्रेषित प्रचारक-मण्डल भी वहाँ गये। 'महावंस' के अनुसार स्थविर

---

[1]बील, पूर्वो०, 2, पृ० 309–11।

[2]द्र०, बोंगार्ड-लेविन, पूर्वो०, पृ० 244–5; सेठ, एच० सी०, 'सेण्ट्रल एशियाटिक प्रोविन्सिज ऑव दि मौर्यन एम्पायर', आई० एच० क्यु०, 13, 1937, पृ० 400–2; 'किंग्डम ऑव खोतन अण्डर दि मौर्येज', वही, 15, 1939, पृ० 389–402; ब्राऊ, जे०, 'लीजेण्ड्स् ऑव खोतन एण्ड नेपाल', बी० एस० ओ० ए० एस०, 12, 1948, पृ० 333–9।

महादेव महिसमण्डल गया। वहाँ उसने जनता को 'देवदूत-सुत्तन्त' का उपदेश किया। उसे सुन कर चालीस हजार व्यक्ति प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षु बन गये।

स्थविर रक्खित वनवासी देश गया। वहाँ उसने जनता के बीच 'संयुत्त अनतमग्गा' का उपदेश किया। उसे सुनकर साठ हजार लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी हो गये और सैंतीस हजार ने प्रव्रज्या ग्रहण की। रक्खित ने वनवासी में पाँच सौ विहारों का भी निर्माण कराया।

स्थविर योन धम्मरक्खित अपरान्तक देश गया। वहाँ उसने लोगों को 'अग्गिक्खन्धोपमसुत्त' का उपदेश दिया। उसके प्रवचन को सुनने के लिए सैंतीस हजार मनुष्य एकत्र हुए। उनमें से एक हजार क्षत्रिय पुरुषों और इससे भी अधिक स्त्रियों ने प्रव्रज्या ग्रहण की।

स्थविर महाधम्मरक्खित महारट्ठ (महाराष्ट्र) देश गया। वहाँ उसने 'महानारदकस्सपव्ह जातक' का उपदेश किया। चौरासी हजार मनुष्यों ने सद्धर्म का अनुसरण किया और तेरह हजार ने दीक्षा ग्रहण की।

सम्भवतः सुदूर दक्षिण में बौद्ध धर्म का प्रचार महेन्द्र और उसके साथियों ने भी किया था। कावेरी नदी के तटवर्ती प्रदेश में मलकूट नगर के समीप एक विहार था जिसे महेन्द्र द्वारा निर्मित माना जाता था। सातवीं सदी में शुआन-च्वांग ने इस विहार को देखा था।

अशोक की धार्मिक संकीर्णता में वृद्धि ?

हाल ही में बोंगार्ड-लेविन ने प्रतिपादित किया है कि समय व्यतीत होने के साथ अशोक का धार्मिक दृष्टिकोण उदार से संकीर्ण होता गया था। उनका कहना है कि प्रारम्भ में अशोक मात्र सामान्य उपासक था। संघ में जाने अर्थात् संघ के निकट सम्पर्क में आने के बाद वह उपासक के रूप में अधिक श्रद्धावान् हो गया और 'पराक्रम' करने लगा। लेकिन तब तक उसने जो धर्ममहामात्र नियुक्त किये वे श्रमण, ब्राह्मण, तथा आजीविक सभी की भलाई करने के लिए थे। उस समय तक वह न बौद्ध धर्म की चर्चा करता है और न उसका प्रचार करता है। लेकिन उसके अन्तिम लेखों में (जिनमें बोंगार्ड-लेविन संघभेद-लेख, भाब्रु-लेख आदि को रखते हैं) वह संघ में हस्तक्षेप करने लगा और राजा के रूप में संघभेद दूर करना अपनी जिम्मेदारी समझने लगा। उसने संघ को उतना दान भी दिया जितना अन्य धर्मों को नहीं दिया था। उसने भाब्रु-लेख में स्पष्टतः बौद्ध धर्मग्रन्थों का प्रचार किया। स्पष्टतः इस समय तक उसकी धार्मिक नीति, जो पहिले प्रजा को नैतिक शिक्षा देने मात्र तक सीमित थी, बहुत बदल गई थी और एक बौद्ध नरेश के रूप में अशोक का व्यक्तित्व स्पष्टतर हो गया था।[1] ए० एल० बैशम का भी कुछ ऐसा ही मत है।[2]

---

[1]बोंगार्ड-लेविन, पूर्वो०, पृ० 344–62।

[2]बैशम, ए० के० नारायण द्वारा सम्पा० 'स्टडीज इन हिस्ट्री ऑव बुद्धिज्म' में उनका लेख, पृ० 18।

अध्याय 16

अशोक का धंम और धंम विजय नीति

धंम की अवधारणा : अभिलेखों का साक्ष्य

पिछले अध्याय से स्पष्ट है कि अशोक ने बौद्ध धर्म को अपने व्यक्तिगत धर्म के रूप में स्वीकार कर लिया था और इसके प्रचार और प्रसार के लिए अनेक उपाय किये थे। लेकिन इसके साथ ही यह भी स्पष्ट ही है कि उसने अपने अभिलेखों में अपनी प्रजा से 'धंम' के अनुसार आचरण करने का आग्रह किया है जो निश्चय ही सैद्धान्तिक बौद्ध धर्म नहीं है, यद्यपि इसके सही अभिप्राय के विषय में विद्वानों में गम्भीर विवाद रहा है। इसका सही रूप उसके अभिलेखों से ही जाना जा सकता है जिनको अशोक ने धंमलिपि या धंमसावन (=धर्मश्रावण) कहा है। इस साक्ष्य का विस्तृत विवेचन ब्लाख़, कर्न, स्मिथ, मुकर्जी, बरुआ, भाण्डारकर, रोमिला थापर एवं अन्य अनेक विद्वानों ने किया है। इस विषय में उत्पन्न हो गई भ्रान्तियों को दूर करने के लिए एवं धंम के विषय में अशोक के विचारों के विकास को जानने के लिए यह सुविधाजनक होगा अगर हम उसके अभिलेखों में धंम विषयक उल्लेखों का यथा-सम्भव तिथिक्रमिक अध्ययन करें। इससे न केवल उसके धंम की प्रकृति ज्ञात होगी वरन् उसकी धंम विषयक अवधारणा के विकास एवं धंम के प्रचार के लिए उसके द्वारा किये गये प्रयासों का भी परिचय मिलेगा।[1]

कन्धार द्विभाषी-अभिलेख तथा लघु शिला-लेखों का साक्ष्य

जैसा कि हम पीछे चर्चा कर आये हैं अशोक ने सम्भवत: सर्वप्रथम अपने लघु शि० ले० के विभिन्न संस्करण बौद्ध उपासक बनने के 'ढाई वर्ष के कुछ समय उपरान्त' अर्थात् अपने शासन के 11वें वर्ष में उत्कीर्ण करवाये थे। उसके कन्धार द्विभाषी-लेख में दसवें वर्ष का उल्लेख है लेकिन लेख की भाषा से यह निश्चित नहीं होता कि यह तभी लिखवाया गया था। तदुपरान्त उसके दो गुहा-लेखों की तिथि पड़ती है जो उसने अपने अभिषेक के बारहवें वर्ष में (दुआडसवसाभिसितेना) आजीविकों को दान देते समय लिखवाये थे। लेकिन अशोक के मन में जनता में प्रचारार्ह 'धंम' का

[1]इस अध्याय में अशोक के अभिलेखों के हिन्दी अनुवाद प्राय: या तो हमारे ग्रन्थ प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह' से दिये गये हैं अथवा राजबली पाण्डेय कृत 'अशोक के अभिलेख' से।

रूप लघु शिला-लेख लिखवाये जाने के समय ही स्पष्ट होने लगा था। अपने कन्धार द्विभाषी-अभिलेख में वह स्पष्टतः कहता है कि उसने 'दस वर्ष व्यतीत हो जाने पर' (स्पष्टतः अभिषेक के दस वर्ष बाद) धंम प्रचार प्रारम्भ कर दिया था।[1] इसके एरेमाइक संस्करण में बताया गया है कि उस समय से ही उसने जीवहत्या-निषेध, संयम, माता-पिता और गुरुजनों के प्रति आज्ञाकारिता और उनके प्रति कर्त्तव्य-पालन आदि गुणों को 'धंम' का अभिन्न अंग मानकर उनका प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था। अपने ब्रह्मगिरि लघु शि० ले० में भी वह कहता है : "माता-पिता की शुश्रूषा करनी चाहिये। प्राणियों में आदरभाव दृढ़ करना चाहिये। सत्य बोलना चाहिये। इन धंम गुणों का प्रवर्तन करना चाहिये (धंम गुणा पवतितविया)। इसी प्रकार अन्तेवासी द्वारा आचार्य का समादर करना चाहिये। जातिवालों के साथ तथा कुल में यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। यही पुरातन प्रकृति (पोराणा पकिति=पुराना धर्म) है।"

प्रथम शिला-लेख का साक्ष्य

अशोक के प्रथम चार मुख्य शि० ले० उसके अभिषेक के बारहवें वर्ष में लिखवाये गये क्योंकि (1) वह तृतीय शि० ले० (द्वादस वसाभिसितेन—गिरनार०) तथा चतुर्थ शि० ले० (द्वादस वसाभिसितेन—गिरनार०) को स्पष्टतः बारहवें वर्ष में लिखित बताता है तथा (2) अपने छठे स्त० ले० में, जो 26वें वर्ष लिखवाया गया था, कहता है कि उसने लोक के हितसुख के लिए धंमलिपियों को बारहवें वर्ष में लिखवाना शुरू किया (दुआडसवसअभिसितेन में धंमलिपि लिखापिता लोकसा हितसुखाये—देहली-टोपरा)। इन दोनों साक्ष्य से प्रमाणित है कि अशोक ने मुख्य शि० ले० को लिखवाने का कार्य 12वें वर्ष में प्रथम चार शि० ले० लिखवाकर शुरू किया था। इस तथ्य के प्रकाश में नी० का० शास्त्री का यह कथन कि अशोक के शि० ले० 14वें वर्ष में लिखवाये गये थे,[2] स्वतः गलत प्रमाणित हो जाता है।

राजबली पाण्डेय ने अशोक के सभी चौदहों शिला-लेखों की तिथि 12वाँ वर्ष बताई है।[3] परन्तु यह कथन भी स्पष्टतः गलत है क्योंकि 5वें शिला-लेख में अशोक ने कहा है कि उसने 13वें वर्ष में धर्ममहामात्र नियुक्त किये थे (मया त्रैदसवसाभिसितेन धंममहामाता कता)। इससे स्पष्ट है 5वें से 14वें शि० ले० को उसके शासन के 13वें वर्ष में या उसके बाद कभी लिखवाया गया होगा, बारहवें वर्ष में नहीं।

अशोक के प्रथम शिला-लेख से स्पष्ट है कि उसके धंम का एक प्रमुख पक्ष अहिंसा था। वह कहता है : "यहाँ (अर्थात् मेरे साम्राज्य में) कोई जीव (अर्थात् मानवेतर जीवधारी) मार कर हवन न किया जाये और न कोई समाज किया जाये।

---

[1]पाण्डेय, रा० ब०, अशोक के अभिलेख, पृ० 192।

[2]एज ऑव नन्दज एण्ड मौर्यज, पृ० 205।

[3]पाण्डेय, पूर्वो०, पृ० 15।

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत से दोष देखते हैं। (परन्तु) ऐसे भी कुछ समाज हैं जो देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के मत में शुभ हैं। पहिले देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के रन्धनागार (=रसोई) में प्रतिदिन बहुत लाख प्राणी सूप के लिए मारे जाते थे। (परन्तु) आज से, जब यह धंमलिपि लिखवाई गई (अर्थात् लागू की गई), सूप के लिए तीन प्राणी ही मारे जाते हैं। दो मोर और एक हिरण (अथवा दो पक्षी और एक पशु)। वह हिरण (अथवा पशु) भी सदैव नहीं। ये तीन प्राणी भी बाद में नहीं मारे जायेंगे।" इस विषय में कुछ विवाद है कि इस अभिलेख में पशुहत्या का सामान्य निषेध है अथवा मात्र हवन अर्थात् यज्ञ के लिए पशुहत्या किये जाने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। बैशम ने इसका वह अर्थ माना है जो हमने ऊपर दिया है।[1] इसका तात्पर्य है कि अशोक ने यहाँ मात्र यज्ञ-यागों के लिए पशुहत्या का निषेध किया है। लेकिन अभिलेख के शेष भाग से, जिसमें राजकीय रन्धनागार के लिए केवल दो मोर और एक मृग मारे जाने की चर्चा है, ऐसा लगता है कि यहाँ पशुवध का सामान्य रूप से निषेध है। स्मरणीय है कि यह अभिलेख सम्भवतः आदेश है, अनुरोध नहीं। जैसा कि हम आगे देखेंगे, पञ्चम स्त० ले० में भी पशुहत्या सीमित करने के लिए धंमनियम दिये गये हैं। 'जीवों' से अशोक का आशय गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा, भेड़, बकरी, सूअर, मुर्गा आदि से है जिनकी बलि दी जाती थी अथवा यज्ञ की समाप्ति के उपरान्त दी जाने वाली दावत के लिए मारा जाता था। अशोक का यह आदेश निश्चय ही परम्परागत वैदिक यज्ञधर्म के विरुद्ध था। 'कूटदन्त सुत्त' और कुछ अन्य पालि ग्रन्थों में ऐसे राजाओं की चर्चा है जिन्होंने अहिंसावादी विचार-धारा के प्रभाव में आकर पशुयाग निषिद्ध घोषित कर दिये थे।[2] अशोक इस लेख में लाखों पशु मारे जाने का उल्लेख करता है (बहूनिप्राणसतसहस्रानि)। परन्तु 'लाखों' पशुओं और पक्षियों का सूप के लिए प्रतिदिन मारा जाना असम्भव था। यह संख्या स्पष्टतः अतिरञ्जित है। अगर उसके 'महानस' (पाकशाला) में सैनिक पाकशाला सम्मिलित मान ली जाये तब भी प्रतिदिन लाखों पशुओं व पक्षियों की हत्या अकल्पनीय होगी। 'महाभारत' के वनपर्व में राजा रन्तिदेव की कथा आती है। उसकी पाकशाला में प्रतिदिन 2000 गायें व 2000 अन्य पशु मारे जाते थे जिनके रक्त से चर्मणावती का जल लाल हो जाता था।

मयूर का मांस कम खाया जाता है परन्तु अशोक की पाकशाला में उसका प्रयोग होता था। च० दा० चटर्जी ने बुद्धघोष की 'सारत्थप्पकासिनी' को उद्धृत करके दिखाया है कि तत्कालीन मध्यदेश में मयूर का मांस लोकप्रिय था। एक सम्भावना

[1]बैशम, रोमिला थापर द्वारा उद्धृत, अशोक एण्ड दि डेक्लाइन ऑव दि मौर्यज, पृ० 151, टि० 2।

[2]बरुआ, इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव अशोक, 2, पृ० 224। यज्ञों की अहिंसात्मक और नैतिक व्याख्या के लिए दे०, गीता, 4.24–28।

यह भी है कि 'मोर' शब्द का प्रयोग यहाँ 'पक्षी' अर्थ में हुआ हो और 'मृग' का 'पशु' अर्थ में।[1] अशोक ने मारे जाने वाले पशुओं की संख्या 'लाखों' से घटाकर तीन तक पहुँचा दी थी। वह उनकी हत्या एकदम बन्द क्यों नहीं कर सका, कहना असम्भव है। अपने इस वचन को कि उनकी हत्या भी बाद में नहीं की जायेगी, उसने पूरा किया या नहीं, यह भी कहना कठिन है।

इस अभिलेख में समाजों पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया है। 'समाज' (=पालि का 'समज्ज') का अर्थ टॉमस ने 'अखाड़ा' या 'खेल का मैदान' किया है[2] और एन० जी० मजूमदार ने 'नाटक' अथवा 'प्रेक्षणक'।[3] परन्तु समाज का अर्थ इनसे अधिक विस्तृत था। 'अमरकोशटीका' में इसका अर्थ 'निकाय' अर्थात् 'मनुष्यों का सम्मेलन' दिया गया है। 'महाभारत' में इसका उल्लेख एक शैव उत्सव के रूप में हुआ है जिसमें मद्यपान, गायन और नृत्य होते थे। लौकिक समाज किसी रंगशाला या प्रेक्षागार में आयोजित किये जाते थे जहाँ विभिन्न श्रेणियों और गणों के अलग-अलग शिविर लगते थे और मञ्च बने रहते थे। वहाँ दावतें, मल्ल-युद्ध, गायन, नृत्य, वादन और यहाँ तक कि स्वयंवर भी होते थे। 'अर्थशास्त्र' में कौटिल्य ने एक स्थल पर ऐसे उत्सवों-समाजों और यात्राओं का उल्लेख किया है जहाँ चार दिन तक अबाध रूप से मद्यपान चलता था और अन्य स्थल पर विजेता राजा का कर्त्तव्य बताया है कि वह विजित जनों के हृदय में उनके देश, देवता, उत्सव, समाज और विहार आदि के प्रति विद्यमान अनुराग में हस्तक्षेप न करे। वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' में सरस्वती के मन्दिर में संगीतज्ञों की मासिक अथवा पाक्षिक गोष्ठी को 'समाज' कहा है। समाजों के आयोजन के अनेक उल्लेख जातक कथाओं में मिलते हैं। एलियन के अनुसार स्वयं अशोक का पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य प्रति वर्ष एक मेले का आयोजन करता था जिसमें भेड़ों, जंगली भैंसों, हाथियों, गैंडों आदि की प्रतिद्वन्द्विता और दो बैलों के बीच जुते हुए एक घोड़े से खींचे गये रथों की दौड़ें होती थीं। हाथिगुम्फा-अभिलेख में खारवेल दावा करता है कि उसने ऐसे उत्सवों और समाजों से अपनी प्रजा का मनोरंजन किया था जिसमें दर्प, नृत्य, गीत और वाद्यसंगीत का प्रदर्शन किया गया था। 'समाजों' का 'उत्सवों' से घनिष्ठ सम्बन्ध था। 'रामायण' में कहा गया है : उत्सवश्च समाजश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनम्। कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में राजाओं को सलाह दी है कि वे यात्रा, समाज, उत्सव व प्रवहण से प्रजा का मनोरंजन करें। इसके टीकाकार के अनुसार 'यात्रा' से आशय है देवताओं की यात्रा, 'समाज' का अर्थ है 'लोक समुदाय', 'उत्सव' का इन्द्रोत्सव व वसन्तोत्सव आदि तथा 'प्रवहण' का उद्यान-भोजादि। इस वर्णन से स्पष्ट है कि अशोक के काल में जो समाज होते थे उनमें संगीत,

---

[1] स० इं०, पृ० 16, टि० 5।

[2] जे० आर० ए० एस०, 1914, पृ० 39 अ०।

[3] आई० ए०, 1918, पृ० 221 अ०।

नृत्य, मांस-सेवन, मदिरापान, खेल-कूद तथा विविध प्रकार की प्रतियोगिताओं की प्रधानता रहती थी। बौद्ध धर्म में इनको अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। 'सिगालोवादसुत्त' (दीघनिकाय) में बुद्ध उन गृहस्थों की भर्त्सना करते हैं जो समाजों में बहुत जाते थे। भाण्डारकार का कहना है कि समाज दो प्रकार के थे, एक वे जिनमें मांस, मदिरा आदि चलती थीं और दूसरे शुद्ध मनोरंजन वाले समाज। अशोक ने शुद्ध मनोरंजन वाले समाजों (समाजा साधुमता) को जारी रखा और उन्हें अपने धर्मप्रचार का माध्यम बनाया।

द्वितीय शिला-लेख का साक्ष्य

अशोक के द्वितीय शिला-लेख में ऐसे कुछ कार्यों की चर्चा है जिनका सम्पादन वह राजा के रूप में धंम के लिए आवश्यक मानता था। इसमें वह कहता है : "देवानां-प्रिय प्रियदर्शी राजा के राज्य में सर्वत्र (और) इसी प्रकार प्रत्यन्त (राज्यों) में यथा चोलों (और) पाण्ड्यों (के प्रदेश में) (एवं) सत्यपुत्र, केरलपुत्र (तथा) ताम्रपर्णी तक, यवनराज अन्तियोक (के राज्य) में अथवा उन राजाओं के (राज्यों में) भी जो अन्तियोक (के राज्य) के समीप हैं, सर्वत्र देवानांप्रिय प्रियदर्शी की दो चिकित्साएँ व्यवस्थित हैं—मानव-चिकित्सा और पशु-चिकित्सा और औषधियाँ जो मानवोपयोगी और पशूपयोगी (हैं) जहाँ-जहाँ नहीं हैं सर्वत्र लाई गई हैं और रोपी गई हैं और मूल तथा फल जो जहाँ-जहाँ नहीं हैं सर्वत्र लाए गए हैं और रोपे गए हैं। पशुओं और मनुष्यों के उपभोग के हेतु मार्गों में कुएँ खोदे गए हैं और वृक्ष लगाये गए हैं।" यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि इन पुण्यकार्यों का क्षेत्र अशोक ने न केवल अपना समस्त साम्राज्य (सर्वत विजितम्हि) माना है वरन् सुदूर दक्षिण के भारतीय एवं पश्चिमी एशिया के यवन राज्यों को भी बताया है।

इस लेख में उल्लिखित 'पशु' शब्द मानवोपयोगी और पालतू पशुओं का द्योतक है। ब्युलर ने 'चिकीछ' का अर्थ 'अस्पताल' किया है और भाण्डारकर ने 'डिस्पेन्सरी'। मुकर्जी का मत है कि अशोक ने मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सकों, दवाओं और अस्पतालों तीनों की व्यवस्था की थी और औषधोद्यान लगवाए थे। परन्तु बरुआ का कहना है कि अशोक ने केवल औषधियों की व्यवस्था की थी, अस्पतालों की नहीं। सप्तम स्त० ले० में वह विश्रामागारों, आपानों तथा आम्रवाटिकाओं का उल्लेख करता है और 'रानी के लेख' में आरामों और दानशालाओं का, परन्तु इनमें कहीं भी अस्पतालों को स्थापित करने का दावा नहीं किया गया है।

इस लेख के अनुसार अशोक ने मार्गों में वृक्ष लगवाए व कुएँ खुदवाए। इनको ब्राह्मण ग्रन्थों में इष्टपूर्त्त या पूर्त्तकर्म कहा गया है। ऐसे वृक्षों को मार्गतरु अथवा मार्गद्रुम कहा गया है। 'वराह-पुराण' के अनुसार ये वृक्ष ऐसे होने चाहिए जो पथिकों को छाया दें तथा पक्षियों का विश्राम-स्थल बन सकें। सप्तम शि० ले० में उल्लिखित निग्रोध ऐसा ही वृक्ष है। उसे 'क्षायाश्रेष्ठ: वट:' कहा गया है। 'उदपान'

से तात्पर्य यहाँ कुएँ के साथ-साथ सरोवर आदि से भी हो सकता है ।

तृतीय शिला-लेख का साक्ष्य

तृतीय शिला-लेख में अशोक ने कुछ ऐसे गुणों को गिनाया है जो स्पष्टत: उसके अनुसार धंम का अंग थे । वह इसमें यह भी बताता है कि उसके कुछ पदाधिकारी धर्मानुशष्टि के लिए हर पाँचवें वर्ष दौरे पर जायें । वह कहता है : "बारह वर्ष से अभिषिक्त मेरे द्वारा यह आज्ञा दी गई । समस्त साम्राज्य में मेरे युक्त, राजूक और प्रादेशिक पाँच-पाँच वर्ष में इस काम के लिए, धर्मानुशिष्टि के लिए तथा अन्य कार्यों के लिए दौरे पर जायें । माता-पिता की शुश्रूषा साधु (= अच्छी बात) है । मित्रों, परिचितों, सजातीयों, ब्राह्मणों और श्रमणों को दान देना साधु है । प्राणियों का अवध साधु है । अल्पव्यय और अल्पसंग्रह साधु है ।" इससे स्पष्ट है कि बुजुर्गों की सेवा, दान देना, प्राणियों की हिंसा न करना, अल्पव्ययता और अल्पसंग्रह उसके धंम में श्रेष्ठ गुण माने गये थे ।

चतुर्थ शिला-लेख का साक्ष्य

इसी प्रकार के विचार अशोक ने चतुर्थ शि० ले० में अभिव्यक्त किये हैं । इसमें वह कहता है : "बहुत सैकड़ों वर्षों का अन्तर बीत चुका । प्राणियों का वध, जीवधारियों के प्रति विशेष हिंसा, जाति के लोगों के साथ अनुचित व्यवहार (और) ब्राह्मणों तथा श्रमणों के साथ अनुचित व्यवहार बढ़ता ही गया । परन्तु आज देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से भेरीघोष धर्मघोष हो गया है—विमानदर्शन, हस्तिदर्शन, अग्निस्कन्ध तथा अन्य प्रिय प्रदर्शनों को जनता को दिखाकर । ···देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन से प्राणियों का अवध, जीवधारियों के प्रति अहिंसा, जातियों के प्रति उचित व्यवहार, ब्राह्मण-श्रमणों के प्रति उचित व्यवहार, माता-पिता की शुश्रूषा और स्थिवरों (बुजुर्गों) की शुश्रूषा बढ़ी है । ···जो धर्मानुशासन है वही श्रेष्ठकर्म है । शीलरहित (व्यक्ति) धर्माचरण नहीं कर सकता ।"[1]

इस अभिलेख में विमानदर्शन, हस्तिदर्शन और अग्निस्कन्ध से अशोक का क्या आशय था, यह 'विमानवत्थु' नामक बौद्ध ग्रन्थ से स्पष्ट होता है । भाण्डारकर के अनुसार इसमें उन अनेक पुरस्कारों का वर्णन है जो धर्मयुक्त व्यक्ति अगले जन्म में पाते हैं । इसके अनुसार धर्मयुक्त व्यक्ति अगले जन्म में एक प्रकार के देवता बन जाते हैं । उनको मिलने वाला एक पुरस्कार है विमान या स्तम्भों पर बना हुआ प्रासाद जो अपने स्वामी की इच्छानुसार चल सकता है । एक अन्य पुरस्कार सुसज्जित दिव्य हस्ती है । 'विमानवत्थु' में यह भी कहा गया है कि देवताओं का रूप विद्युत्, नक्षत्र या अग्नि के समान उज्ज्वल है । इसलिए अशोक ने प्रजा को जो अग्निस्कन्ध या ज्योति

[1]पाण्डेय, अशोक के अभिलेख, पृ० 5–6 ।

स्कन्ध दिखाये उनमें यही दिखाया जाता होगा कि धार्मिक व्यक्तियों के दिव्य शरीर से कैसी आभा निकलती है। इसी प्रकार विमानदर्शन और हस्तिदर्शन से उसका आशय उन दिव्य निवास स्थानों की झलक दिखाना रहा होगा जैसे 'विमानवत्थु' के अनुसार धर्माचरण करने वालों को अगले जन्म में मिलते हैं।

पञ्चम शिला-लेख का साक्ष्य

अशोक के शेष शिला-लेखों की तिथियाँ उनके अन्तःसाक्ष्य की सहायता से ही निर्धारित की जा सकती हैं। उसके 5वें से 14वें शि० ले० की तिथि 13वें वर्ष में या उसके बाद पड़ेगी। संभवतः उन्हीं के साथ कलिंग के दो पृथक् शि० ले० लिखवाए गए होंगे। रा० ब० पाण्डेय ने कलिंग के पृथक् शि० ले० की तिथि 14वाँ-15वाँ वर्ष मानी है परन्तु इस मत के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं दिया है। अपने पाँचवें शिला-लेख में अशोक ने धर्ममहामात्रों की नियुक्ति और उनके कुछ कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है जिससे उसके धंम की परिकल्पना पर भी प्रकाश मिलता है। वह कहता है : "कल्याण (करना) दुष्कर है। जो कल्याण का आदिकर (अर्थात् आरम्भक) है वह दुष्कर कर्म करता है। मेरे द्वारा बहुत से कल्याण (कार्य) किए गए हैं। जो मेरे पुत्र और पौत्र और उनके बाद जो मेरे वंशज होंगे वे कल्पनान्त तक वैसा ही अनुसरण करेंगे (अर्थात् कल्याण करते रहेंगे) तो सुकृत करेंगे। किन्तु जो इसको (इस कर्त्तव्य को) अंश मात्र भी भंग करेगा वह पाप करेगा। पाप (एक) सुप्रवेश्य (घर) है। भूतकाल में बहुत समय से धर्ममहामात्र नाम के अधिकारी नहीं होते थे। तेरह वर्ष से अभिषिक्त मेरे द्वारा (अर्थात् मेरे द्वारा जो तेरह वर्ष से राजा पद पर अभिषिक्त है) धर्ममहामात्र नियुक्त किये गये। वे धर्म की स्थापना के लिए और धर्म की वृद्धि के लिए और धर्मात्माओं के हित और सुख के लिए सब सम्प्रदायों में तथा यवनों, कम्बोजों, गन्धारों······एवं अन्य अपरान्तों में नियुक्त हैं। वे भृत्यों (= शूद्रों), वैश्यों, ब्राह्मणों व इभ्यों (= राजाओं = क्षत्रियों) में, अनाथों में, वृद्धों में, उनके हित और सुख के लिए व धर्मात्माओं की बाधाएँ दूर करने के लिए नियुक्त हैं। वे बन्दियों को (मुक्ति हेतु) द्रव्यादि से सहायता देने के लिए उनकी कठिनाइयों को दूर करने के लिए तथा उनकी मुक्ति के लिए (प्रयास करने में) लगे हैं, विशेषतः अगर वे (= बन्दी लोग) सन्तान (के भार) से बँधे हुए (= दबे हुए) हैं, अथवा उन्होंने पहिले सेवा की है (अर्थात् वे सेवा करके मुक्त होने के अधिकारी हो गए हैं) अथवा बहुत वृद्ध हो गये हैं। यहाँ और बाहर के नगरों में (मेरे) सब अन्तःपुरों में तथा मेरे भाइयों, बहिनों तथा यहाँ तक कि अन्य सम्बन्धियों के (अन्तः-पुरों में) भी, वे सर्वत्र लगे हुए हैं। वह (= कोई) चाहे धर्मोन्मुख है, चाहे दान-संयुक्त है (अर्थात् दान देने वाला है) और चाहे धर्मनिष्ठ है, वे धर्ममहामात्र मेरे राज्य में सर्वत्र नियुक्त हैं। इसलिए यह धर्मलिपि लिखी गई है कि यह चिरस्थायी होवे और मेरी प्रजा इसके अनुसार आचरण करे।"

अशोक के कल्याण कार्यों का विस्तृत वर्णन सप्तम स्त० ले० में मिलता है। 'महासुतसोमजातक' में बोधिसत्त्व कहते हैं : 'कता मे कलाण अनेक रूपा'=मेरे द्वारा बहुत से कल्याण किए गए हैं। अशोक के कथन का जातक कथा के इस कथन के साथ शाब्दिक ही नहीं विचारात्मक सादृश्य भी है क्योंकि जातक कथा में कल्याण कर्मों के अन्तर्गत दानमय यज्ञ, माता-पिता की सेवा, सजातीयों और मित्रों की सेवा, धर्मानुसार शासन और बिना पश्चाताप परलोक-गमन की तैयारी करना भी गिनाये गये हैं जिनका अशोक के अभिलेखों में यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है।

अशोक ने धंम के प्रचार के लिए धंम महामात (= धर्ममहामात्र) नियुक्त किये थे। बुद्धघोष के अनुसार महामात्र महाअमात्य का पर्याय है। स्मिथ ने धर्ममहामात्र का अनुवाद censors किया है। उनकी नियुक्ति अशोक के शासन के 13वें वर्ष में की गई थी। विभिन्न अभिलेखों (विशेषत: पञ्चम शिला-लेख, 12वें एवं 13वें शिला-लेख, सप्तम स्त० ले० व संघभेद-अभिलेख) में उनके निम्नलिखित कर्त्तव्य बताए गए हैं : (1) समस्त धार्मिक सम्प्रदायों से सम्बन्धित कर्त्तव्य, यथा उनके अनुयायियों में धर्म की स्थापना, धर्म की वृद्धि, धार्मिक जनों के हित सुख की वृद्धि, धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय की वृद्धि, राजकीय संरक्षण का समुचित वितरण, आदि। (2) राजपरिवार के सदस्यों से सम्बन्धित कर्त्तव्य, यथा राजा के भाइयों, बहिनों तथा दूसरे सम्बन्धियों द्वारा प्रदत्त दान के वितरण की व्यवस्था, उनको सब धार्मिक सम्प्रदायों की सहायता के लिए प्रेरित करना, उनमें धर्म का प्रचार करना, आदि। (3) योन, कम्बोज, गन्धार, रठिक-पेतेणिक, अपरान्तों तथा अन्य जातियों एवं वृद्धों, अनाथों, शूद्रों, वैश्यों, ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों से सम्बन्धित कर्त्तव्य जैसे उनके हित सुख की वृद्धि और धर्मात्माओं की बाधाओं को दूर करना। (4) बन्दीघरों की व्यवस्था से सम्बन्धित कर्त्तव्य यथा बन्दियों के हित सुख की व्यवस्था, कुछ विशेष परिस्थितियों में उन्हें छोड़ने की व्यवस्था, उनको अत्याचार से बचाना आदि। उनके पद, अधिकार तथा कर्त्तव्य कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के धर्मस्थों से सर्वथा भिन्न थे। 'अर्थशास्त्र' के धर्मस्थ विशुद्ध न्यायाधीश थे। यह सही है कि धर्मस्थों को भी धर्ममहामात्रों के समान तपस्वी, तीर्थंकर (किसी धार्मिक सम्प्रदाय का संस्थापक), वृद्ध एवं पहिले से ही पर्याप्त दण्डित तथा द्रव्यहीन आदि प्रकार के अपराधियों के साथ दयालुता दिखाने का अधिकार था, परन्तु धर्मस्थ न्यायाधीश के रूप में दयालुता दिखाते थे जबकि धर्ममहामात्र सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में।

धर्मयुत का अर्थ धर्मात्मा या धर्मनिष्ठ है। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ 'धर्म विभाग' का अधिकारी किया है और स्मिथ ने 'धर्म विधि के अधीन अधिकारी।' पाण्डेय ने भी धर्मयुतों को पदाधिकारियों का एक वर्ग माना है। परन्तु अशोक ने धर्मयुतों की नियुक्ति का कहीं उल्लेख नहीं किया है। दूसरे, यदि धर्मयुत राजकीय पदाधिकारी होते तो धर्ममहामात्र उनके हित सुख के लिए चिन्तित क्यों होते ? तीसरे, सप्तम स्त० ले० में रज्जुकों द्वारा 'धंमयुत जनों' को उपदेश दिए जाने का

स्पष्ट उल्लेख है । अत: इस पद में धर्मयुक्त नाम के पदाधिकारियों से आशय नहीं हो सकता । रोमिला थापर ने धंमयुत को धर्मनिष्ठ अर्थ में ही लिया है।

यह लेख बन्दियों की मुक्ति के तीन उपाय बताता है—पटिविधान, अपलिबोध तथा मोख । प्रतिविधान 8वें शिला-लेख का 'हिरण्य प्रतिविधान' (=सुवर्ण देना) है । अत: प्रतिविधान का आशय है '(द्रव्य) देना' अर्थात् मुक्ति के बदले में धन देना। 'पलिबोध' का पालि में अर्थ होता है 'बन्धन' । अत: 'अपलिबोधाए' का आशय हुआ 'बन्धन मुक्त करने के लिए' । 'मोख' का अर्थ भी बन्धनमुक्ति ही है । 'अर्थशास्त्र' में कौटिल्य भी किसी बन्दी को बिना कारण बताए जेल में रखने, सताने, भूखा रखने अथवा मार डालने पर जेल के अधिकारियों को दण्डित करने का विधान करता है।

इस लेख में वे तीन परिस्थितियाँ बताई गई हैं जिनमें बन्दियों पर दया दिखाई जा सकती थी। 'अनुबधा' की वर्तनी अन्य लेखों में 'अनुबंधा' या 'अनुबंध' है । बरुआ के अनुसार 'अनुबधा पजा' समास है और इसका अर्थ है 'वे जिन पर अत्यधिक प्रजा (सन्तान) का भार है' । 'कटाभिकाले' का अर्थ हूल्श ने 'असाध्य रोग वाले' किया है, ब्युलर ने विपत्ति द्वारा सताए गए हुए तथा अन्य कुछ विद्वानों ने 'वे जिन पर कृताभिचार (=जादू टोना) किया गया है' । कौटिल्य ने भी कृत्या और अभिचार का उल्लेख किया है। परन्तु बरुआ के अनुसार यहाँ अशोक का आशय प्राकृत के 'कटाधिकार' से है जिसका अर्थ है 'वह जिसने अपने पुराने अच्छे व्यवहार से दया पाने का अधिकार प्राप्त कर लिया है ।' कौटिल्य ने राजकुमार के जन्म या अभिषेक आदि के अवसरों पर जिन बन्दियों को छोड़ने का नियम दिया है उनमें वे बन्दी भी शामिल हैं जो अपने अच्छे कर्मों से अनुग्रह पाने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं ।

षष्ठ शिला-लेख का साक्ष्य

इस अभिलेख में (1) धर्ममहामात्रों के कर्त्तव्यों को स्पष्टतर किया गया है, (2) उन प्रतिवेदकों के कर्त्तव्य बताये गये हैं जो दान और अन्य कार्यों की रिपोर्ट अशोक को हर समय देते थे, (3) स्वर्ग की अवधारणा चर्चित है तथा (4) 'ऋण' की अवधारणा की ओर संकेत है ।

सप्तम शिला-लेख का साक्ष्य

इस शिला-लेख में अशोक कामना करता है कि सभी पाषण्ड (=सम्प्रदाय) सर्वत्र बसें और संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता तथा दृढ़भक्ति बढ़े । ये गुण स्पष्टत: उसके धंम का अंग थे । वह कहता है : "देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा इच्छा करते हैं कि सब सम्प्रदाय सर्वत्र (अर्थात् समस्त साम्राज्य) में बसें । वह उन सबके लिए संयम और भावशुद्धि चाहते हैं (अर्थात् संयम और भावशुद्धि की कामना करते हैं)। किन्तु लोग (अर्थात् विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी) ऊँच-नीच विचार वाले और न्यूनाधिक धर्मा-

नुराग वाले होते हैं। वे या तो सब करते हैं (अर्थात् सम्पूर्ण कर्त्तव्य का पालन करते हैं) अथवा उसके एक अंश को करते हैं (अर्थात् एक अंश मात्र का पालन करते हैं)। विपुलदान (देने) के बावजूद भी जिसमें संयम, भावशुद्धता, कृतज्ञता और दृढ़भक्ति नहीं है (वह) अत्यधिक नीच है।''

सयमे, भावसुधिता, कतंञता व दढभतिता ये चार नैतिक गुण हैं। शुरू में इन्हीं को ही संक्षिप्त करके 'सयमे च भावसुधि' कहा गया है। 'महाभारत' के शान्ति-पर्व में एक स्थल पर दृढ़भक्तित्व, कृतज्ञता, धर्मज्ञता और इन्द्रिय संयम का, एक अन्य स्थल पर दृढ़भक्तित्व, कृतज्ञता, संविभाजना और जितेन्द्रियता का और एक तीसरे स्थल पर दृढभक्तित्व, कृतज्ञता, जितेन्द्रियता और प्राज्ञता का वर्णन है। संयम ('महाभारत' का इन्द्रिय संयम या जितेन्द्रियता) को अशोक ने द्वादश शिला-लेख में वाक्-संयम (= दूसरे सम्प्रदायों की बुराई न करना) और ग्यारहवें शिला-लेख में अहिंसा अर्थ में (पाणेसु सयमो साधु) लिया है। कृतज्ञता के अन्तर्गत 'जवसकुण जातक' में उपकारी के अहसान को मानना, उसके अहसान को उतारना और उसको हानि न पहुँचाना—ये तीन गुण गिनाए गए हैं। दढभतिता 'महाभारत' का दृढ़-भक्तित्व है। पालि साहित्य में दान देने वाले के हृदय में श्रद्धा का होना आवश्यक बताया गया है।

अशोक के अभिलेखों में 'पासंड' शब्द निश्चय ही धार्मिक सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी अर्थ में इसका प्रयोग हाथिगुम्फा-लेख में हुआ है जिसमें खारवेल को 'सवपासडपूजको' कहा गया है। लेकिन इसका संस्कृत रूपान्तर 'पार्षद' करना चाहिए या 'पासण्ड', इस विषय में मतभेद है। सरकार का अनुमान है कि यह शब्द संस्कृत पार्षद (= किसी सभा का सदस्य) का प्राकृत रूप है जिसका यहाँ अर्थ 'किसी एक सिद्धान्त विशेष का अनुगमन करने वाले लोग' होगा। इस लेख के शहबाज़गढ़ी संस्करण में 'प्रसंड' शब्द के प्रयोग से इस मत का समर्थन होता है। परन्तु मुकर्जी व पाण्डेय ने इसका संस्कृत रूपान्तर 'पाषण्ड' किया है। 'मनुस्मृति' में कहा गया है : कितवान् कुशीलवान् क्रूरान् पाषण्डस्थांश्च मानवान्। विकर्म स्थान् शौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत् पुरात्॥ अर्थात् जुआड़ियों, नटों, क्रूरों, पाषण्डों, विकर्म करने वालों तथा शराब बनाने वालों को राजा अपने नगर से शीघ्र निर्वासित कर दे। कुल्लूकभट्ट ने 'मनुस्मृति' की टीका में 'पाषण्ड' का अर्थ 'श्रुति स्मृति बाह्य व्रतधारी' किया है। स्पष्टतः प्राचीन काल में 'पाषण्ड' का सामान्य अर्थ था 'परम्परा विरोधी सम्प्रदाय'। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में इसका प्रयोग बौद्धेतर सम्प्रदायों (आजीविक, निर्ग्रन्थ व ब्राह्मण आदि) के लिए हुआ है और 'मनुस्मृति' में स्पष्टतः ब्राह्मणेतर सम्प्रदायों के लिए। कौटिल्य के अनुसार भी चाण्डालों और पाषण्डों को नगर से दूर श्मशान के निकट वास करना चाहिए। उसके एक अन्य नियम के अनुसार गोप की अनुमति के बिना पाषण्डों व चाण्डालों को धर्मशाला में नहीं ठहरने देना चाहिए और देखना चाहिए कि उनके सामान में सन्दिग्ध वस्तुएँ तो नहीं हैं।

इस कथन के प्रकाश में मुकर्जी ने अशोक की इस इच्छा को कि सब सम्प्रदाय सर्वत्र बसें, 'अर्थशास्त्र' के नियम के विरुद्ध माना है। परन्तु यह अनिवार्य नहीं है। यहाँ अशोक सब सम्प्रदायों को सर्वत्र (सारे साम्राज्य में) बसा हुआ देखने की इच्छा प्रकट कर रहा है, धर्मशालाओं में ठहरने के नियमों की बात नहीं कर रहा। दूसरे, कौटिल्य का नियम बौद्ध, जैन और आजीविक भिक्षुओं का वेश धारण करने वाले जासूसों पर नियन्त्रण रखने के लिए बनाया गया लगता है, सच्चे ब्राह्मणेतर भिक्षुओं के लिए नहीं।

अष्टम शिला-लेख का साक्ष्य

आठवें शिला-लेख में अशोक ने धर्मयात्राओं की चर्चा की है और बताया है इनमें 'धंम' सम्बन्धी क्या कार्य किये जाते थे। इसमें बौद्ध धर्म सम्बन्धी यात्राओं और धंम यात्राओं में अन्तर नहीं किया गया है। वह कहता है: "इनमें यह होता है—ब्राह्मणों और श्रमणों का दर्शन तथा उनको दान, वृद्धों का दर्शन, धन से उनके पोषण की व्यवस्था, जनपद के लोगों का दर्शन, धर्म का आदेश और धर्म के सम्बन्ध में परिप्रश्न।

नवम शिला-लेख का साक्ष्य

नवाँ शिला-लेख धंम मंगलों पर प्रकाश डालता है। इसमें निरर्थक मंगलों तथा धंम मंगलों में भेद किया गया है और प्रलोभन दिया गया है कि धंम मंगलों के करने से स्वर्ग मिलता है। वह कहता है: "लोग बाधाओं, आवाह-विवाह, पुत्र-लाभ अथवा प्रवास में उच्च और नीच मंगल कार्य करते हैं।...ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ बहुत और विविध प्रकार के क्षुद्र और निरथ (निरर्थक) मंगल कार्य करती हैं। मंगल कार्य तो कर्त्तव्य हैं किन्तु इस प्रकार के मंगल कार्य अल्प फल वाले हैं। जो धर्म मंगल है वह महाफल वाला है। वह यह है—दास और भृतकों के प्रति शिष्टाचार साधु है। श्रेष्ठ जनों के प्रति आदर साधु है। प्राणियों के प्रति संयम साधु है। ब्राह्मण-श्रमणों को दान देना साधु है। ये और अन्य इसी प्रकार के धर्म मंगल हैं।...इस (आचरण) से स्वर्ग का प्राप्त करना शक्य है। स्वर्ग की प्राप्ति से बढ़कर अन्य क्या अधिक करणीय है?"[1]

दशम एवं एकादश शिला-लेखों का साक्ष्य

इन दो शिला-लेखों में धंम शुश्रूषा, धंम दान तथा धंम सम्बन्ध पर बल दिया गया है। दशम शि० ले० में अशोक यश और कीर्त्ति की तुलना में धर्माचरण को श्रेष्ठतर बताता है और कामना करता है कि सब लोग अल्प पाप वाले हों: "देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा यश अथवा कीर्त्ति को बहुमूल्य नहीं मानते इसके अतिरिक्त कि अपने

[1]पाण्डेय, पूर्वो०, पृ० 13।

(समय में) और सुदूर (भविष्य में) मेरी प्रजा धर्माचरण के लिए प्रेरित हो।···राजा जो भी पराक्रम करते हैं वह सब परलोक के लिए, जिससे सब लोग अल्प पाप वाले हों। जो अपुण्य है वही परिस्रव है।'' इसी प्रकार एकादश शि० ले० में कहा गया है : "ऐसा कोई दान नहीं है जैसा धर्म दान। (ऐसी कोई मित्रता नहीं है) जैसी धर्म मित्रता। (ऐसी कोई उदारता नहीं है) जैसी धर्म की उदारता। (ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है) जैसा धर्म सम्बन्ध। वह (धर्म) यह है—दासों और भृतकों के प्रति शिष्टाचार साधु है, माता-पिता की शुश्रूषा साधु है, मित्र, परिचित, जाति वालों (और) ब्राह्मणों-श्रमणों को दान देना साधु है। प्राणियों का अवध साधु है।···जो इस प्रकार आचरण करता है उसको इस लोक की प्राप्ति होती है और परलोक में उस धर्म दान से अनन्त पुण्य होता है।"

द्वादश शिला-लेख का साक्ष्य

बारहवें शि० ले० में धार्मिक सहिष्णुता पर बल दिया गया है। अशोक कामना करता है कि सब सम्प्रदायों की सारवृद्धि हो। "देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा सब धार्मिक सम्प्रदायों के प्रव्रजितों और गृहस्थों को पूजते हैं, दान और विविध प्रकार की पूजा द्वारा पूजते हैं। किन्तु देवानांप्रिय दान व पूजा को उतना नहीं मानते जितना किसको ? इसको कि सब सम्प्रदायों में सारवृद्धि होवे। सारवृद्धि अनेक प्रकार की होती है। उसका मूल है वचन का गोपन (अर्थात् वाक् संयम)। कैसे ? अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरों के सम्प्रदाय की निन्दा अनुचित अवसरों पर नहीं होनी चाहिए, थोड़ी हो किसी-किसी उचित अवसर पर। पूजनीय है दूसरों के सम्प्रदाय उन-उन (अर्थात् सब) अवसरों पर। ऐसा करता हुआ (मनुष्य) अपने सम्प्रदाय की वृद्धि करता है। (दूसरों के) सम्प्रदाय का उपकार करता है। इससे अन्यथा (अर्थात् इसके विपरीत) करने वाला (मनुष्य) अपने सम्प्रदाय को क्षीण करता है और दूसरों के सम्प्रदाय का भी अपकार करता है। वह जो कोई अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरों के सम्प्रदाय की निन्दा, सब अपने सम्प्रदाय के प्रति भक्ति के कारण (करता है)। यह कैसे ? 'अपने सम्प्रदाय का दीपन किया जाय' (अर्थात् अपने सम्प्रदाय की उन्नति की जाय)। और वह पुनः ऐसा करता हुआ अपने सम्प्रदाय की अत्यधिक हानि करता है। इसलिए समवाय (अर्थात् मेलजोल) ही शुभ है। कैसे ? दूसरों के धर्म को सुनना और सुनाना चाहिए। देवानांप्रिय की ऐसी इच्छा है। कैसी ? कि सब सम्प्रदाय बहुश्रुत और कल्याणकारी सिद्धान्त वाले होवें। और वे जो अपने-अपने (सम्प्रदाय) में अनुरक्त हों उनके द्वारा कहा जाय, 'देवानांप्रिय दान व पूजा को उतना नहीं मानते जितना किसे ? कि सब सम्प्रदायों में सार की वृद्धि होवे।' इस प्रयोजन के लिए बहुत से धर्ममहामात्र और स्त्र्यध्यक्ष महामात्र और व्रजभूमिक और अन्य (अधिकारी) वर्ग नियुक्त हैं। इसका यह फल है कि (इससे) अपने सम्प्रदाय की वृद्धि और धर्म का दीपन होता है।"

इस अभिलेख में 'पासंडानि' और 'पवजितानि' दोनों के उपरान्त 'च' लिखा हुआ है इसलिए इस पद का शाब्दिक अर्थ होगा 'सभी सम्प्रदायों और प्रव्रजितों और गृहस्थों को पूजते हैं।' परन्तु इस लेख के अन्य संस्करणों में 'पासंडानि' व 'पवजितानि' के उपरान्त 'च' शब्द नहीं खुदा है। इसलिए बरुआ ने इस वाक्य का अर्थ किया है 'सब गृहस्थ और प्रव्रजित सम्प्रदायों को पूजते हैं।' स्पष्टत: वह गृहस्थों के पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय मानते हैं। परन्तु हमारे विचार से इस वाक्य का आशय है 'सभी सम्प्रदायों के प्रव्रजितों और गृहस्थों को पूजते हैं।' जैसा कि सर्वज्ञात है, प्राचीन काल में भारत में हर सम्प्रदाय के दो प्रकार के अनुयायी होते थे: गृहस्थ और प्रव्रजित (= संन्यासी, भिक्षु)। भाब्रु-लेख में बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणिओं तथा उपासक-उपासिकाओं का इसी अर्थ में उल्लेख है। तेरहवें शिला-लेख में गृहस्थ पाषण्डों (सम्प्रदायों के गृहस्थ अनुयायियों) का उल्लेख है एवं 7वें स्त० लेख में प्रव्रजितों के अन्तर्गत ब्राह्मण, संघस्थ (बौद्ध भिक्षु), निर्ग्रन्थ (जैन भिक्षु) तथा आजीविक गिनाए गए हैं। उस युग के अन्य प्रमुख सम्प्रदायों का वर्णन बौद्ध साहित्य में मिलता है। उनमें तापस, जटिल, ब्राह्मण, परिव्राजक (एकदण्डी व त्रिदण्डी), देवधार्मिक (जिनमें वासुदेव, संकर्षण, अर्जुन, सूर्य, चन्द्र, दिक्पाल, मणिभद्र, आदि के उपासक शामिल थे) आदि उल्लेखनीय हैं।

'सारवढी' (शहबाज़गढ़ी संस्करण में सलवढि, कालसी संस्करण में शालावढि) का अर्थ है सारवृद्धि अर्थात् धर्म के सार में वृद्धि। बुद्धघोष ने सार को 'सीलादि-सार' बताया है। अशोक के अनुसार भी धंम का सार सील (= शील) है। इस शिला-लेख में वह वचोगुती को धंम के सार में वृद्धि का मूल बताता है। वचोगुती (अन्य संस्करणों में 'वचोगुति') का अर्थ है वचन का गोपन = वाक् संयम। यहाँ इसका अर्थ अन्य सम्प्रदायों की आलोचना न करना है जिससे धार्मिक सहिष्णुता की भावना में वृद्धि हो। 'समवाय' का अर्थ है 'सम्यक् प्रकार से चलना' या 'मेल-जोल'। यह अशोक की धार्मिक सहिष्णुता का क्रियात्मक पक्ष था।

इस अभिलेख में इथिधियख महामाता (स्त्र्यध्यक्ष महामात्र) तथा वचभुमिक (ब्रजभूमिक) नामक नये पदाधिकारियों का उल्लेख है। स्त्र्यध्यक्ष महामात्रों का सम्बन्ध कौटिल्य के गणिकाध्यक्षों से जोड़ा गया है। परन्तु महामात्र जैसे उच्च पदाधिकारियों का एक वर्ग केवल गणिकाओं की ही देखभाल करता रहा होगा यह सम्भव नहीं जान पड़ता, यद्यपि वे गणिकाओं की भी देखभाल करते हों, यह हो सकता है। भाण्डारकर ने स्त्र्यध्यक्ष महामात्रों को वे पदाधिकारी माना है जो स्त्रियों के हित और सुख की देखभाल करते थे। परन्तु इनके विषय में मात्र इतना कह देना पर्याप्त नहीं है। महाकाव्यों में स्त्र्यध्यक्षों अथवा दाराध्यक्षों का उल्लेख आता है जिनका कर्त्तव्य अन्त:पुर के बाहर रानियों एवं उनकी दासियों की सुरक्षा था। पालि साहित्य में 'अन्तेपुर उपचारकों' और 'ओरोध महामात्रों' का उल्लेख मिलता है जो रनिवास के सदस्यों की देखभाल करते थे। पालि और संस्कृत बौद्ध साहित्य में उपलब्ध

कथाओं में रानियों के धर्मगुरुओं की चर्चा आती है जो अपनी शिष्याओं के पास स्वतन्त्रतापूर्वक जा सकते थे। कभी-कभी जब विभिन्न रानियाँ विभिन्न धर्मों की अनुगामिनी होती थीं तो अन्तःपुर धार्मिक दलों की राजनीति का अखाड़ा बन जाता था। तिष्यरक्षिता को कथाओं में बौद्ध धर्म की कट्टर विरोधिनी बताया गया है। 'धम्मपदटीका' में एक ऐसी बौद्ध लड़की की कथा आई है जिसे आजीविक परिवार में ब्याह हो जाने के कारण बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। कुछ जातक कथाओं में रानियों और धर्मगुरुओं के प्रेम और षड्यन्त्रों का उल्लेख आता है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में स्त्र्यध्यक्षों का उल्लेख आता है जिनका 'कामोपधा-शुद्ध' रहना आवश्यक बताया गया है। उनको बाह्य और अभ्यन्तर विहार रक्षा करना होता था। 'विनय पिटक' में स्त्रियों में प्रचार करने वाले उपदेशकों का वर्णन आता है। इस प्रकार अशोक के अभिलेखों के स्त्र्यध्यक्ष महामात्रों का कार्य न केवल स्त्रियों के हित सुख की देखभाल करना रहा होगा वरन् उनमें, विशेषतः रनिवास की सदस्याओं में धंम का प्रचार, उनको अन्य सम्प्रदायों के सिद्धान्तों से परिचित कराना तथा उनको उनके सम्पर्क में आने वाले कपटी धर्मगुरुओं के षड्यन्त्रों और अनैतिक प्रभाव से बचाना भी रहा होगा। अशोक ने अन्यत्र ऐसे महामात्रों का उल्लेख किया भी है जो उसके और उसके भाई-बहिनों के पाटलिपुत्र व अन्य स्थानों पर स्थित अन्तः-पुरों की देखभाल करते थे।

'वचभूमिक' का शाब्दिक अर्थ है 'वह पदाधिकारी (भूमिक) जो चरागाहों (वच =ब्रज) से सम्बन्धित कार्यों को पूरा करता है।' मुकर्जी का अनुमान है कि ये पदा-धिकारी वणिक्पथों में व्यापारियों और धर्मयात्रियों में धर्म का प्रचार करते होंगे। कुछ विद्वानों का विचार है कि 'ब्रजभूमिक' ब्रज देश के निवासी थे जिनकी रुचि धर्मयात्राओं और वादविवादों में अधिक रहती थी। रोमिला थापर ने उनको 'राजकीय कृषिक्षेत्रों के मैनेजर' बताया है और ब्युलर तथा सरकार ने 'पशुपालकों के बीच काम करने वाले अधिकारी'। बरुआ का कहना है कि ब्रज शब्द का एक अर्थ महल का एक भवन या गोष्ठ भी है और यहाँ इसका आशय सभा, समिति अथवा परिषद् हो सकता है। उस अवस्था में वचभूमिक पदाधिकारी सामाजिक सभाओं और महलों से सम्बन्धित रहे होंगे।

त्रयोदश शिला-लेख का साक्ष्य

तेरहवें शिला-लेख के प्रारम्भ में अशोक ने कलिंग युद्ध, उसकी भयंकरता तथा इसके लिए अपने पश्चाताप का उल्लेख किया है। इसकी अन्तिम पंक्तियों में वह अपनी धंम विजय की अवधारणा को स्पष्ट करता है। वह कहता है : "देवानांप्रिय सब प्राणियों के कल्याण, संयम, समाचर्या और सौजन्य की इच्छा करते हैं। देवानांप्रिय के अनुसार वही प्रधान विजय है जो धर्मविजय है। और वह देवानांप्रिय द्वारा पुनः प्राप्त हुई है यहाँ (अर्थात् उनके अपने राज्य में) और सभी प्रत्यन्त राज्यों में छः सौ

योजन तक जहाँ अन्तियोक नाम का यवनराज और उस अन्तियोक के परे चार राजा तुरमय नामक, अंतकिनि नामक, मक नामक, अलिकसुदर नामक (शासन करते हैं। तथा) नीचे (अर्थात् दक्षिण की ओर) चोडों (=चोलों), पंडों (=पाण्ड्यों), तंबपणिकों (ताम्रपर्णीवासियों) तक। इसी प्रकार यहाँ राजविषयों में (तथा) योन-कंबोजों (=यवन-कम्बोजों), नभक-नभितिनों (=नाभक-नाभपंतियों), भोज-पितिनिकों (=भोज-पैत्यणिकों), अंध-पलिदों (=अन्ध्र-पुलिन्दों) में सर्वत्र देवानांप्रिय की धर्मानुशस्ति (उसके द्वारा प्रतिपादित धर्म के उपदेशों) का (लोगों द्वारा) पालन किया जाता है। वहाँ भी जहाँ देवानांप्रिय के दूत नहीं पहुँचते, (लोग) देवानांप्रिय की धर्मोक्ति, विधान और धर्मानुशस्ति को सुनकर धर्म का आचरण करते हैं और करते रहेंगे। इस प्रकार सर्वत्र जो विजय उपलब्ध होती है, वह सर्वत्र पुनः प्रेम रसयुक्त विजय होती है। धर्मविजय में प्रीति प्राप्त होती है। परन्तु वह प्रीति बहुत लघु होती है। देवानांप्रिय (धर्मविजय का) महाफल पारलौकिक (सुख को) ही मानते हैं। इस प्रयोजन के लिए यह धर्मलिपि लिखवाई गई। क्यों?—(इसलिए कि) मेरे पुत्र (और) पौत्र जो हों वे नई (शस्त्र-) विजय को विजय न मानें। यदि वे नई विजय में प्रवृत्त हों तो वे क्षान्ति और लघुदण्डता में रुचि रखें। और उसी को विजय मानना चाहिये जो धर्म विजय है। वह इहलौकिक और पारलौकिक है। जो धर्मरति है वही पूर्णतः अतिरति है। वही इहलौकिकी और पारलौकिकी है।"

चतुर्दश शिला-लेख एवं कलिंग के दो पृथक् शिला-लेखों का साक्ष्य

अपने चौदहवें शिला-लेख में अशोक ने अपने इस निश्चय को घोषित किया है कि वह अपनी धंमलिपियाँ समस्त साम्राज्य में बराबर लिखवाता रहेगा। कलिंग में धौली तथा जौगड़ से प्राप्त दो पृथक् शिला-लेखों में वह समस्त प्रजा को पुत्रवत् मानना अपना राजनीतिक आदर्श बताता है तथा अपने राजपुरुषों से आग्रह करता है कि वे उसके आदर्श के अनुरूप अपना आचरण रखें। प्रथम पृथक् शिला-लेख में कहा गया है: "सभी मनुष्य मेरी प्रजा (सन्तान) हैं। जिस प्रकार मैं अपनी प्रजा (सन्तान) के लिए इच्छा करता हूँ कि सभी हित और सुख—ऐहलौकिक और पारलौकिक—से वह संयुक्त हों इसी प्रकार मेरी इच्छा है सब मनुष्यों के लिए।" स्पष्टतः यह आदर्श उसके धंम का राजनीतिक पक्ष था।

प्रथम तथा द्वितीय स्तम्भ-लेखों का साक्ष्य

अशोक के प्रथम छः स्तम्भ-अभिलेख उसके 26वें वर्ष में लिखवाये थे (सडुविसतिवस अभिसितेन) तथा सप्तम स्त० ले० 27वें वर्ष में। प्रथम स्त० ले० में धंम पालन द्वारा इहलोक तथा परलोक की प्राप्ति की चर्चा है। अशोक कहता है: "इहलौकिक तथा पारलौकिक (कल्याण) दुस्सम्पाद्य है बिना उच्चतम धर्मकामता, उच्चतम (आत्म-) परीक्षा, उच्चतम शुश्रूषा, उच्चतम (धर्म-) भय (तथा) उच्चतम उत्साह

के ।'' द्वितीय स्त० ले० में अशोक ने धंम की व्याख्या की है । वह कहता है : ''धर्म साधु है । (किन्तु) धर्म क्या है ? अल्पपाप, बहुकल्याण, दया (करना), दान (देना) सत्य (बोलना) (और) शुचिता (पवित्रता) । ज्ञान दृष्टि भी मेरे द्वारा विविध प्रकार की दी गई । मनुष्यों, चौपायों (=पशुओं), जलचरों पर विविध प्रकार के अनुग्रह मेरे द्वारा किये गये, प्राणदान तक (अर्थात् उनकी होने वाली हत्याओं को रोकने तक) । और अन्य भी बहुत से कल्याण मेरे द्वारा किये गये । इस प्रयोजन के हेतु मेरे द्वारा यह धर्मलिपि लिखवाई गई जिससे (लोग) इसका अनुसरण करें और (यह) चिरस्थायी होवे ।''

इस अभिलेख में स्वयं यह प्रश्न करके कि 'धंम क्या है' अशोक वे छः सिद्धान्त बताता है जो धंम के अन्तर्गत आते हैं । इनमें प्रथम दो 'आपिसनवे' तथा 'बहुकयाने' हैं । 'आपिसनवे' शब्द 'अप' तथा 'आसिनव' के योग से बना है (अप=अल्प) । 'आसिनव' को तृतीय स्तम्भ-अभिलेख में 'पाप' कहा गया है । 'आसिनव' स्पष्टत: 'कयाने' कल्याण का विलोमार्थक है । पाँचवें शि० ले० व 7वें स्त० ले० में 'कयाने' का अर्थ 'पुण्य' है । अत: 'आसिनवे' का अर्थ 'पाप' होगा । पञ्चम शि० ले० में 'कयाने' और 'पाप' विलोमार्थक शब्दों के रूप में प्रयुक्त हैं भी । ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक की दृष्टि में 'आसिनवे' पापपूर्ण कृत्य का नैतिक परिणाम था, उसी तरह जैसे 'कयाने' या पुण्य साधुकृत्य का नैतिक परिणाम होता है ।

दया, दान, सचे, सोचये, ये चार गुण अशोक के धर्म का सकारात्मक पक्ष थे । दया भावना अथवा अनुकम्पा से दान देने की प्रवृत्ति होती है । सच का अर्थ है सत्य निष्ठा और दृढ़भक्ति । सोचये का अर्थ है शुद्धि=भावशुद्धि । यह संयम पर आधृत होती है । दया, दान, सत्य व शुद्धि की महिमा हिन्दू धर्म में भी मानी गयी है । तु०

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ।।
—याज्ञवल्क्य, 1.122 ।

क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः ।
अहिंसा गुरु शुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ।।
आर्जवं लोभ शून्यत्वं देवब्राह्मण पूजनम् ।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते ।।
—विष्णु०, 2.7–8 ।

चखुदान प्रज्ञादान या ज्ञानदृष्टि के दान को कहा गया है । यह नवें शि० ले० के धर्मदान का ही दूसरा नाम है । चक्षु का अर्थ है नेत्र या आलोक । 'इतिवत्तुक' में तीन प्रकार के चक्षुओं का उल्लेख है—मंस (मांस) चक्षु, दिब्ब (दिव्य) चक्खु तथा पञ्ञा (प्रज्ञा) चक्खु । यहाँ तीसरा अर्थ अभीष्ट है । लेकिन सरकार के अनुसार इस लेख के चक्षु-दान का आशय है कि अशोक ने उन अपराधियों को जिनकी आँखें निकाल लिये जाने का दण्ड मिला था, माफ कर दिया था ।

तृतीय स्तम्भ-लेख का साक्ष्य

तृतीय स्त० ले० में अशोक ने धंम का निषेधात्मक पक्ष बताया है। वह कहता है : "मनुष्य कल्याण ही देखता है ··· वह थोड़ा भी पाप नहीं देखता ··· किन्तु इसे अवश्य देखना चाहिये कि ये पापगामी हैं, यथा चण्डता, नैष्ठुर्य, क्रोध, मान (अहंकार), ईर्ष्या और इनके कारण मैं अपने आप को भ्रष्ट न कर दूँ।"

इस स्तम्भ-लेख में अशोक ने उन मानसिक विकारों का उल्लेख किया है जिनसे 'आसिनव' उत्पन्न होता है। वे हैं : चंडिये=प्रचण्डता; निठुलिये=निष्ठुरता; कोधे= क्रोध; माने=घमंड; इस्या=ईर्ष्या। भाण्डारकर का मत है कि इस विषय में अशोक पर जैन धर्म का प्रभाव बौद्ध धर्म से भी अधिक पड़ा था। उनका तर्क इस प्रकार है : तीसरे स्त० ले० में 'आसिनव' का उल्लेख 'पाप' के साथ किया गया है और दशम शि० ले० में 'अपुण्य' के अर्थ में 'पलिसवे' शब्द मिलता है। इसलिए पहिले-पहल यह प्रतीत होता है कि अशोक का 'आसिनव' वही है जो बौद्ध धर्म में आसव (आस्रव) कहलाता था। परन्तु बौद्ध जन तीन प्रकार के आसव मानते हैं : (1) कामासव (कामसुख) (2) भवासव (जीवन का मोह) और (3) अविज्जासव (अविद्या दोष)। कभी-कभी वे इनमें एक चौथा रिट्ठ-आसव (नास्तिकता) भी जोड़ देते हैं। परन्तु अशोक जिन पाँच आसिनवों का उल्लेख करता है वे भिन्न प्रकार के हैं (चंडिये, निठुलिये, कोधे, माने तथा इस्या)। दूसरे, तृतीय स्त० ले० में अशोक ने 'आसिनव' व 'पाप' को जिस प्रकार साथ-साथ रखा है, बौद्ध दर्शन में पाप और आसव को उस प्रकार साथ-साथ नहीं रखा गया है। यह बात हमें जैन दर्शन में मिलती हैं। जैन दर्शन अट्ठारह प्रकार के पाप और बयालीस प्रकार के आसव गिनाता है। इन दोनों सूचियों में 'कोध' और 'मान' भी सम्मिलित है और पापों की सूची में 'इस्या' का भी उल्लेख मिलता है। 'निठुलिये' और 'चंडिये' शायद इन सूचियों की 'हिंसा' के अन्तर्गत माने जाते जा सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि अशोक का 'आसिनव' जैन 'आस्रव' के निकट है। इसी प्रकार अशोक का 'पलिसव' जैन धर्म का 'परिस्सव' हो सकता है। भाण्डारकर ने अशोक के 'आसिनव' को जैन 'आचारांगसूत्र' में प्रयुक्त शब्द 'अण्हय' का संवादी माना है। परन्तु बरुआ का कहना है 'अण्हय' का मनोविकार अर्थ में प्रयोग बौद्ध ग्रन्थ 'औपपातिक सूत्र' में भी मिलता है। हमारे विचार से इस प्रकार के विचार तत्कालीन भारत के सभी धर्मों में प्रचलित थे। तु०

> त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
> कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्। —गीता, 16. 21।

तथा

> पैशुन्यं साहसं मोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम्।
> वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥ —मनुस्मृति, 7.48।

चतुर्थ स्तम्भ-लेख का साक्ष्य

अशोक ने चतुर्थ स्त० ले० में राजूकों की भूमिका का वर्णन किया है। इस प्रसंग में दण्ड-समता और व्यवहार-समता लागू किये जाने तथा बन्दियों के प्रति दया दिखाये जाने का वर्णन भी किया गया है। वह कहता है : "देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—'छब्बीस वर्षों से अभिषिक्त मेरे द्वारा यह धर्मलिपि लिखायी गयी। मेरे रज्जुक (उच्चाधिकारी) कई लाख प्राणियों और जनों में नियुक्त हैं। उनका जो अभियोग लगाने का अधिकार अथवा दण्डा-(धिकार) है (उसमें उनको) स्वतन्त्रता मेरे द्वारा दी गयी है। क्यों? रज्जुक आश्वस्त, निर्भय (होकर) कर्मों में प्रवृत्त हों, जन और जानपद को हित-सुख पहुँचाने की व्यवस्था करें और उन पर अनुग्रह करें। वे सुखीयन और दुःखीयन (के कारणों को) जानेंगे और धर्मयुत द्वारा जनपद के लोगों को उपदेश करेंगे। क्यों? जिससे कि वे इहलौकिक और पारलौकिक (कल्याण की प्राप्ति के लिए) प्रयत्न करें। रज्जुक भी चेष्टा करते हैं मेरी परिचर्या (सेवा) करने के लिए। मेरे राजपुरुष भी (मेरी) इच्छाओं का पालन करेंगे। वे भी कुछ लोगों को उपदेश करेंगे जिससे रज्जुक मुझे प्रसन्न करने की चेष्टा करेंगे। जिस प्रकार योग्य धाय के (हाथ में) सन्तान को सौंपकर (माता-पिता) आश्वस्त होते हैं—'योग्य धाय चेष्टा करती है मेरे सन्तान को सुख प्रदान करने के लिए।' इसी प्रकार मेरे रज्जुक नियुक्त हुए हैं जानपद के हित-सुख के लिए, जिससे निर्भय और आश्वस्त होते हुए प्रसन्नचित्त कर्मों में प्रवृत्त हों। इसलिए मेरे द्वारा रज्जुकों का अभिहार (अभियोग लगाने का अधिकार) अथवा दण्ड (उसमें) स्वायत्त किया गया। क्योंकि इसकी इच्छा करनी चाहिये। क्या है वह? व्यवहार-समता और दण्ड-समता होनी चाहिये। इसीलिए यह मेरी आज्ञा है। कारावास में बद्ध तथा मृत्युदण्ड पाये हुए मनुष्यों को तीन दिन की मेरे द्वारा छूट दी गयी है। (इसी बीच में) उनकी जाति वाले (पुनर्विचार के लिए रज्जुकों का) ध्यान आकृष्ट करेंगे उनका जीवन बचाने के लिए अथवा (उनके) जीवन के अन्त तक ध्यान करते हुए दान देंगे (उनके) पारलौकिक कल्याण के लिए अथवा उपवास करेंगे। ऐसी मेरी इच्छा है कि कारावास में भी लोग परलोक की आराधना करें। लोगों का विविध धर्माचरण बढ़े, संयम और दान-वितरण भी।' "[1]

पञ्चम स्तम्भ-लेख का साक्ष्य

अशोक का पञ्चम स्तम्भ-लेख उसकी पशुहत्या निषेध-नीति से सम्बन्धित है जो उसके धंम का महत्त्वपूर्ण अंग थी। इसमें कहा गया है : "मेरे राज्याभिषेक को हुए जब छब्बीस वर्ष व्यतीत हो चुके, तो मैंने इन प्राणियों को अवध्य (घोषित) किया। ये प्राणी हैं, शुक, सारिका, अरुण (लाली), चक्रवाक् (चकई), हंस, नान्दीमुख (एक प्रकार की मैना), गेलाट, जतुक (चमगादड़), अम्बाकपीलिका (चींटी), दुडि (कछुई),

[1]पाण्डेय, रा० ब०, पूर्वो०, पृ० 144।

बिना हड्डी की मछली, वेदवेयक (?), गंगा-कुक्कुट, संकुजमत्स्य, कमठ (कछुआ), शल्य (साही), पर्णशश, सृमर (बारहसिंगा), षण्डक (सांड), ओकपण्ड (गोधा), पृषत (मृग विशेष), श्वेत कपोत, ग्रामकपोत और वे सब चौपाये जो न किसी उपयोग में आते हैं और न खाये जाते हैं।" इस लेख में शुक, सारिका, हंस, चक्रवाक आदि जिन पक्षियों और पर्णशश, षण्डक आदि जिन चौपायों के वध का अशोक ने निषेध किया है, प्राचीन भारत में उन्हें खाने के प्रयोग में नहीं लाया जाता था और न उनका कोई अन्य ही ऐसा उपयोग था जिसके लिए उनका वध आवश्यक होता। शायद शिकारी जन केवल शौक के लिए ही इनका वध किया करते थे। अशोक ने इस अनावश्यक और व्यर्थ हिंसा को रोक दिया। लेकिन इनके अतिरिक्त उस युग में ऐसे बहुत-से पशु-पक्षियों का भी वध किया जाता था, जो भोजन के काम में आते थे। अशोक ने इनका वध सर्वथा निषिद्ध तो नहीं किया, पर उसे मर्यादित करने का प्रयास अवश्य किया। उसने यह आदेश जारी किया : "गाभिन और दूध देती हुई भेड़, बकरी और शूकरी (सूअरी) अवध्य (घोषित) की गईं। इनके बच्चे भी जिनकी आयु छः मास से कम हो। कुक्कुट को बधिया नहीं करना चाहिये। जिस भूसी में जीव हों, उसे नहीं जलाना चाहिये। अनर्थ करने के लिए और प्राणियों की हिंसा के लिए वन को नहीं जलाना चाहिये। जीव से जीव का पोषण नहीं करना चाहिये। तीन चौमासों में तिष्य पूर्णमासी के तीन दिन—चतुर्दशी, पञ्चदशी और प्रतिपदा को और उपवास के दिन निश्चित रूप से मछलियाँ नहीं मारनी चाहियें और न बेचनी चाहियें। इन सब दिनों में नागवनों में तथा जलाशयों में जो भी जीवनिकाय (प्राणी) हों, उन्हें नहीं मारना चाहिये।" पशुओं को दागने की प्रथा भी प्राचीन भारत में प्रचलित थी। इससे पशुओं को कष्ट उठाना पड़ता था। अशोक ने इस प्रथा को भी नियन्त्रित किया : "प्रत्येक पक्ष (पखवाड़े) की अष्टमी, चतुर्दशी, पञ्चदशी (पूर्णिमा और अमावस्या), तिष्य और पुनर्वसु नक्षत्रों के दिन और तीनों चौमासों के सुदिवसों (पवित्र दिनों या त्यौहारों के दिनों) में गौ (गौ और बैल) को नहीं दागना चाहिये। बकरा, भेड़ा, सुअर और इसी तरह के जो अन्य पशु दागे जाते हैं, उन्हें भी नहीं दागना चाहिये। तिष्य व पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चातुर्मास्य के शुक्ल पक्ष में घोड़े और गौ (बैल) को नहीं दागना चाहिये।" इस प्रकार अशोक ने पशुहिंसा को नियन्त्रित करने के लिए तीन प्रकार की व्यवस्था की : कुछ पशु-पक्षियों के वध को सर्वथा रोक दिया गया, कुछ का वध विशेष अवस्थाओं (जैसे उनका गाभिन होना) में रोक दिया एवं विशिष्ट पर्वों व दिनों में अनेकविध प्राणियों का वध निषिद्ध कर दिया। उसने पशुओं के दागे जाने पर भी रोक लगाई।

षष्ठ तथा सप्तम स्तम्भ-लेखों का साक्ष्य

छठे स्त० ले० में अशोक द्वारा धंम प्रचार के लिए धंमलिपियाँ लिखवाये जाने एवं

सब सम्प्रदायों का आदर किये जाने का उल्लेख है तथा सातवें स्त० ले० में धंमवृद्धि तथा धंम प्रचार के लिए उसके प्रयासों का सिंहावलोकन है। वह बताता है कि इसके लिए उसने धंम श्रावणों की व्याख्या की, धर्मानुशासन आज्ञप्त किये, राजपुरुषों से धर्मोपदेश करवाया, धंम स्तम्भ स्थापित किये, धंम महामात्र नियुक्त किये, जन-कल्याण के अनेक कार्य किये, दानवितरण की व्यवस्था की, जीवधारी अवध्य घोषित किये, आदि। इसमें प्रसंगवशात् यह भी बताया गया है : "धर्मापदान और धर्मप्रतिपत्ति ये हैं—दया, दान, सत्य, शौच, मार्दव और साधुता लोक में इस प्रकार बढ़ेगी ··· लोग उन्नत होंगे माता-पिता की शुश्रूषा से, गुरुओं की शुश्रूषा से, वयोवृद्धों के अनुसरण से, ब्राह्मण, श्रमण कृपण-वराक, दास-भृतकों की उचित व्यवस्था से।"

भाब्रु पाषाण फलक-अभिलेख का साक्ष्य

भाब्रु पाषाण फलक-अभिलेख अपने ढंग का अकेला अभिलेख है क्योंकि अशोक का कोई अन्य अभिलेख पाषाण फलक पर लिखा नहीं मिलता। इससे यह स्पष्टत: ज्ञात होता है कि वह व्यक्तिगत रूप से बौद्ध हो गया था। परन्तु इसमें कुछ धंमपलियायों (धर्म ग्रन्थों) की भी चर्चा है। वह चाहता था कि सभी भिक्षु-भिक्षुणियाँ तथा उपासक-उपासिकाएँ उनका अध्ययन करें। अगर हम इन ग्रन्थों की पहिचान कर सकें तो उन की विषय-वस्तु से जान सकते हैं कि अशोक धर्म के किस पक्ष को प्रचारित करना चाहता था। जैसाकि पीछे ध्यान दिलाया जा चुका है, भाण्डारकर ने अशोक के धर्म-पर्यायों की पहिचान के लिए बुद्धघोष के 'विसुद्धिमग्ग' की एक कथा की ओर ध्यान दिलाया है। इसमें कहा गया है कि एक तरुण भिक्षु तीन मास तक अपनी माता के पास रहने के बावजूद यह कभी नहीं कहता कि "तू मेरी माँ है, मैं तेरा पुत्र हूँ"। वह इस आदर्श को निभा सका क्योंकि उसने बुद्ध द्वारा 'रथविनीतपटिपद्म', 'नालक-पटिपद्म' 'तुवट्ठकपटिपदम्' तथा 'महाअरियवंसपटिपद्म' में बताए गए आचार-मार्ग का पालन किया था। इस प्रकार बुद्धघोष इन चार बौद्ध धर्मग्रन्थों की उपयोगिता पर विशेष बल देता है। इनकी पहिचान अशोक के द्वारा प्रचारित 'मोनेयसुत' ('नालकपटिपद्म'), 'उपतिसपसिन' ('रथविनीतपटिपद्म'), 'अलियवसानि' ('महा-अरियवंसपटिपद्म') तथा 'विनयसमुकस' ('तुवट्ठकपटिपद्म') से की जा सकती है। इन ग्रन्थों के अन्त:साक्ष्य से स्पष्ट है कि अशोक बौद्धधर्म के दार्शनिक या कर्म-काण्डीय पक्ष में नहीं वरन् नैतिक पक्ष में दिलचस्पी रखता था। उदाहरणार्थ, 'महा-अरियवंसपटिपद्म' में भिक्षुओं के चार आचार-मार्गों का विधान है। इसमें कहा गया है कि भिक्षुओं को सादे वेश, सन्मार्ग से प्राप्त किए हुए सादे भोजन, छोटे-से-छोटे मकान एवं ध्यान में आनन्द लेना चाहिए। 'मुनिगाथा' और 'मोनेयसूत' भी लगभग ऐसी ही बात कहते हैं। 'मुनिगाथा' में एकाकी रूप से ध्यान करने वाले भिक्षु के जीवन की गृहस्थों के परेशानियों से भरे जीवन से तुलनात्मक श्रेष्ठता बताई गई है। अशोक द्वारा बताए गए इन चार ग्रन्थों में एक भी ऐसा नहीं है

जिसमें धर्म की बाह्य बातों में या मात्र संघ के बाह्य अनुशासन में दिलचस्पी ली गई हो। शायद इसीलिए वह अनुरोध करता है कि इन्हें केवल भिक्षु-भिक्षुणियाँ ही नहीं साधारण जन भी सुनें।

अशोक द्वारा बताए गये बाकी ग्रन्थ भी ऐसे हैं जिसमें मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में आने वाली बाधाओं एवं उनको दूर करने के उपायों का विवेचन है। उदाहरणार्थ 'अनागतभयानि' में भविष्य के (अनागत) उन भयों का उल्लेख हैं जो धार्मिक साधना में किसी समय भी बाधक हो सकते हैं—जैसे रोग, दुर्भिक्ष, युद्ध, फूट, मृत्यु आदि। मनुष्य को इन सबका ध्यान रखते हुए अपनी शक्तियों का उपयोग करना चाहिए। लेकिन इन भयों के अलावा, जो प्रकृत्या बाह्य होते हैं, कुछ ऐसे भी भय होते हैं जो आन्तरिक अर्थात् मानसिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं। वे मनुष्य की आध्यात्मिक सिद्धि में बाह्य भयों से भी अधिक बाधक सिद्ध हो सकते हैं। इनको जानने के लिए अशोक ने 'राहुलवाद' की ओर ध्यान दिलाया जिसमें बुद्ध ने अंबलट्ठिक राहुल को यह उपदेश दिया है कि दीक्षा के समय एवं उसके उपरान्त काया, वाणी और मन की प्रत्येक प्रक्रिया की कड़ाई से जाँच करते रहना चाहिए जिससे मनुष्य उपर्युक्त बाधाओं के कारण मिथ्याचरण में न फँस जाए।

धंम के विविध पक्ष

'धंम' का अर्थ

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि अशोक व्यक्तिगत रूप से बौद्ध हो गया था (दे०, पिछला अध्याय) परन्तु उसने अभिलेखों में बौद्ध धर्म का प्रचार नहीं किया है। उसने बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों—चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग, प्रतीत्य-समुत्पाद तथा निर्वाण आदि—की कहीं चर्चा तक नहीं की है, इनका उपदेश देना तो दूर रहा। दूसरे शब्दों में, उसका धंम कम से कम बौद्ध धर्म का वह सैद्धान्तिक रूप नहीं है जो बौद्ध साहित्य में मिलता है। वस्तुत: धंम से अशोक का अभिप्राय धर्म (religion) से था ही नहीं। यह तथ्य उसके कन्धार द्विभाषी-अभिलेख से स्पष्ट है जिसके यूनानी संस्करण में धंम के स्थान पर यूनानी शब्द eusebeia का प्रयोग हुआ है। यूनानी भाषाविदों के अनुसार eusebeia का अर्थ religion या धर्म नहीं 'निष्ठा', 'आदर' या 'सदाचरण' है।[1] अशोक ने अभिलेखों में धंम की चर्चा भी एक आचरण प्रधान जीवन-दर्शन के रूप में की है। इस विषय में वह विविध अभिलेखों में जो कुछ कहता है, वह हम ऊपर लिख आये हैं। यहाँ हम समस्त आभिलेखिक साक्ष्य की सहायता से उसके धंम के विविध पक्षों का रूप निर्धारित करने का प्रयास करेंगे।

---

[1] बोंगार्ड-लेविन, मौर्यन इण्डिया, पृ० 363।

धंम का सकारात्मक पक्ष

अशोक के धंम के दो प्रमुख पक्ष माने जा सकते हैं—सकारात्मक तथा निषेधात्मक। ये दोनों नैतिक आचार व्यवहार से सम्बन्धित हैं। लेकिन उसका धंम केवल नैतिक आचार-संहिता ही नहीं था, इसमें यह भी बताया गया था कि मनुष्य को विभिन्न धर्मों के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये और राजा को अपनी प्रजा के प्रति कैसा दृष्टिकोण रखना चाहिये। उसके धंम का नैतिक सकारात्मक पक्ष उसके लगभग सभी अभिलेखों में चर्चित है। लेकिन उसके द्वितीय स्तम्भ-लेख में इसे संक्षेप में बड़े सुन्दर ढंग से बताया गया है। इसमें स्वयं ही यह प्रश्न करके कि 'धंम' क्या है वह उत्तर देता है—अल्पपाप, बहुकल्याण, दया, दान, सत्य और शुचिता—ये ही धंम है। कल्याण के अन्तर्गत वह अहिंसा और प्राणियों के अवध को उच्च स्थान देता था। विशेषतः प्रथम शिला-लेख तथा पञ्चम स्त० ले० में उसने बताया है कि उसने किस प्रकार पशुहिंसा को सीमित करने का प्रयास किया। पारिवारिक सुख-शान्ति के हेतु उसके माता-पिता, गुरु तथा स्थविरों (बुजुर्गों) की सेवा-शुश्रूषा पर भी बहुत बल दिया है। इसी प्रकार दासों और सेवकों से अच्छा व्यवहार भी उसके धंम का महत्त्वपूर्ण अंग था। इसकी चर्चा भी वह अपने अनेक अभिलेखों में करता है। सामाजिक शान्ति के लिए उसने मित्रों, परिचितों, सजातीयों एवं अपने कुल वालों से यथोचित व्यवहार किये जाने की आवश्यकता बताई है।

अशोक के धंम में व्यक्तिगत गुणों का विकास भी आवश्यक माना गया है। इनमें प्रमुख हैं—सत्यभाषण, दया, दानशीलता, शुचिता, अल्पव्यय तथा अल्पसंग्रह की प्रवृत्ति, संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता, दृढ़भक्ति, मित्रता, उदारता, धर्मकामना, आत्मपरीक्षा तथा उत्साह।

अशोक के धंम का एक महत्त्वपूर्ण सकारात्मक पक्ष था धार्मिक सहिष्णुता की भावना। इसकी विशेष रूप से चर्चा सप्तम और द्वादश शि० ले० में हुई है। सातवें शिला-लेख में वह कामना करता है कि सब पासंड सर्वत्र निवास करें। लेकिन इस आदर्श की सुन्दरतर अभिव्यक्ति बारहवें शि० ले० में हुई है जिसमें उसने ऐसी भाषा में जिसे कोई आधुनिक गान्धी या नेहरू अनायास प्रयोग में ला सकता है, इस बात पर बल दिया है कि वह दान व पूजा को उतना नहीं मानता जितना इस बात को कि सब सम्प्रदायों की सारवृद्धि हो। इसका मूल उसने वचोगुति या वाक्-संयम को बताया है। वह घोषित करता है कि जो व्यक्ति दूसरों के सम्प्रदाय की आलोचना करता है वह अपने ही सम्प्रदाय की हानि करता है। इसलिए समवाय अर्थात् मेलजोल ही शुभ है (समवाय एव साधु)। उसने इच्छा व्यक्त की है कि सब सम्प्रदाय बहुश्रुत और कल्याणकारी सिद्धान्त वाले हों। उस प्राचीन काल में सहिष्णुता की इतनी गहन भावना विश्व में कहीं नहीं मिलती।

धंम का निषेधात्मक पक्ष

जहाँ तक धंम के निषेधात्मक पक्ष की बात है उसकी चर्चा कम ही हुई है। तृतीय स्तम्भ-लेख में इसका संक्षिप्त उल्लेख मिलता है जिसमें वह चण्डता, नैष्ठुर्य, क्रोध, मान तथा ईर्ष्या से बचने का आग्रह करता है। स्पष्टतः ये अवगुण मनुष्य को धंम के मार्ग से विचलित करने वाले माने गये थे।

धंम का राजनीतिक पक्ष

अशोक के धंम का एक राजनीतिक पक्ष भी है। इसका सम्बन्ध एक शासक के रूप में स्वयं अशोक के साथ था। अपने प्रथम पृथक् कलिंग शिला-लेख में वह बताता है कि वह समस्त प्रजाजनों को अपनी प्रजा अर्थात् पुत्रवत् मानता था। राजत्व का यह आदर्श उसके धंम का अभिन्न अंग था और प्राचीनतर हिन्दू आदर्श से या बौद्धों के 'महासम्मत' सिद्धान्त से भिन्न था। वह यह भी विश्वास करता था कि एक शासक के रूप में उसे शासन कार्य में सदैव दत्तचित्त रहना चाहिये एवं प्रजा के ऋण को उतारने का प्रयास करना चाहिये। यह राजनीतिक दृष्टिकोण किसी भी युग के राजाओं के लिए आदर्श माना जा सकता है।

अभिलेखों में वर्णित धंम और बौद्ध धर्म के सम्बन्ध की समस्या

क्या अशोक का धंम सब धर्मों का सार था ?

अशोक के अभिलेखों में निरूपित धंम का बौद्ध धर्म से क्या सम्बन्ध था, यह प्रश्न विवादास्पद है। मुकर्जी, आर० एस० त्रिपाठी, आर० पी० चन्दा आदि अधिकांश विद्वानों की धारणा रही है कि अशोकीय धंम से आचरण के ऐसे सिद्धान्त या नियम अभिप्रेत थे जो सब धर्मों और सम्प्रदायों को समान रूप से स्वीकार्य थे और सब समयों के लिए उपयुक्त हैं। नीलकान्त शास्त्री के अनुसार अशोक का धर्म सामाजिक नीतिशास्त्र की एक व्यावहारिक संहिता था, धर्म और दर्शन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था।[1] मैकफैल के अनुसार उसके लेखों में "धंम का अभिप्राय बौद्ध धर्म से न होकर उस सामान्य सदाचरण से है, जिसका पालन अशोक अपनी सम्पूर्ण प्रजा से करवाना चाहता था, चाहे वह प्रजा किसी भी धर्म को मानने वाली थी।"[2] विन्सेण्ट ए० स्मिथ का इस सम्बन्ध में मत था कि "अशोक धंम से जिन बातों को ग्रहण करता है, वे निश्चित रूप से भारत के सब धर्मों में समान रूप से विद्यमान थीं। यह बात और है कि कोई धर्म किसी बात पर दूसरी बातों की अपेक्षा अधिक जोर देता

[1] ए०न०मौ०, पृ० 272।
[2] मैकफेल, अशोक, पृ० 48।

हो।'[1] भाण्डारकर के अनुसार "जो कोई भी अशोक के धंम के नियमों पर विचार करता है, वह उसकी शिक्षाओं की सादगी से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। उसके धंम को सब धर्मों की सर्वसामान्य सम्पत्ति समझा जा सकता है। वह जिन गुणों और नियमों का पालन करने के लिए कहता है, वे सब ऐसे हैं जिन्हें सभी धर्म अनुकरणीय बताते हैं।"[2] एन० क्यु० पंकज के अनुसार अशोक का धंम एक विश्वजनीन धर्म था—कोई साम्प्रदायिक मत नहीं।[3] मुकर्जी ने भी अशोक के धंम को विश्वजनीन धर्म बताया है। इस प्रकार ये सभी विद्वान् मानते हैं कि यद्यपि अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी था तथापि अपने लेखों में उसने जिस धंम का प्रतिपादन किया है वह बौद्ध धर्म नहीं है। यह सही है कि बौद्ध धर्म की शिक्षाओं ने ही अशोक को धंम की ओर प्रवृत्त किया परन्तु उसके अभिलेखों में वर्णित धंम उन नैतिक नियमों का सार था जो उस युग के सभी भारतीय धर्मों, सम्प्रदायों और पाषण्डों को समान रूप से स्वीकार्य थे।

क्या अशोक का धंम सामान्य राजधर्म अथवा हिन्दू धर्म था ?

लेकिन अशोक के द्वारा अभिलेखों में प्रतिपादित धंम के विषय में यह मत सर्वस्वीकृत नहीं है। अनेक विद्वानों ने उसके धंम को प्रकृत्या 'राजनीतिक' माना है। फ्लीट का विचार था कि यह केवल राजधर्म अर्थात् राजाओं के लिए बताये गये कर्त्तव्यों का संग्रह था।[4] लेकिन जैसाकि भाण्डारकर ने कहा है अशोक के अभिलेखों का धंम राजाओं और गवर्नरों द्वारा पालनीय धर्म नहीं, वरन वह धर्म था जो प्रजा के लिए आचरणीय बताया गया है।[5] एक स्थल पर मैकफेल ने भी कहा है कि अशोक का धंम हिन्दू धर्म ही है—अन्तर मात्र इतना है कि इस पर बौद्ध धर्म की छाया है। अथवा यह कहना उचित होगा कि इसमें वे नैतिक विचार भरे हैं जिन पर बौद्ध धर्म खड़ा है, पर जिनका हिन्दू धर्म में गौण स्थान है।[6] परन्तु इस मान्यता में अन्तर्विरोध है। इसमें एक ओर तो यह माना गया है कि अशोक का धंम हिन्दू धर्म है और दूसरी ओर यह कि इसमें बौद्ध तत्त्व भरे पड़े हैं।[7] हेरास ने भी यह प्रतिपादित किया था कि यह ब्राह्मण धर्म के उपदेशों पर आधृत सामान्य धर्म है। परन्तु (1) अशोक के धंम में हिन्दू धर्म के विशिष्ट सिद्धान्तों की कोई चर्चा नहीं है। (2) अशोक को ब्राह्मण धर्म ग्रन्थों में इस धर्म का अनुयायी कभी नहीं माना गया। उल्टे 'गार्गी-

[1] स्मिथ, अशोक।
[2] भाण्डारकर, अशोक, पृ० 107।
[3] पंकज, एन० क्यु०, स्टेट एण्ड रिलीजन इन एन्श्येण्ट इण्डिया, पृ० 81 अ०।
[4] जे० आर० ए० एस०, 1908, पृ० 491–7।
[5] भाण्डारकर, अशोक, पृ० 103।
[6] मैकफेल, अशोक, पृ० 29–30।
[7] भाण्डारकर, पूर्वो०, पृ० 104।

संहिता' में मौर्यों की धर्मविजय अवधारणा का मजाक उड़ाया गया है। ब्राह्मणों ने उसके धंम को सब धर्मों का सार कहीं नहीं माना है। (3) अशोक ने धंम का प्रचार न केवल स्वयं बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बाद किया था, वरन वह स्पष्टत: कहता है कि संघ में जाने के बाद उसने विशेष पराक्रम करना शुरू किया था।

क्या अशोक का धंम तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए उसके द्वारा किया गया वैचारिक आविष्कार था ?

रोमिला थापर ने अशोक के धंम को तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक समस्याओं के लिए उसके द्वारा किया गया वैचारिक आविष्कार माना है। उनका कहना है कि अशोक के राज्यारोहण के समय उसके विशाल साम्राज्य में एकता और केन्द्रीयकरण को सबल करने वाले तीन तत्त्व पहिले से ही विद्यमान थे—सक्षम राजपुरुषतन्त्र (bureaucracy), यातायात और सम्पर्क के साधन तथा एक शक्तिशाली शासक। अब वैचारिक स्तर पर एकीकरण की आवश्यकता थी। अशोक के सामने दो विकल्प थे—या तो वह मात्र सैनिक शक्ति और राजा के देवत्व की अवधारणा पर निर्भर रहता (जैसा चीन में शी-हुआंग-टी ने किया) और या वह इसके लिए किसी धर्म का सहारा लेता। अशोक ने दूसरा विकल्प स्वीकार किया और परिणामस्वरूप वह बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुआ। बाद में यूरोप में शार्लमेन और कान्स्टेण्टाइन ने ईसाई धर्म की सहायता से तथा स्वयं भारत में अकबर ने दीन-ए-इलाही की सहायता से राजनीतिक एकीकरण का प्रयास किया था। अत: अशोक बौद्ध धर्म की तरफ आकृष्ट न तो कलिङ्ग युद्ध जनित पश्चाताप के कारण हुआ था और न उसकी इस धर्म में रुचि किसी बौद्ध अर्हत् के प्रभाव से 'अचानक' पैदा हुई थी। उसे इस विषय में कोई दैवी प्रेरणा भी नहीं मिली थी। वह भी अपने युग के विचारों से प्रभावित हुआ था और उसने अपने साम्राज्य की राजनीतिक-सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बौद्ध धर्म को अपना व्यक्तिगत धर्म बनाया था। परन्तु आम जनता के लिए उसने जिस धंम का प्रतिपादन किया वह एक प्रकार से उसका अपना आविष्कार था। इसके लिए उसने बौद्ध से प्रेरणा पाई थी परन्तु उसका उद्देश्य जनता के सम्मुख एक ऐसा जीवन-दर्शन रखना था जो व्यवहारिक भी था, सुविधाजनक भी, राजनीतिक एकता में सहायता देने वाला भी और सामाजिक तनाव दूर करने वाला भी। वह कहती हैं : "इतिहासकार आम तौर पर अशोक के 'धम्म' की व्याख्या लगभग बौद्ध मत के पर्याय के रूप में करके यह संकेतित करते रहे हैं कि अशोक बौद्ध मत को राज-धर्म बनाना चाहता था। परन्तु उसका ऐसा कोई इरादा था यह सन्देहास्पद है। उसके 'धम्म' का उद्देश्य एक ऐसी मानसिक वृत्ति का निर्माण करना था जिसमें सामाजिक उत्तरदायित्व को, एक व्यक्ति के दूसरे के प्रति व्यवहार को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाये। ··· अशोक के निजी विश्वासों और उसके तात्कालिक परिवेश ने निस्सन्देह इस नीति को रूप देने में हिस्सा बंटाया ··· (उस युग में प्रचलित विभिन्न)

सम्प्रदायों के संघात से और बहुमत विरोधियों के कारण सामाजिक ढाँचे में तनाव और अन्तर्विरोध पैदा हुए। इसके अतिरिक्त और भी तनाव थे जो वणिक् समुदाय की मर्यादा, नगर-केन्द्रों में शिल्प-श्रेणियों की शक्ति, अत्यधिक केन्द्रीकृत राजनीतिक प्रणाली के दबाव एवं स्वयं साम्राज्य के विशाल आकार के कारण पैदा हुए थे। स्पष्ट है मौर्य साम्राज्य की प्रजा को इन विरोधी शक्तियों का सामना करने के लिए किसी केन्द्र की अथवा सामान्य दृष्टिकोण की अपेक्षा थी, किसी ऐसे विचार की जो उन्हें एक-दूसरे के निकट ला सके और उनके भीतर एकता की भावना पैदा कर सके। ··· समन्वय उत्पन्न करने वाले सिद्धान्तों की खोज में अशोक ने हर प्रश्न के बुनियादी पक्षों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और फलस्वरूप 'धंम' नाम से प्रसिद्ध नीति का जन्म हुआ।"[1] इस प्रकार अशोक के धंम की अवधारणा राजनीतिक एकता पैदा करने, सामाजिक तनावों के दूर करने एवं लोक कल्याण की व्यवस्था करने का वैचारिक साधन थी। इसीलिए उसका धर्म राजा और प्रजा के सम्बन्धों को पिता-पुत्र का सम्बन्ध बताता है, धर्म-सहिष्णुता की नीति को अनिवार्य मानता है तथा माता-पिता, गुरुजनों, कुलपुरुषों, जाति वालों एवं दासों तथा सेवकों के साथ सद्व्यवहार पर बल देता है।

अशोक का धंम बौद्ध धर्म का ही एक रूप था

लेकिन विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो अशोक के अभिलेखों में प्रतिपादित धंम को उसके व्यक्तिगत धर्म—बौद्ध धर्म—का ही एक रूप बताता है। प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने उसके धंम को सामान्य जनों के लिए श्रमण विचार परम्परा का सार-भूत माना है।[2] सेना का कहना है कि अशोक के उपदेशों एवं 'धम्म पद' के विचारों में बहुत समानता है। वह मानते हैं कि अशोक के काल में बौद्ध धर्म प्रकृत्या नैतिक था। उसमें न तो विशिष्ट धार्मिक सिद्धान्तों एवं भिक्षुओं का प्राबल्य हुआ था और न इसके नियम भलीभाँति परिभाषित हुए थे। इसलिए अशोक के धंम को बौद्ध धर्म मानने में वस्तुतः कोई कठिनाई नहीं है।[3] लेकिन सेना की यह मान्यता सही नहीं जान पड़ती। बौद्ध धर्म के सिद्धान्त और नियम अशोक के बहुत पहिले विकसित और परिभाषित हो चुके थे। स्वयं भगवान् बुद्ध के उपदेशों में सैद्धान्तिक बौद्ध धर्म सुस्पष्ट है। बरुआ का कहना है कि अशोक के धंम का एक पक्ष राजधर्म है, दूसरा पक्ष बौद्ध उपासक धर्म और तीसरा विश्वजनीन धर्म—विश्वजनीन इस अर्थ में कि यह किसी भी धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष पर बल नहीं देता और किसी मत को किसी पर नहीं

---

[1]थापर, रोमिला, भारत का इतिहास, पृ० 63। इस मत के विस्तृत विवेचन के लिए उनके ग्रन्थ 'अशोक एण्ड दि डेक्लाइन ऑव दि मौर्यंज' का अध्याय 5 भी देखें।

[2]पाण्डेय, गो० च०, श्रमण ट्रेडीशन, पृ० 50 अ०।

[3]सेना, आई० ए०, 1891, पृ० 264–5।

थोपता ।[1] भाण्डारकर आदि ने मान्यता रखी है कि अभिलेखों का धंम बौद्ध धर्म का वह रूप है जो गृहस्थों अर्थात् उपासकों के लिए बताया गया था। भाण्डारकर का कहना है कि यद्यपि अशोक का धंम उन सिद्धान्तों को स्वीकृत करता है जिनको सभी धर्म अनायास मान सकते हैं, परन्तु स्वयं अशोक को इनकी प्रेरणा बौद्ध धर्म से ही मिली थी। वह कहते हैं कि यदि एक बार यह समझ लिया जाये कि अशोक स्वयं बौद्ध था और गृहस्थों को उपदेश दे रहा था तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं लगेगा कि उसने अपने अभिलेखों में अष्टांगिक मार्ग, प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण आदि का उल्लेख नहीं किया है और स्वर्ग को धंम का पारलौकिक फल बताया है क्योंकि बौद्ध धर्म के अनुसार स्वर्ग का ध्येय उपासकों के लिए है और निर्वाण का भिक्षुओं के लिए ।[2] हमारे विचार से यही मत सत्य के निकट है।

धंम नीति का प्रशासन पर प्रभाव और धंम प्रचार के उपाय

धंम प्रचार के हेतु प्रशासकीय सुधार

अशोक की धंम नीति का उसके प्रशासन पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। वस्तुतः उसके शासन काल में सम्पूर्ण मौर्य प्रशासन का प्रमुख उद्देश्य ही उसके धंम के आदर्श को व्यावहारिक रूप देना हो गया। इसके लिए उसने अनेक सुधार और परिवर्तन किये। इनका विस्तृत विवरण आभिलेखिक साक्ष्य के विवेचन में दिया जा चुका है। यहाँ हम एतद्विषयक विचार-बिन्दुओं को जो पीछे यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं, समवेत रूप से उल्लिखित कर रहे हैं। एक, अशोक ने यज्ञों के लिए पशु वध का निषेध कर दिया (प्रथम शि० ले०) तथा विशेष अवसरों और दिवसों पर पशु वध को सीमित कर दिया (पंचम शि० ले०)। दूसरे, उसने लोक प्रचलित समाजों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जिनमें पशु युद्ध करवाये जाते थे, सुरापान किया जाता था, मांस भक्षण होता था तथा नृत्य, गायन, वादन आदि से मनोरंजन किया जाता था। इसके स्थान पर उसने धंम समाज प्रचलित किये (दे०, पीछे)। तीसरे, उसने धंम प्रचार और धर्मानुशासन के लिए अपने साम्राज्य के सम्पूर्ण राजपुरुषतन्त्र (ब्युरोक्रेसी) को लगा दिया तथा राजूक, प्रादेशिक, व्रजभूमिक आदि पदाधिकारियों के कर्त्तव्यों में अपने-अपने क्षेत्रों में इस नीति के अनुसार दौरा करना (अनुसंयान) आवश्यक कर दिया। उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों में भी तदनुसार परिवर्तन कर दिये। चौथे, अशोक ने अपनी धंम नीति को व्यावहारिक रूप देने के लिए धंममहामात्त और कुछ अन्य नवीन पदाधिकारी नियुक्त किये। पाँचवें, अशोक ने अपने प्रतिवेदकों को विशेष आदेश दिये कि वे महामात्रों से सम्बन्धित समस्त सूचनाएँ उसके पास तत्काल पहुँचायें। छठे,

[1]बरुआ, अशोक एण्ड हिज़ इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० 225–282।

[2]भाण्डारकर, अशोक, पृ० 105 अ०।

अशोक ने बन्दियों की दशा सुधारने के लिए विशेष उपाय किये। इनमें प्रतिवर्ष बन्दियों की मुक्ति एवं उनकी द्रव्यादि से सहायता तथा विशेष परिस्थितियों में उन पर दया दिखाना सम्मिलित थे। सातवें, अशोक ने दीर्घकाल से चली आई विहार-यात्राएँ बन्द कर दीं और इनके स्थान पर धर्मयात्राएँ प्रारम्भ कीं जिनमें ब्राह्मणों और श्रमणों को दान दिया जाता था, वृद्धों का दर्शन किया जाता था और उनके पोषण की व्यवस्था की जाती थी, जनपद के लोगों से भेंट की जाती थी और उनके साथ धर्मचर्चा की जाती थी। स्पष्टत: इनके द्वारा अशोक आम जनता के सम्पर्क में आ पाता था। आठवें, अशोक ने समस्त साम्राज्य में स्तम्भों, शिलाओं तथा पाषाण फलकों पर धंमलिपियाँ लिखवायीं जिन्हें उसके राजपुरुष जनता को पढ़कर सुनाते और समझाते थे।[1] नवें, अशोक ने अपने धंम के आदर्शानुसार दण्ड-समता और व्यवहार-समता के सिद्धान्त को लागू किया।

इस प्रकार अशोक ने अपने धंम को जनता में लोकप्रिय बनाने के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक की धारणा है कि उसने ब्राह्मी लिपि का आविष्कार ही इसी उद्देश्य से करवाया था जिससे वह अपने धंम के आदर्शों को चिर-स्थायी करा सके और जनता के कम-से-कम एक वर्ग—राजकर्मचारियों व भिक्षुओं आदि—को इस लिपि को सिखा कर इसके माध्यम से अपना संदेश जनता तक पहुँचा सके। आजकल यह धारणा सर्वस्वीकृत-सी हो गई है कि उसने अपने लेख आम जनता के लिए लिखवाये थे, इसलिए उसके पूर्व भी भारत के लोग ब्राह्मी लिपि से परिचित रहे होंगे। परन्तु यह तर्क गलत है। अगर अशोक यह समझता कि भारत के सामान्यजन ब्राह्मी पढ़ सकते हैं तो वह इस लिपि के साथ आम जनता की भाषा भी प्रयुक्त करता जैसा कि उसने पश्चिमोत्तर भारत में यूनानी लिपि व एरेमाइक भाषाओं और लिपियों का प्रयोग करते समय किया। लेकिन भारत के शेष सभी भागों में वह ब्राह्मी लिपि के लेखों में मागधी प्राकृत का बहुत ही मामूली अन्तरों के साथ प्रयोग करता है। स्पष्ट है कि इस भाषा को सभी प्रदेशों के भारतीय नहीं समझ पाते होंगे। उदाहरण के लिए तत्कालीन मैसूरवासी जनता निश्चय ही द्रविड बोलियाँ बोलती होगी। अत: निष्कर्ष स्पष्ट है कि उसके ये लेख आम जनता के लिए नहीं, मैसूर के उन बौद्ध धर्म-प्रचारकों, राजकर्मचारियों आदि के लिए थे जो राज-

---

[1]कर्न ने इस धंमलिपि का अर्थ किया है 'righteousness edict', ब्युलर ने 'religious edict', हूल्श ने 'moral script', सेना ने केवल 'edict', भाण्डारकर ने 'धर्मशासन' तथा जनार्दन भट्ट ने 'धर्म सम्बन्धी लेख'। जैसा कि भाण्डारकर ने ध्यान दिलाया है स्वयं अशोक ने 'धंमलिपि' नाम का प्रयोग केवल चौदह शिला-लेखों एवं सात स्तम्भ-लेखों के लिए किया है। लघु शिला-लेखों को वह 'धंम सावन' (=धर्म श्रावण) कहता है, पृथक् कलिंग-लेखों को मात्र 'लिपि' तथा संघभेद-अभिलेख को 'सासन' (=शासन=आज्ञा)। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि 'धंमलिपि' से अशोक का आशय केवल उन लेखों से था जो उसने धर्म के प्रचारार्थ लिखवाये थे। यहाँ 'धंम' को अशोकीय 'धंम' के अर्थ में लेना होगा न कि उस विस्तृत अर्थ में जिसमें भारत में 'धंम' शब्द का प्रयोग होता रहा है।

भाषा के साथ नवीन सद्य-आविष्कृत लिपि सीख रहे थे। अशोक के युग में ब्राह्मी लिपि का समस्त भारत में एक-सा रूप भी इस बात का प्रमाण है कि इसका आविष्कार तभी हुआ था। अगर इसका प्रचलन अशोक से पाँच-सात सौ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ होता तो अशोक के समय तक इसके अनेक प्रादेशिक रूप हो गये होते। इसलिए हमें यह निश्चित-सा लगता है कि अशोक ने ही ब्राह्मी लिपि का आविष्कार कराया था और इसकी सहायता से अपने धंम का प्रचार किया था।

अशोक की प्रचार-विधियाँ

अपने धंम के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए अशोक इतना उत्सुक था कि उसने एक ही बात का अनेकत्र प्रतिपादन किया है। इससे उसके लेखों में पुनरुक्ति-दोष भी आ गया है। पर लगता है उसे इसमें भी आनन्द का अनुभव होता था। अपनी बात समझाने के लिए वह तुलना करने की विधि अपनाता है। उसके लेखों में अनेक तुलनाएँ मिलती हैं। एक तुलना मङ्गलाचार के सम्बन्ध में है। नवें शि० ले० में वह निरर्थक मंगलों की तुलना धंममंगलों से करता है। इसी प्रकार 11वें शि० ले० में वह साधारण दान और धर्मदान में भेद करता है। अशोक की सम्मति में "ऐसा कोई दान नहीं है, जैसा धर्म का दान है।" इसी लेख में धर्मदान के साथ-साथ धर्म-संस्तव, धर्म-संविभाग और धर्म-सम्बन्ध का भी उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार का अन्तर सामान्य लोक-प्रचलित समाजों व धंम समाजों तथा शस्त्र-विजय और धंम विजय में बताया गया है।

अशोक ने धंम प्रचार के लिए कुछ लोक प्रचलित विधियों को नया रूप दिया। अपने चतुर्थ शिला-लेख में वह कहता है : "देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से भेरी-घोष धर्म-घोष हो गया है, विमानदर्शन, हस्तिदर्शन, अग्निस्कन्ध तथा अन्य दिव्य रूपों को प्रदर्शित करके।" विमान देवताओं के रथ या वाहन को कहते हैं। विमानों में दिखाये गये दृश्यों का प्रयोजन यह था कि जनता उन्हें देखकर देवत्व की प्रेरणा प्राप्त करे। हाथी का सम्बन्ध बुद्ध के जीवन से है। शायद हस्तिदर्शन द्वारा बुद्ध के परोपकारी और लोकोत्तर जीवन के प्रति जनता का ध्यान आकृष्ट किया जाता था। अग्निस्कन्ध तेज और देवत्व का प्रतीक है। अग्निस्कन्ध को प्रदर्शित कर जनता को देवत्व प्राप्त करने तथा तेजस्वी बनने की प्रेरणा दी जाती थी। सम्भवत: ये सब प्रदर्शन उन समाजों में ही किये जाते थे जो अशोक की दृष्टि में साधु थे और जिन्हें उसने धंम विजय का साधन बताया है।

जन-कल्याण के कार्य

धंम विजय नीति की सफलता के हेतु अशोक ने जन-कल्याण के अनेक कार्य किये। इनका समवेत विवरण सातवें स्त० ले० में मिलता है। वह कहता है: "मेरे द्वारा मार्गों पर न्यग्रोध (वट-वृक्ष) रोपे गये। वे मनुष्यों और पशुओं के लिए छाया प्रदान

किया करेंगे। आम्रवाटिकाएँ भी लगवाई गईं। आधे-आधे कोस पर उदपान (जलाशय या कुएँ) खुदवाये गये। आश्रय-स्थान (=सराय) बनवाये गये। जहाँ-तहाँ मेरे द्वारा बहुत-से आपान (प्याऊ) भी मनुष्यों और पशुओं के प्रतिभोग के लिए बैठाये गये। किन्तु ये उपयोगी कार्य लघु (न्यून) हैं। पूर्व काल के राजाओं ने और मैंने भी विविध प्रकार के सुख पहुँचाने वाले कार्य किये और उनसे लोगों को सुखी भी किया। पर मैंने जो ये कार्य किये हैं उनका प्रयोजन यह है कि (लोग) धर्मानुप्रतिपत्ति (=धर्मानुशासन) का अनुपालन करें।" जनता के हित और सुख के लिए कल्याणकारी कार्य प्राचीनतर राजाओं द्वारा भी किये जाते थे, पर धंमविजय की नीति को अपना लेने के अनन्तर अशोक ने छायादार वृक्ष लगवाने, कुएँ खुदवाने, सराय बनवाने और प्याऊ बैठाने आदि के जो लोकोपकारी कार्य किये, उनका उद्देश्य था लोगों को धर्माचरण में प्रवृत्त करना। अशोक ने अपनी रानियों, पुत्रों और अन्य पारिवारिक जनों को भी इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे दान, परोपकार आदि में प्रवृत्त हों जिससे धंम विजय में सहायता मिले। सातवें स्त० ले० में ही वह कहता है: "ये (धर्ममहामात्र) और अन्य बहुत-से मुख्य (राजकर्मचारी) दान-वितरण के कार्य के लिए नियुक्त हैं। वे मेरे और देवी (प्रधान महिषी या पटरानी) के (दान-वितरण) में मेरे सम्पूर्ण अवरोधन (अन्तःपुर) में बहुत प्रकार के और (प्रभूत) परिमाण में तुष्टिकारक कार्यों का सम्पादन करते हैं, यहाँ (पाटलिपुत्र में) और अन्य दिशाओं में (अन्य स्थानों पर)। अन्य रानियों द्वारा दान-वितरण की (व्यवस्था) भी मुझ द्वारा की गई। अन्य देवीकुमारों के दान-वितरण के लिए भी ये (धर्ममहामात्र और मुख्य अधिकारी) व्यापृत रहेंगे।" अशोक की दूसरी रानी कारुवाकी के दानकार्य का उल्लेख प्रयाग लघु स्त० ले० में हुआ भी है।

धंम विजय नीति की सफलता के लिए अशोक ने अपने राज्य में तथा पड़ोसी विदेशी राज्यों में मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा की व्यवस्था की तथा औषधियों और फल-मूलों के उत्पादन का प्रबन्ध भी किया—कुछ वैसे ही जैसे आधुनिक काल में ईसाई प्रचारक अपने धर्म के प्रचार के हेतु देश-विदेश में चिकित्सालयों की स्थापना करते हैं। इससे उसके धंम के साथ बौद्ध धर्म भी विदेशों में फैला।

धंम विजय की अवधारणा, उसकी व्यापकता तथा प्रभाव

धंम विजय की अवधारणा : राजनीतिक पक्ष

अशोक के लेखों में 'धंम विजय' शब्द 'सरसक विजय' (='शर विजय' अर्थात् 'शस्त्र विजय') का विलोमार्थक है। अशोक की धर्म विजय के दो मुख्य पक्ष थे—एक निषेधात्मक जिसमें आक्रामक सैनिकवाद को त्यागने और शस्त्र-प्रयोग के समय भी सहनशीलता व संयम से काम लेने की भावना निहित थी और दूसरा सकारात्मक पक्ष जिसमें द्वितीय शि० ले०, सप्तम स्त० ले० व रानी के लेख आदि में परिगणित जनहित के

कार्यों को करने एवं धर्म-प्रचार के लिए दूत भेजने पर बल दिया गया था। रायचौधुरी के अनुसार अशोक की धंम विजय का आदर्श वही था जिसे 'चक्कवत्ती सीहनाद सुत्तन्त' में 'बिना दण्ड और शस्त्र के द्वारा, धर्म द्वारा विजय' (अदण्डेन असत्थेन धम्मेन अभि-विजय) कहा गया है। 'दीघ निकाय' के 'महापदन सुत्त' और 'लक्खण सुत्तन्त' में कहा गया है कि अगर कोई व्यक्ति बत्तीस लक्षणों के साथ उत्पन्न होता है तो वह या तो बुद्ध बनता है और या शस्त्र और दण्ड के स्थान पर धर्म से विजय प्राप्त करने वाला चक्रवर्त्ती धर्मराज। 'चक्कवत्ती सीहनाद सुत्तन्त' में कहा गया है कि जब धम्म चक्कवत्ती उत्पन्न होता है तो उसके राजप्रासाद पर एक दैवी चक्र प्रकट होता है। जहाँ-जहाँ वह चक्र जाता है, वहाँ-वहाँ के राजा अपने राज्य चक्रवर्त्ती को भेंट करके उसके अधीन हो जाते हैं। यह धर्म विजय युद्ध से प्राप्त नहीं होती परन्तु इसमें विजय प्राप्ति और साम्राज्य-स्थापना कल्पना की बात भी नहीं होते, यथार्थतः होते हैं। परन्तु अशोक की धर्म विजय इस आदर्श से कुछ भिन्न थी क्योंकि वह (1) यूनानी और सुदूर दक्षिणी राज्यों में भी धंम विजय पाने का दावा करता है जो निश्चय ही उसके अधीन नहीं थे तथा (2) स्वयं अपने साम्राज्य में भी धंम विजय पाने की चर्चा करता है जो उपर्युक्त आदर्श में निरर्थक बात होगी। अतः स्पष्टतः उसके अभिलेखों की धंम विजय का आशय मात्र उन आदर्शों के प्रचार और लोक-कल्याणकारी कार्यों के सम्पादन से है जिनका उल्लेख उसने अभिलेखों में किया है।

अशोक की धंम विजय का आदर्श 'महाभारत' (11.59.38–9), 'हरिवंश' (1.41.12), 'अर्थशास्त्र' (12.1) तथा 'रघुवंश' (4.43) में वर्णित हिन्दू धर्म विजय से भी भिन्न था जिसमें विजेता विजित राज्य में मात्र अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करके सन्तुष्ट हो जाता था। यहाँ एरियन का यह कथन कि भारतीय नरेशों को उनकी न्याय-भावना भारत के बाहर विजय प्राप्त करने से रोकती थी, अनायास स्मरण हो आता है। धर्म विजय के हिन्दू आदर्श में शस्त्र-प्रयोग वर्जित नहीं था, विजित राज्यों को साम्राज्य में मिलाना वर्जित था। अशोक की धंम विजय में शस्त्र प्रयोग, कम-से-कम नये प्रदेशों को जीतने के लिए, पूर्णतः वर्जित था। उसने स्वयं कलिंग-विजय के बाद कोई प्रदेश नहीं जीता। उल्टे, वह पड़ोसी स्वतन्त्र राज्यों को उनके प्रति अपनी शुभकामनाओं का विश्वास दिलाता है और उन्हें आश्वासन देता है कि वे 'उद्विग्न न हों, मुझसे आश्वस्त हों। मुझसे सुख प्राप्त करें दुःख नहीं' (द्वितीय पृथक् कलिंग शि० ले०)। अपने साम्राज्य में भी वह अटवि जनों को अपने प्रताप के साथ पश्चात्ताप का स्मरण दिलाता है, यद्यपि उसके शब्दों में उनके व अन्यों के प्रति एक चेतावनी भी छिपी है : "क्षमा करेंगे राजा जहाँ तक क्षमा करना शक्य है" (द्वितीय पृथक् कलिंग शि० ले०)। स्पष्ट है वह अपनी शक्ति व प्रताप से परिचित था लेकिन चाहता था कि लोग यह बात समझें कि वह यथाशक्ति धैर्य रखेगा और उन्हें क्षमा करेगा।

धंम विजय की व्यापकता

अशोक की धंम विजय की अवधारणा अत्यन्त व्यापक थी—इसके अन्तर्गत मनुष्य ही नहीं सभी प्राणी आते थे और यह अशोक के समय और साम्राज्य तक ही सीमित नहीं थी। उसके कल्याण कार्य मानवोपयोगी ही नहीं थे, पशु-पक्षियों के लिए भी उपयोगी थे। उसने पशुओं की चिकित्सा की व्यवस्था भी की और उनके वध को रोकने का प्रयास भी किया। इसी प्रकार अशोक अपनी धंम विजय के आदर्श को अपने युग के लिए ही नहीं भविष्य के लिए भी उपयोगी मानता था। वह चाहता था कि उसके पुत्र, प्रपौत्र और वंशज उसकी नीति का अनुसरण करें और शस्त्र विजय के स्थान पर धंम विजय के लिए प्रयत्नशील रहें। इसी प्रयोजन से उसने प्रस्तर शिलाओं और स्तम्भों पर अभिलेख भी उत्कीर्ण करवाये, ताकि उसका धर्म-सन्देश स्थायी रहे। वह बार-बार कहता है : "इस प्रयोजन से यह धर्मलिपि लिखवाई गई जिससे मेरे पौत्र और प्रपौत्र इसका पालन करें और जब तक सूर्य और चन्द्रमा हैं, यह स्थिर रहे।"

भौगोलिक दृष्टि से अशोक की धंम विजय का क्षेत्र उसका अपना विजित या साम्राज्य तो था ही, अन्य देशों में भी इसके लिए प्रयास किया गया था। अशोक के विशाल साम्राज्य में कुछ ऐसे प्रदेश भी थे जो अशोक के सीधे शासन में नहीं थे, और जिन्हें आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। नाभक, नाभपंति, यवन-कम्बोज, भोज-पितनिक आदि सम्भवतः इसी प्रकार के प्रदेश या जनपद थे। अशोक ने 'इहराजविषय' में इनका पृथक् रूप से उल्लेख किया है। उसके 'विजित' के दक्षिण में चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र और ताम्रपर्णी राज्य थे। ये सब स्वतन्त्र थे। इसी प्रकार उत्तर-पश्चिमी सीमा के परे अन्तियोक का शक्तिशाली साम्राज्य था और उससे भी परे तुरमय, अंतकिनि, मक तथा अलिकसुदर नामक यवन राजाओं के राज्य थे। अशोक उनके राज्यों में भी धंम विजय पाने का दावा करता है। वह कहता है—"देवानांप्रिय के अनुसार वही प्रधान विजय है जो धर्म विजय है। और वह देवानांप्रिय द्वारा पुनः प्राप्त हुई है, यहाँ (अर्थात् उसके अपने राज्य में) और सभी प्रत्यन्त राजाओं में छः सौ योजन तक जहाँ अन्तियोक नाम का यवनराज और उस अन्तियोक के परे चार राजा तुरमय नामक, अंतकिनि नामक, मक नामक, अलिकसुदर नामक (शासन करते हैं। (तथा) नीचे (अर्थात् दक्षिण की ओर) चोडों (=चोलों), पंडों (=पाण्ड्यों), तंबपणिकों (ताम्रपर्णी वासियों) तक। इसी प्रकार यहाँ राजविषयों में (तथा) योन-कम्बोजों (=यवन-कम्बोजों), नभक-नभितिनों (=नाभक-नाभपंतियों), भोज-पितिनिकों (=भोज-पैत्यणिकों), अंध-पलिदों (=अन्ध्र-पुलिन्दों) में सर्वत्र देवानांप्रिय की धर्मानुशस्ति (उसके द्वारा प्रतिपादित धर्म के उपदेशों) का (लोगों द्वारा) पालन किया जाता है। वहाँ भी जहाँ देवानांप्रिय के दूत नहीं पहुँचते, (लोग) देवानांप्रिय की धर्मोक्ति, विधान और धर्मानुशस्ति को सुनकर धर्म का आचरण करते हैं और करते रहेंगे। इस प्रकार सर्वत्र जो विजय उपलब्ध होती है, वह सर्वत्र पुनः प्रेम

रसयुक्त विजय होती है। धर्म विजय में प्रीति प्राप्त होती है। परन्तु वह प्रीति बहुत लघु होती है। देवानांप्रिय (धर्म विजय का) महाफल पारलौकिक (सुख को) ही मानते हैं। इस प्रयोजन के लिए यह धर्मलिपि लिखवाई गई। क्यों ?—(इसलिए कि) मेरे पुत्र (और) पौत्र जो हों वे नई (शस्त्र) विजय को विजय न मानें। यदि वे नई विजय में प्रवृत्त हों तो वे क्षान्ति और लघुदण्डता में रुचि रखें। और उसी को विजय मानना चाहिये जो धर्म विजय है। वह इहलौकिक और पारलौकिक है। जो धर्म-रति है वह पूर्णतः अतिरति है। वही इहलौकिकी और पारलौकिकी है।" इस प्रकार अशोक इस बात का दावा करता है कि उसने न केवल अपने राज्य में अपितु सुदूरवर्ती पड़ोसी राज्यों में भी धंम विजय प्राप्त की थी और यह विजय उसके हृदय में प्रीतिरस को उत्पन्न करती थी। इस प्रकार व्यापकता और विहंगमता की दृष्टि से अशोक की धंम विजय नीति मानव इतिहास में अद्भुत और अनुपम थी।

धंम विजय में सफलता

अशोक ने अपनी धंम विजय नीति में महती सफलता का दावा किया है। इसकी चर्चा वह कई अभिलेखों में करता है। कन्धार द्विभाषी-लेख के एरेमाइक संस्करण में कहा गया है : "दस वर्ष व्यतीत होने पर (अर्थात् अभिषेक के दस वर्ष उपरान्त) हमारे राजा प्रियदर्शी ने लोगों को धर्मोपदेश देने का निश्चय किया। तब से संसार के मनुष्यों में पाप कम हो गया है। जिन लोगों ने दुःख उठाया है उनमें यह समाप्त हो गया है और सारे संसार में शान्ति और आनन्द व्याप्त है। और दूसरी बात में भी, जिनका सम्बन्ध भोजन से है, हमारा स्वामी बहुत कम जीवों का वध करता है। इसको देखकर और लोगों ने भी जीव हत्या बन्द कर दी है। मछली पकड़ने वालों का काम भी निषिद्ध कर दिया गया है। इस प्रकार जिनमें संयम नहीं था उन्होंने संयम सीख लिया है। माता-पिता और गुरुजनों की आज्ञाकारिता और उनके प्रति कर्त्तव्यों के पालन का व्यवहार अब होने लगा है। धार्मिक लोगों पर अब अभियोग नहीं लगाया जाता। इस प्रकार धर्म का पालन सभी लोगों के लिए महत्त्व का है और भविष्य में भी जारी रहेगा।"[1]

अशोक के दावे से स्पष्ट है कि वह यह मानता था कि उसकी धंम नीति पूरी तरह सफल हुई थी। धंम विजय में अपनी सफलता का दावा करते समय उसने अपने लघु शि० ले० में कहा है : 'अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा' अर्थात् अब तक देवता मनुष्यों से अमिश्र थे, उन्हें अब मिश्र कर दिया गया है। रूपनाथ व मास्की संस्करणों में 'मानुसेहि' शब्द नहीं है, अन्य संस्करणों में मनुष्यों का उल्लेख करने वाला शब्द प्रयुक्त है। यह वाक्य अत्यन्त विवादग्रस्त है। 'मिसा' शब्द को मृषा (='मिथ्या') मानकर और 'देव' को भूदेव (='ब्राह्मण') अर्थ में लेकर हरप्रसाद शास्त्री ने सुझाया है कि यहाँ अशोक यह दावा कर रहा है कि उसने ब्राह्मणों को, जो असली देवता माने जाते थे, मिथ्यादेवता सिद्ध कर दिया। परन्तु 'मिसा' के लिए भाब्रु-लेख में

'मुसा' शब्द का प्रयोग हुआ है, 'मिसा' का नहीं। दूसरे, जैसा कि लेवी ने ध्यान दिलाया था, लघु शि० ले० के मास्की संस्करण में मिसिभूता (=संस्कृत का 'मिश्रीभूता') शब्द आता है जिससे स्पष्ट है कि यहाँ अशोक देवताओं और मनुष्यों को 'मिश्रित' करने का ही दावा कर रहा है। एफ० डब्ल्यु० टॉमस के अनुसार अशोक ने एक वर्ष से कुछ ही अधिक समय में भारत की वन्य जातियों को ब्राह्मण देवताओं से परिचित करा दिया। मुखर्जी ने इसका अर्थ माना है: इस बीच वे लोग, जिनका कोई धर्म या देवता नहीं थे, देवोपासक बना दिये गये। यह अशोक के संघ के साथ सम्बन्धित होने का परिणाम था। भाण्डारकर का कहना है कि अशोक यहाँ यह दावा कर रहा है कि उसने मनुष्यों को नैतिक दृष्टि से इतना श्रेष्ठ बना दिया कि वे स्वर्ग में देवताओं का सामीप्य प्राप्त करने लगे। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' के अनुसार पहिले देवता और मनुष्य साथ-साथ रहते थे। बाद में देवता अपने कर्मों की उत्तमता के कारण (यज्ञ करने के कारण) स्वर्ग चले गये, मनुष्य पृथिवी पर ही रह गये। अतः अशोक के कथन का अर्थ यह प्रतीत होता है कि उसने मनुष्यों को धर्म के मार्ग पर चलाकर देवताओं का सामीप्य प्राप्त करा दिया। लेकिन 'आपस्तम्ब' में जिन देवताओं की बात कही गयी है वे पितर हैं, देवता नहीं, जो यज्ञ करने के कारण स्वर्ग को प्राप्त हुए थे। दूसरे, यहाँ अशोक का दावा यह है कि पहिले जम्बुद्वीप में देवता और मनुष्य अमिश्र थे, अब मिश्रित हो गये हैं जबकि आपस्तम्ब० में इससे ठीक उल्टी बात कही गई है। तीसरे, अशोक देवताओं और मनुष्यों के इसी पृथिवी पर मिश्रित होने की बात करता है, परलोक में नहीं। यह सही है कि इसी लेख में वह 'विपुल स्वर्ग' प्राप्त करने की चर्चा करता है और अन्य अभिलेखों में पराक्रम (=उद्योग) द्वारा स्वर्ग प्राप्ति को जीवन का उद्देश्य बताता है (दे०, 4था, 9वाँ तथा 10वाँ शि० ले०), लेकिन यहाँ वह स्वयं पृथिवी पर ही देवताओं और मनुष्यों के मिश्रित होने की बात कह रहा है। बरुआ ने ध्यान दिलाया है कि तत्कालीन बौद्ध साहित्य में तीन प्रकार के देवता बताये गये हैं—उपपत्ति देव (जो जन्म से देवता है, अर्थात् स्वर्गीय देवता), सम्मुति देव (वे जो आदर के लिए देवता कहे जाते हैं यथा राजा, राजकुमार, वायसराय आदि) तथा विसुद्धि देव (ब्राह्मण और श्रमण आदि)। 'अर्थशास्त्र' (12.3) में भी कहा गया है: ये देवा देवलोकेषु, मानुषेषु ब्राह्मणाः। बरुआ के अनुसार यहाँ अशोक का आशय है कि उसने सम्मुति देवों और विसुद्धि देवों को सामान्य जनों के निकट ला दिया था।

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ अशोक के कथन का शाब्दिक अर्थ करना उचित नहीं है। देवताओं और मनुष्यों का स्वयं इसी पृथिवी पर मिलाप प्राचीन भारत में एक लोकप्रिय धार्मिक कल्पना और साहित्यिक प्रतीक था। 'वेदान्तसूत्र' की टीका करते समय शंकराचार्य ने देवताओं के द्वारा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति की सम्भावना का समर्थन करते हुए कहा है कि देवताओं का भी व्यक्तित्व होता है जो वैदिक मन्त्रों, अर्थवाद, इतिहास, पुराणों और स्मृति ग्रन्थों से प्रमाणित है। स्मृतियों

और पुराणों में भी कहा गया है कि व्यास आदि ऋषि देवताओं से वार्तालाप करते थे। यह कहना कि आज पृथिवी पर देवता नहीं हैं इसलिए पहिले भी नहीं थे उसी प्रकार तर्कहीन बात है जैसे यह कहना कि क्योंकि आजकल पृथिवी पर चक्रवर्ती नरेश नहीं हैं इसलिए पहिले भी नहीं होते थे। अतः यह मानना अनुचित नहीं है कि प्राचीन लोग देवताओं से वार्तालाप किया करते थे।[1]

प्राचीन भारतीय साहित्य में पृथिवी पर देवताओं और मनुष्यों के मिलाप का काल्पनिक वर्णन कई स्थलों पर मिलता है। 'महाभारत' के वनपर्व (131.34) में कहा गया है कि शिवि उशीनर के सदन में मुनियों और देवताओं का मिलन महात्मा ब्राह्मण लोग सदैव देख सकते थे :

तत्र वै सततं देवा मुनयश्च सनातनाः।
दृश्यन्ते ब्राह्मणैर्राजन् पुण्यवद्भिर्महात्मभिः॥

एक अन्य स्थल पर इस ग्रन्थ में सुबाहु नामक नरेश के राज्य को देवताओं के सम्पर्क में रहने वाला कहा गया है। रामराज्य का वर्णन करते हुए इस ग्रन्थ (2.3.60) में कहा गया है :

ऋषीणां देवतानां च मनुष्याणां च सर्वशः।
पृथिव्यां सहवासोऽभूत् रामराज्ये प्रशासति॥

इसी प्रकार 'रामायण' के उत्तरकाण्ड (41.17–18) में कहा गया है :

भरतः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच रघुनन्दनम्।
विबुधात्मानि दृश्यन्ते त्वयि वीर प्रशासति ॥17॥
अमानुषाणि सत्त्वानि व्याहृतानि मुहुर्मुहुः।

'हरिवंश' (3.32.1) में भी एक स्थल पर आया है : 'देवतानां मनुष्याणां सहवासो भवत्तदा''। 'मणिमेखलाई' में 28 दिन तक चलने वाले दीपकोत्सव का उल्लेख मिलता है जिसमें लोग इसलिए कोई अपकृत्य नहीं करते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि उन दिनों देवता उनके बीच आकर रहते हैं। स्वयं प्राचीन अभिलेखों में देवताओं और मनुष्यों के सम्पर्क की कल्पना उल्लिखित मिलती है। एक अभिलेख में कहा गया है कि शैलोद्भव नरेश अयशोभीत माधवराज (लग० 665–95 ई०) दिवंगत सन्तों को पृथिवी पर बुलाकर उनसे वार्तालाप कर सकता था।[2] एक कम्बुज अभिलेख में कहा गया है कि एक बार जब एक मुनि ने शिवलिंग प्रतिष्ठापित किया तो स्वयं इन्द्रादि देवता उसे बधाई देने और उसे स्वर्ग चलने का निमन्त्रण देने आये

[1]एस०बी०ई०, 34, पृ० 222–3।
[2]आई०इ०, 29, पृ० 35।

थे जिसे मुनि ने नम्रतापूर्वक अस्वीकृत कर दिया था।[1] इस प्रसंग में जे० एस० नेगी ने ध्यान दिलाया है कि 'संयुक्त निकाय' के 'देवपदसुत्त' में श्रद्धालु श्रावकों को, जो सील (=शील) का अभ्यास करते हैं, देवच्युत बताया गया है। इस सिद्धान्त को मानने पर स्वीकार करना होगा कि पृथ्वी पर एक ही समय अनेक देवता विद्यमान हो सकते हैं। अतः हमें ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक ने अपने धर्मप्रचार की सफलता का कुछ अतिरञ्जित रूप से वर्णन करने के लिए जनमानस में प्रचलित देवताओं के साथ मनुष्यों के सम्पर्क की इस अवधारणा का ही प्रतीकात्मक रूप से उपयोग किया है। इसका शाब्दिक अर्थ करना सर्वथा अनावश्यक है। यहाँ अशोक का तात्पर्य मात्र इतना है कि उसने जम्बुद्वीप में सतयुग की स्थापना कर दी थी। स्पष्टतः वह यहाँ अपने धर्म प्रचार की उपलब्धियों को उस भाषा में कह रहा है जिसे उसके युग के लोग आसानी से समझते थे।[2]

भारतेतर देशों में अशोक के धंम प्रचार का कितना प्रभाव पड़ा, यह विवादग्रस्त है। यह प्रश्न उसके द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ भी जुड़ा है क्योंकि धंम प्रचार में उसकी सफलता के प्रमाण शेष रहना सम्भव नहीं था जबकि इसी प्रयास के दूसरे पक्ष—बौद्ध धर्म के प्रचार में सफलता—के प्रमाण अवशिष्ट रह सकते थे। उसके तेरहवें शिला-लेख में कहा गया है कि "सभी प्रत्यन्त राज्यों में छः सौ योजन तक जहाँ अन्तियोक नाम का यवन राज और अन्तियोक के परे चार राजा तुरमय नामक, अंतकिनि नामक, मक नामक, अलिकसुदर नामक (शासन करते हैं).... सर्वत्र देवानांप्रिय की धंमानुशस्ति (उसके द्वारा प्रतिपादित धंम के उपदेशों) का (लोगों द्वारा) पालन किया जाता है। वहाँ भी जहाँ देवानांप्रिय के दूत नहीं पहुँचते, (लोग) देवानांप्रिय की धर्मोक्ति, विधान और धर्मानुशस्ति को सुनकर धर्म का आचरण करते हैं और करते रहेंगे।" तीसरी बौद्ध संगीति के विवरण में भी यवन देशों में धर्म प्रचारक भेजे जाने की चर्चा है। तेरहवें शिला-लेख के कथन को बहुत-से विद्वान् विश्वसनीय नहीं मानते। रीज़ डेविड्स ने सुझाव रखा है कि "बहुत सम्भव है कि धर्म प्रचार के महत्त्व को बढ़ा-चढ़ाकर प्रतिपादित करने के लिए यूनानी नरेशों का उल्लेख कर दिया गया है, जबकि हो सकता है वास्तव में वहाँ कोई धर्म प्रचारक भेजा ही न गया हो।"[3] इस शंकावाद का बी० सी० लाहा तथा रायचौधुरी ने विरोध किया है।[4] उन्होंने ध्यान दिलाया है कि (1) सर फिलेण्डर्स पेट्री के अनुसार टॉलेमी के शासन काल में बौद्ध पर्व, उत्सव-समारोह तथा स्वयं बौद्ध धर्मावलम्बी मिस्र पहुँच चुके थे। उनकी इस धारणा का आधार मेम्फिस से प्राप्त

[1]मजूमदार, इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव कम्बुज, पृ० 439 अ०; नेगी, जे० एस०, सम इण्डोलोजिकल स्टडीज़, 1, पृ० 175 अ०।

[2]धंम विजय नीति के परिणामों के लिए दे०, अशोक का मूल्यांकन।

[3]बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 298।

[4]लाहा, बुद्धिस्ट स्टडीज़; रायचौधुरी, पो०हि०एं०इं०, हिन्दी, पृ० 450।

भारतीय मूर्त्तियाँ हैं। (2) अल्बेरूनी के अनुसार प्राचीन काल में खुरासान, फारस, ईराक, मोसुल तथा सीरिया की सीमा तक फैले हुए प्रदेश के लोग बौद्ध धर्मावलम्बी थे। उनको वहाँ से पारसी धर्मावलम्बियों ने निष्कासित किया था। 'भूरिदत्त जातक' में भी इस बात की चर्चा है कि बौद्धों की अग्निपूजकों से शत्रुता थी।[1] (3) अल्बरूनी के पूर्व शुआन-च्वांग ने ईरान के एक प्रदेश लांग-को-लो में 100 बौद्ध विहारों और 6,000 बौद्ध मतावलम्बियों का अस्तित्व बताया है और स्वयं ईरान में भी कुछ विहारों की विद्यमानता बताई है। (4) स्टीन को हेल्मण्ड प्रदेश में एक विहार के अवशेष मिले थे। (5) मनीशियन धर्म के प्रवर्त्तक मानी के विचारों पर बौद्ध धर्म का प्रभाव मिलता है। लेग्गे तथा इलियट ने मनीशियन धर्म की एक पुस्तक का उल्लेख किया है जिसे बौद्ध सूत्रों की तरह लिखा गया है और जिसमें मानी को तथागत कहा गया है तथा बुद्ध एवं बोधिसत्त्व का उल्लेख किया गया है। (6) 148 ई० पू० में एक पार्थियन राजकुमार के बौद्ध हो जाने की चर्चा मिलती है तथा दन्दान उलिक से ईरानी वेशभूषाधारी एक बोधिसत्त्व मूर्त्ति मिली है। (7) इलियट ने कुछ मनीशियन ग्रन्थों तथा बौद्ध सुत्तों एवं पातिमोक्ख में समानता पाई है। इन मनीशियन ग्रन्थों में एक को बोद्दस (=बुद्ध) नामक व्यक्ति ने संशोधित किया था। (8) बहुत-सी जातक कथाओं एवं 'अरेबियन नाइट्स्' की कथाओं में समानता मिलती है। इन तथ्यों से लगता है कि प्राचीन पश्चिमी एशिया पर बौद्ध प्रभाव अवश्य पड़ा था। लेकिन इस प्रभाव में अशोक का योगदान कितना था, यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन ही नहीं, असम्भव-सा है।

---

[1] इलियट, चार्ल्स, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, 3, पृ० 450।

अध्याय 17

अशोक का प्रशासन

केन्द्रीय प्रशासन

राजत्व आदर्श

मौर्य साम्राज्य की प्रशासकीय व्यवस्था एकतन्त्रवादी थी और सम्राट् की निरंकुशता पर आधृत थी। इसमें राजा की स्वेच्छाचारिता को नियन्त्रित करने वाली प्रतिनिधि सभाएँ नहीं थीं। जो 'परिषद्' आदि संस्थाएँ अस्तित्वमान थीं वे मात्र शासन-कार्य में राजा की सहायता करने के लिए थीं। उस समय राजा पर यदि कोई नियन्त्रण था तो वह या तो जनता के विद्रोह के भय के रूप में था और या शास्त्र-मर्यादा के पालन की आवश्यकता के रूप में। अशोक के लेखों में राजा की स्थिति व शक्ति के सम्बन्ध में कुछ उल्लेखनीय संकेत मिलते हैं। धौली और जौगढ़ के पृथक् शिला-लेखों का प्रारम्भ प्रायः इस प्रकार हुआ है—"मैं जो कुछ (उचित) समझता हूँ उसकी मैं इच्छा करता हूँ और उसी को कर्म द्वारा सम्पादित करता हूँ और मेरा मुख्य प्रयास यह है कि आप लोगों में धर्मानुशासन (पैदा कराऊँ)।" यद्यपि इसके पश्चात् अशोक ने अपनी जिस इच्छा को क्रियान्वित करने के लिए अपने राजपुरुषों को आदेश दिया है वह प्रजा के हित-सुख के सम्बन्ध में है, पर यहाँ अशोक का यह कथन ध्यान देने योग्य है, 'मैं जो कुछ (उचित) समझता हूँ उसी की इच्छा करता हूँ और उसे ही विविध कर्मों द्वारा सम्पादित करता हूँ।' यह उक्ति स्पष्टतः एक ऐसे शासक की है जिसकी राजकीय इच्छा पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था और जो सब प्रकार के उपायों से अपनी इच्छा को पूर्ण करने की स्थिति में था। लेकिन स्वेच्छाचारी होते हुए भी अशोक दयालु और प्रजापालक था। वह प्रजा को अपनी सन्तान की तरह मानता था। अपने प्रथम पृथक् धौली शि० ले० में वह कहता है : "सब मनुष्य मेरी प्रजा (सन्तान) हैं। जिस प्रकार मैं अपनी सन्तान के लिए यह चाहता हूँ कि वे सब हित और सुख—इहलौकिक और पारलौकिक—प्राप्त करें उसी प्रकार मैं सब मनुष्यों के लिए भी कामना करता हूँ" (सवे मुनिसे पजा ममा अथा पजाये इछामि हकं किंति सवेन हितसुखेन हिदलोकिक-पाललोकिकेन यूवेजूति तथा मुनिसेसु पि इछामि)। द्वितीय पृथक् धौली शि० ले० में उसने अपनी भावना को और भी अधिक अच्छी तरह प्रकट किया है : "उनको (मनुष्यों को) यह

आश्वासन देना चाहिये जिससे कि वे जान जायें कि देवानांप्रिय हमारे लिए पिता के समान है। जैसे देवानांप्रिय अपने प्रति अनुकम्पा करता है (=जैसा अपने लिए चाहता है) वैसे ही हमारे ऊपर भी अनुकम्पा करता है (वैसा ही हमारे लिए भी चाहता है)। जैसी देवानांप्रिय की अपनी सन्तान है वैसे ही हम भी हैं" (अथ पिता तथा देवानंपिये अफाक अथा च अतानं हेवं देवानंपिये अनुकंपति अफे अथा च पजा हेवं मये देवानंपियस)। स्पष्टतः अशोक ने यह प्रयत्न किया था कि वह जनता का पालन अपनी सन्तान के समान करे। पर राजा और प्रजा के सम्बन्ध में यह विचार भारत में एक नई बात थी। बौद्ध साहित्य में राजा को 'महासम्मत' कहा गया है, क्योंकि वह जनता की सम्मति या सहमति से राजा के पद को प्राप्त करता है। राजा और प्रजा के सम्बन्ध को पिता और पुत्र के सम्बन्ध के सदृश कौटलीय 'अर्थशास्त्र' में भी नहीं माना गया है। कौटल्य के अनुसार प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है और प्रजा के हित में ही राजा का हित है। जो राजा को प्रिय हो उसे करने में राजा का हित नहीं है, अपितु प्रजा को जो प्रिय हो उसे करने में ही राजा का हित है।[1] पर अशोक जिसे उचित समझता था उसी की इच्छा करता था और उसी को क्रियान्वित करना वह प्रजा के लिए हितकर मानता था। उसका यह आदर्श कौटिल्य के आदर्श से बिल्कुल उल्टा था।

अशोक के सारनाथ लघु स्तम्भ-लेख में 'सासन' (=शासन=आदेश) शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया गया है मानो यह कानून का दर्जा रखता था। अब, भारतीय परम्परा में विधि के चार स्रोत माने गये हैं—श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा अपना अन्तःकरण।[2] इसमें राजशासन को विधि का स्रोत नहीं माना गया है। इसलिए इस विषय में भी अशोक परम्परा-विरुद्ध चल रहा था। परन्तु स्मरणीय है कि (1) अशोक उस समय एक बौद्ध नरेश था, ब्राह्मण परम्परा का अनुयायी नहीं तथा (2) यह 'शासन' उसने बौद्ध संघ के लिए जारी किया था। (3) यह भी कहा जा सकता है कि अशोक ने यह आदेश संघ के आचार के अनुसार जारी किया था।

अशोक यह मानता था कि यदि राजा प्रमादी हो तो सेवक भी प्रमादी हो जाते हैं। इसी कारण उसने जिस नीति को उचित समझा, उसे सफल बनाने के लिए पूरा-पूरा पराक्रम (=उद्योग) किया और अपने राजपुरुषों को भी अधिकतम उद्योग करने के लिए प्रेरित किया। वह अपने महामात्रों से कहता है—"आपको यह इच्छा करनी चाहिये। क्या इच्छा? कि हम मध्य (निष्पक्ष) मार्ग का अनुसरण करें। किन्तु इन वासनाओं से सफलता प्राप्त नहीं होती, ईर्ष्या, आशुलोप (असंतुलन), निष्ठुरता, त्वरा (जल्दबाजी), अनावृत्ति (विवेकविहीनता), आलस्य और क्लमथ (प्रमाद)। अतः

---

[1]प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥ —अर्थशास्त्र, 1.19।

[2]सेनगुप्त, एन० सी०, सोर्सिज ऑव लॉ एण्ड सोसायटी इन एन्श्येण्ट इण्डिया, पृ० 175।

आपको इच्छा करनी चाहिये कि ऐसी वासनायें आप में न हों। इन सबके मूल में होते हैं, आशुलोप और त्वरा। जो निरन्तर क्लान्त होते रहते हैं, वे न उत्कर्ष के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं और न उद्योग ही कर सकते हैं। किन्तु आपको चलना है, आगे बढ़ना है और लक्ष्य की प्राप्ति करनी है।'' स्पष्टतः अशोक मानता था कि उसकी नीति तभी सफल हो सकती है, जबकि उसके कर्मचारी भी उसी के समान उत्थानशील, प्रमादविहीन, विवेकी और दयालु होंगे। उनमें निष्ठुरता, जल्द-बाजी, क्रोध आदि दुर्गुण नहीं होंगे और वे मनोयोग के साथ अपने कर्तव्यों का पालन करेंगे।

अशोक स्वयं भी दत्तचित्तता के साथ राजकार्य करता था। वह जनपदों के निवा-सियों के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क रखने के लिए स्वयं यात्राएँ करता था। इसके लिए वह धर्मयात्राओं में मिलने वाले अवसरों का लाभ भी उठाता था।[1] अपने छठे शिला-लेख में वह कहता है : ''देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा। बहुत समय व्यतीत हुआ भूतकाल में सब समय अर्थकर्म (राज्य के आवश्यक कार्य) और प्रति-वेदना (राजकार्यों की सूचना) नहीं होती थी। अतः मेरे द्वारा ऐसा किया गया। सब काल में (चाहे) मैं भोजन करता होऊँ, (चाहे) मैं अवरोधन (अन्तःपुर) में होऊँ, (चाहे) गर्भागार (शयनगृह) में होऊँ, (चाहे) मैं व्रज (पशुशाला) में होऊँ, (चाहे) मैं विनीत (यान=रथ=पालकी) में होऊँ और (चाहे) मैं उद्यान में होऊँ, सर्वत्र (राज्य में) स्थित (नियुक्त) प्रतिवेदक मुझे जनता के कार्यों की सूचनाएँ देते रहें। (मैं) सर्वत्र जनता के कार्यों का सम्पादन करता हूँ।'' इससे स्पष्ट है कि अशोक अपने राजकीय कर्तव्यों के पालन में अत्यन्त उद्यमी था। मेगास्थेनिज़ ने भी अपनी 'इण्डिका' में एक ऐसे वर्ग का उल्लेख किया है जो राज्य और जनता के सम्बन्ध में सूचनाएँ एकत्र करता था और सरकार को देता था। ये राजपुरुष अशोक के 'प्रतिवेदक' जैसे लगते हैं।

परन्तु अशोक कितना भी उद्यम क्यों न करता, वह समस्त राजकार्य स्वयं नहीं कर सकता था। इसलिए साहित्यिक साक्ष्यानुसार उसने अपनी सहायता के लिए उप-राजा पद बनाया था। राज्याभिषेक के अनन्तर इस पद पर तिष्य की नियुक्ति की गई थी और तिष्य के भिक्षु बन जाने पर महेन्द्र की। परन्तु अभिलेखों में उपराजा पद की चर्चा नहीं मिलती।

परिषद्

अशोक के अभिलेखों में परिषा या परिषद् का उल्लेख मिलता है। छठे शि० ले० में कहा गया है : ''मैं मौखिक रूप से जो कुछ भी आज्ञा प्रदान करूँ, वह चाहे दान के सम्बन्ध में हो और चाहे कोई विज्ञप्ति हो, अथवा यदि मैं कोई आत्ययिक (तुरन्त करणीय) कार्य महामात्रों को सौंपूँ और उनके बारे में परिषद् में कोई विवाद या

---

[1]चट्टोपाध्याय, सु०, पूर्वो०, पृ० 170।

पुनर्विचार के लिए कोई प्रस्ताव उठ खड़ा हो, तो उसकी सूचना मुझे अविलम्ब दी जानी चाहिये—सर्वत्र और सब समयों में।" तीसरे शि० ले० में भी परिषदों का उल्लेख है। साहित्यिक परम्परानुसार बिन्दुसार की परिषद् में 500 सदस्य थे। अशोक के किसी मन्त्री का नाम अभिलेखों में नहीं मिलता। साहित्य से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि उसका अग्रामात्य राधगुप्त था जिसने उसे सिंहासन पाने में सहायता दी थी। 'दिव्यावदान' की एक कथा के अनुसार जब अशोक ने संघ को दान देने के लिए राजकोष से धन लेना चाहा तो अमात्यों ने उसे रोक दिया। स्पष्टतः मन्त्रि-परिषद् द्वारा अशोक का यह संकल्प अनुचित ठहराया गया होगा। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना संगत नहीं होगा कि मौर्य राजा संवैधानिक शासक थे और उनकी शक्ति व इच्छा परिषद् द्वारा नियन्त्रित थी। अशोक के लेखों से मात्र यह ज्ञात होता है कि उस युग में परिषद् का अस्तित्व था और राजा के आदेशों पर उसमें विचार-विमर्श भी होता था। पर यह परिषद् राजा की अपनी कृति थी जिसके सदस्यों को वह परामर्श देने के लिए स्वयं नियुक्त करता था और जो उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। 'दिव्यावदान' की कथा में भी अशोक के अपव्यय को अमात्य परिषद् स्वयं नहीं रोकती, वह युवराज के द्वारा इस अपव्यय को रुकवाती है।

पुरोहित का अनुल्लेख

प्राचीन भारत राज्य में दो शक्तियाँ प्रधान मानी गई हैं, ब्रह्म और क्षत्र। इन दोनों के सहयोग से ही राज्य उन्नति करता है। पुरोहित ब्रह्मशक्ति का प्रतिनिधित्व करता है और राजा क्षत्रशक्ति का। अशोक ने धर्म विजय की नीति को अपनाया और उसकी सफलता के लिए धर्ममहामात्र आदि नये राजपुरुष नियुक्त किये थे। पर उसने कहीं भी पुरोहित का उल्लेख नहीं किया है। सम्भवतः बौद्ध धर्म के प्रभाव में आ जाने और अन्ततोगत्वा इस धर्म में दीक्षित हो जाने के कारण अशोक को ब्रह्म-शक्ति (ब्राह्मण वर्ग) का सहयोग प्राप्त नहीं था। उसके द्वारा 'देवानांप्रिय' विशेषण का अपने लिए प्रयोग किये जाने का कारण सम्भवतः यही था। शायद वह यह प्रदर्शित करना चाहता था कि अनुष्ठान, कर्मकाण्ड आदि द्वारा पुरोहित दैवी शक्तियों से जो सहायता प्राप्त कर सकता था, देवताओं का प्रिय होने के कारण वह उसे स्वतः प्राप्त है।

राजपुरुषतन्त्र

महामात्र

अपने अभिलेखों में अशोक ने उच्च पदाधिकारियों को 'महामात्र' कहा है। निस्सन्देह, ये राज्य के सबसे उच्च पदाधिकारी थे और शासन में विभिन्न प्रान्तों के 'कुमारों' (कुमार-शासकों) की सहायता करते थे। इसीलिए अशोक ने अपने जो आदेश

शिलाओं और स्तम्भों पर उत्कीर्ण कराये हैं उनमें महामात्रों को सम्बोधित किया गया है और उन्हीं से उन आदेशों को क्रियान्वित करवाने की अपेक्षा की गई है। महामात्रों का अधिकार-क्षेत्र बहुत विस्तृत था। इस पर विस्तार से विचार हम पीछे कर आये हैं। उनसे जहाँ एक ओर यह आशा की जाती थी कि वे बौद्ध संघ में फूट नहीं पड़ने देंगे और जो भिक्षु या भिक्षुणी संघ में फूट डालने का यत्न करेंगे उसे श्वेत वस्त्र पहनाकर बहिष्कृत करा देंगे, वहाँ दूसरी ओर उनसे धर्मश्रावण और धर्मानुशासन का कार्य भी लिया जाता था और उन्हें इसके लिए बहुधा अनुसंयान (दौरे) पर भी जाना होता था।

नगर-व्यावहारिक

नगल-वियोहालक (नगर-व्यावहारिक) नामक राजपुरुष महामात्रों की पद-स्थिति रखते थे। धौली के प्रथम पृथक् शि० ले० में 'नगर-व्यावहारिक' के साथ 'महामात्र' विशेषण दिया गया है। ये नगर-व्यावहारिक महामात्र तोसली में नियुक्त थे। इसी प्रकार जौगढ़ प्रथम पृथक् शि० ले० में समापा के नगर-व्यावहारिक महामात्र सम्बोधित हैं। ये नगर-व्यावहारिक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे और बहुत-से हजार मनुष्य इनके अधिकार-क्षेत्र में होते थे। 'नगर-व्यावहारिक' से दो पृथक् महामात्र अभिप्रेत हैं या एक महामात्र—इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। भाण्डारकर के अनुसार नगर-व्यावहारिक नाम का एक महामात्र होता था[1] जबकि जायसवाल के मत में यह शब्द नागरक और व्यावहारिक नाम के दो महामात्रों को सूचित करता है।[2] जौगढ़ प्रथम पृथक् शि० ले० में नगलक (नागरक) नाम के महामात्रों का भी उल्लेख किया गया है: "इस प्रयोजन से यह धर्मलिपि लिखवाई गई, ताकि महामात्र नागरक शाश्वत समय तक इसका पालन करें (एताये च अठाये इयं लिखिता लिपी एन महामाता नगलक सस्वतं समयं एतं युजेयुति)"। इस शि० ले० की धौली प्रतिलिपि में 'नगलक' के स्थान पर 'नगल वियोहालक' शब्द प्रयुक्त हुआ है: "इस प्रयोजन से यह धर्मलिपि लिखवायी गई, ताकि नगर-व्यावहारक शाश्वत समय तक इसका पालन करें" (एताये अठाये इयं लिपि लिखित हिद एन नगलवियोहालका सस्वतं समयं यूजेवूति)। स्पष्ट है कि 'नागरक' और 'नगर-व्यावहारिक' दोनों एक ही पदाधिकारी थे। इनके कार्य शासन और न्याय—दोनों के साथ सम्बन्ध रखते थे, यह धौली और जौगढ़ प्रथम पृथक् शि० ले० से स्पष्ट है। इस लेख में जो तोसली और समापा के नगर-व्यावहारक महामात्रों को सम्बोधित है कहा गया है: "कोई पुरुष ऐसा हो सकता है जिसे बन्धन (कारागार) अथवा परिक्लेश (शारीरिक यातना) का दण्ड मिला हो। किन्तु इस प्रसंग में (यह भी सम्भव है कि किसी का) अकस्मात्

---

[1]भाण्डारकर, अशोक, पृ० 56।

[2]जायसवाल, हिन्दू पोलिटी, 2, पृ० 134।

(पर्याप्त कारण के बिना) बन्धन हुआ हो और उसके कारण बहुत-से व्यक्ति अत्यधिक दुःख उठा रहे हों। इसलिए आपको यह इच्छा करनी चाहिये। क्या (इच्छा) ? यह कि हम मध्य (निष्पक्ष) मार्ग का अनुसरण करें।" इसी लेख में आगे कहा गया है : "इस प्रयोजन से यह (धर्म) लिपि लिखवायी गई कि जिससे नगर-व्यावहारिक शाश्वत (सब) समय ऐसी चेष्टा करें जिससे किसी को अकस्मात् (पर्याप्त कारण के बिना) बन्धन और अकस्मात् (पर्याप्त कारण के बिना) परिक्लेश का दण्ड न मिले।" स्पष्ट है कि नगर-व्यावहारिक महामात्रों का मुख्य काम न्याय-सम्बन्धी था। किसी को कारावास या शारीरिक यातना का दण्ड देना उन्हीं का काम था। अशोक ने तोसली और समापा के नगर-व्यावहारिकों को ईर्ष्या, क्रोध, जल्दबाजी; आलस्य आदि दोषों से मुक्त रहने के लिए भी प्रेरित किया था।

प्रादेशिक और राजूक

अशोक के अभिलेखों में अन्य अनेक वर्गों के राजपुरुषों का उल्लेख है। ये प्रादेशिक, रज्जुक (लजूक या राजूक), युक्त (युत), प्रतिवेदक और पुरुष पदनाम वाले थे। इनमें युत सबसे छोटे पदाधिकारी थे, और प्रादेशिक सबसे बड़े। प्रादेशिक स्पष्ट रूप से प्रदेश के प्रशासक की संज्ञा थी। रज्जुक या राजूक के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में 'चोररज्जुक' पदनाम के राजपुरुषों का उल्लेख है जिनकी स्थिति प्रायः विवीताध्यक्ष के समकक्ष थी और जिनका मुख्य कार्य व्यापारियों की माल की चोरी आदि से रक्षा करना था। मौर्य युग में भारत की जनसंख्या बहुत अधिक नहीं थी। ग्रामों के बीच में बहुत-सी भूमि विवीत या चरागाह के रूप में रहती थी। इस विवीत-भूमि से आने-जाने वाले व्यापारियों आदि की सुरक्षा के लिए एक पृथक् पदाधिकारी नियुक्त किया जाता था जिसे कौटिल्य ने 'विवीताध्यक्ष' कहा है। विवीत भूमि के सम्बन्ध में जो कार्य विवीताध्यक्ष के थे, वही कृषि-योग्य भूमि के लिये चोर-रज्जूक के थे। कुछ जातक कथाओं में रज्जूक या रज्जुगाहक अमच्च (अमात्य) का उल्लेख मिलता है।[1] सम्भवतः इस पदाधिकारी का कार्य खेतों की पैमाइश करना होता था जिसके लिए वह रज्जु (रस्सी) का प्रयोग करता था। अतः ब्युलर का अनुमान है कि भूमि की पैमाइश से सम्बन्ध रखने वाले पदाधिकारी रज्जुक कहलाते थे।[2] चतुर्थ शि० ले० से रज्जुकों के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। एक, रज्जुकों का अधिकार-क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत था कि उसमें बहुत-से लाख (कई लाख) व्यक्ति निवास करते थे। दो, उन्हें अभियोग लगाने और दण्ड देने का भी अधिकार था—प्राणदण्ड देने का भी और प्राणदान का भी। अशोक ने उनके अधिकारों में और भी अधिक वृद्धि कर दी थी ताकि

---

[1]फिक, दि सोशल ऑर्गेनाइज़ेशन इन नॉर्थ-ईस्ट इण्डिया, पृ० 148–51।

[2]एन० के० शास्त्री ने रज्जुकों की पहिचान मेगास्थेनिज़ के एग्रोनोमोई से की है (ए० न०मौ०, पृ० 254)। रज्जुक पद के विकास में लिए दे०, घोषाल, यू० एन०, आई० एच० क्यु०, 6, पृ० 431।

वे आश्वस्त और निर्भय होकर अपने कर्तव्यों का पालन कर सकें। तीन, उनका एक कार्य जानपद जनों (=ग्रामीण-क्षेत्रों के रहने वालों) के हित और सुख का सम्पादन करना था (जनपदस हित सुखाये)। रज्जुकों के ये सब कार्य प्रायः वही हैं जो नगर-व्यावहारिकों के हैं। अन्तर केवल यह है कि नगर-व्यावहारिकों का कार्य-क्षेत्र नगर या पुर था और रज्जुकों का जनपद या देहात। सम्भवतः रज्जुक प्रादेशिक की तुलना में हीनतर अधिकारी था और उसका शासन-क्षेत्र प्रदेश के एक विभाग तक ही सीमित रहता था। अशोक ने बताया है कि जिस प्रकार माता-पिता योग्य धाय को सन्तान सौंप कर निश्चिन्त हो जाते हैं उसी प्रकार वह जानपद जनों के हित-सुख के लिए रज्जुकों को नियुक्त करके निश्चिन्त हो गया था। वे निर्भय और आश्वस्त होकर मनोयोगपूर्वक अपने कार्यों के सम्पादन में प्रवृत्त रहें, इसलिये उसने उनको अभिहार और दण्ड में स्वायत्तता प्रदान की थी।

अन्य राजपुरुष

अशोक के अभिलेखों में प्रादेशिक और रज्जुकों के साथ ही युतों (युक्तों) का भी उल्लेख हुआ है। कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में युक्त ऐसे राजकर्मचारी हैं जिसका सम्बन्ध कर विभाग के साथ था। एक मत के अनुसार अशोक के शासन में वे रज्जुकों की अधीनता में करों को वसूल करते थे। प्रादेशिकों और रज्जुकों की तुलना में उनकी स्थिति हीनतर थी।

अशोक के लेखों में पुलिस (पुरुष) नामक राजकर्मचारियों का भी उल्लेख है। उनका अशोक के प्रशासन में क्या स्थान था इस विषय में कई मत प्रचलित हैं। मुकर्जी के अनुसार वे रज्जुकों से उच्चतर थे, भाण्डारकर के अनुसार हीनतर थे और दि० च० सरकार के अनुसार 'पुरुष' कोई विशिष्ट पदनाम नहीं है वरन् राजपुरुषों के लिए प्रयुक्त सामान्य शब्द है।[1] पुरुषों के सम्बन्ध में चतुर्थ स्तम्भ-लेख में कहा गया है: "रज्जुक भी मेरी परिचर्या (सेवा) की चेष्टा करते हैं। मेरे पुरुष भी (मेरी) इच्छाओं का पालन करेंगे। जिस प्रकार रज्जुक मेरी सेवा की चेष्टा करते हैं, वैसे ही ये (पुरुष) भी कुछ (लोगों) को उपदेश करेंगे।" सातवें स्तम्भ-लेख में कहा गया है: "इस प्रयोजन से मेरे द्वारा धर्मश्रावण सुनवाये गये, विविध प्रकार के धर्मानुशासन आज्ञप्त हुए जिससे मेरे पुरुष जो बहुत-से जनों में नियुक्त हैं, उनको सर्वत्र दोहरायेंगे और उनका विस्तार करेंगे।" इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि अशोक ने रज्जुकों को 'बहुत-से लाखों' व्यक्तियों पर, नगर-व्यावहारिकों को 'बहुत-से हजारों' जनों पर और पुरुषों को 'बहुत-से' जनों पर नियुक्त बताया है। स्पष्ट है, कि रज्जुकों का अधिकार-क्षेत्र नगर-व्यावहारिकों से बड़ा था और नगर व्यावहारिकों का पुरुषों से। एक अभिलेख में अशोक ने तीन प्रकार के पुरुषों का उल्लेख किया है: "मेरी यह धर्मानुशिष्टि (धर्मानुशासन)

[1]दे०, चट्टोपाध्याय, पूर्वो०, पृ० 173–74।

धर्मपेक्षा और धर्मकामता कल और कल (निरन्तर) बढ़ी है और बढ़ेगी ही। और मेरे उत्कृष्ट, मध्यम तथा गम्य (निम्न) पुरुष (मेरे धर्मोपदेश का) अनुसरण करते हैं और सम्पादन करते हैं। चपल (अस्थिर वृत्ति वाले) को भी वे (धर्म का अनुसरण) कराने में समर्थ हैं।" इस प्रकार उत्कृष्ट, मध्यम और निम्न इन तीन प्रकार के 'पुरुषों' से अशोक ने धर्मानुशासन में सहयोग लिया था।

अशोक ने अपने अभिलेखों में 'प्रतिवेदक' नाम के जिन राजपुरुषों का उल्लेख किया है उनका कार्य राजा को शासन और जनता सम्बन्धी सब बातों की सूचनाएँ देना था। वे स्पष्टतः गूढ़ पुरुष या गुप्तचर थे।

एर्रगुडी लघु शिला-लेख में हथियारोह (हस्त्यारोही=हाथी की सवारी करने वाले), करनक (=करणक) और युग्मचरिय (युग्मचर्य=रथारोही) नाम के कर्मचारियों का भी उल्लेख मिलता है। इन्हें भी धर्मचर्या के सम्बन्ध में कार्य करने के लिए आदेश दिया गया है। करणक का अर्थ सम्भवतः लेखक है। शायद वे अधिकरणों (राजकीय कार्यालयों) में कार्य करते थे। हस्त्यारोही और रथारोही सैनिक कर्मचारी भी हो सकते हैं और ऐसे सामान्य राजपदाधिकारी भी जिनकी स्थिति इन यानों द्वारा सूचित होती थी।

धर्म विजय की नीति की सफलता के लिए अशोक ने धर्ममहामात्र, स्त्र्यध्यक्ष महामात्र, अन्तःमहामात्र और व्रजभूमिक नामक नये राजपदाधिकारियों की नियुक्ति की थी। अन्य महामात्रों के समान इन पर शासन का कोई अन्य उत्तरदायित्व नहीं था। इनके सम्बन्ध में पीछे विचार किया जा चुका है।

प्रान्तीय प्रशासन

प्रान्तीय इकाइयां

जब अशोक सिंहासनारूढ़ हुआ उस समय मौर्य वंश की स्थापना को अर्द्ध-शताब्दी से अधिक समय व्यतीत हो चुका था, सुदूर दक्षिण के कुछ प्रदेशों को छोड़कर सम्पूर्ण जम्बुद्वीप या भारतीय उप-महाद्वीप मौर्यों के अधीन हो चुका था तथा चन्द्रगुप्त एवं बिन्दुसार इस पर अबाधरूपेण शासन कर चुके थे। इस साम्राज्य की (जिसे अशोक के अभिलेखों में उसका 'विजित' कहा गया है) राजधानी पाटलिपुत्र थी, परन्तु साम्राज्य की विशालता को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण 'विजित' को सम्भवतः पाँच भागों (चक्रों या प्रान्तों) में विभक्त किया गया था।[1] उत्तरापथ—इसमें कम्बोज, गन्धार, कश्मीर, उद्यान (अफगानिस्तान) और वाहीक (पंजाब) प्रदेश थे। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। पश्चिमी चक्र—इसमें गुजरात-काठियावाड़ से लगाकर राजस्थान, मालवा आदि प्रदेश सम्मिलित थे। इसकी राजधानी उज्जैन नगर था।

[1]चट्टोपाध्याय, सु०, पूर्वो०, पृ० 174।

दक्षिणापथ—अर्थात् विन्ध्याचल पर्वतमाला के दक्षिण में स्थित प्रदेश। इसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी। कलिङ्ग—इसकी राजधानी तोसली था। तथा मध्यदेश—जिसमें बिहार, उत्तर-प्रदेश, बंगाल और उनके समीपवर्ती प्रदेश सम्मिलित थे। इसकी राजधानी पाटलिपुत्र ही थी। इसका प्रशासन सम्राट् के हाथ में था। शेष चारों प्रान्तों के गवर्नर प्राय: राजकुमार होते थे। प्रत्येक कुमार अनेक महामात्रों की सहायता से अपने चक्र का शासन करता था। साहित्यिक साक्ष्यानुसार राजा बनने के पूर्व स्वयं अशोक तक्षशिला और उज्जैनी में कुमार के रूप में शासन कर चुका था। 1975 में पानगोरारिया गुहा शरण-स्थल से प्राप्त एक लेख में भी कहा गया है कि पियदसी ने मध्यप्रदेश के सेहोर जिले में स्थित इस गुहा शरण-स्थल की उस समय यात्रा की थी जब वह 'महाराजकुमार' था।[1] यहाँ से प्राप्त लघु शिला-लेख में भी मणेम देश तथा उसके गवर्नर कुमार संव का उल्लेख है। कुनाल भी अशोक के समय में तक्षशिला का 'कुमार' रहा था।

अशोक के अभिलेखों में उज्जैन, तक्षशिला और तोसली के 'कुमारों' का उल्लेख भी आया है। प्रथम पृथक् धौली शिला-लेख में अशोक ने महामात्रों को धर्म श्रावण के प्रयोजन से दौरे पर जाने का आदेश दिया है। उज्जैन और तक्षशिला में नियुक्त अपने 'कुमारों' (प्रान्तीय शासकों) के लिये भी उसका आदेश है कि वे भी अपने महामात्रों को धर्मश्रावण के लिये दौरे पर भेजते रहें और उनके दौरों में तीन साल से अधिक का समय न बीतने पाये, अर्थात् तीन साल से कम अन्तर पर ही वे दौरे के लिये जाते रहें। इससे स्पष्ट है कि उज्जैन और तक्षशिला जैसे नगरों को प्रान्तीय राजधानियों का रूप दिया गया था और वहाँ गवर्नरों के रूप में कुमारों की नियुक्ति की गई थी। द्वितीय पृथक् धौली शिला-लेख द्वारा भी तोसली में एक कुमार की नियुक्ति सूचित होती है (देवानंपियस वचनेन तोसलियं कुमाले महामाता च वतविय—देवानांप्रिय के वचन से तोसली में कुमार और महामात्रों को यह कहा जाए)। सुवर्णगिरि[2] के जिस शासक का उल्लेख अशोक के लेखों में है उसे 'आर्यपुत्र' कहा गया है, 'कुमार' नहीं (सुवर्णगिरीते अयपुतस महामाताणं च वचनेन इसिलसि महामाता आरोगियं वतविया)। सम्भवत: आर्यपुत्र की स्थिति कुमार की अपेक्षा अधिक ऊँची थी और सुदूर दक्षिण के लिये एक ऐसे कुमार को नियुक्त किया गया था जो तक्षशिला, उज्जैन या तोसली के कुमारों की तुलना में अधिक सम्मानित था।[3]

---

[1]सरकार, डी०सी०, 'अशोकन एडिक्ट डिस्कवर्ड एट पानगुरारिया', ए०बी०ओ०आर०आई०, 58 तथा 59, पूना, 1978, पृ० 971–6; 'रीसेण्टली डिस्कवर्ड माइनर रॉक एडिक्ट ऑव अशोक', जे०ए०आई०एच०, 11, कलकत्ता, 1979, पृ० 6–12।

[2]सरकार के अनुसार यह कदाचित् एर्रगुडी के समीपस्थ जोन्नागिरि है। हूल्श ने इसकी पहिचान भूतपूर्व हैदराबाद रियासत में स्थित कनकगिरि से सुझाई है तथा रायचौधुरी ने सोनगिर से।

[3]सरकार, पूर्वो०।

लघुतर प्रशासनिक इकाइयाँ

मध्यदेश, उत्तरापथ, पश्चिमी चक्र, कलिङ्ग और दक्षिणापथ, इन पाँच चक्रों या प्रान्तों के अन्तर्गत अनेक छोटी प्रशासनिक इकाइयाँ थीं जिन पर कुमारों के अधीन महामात्र शासन करते थे। उदाहरणार्थ, तोसली के अधीन समापा में, पाटलिपुत्र के अधीन कौशाम्बी में और सुवर्णगिरि के अधीन इसिल में महामात्र नियुक्त थे। राजा की ओर से जो आदेश जारी किये जाते थे वे प्रान्तीय शासकों (कुमारों या आर्यपुत्र) के नाम होते थे। उनके द्वारा इन आदेशों को महामात्रों के पास भेजा जाता था। दक्षिणापथ में इसिल के महामात्रों के नाम अशोक ने जो आदेश भेजे थे वे सुवर्णगिरि के आर्यपुत्र द्वारा भेजे गये थे। ब्रह्मगिरि शिला-लेख में अशोक का आदेश इस प्रकार प्रारम्भ किया गया है—"सुवर्णगिरि से आर्यपुत्र और महा-मात्रों के वचन (आदेश) से इसिल के महामात्रों से आरोग्य कहा जाए (कुशल-स्वास्थ्य पूछा जाए)। देवानांप्रिय की यह आज्ञा है।" अर्थात् इसिल के महामात्रों को अशोक द्वारा जो आज्ञा दी गई वह सुवर्णगिरि के आर्यपुत्र और महामात्रों के माध्यम दी गई थी, सीधे नहीं। पर समापा के महामात्रों को तोसली के कुमार के माध्यम से आज्ञा नहीं दी गई थी। जौगढ़ की शिला पर उत्कीर्ण दो पृथक् लेख समापा के महामात्रों और नगर-व्यावहारिकों को सीधे आज्ञप्त किये गये हैं। ऐसे महामात्रों को 'लाजवचनिक' (राजा से सीधे सन्देश पाने वाला) कहा गया है। शायद समापा (जो हाल ही में जीते गये कलिङ्ग के दक्षिणवर्ती प्रदेश में स्थित था) के महामात्रों का विशेष महत्त्व था। कौशाम्बी नगर मध्यदेश में था जिसका शासन पाटलिपुत्र से सञ्चालित होता था। अतः वहाँ के महामात्रों के लिये आदेश स्वयं उन्हीं के नाम पर ही हैं (देवानंपिये आनपयति कोसंबियं महामात)।

प्रशासन की दृष्टि से प्रान्तों को जिन अनेक भागों में विभक्त किया गया था वे प्रदेश, आहार और विषय कहलाते थे। प्रत्येक प्रान्त अनेक प्रदेशों में विभक्त था, प्रदेश आहारों में तथा आहार विषयों में। ये विषय सम्भवतः पुराने जनपदों के प्रतिनिधि थे। विषय का मुख्य नगर कोट्ट कहलाता था। सारनाथ स्तम्भ-लेख में अशोक ने महामात्रों को आदेश दिया है कि जहाँ-जहाँ तक आपका 'आहार' है, सर्वत्र आप इस आदेश का अक्षरशः पालन कराने के लिये प्रतिलिपियों को भेजिये और सभी कोट्टों तथा विषयों में इस शासन का अक्षरशः पालन करवाने के लिये प्रतिलिपियाँ भेजिये। इससे स्पष्ट है कि राज्य के कुछ उपविभाग कोट्ट और विषय के रूप में थे। कोट्ट और विषय की अपेक्षा अधिक बड़ा शासन विभाग 'आहार' था और आहार से बड़ा शासन विभाग 'प्रदेश' था, जिसके शासक को 'प्रादेशिक' कहते थे। वह कुमार या आर्यपुत्र के प्रभुत्व में अपने प्रदेश के शासन का संचालन करता था। हो सकता है कि प्रादेशिक को ही कभी-कभी 'राष्ट्रिय' कहा जाता हो। शक-क्षत्रप प्रथम रुद्रदामा के गिरनार-लेख से सूचित होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में सुराष्ट्र (काठियावाड़) राष्ट्रिय पुष्यगुप्त द्वारा शासित था और अशोक के समय में

यवन तुषास्फ द्वारा। स्पष्टतः सुराष्ट्र (काठियावाड़) मौर्यों के शासन में राज्य का एक ऐसा विभाग था जिसके शासन के लिए एक पृथक् प्रादेशिक या राष्ट्रिय की नियुक्ति की जाती थी। लेकिन लगता है राष्ट्रिय शब्द शककालीन था, मौर्यकालीन नहीं। कुछ विद्वानों ने अशोक के शिलालेखों के प्रादेशिक को कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' का प्रदेष्टा मानकर सुझाव रखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय के प्रदेष्टा को ही अशोक के समय में प्रादेशिक कहा जाने लगा था। परन्तु 'अर्थशास्त्र' में प्रदेष्टा कण्टक-शोधन न्यायालयों के न्यायाधीशों का पदनाम है, यद्यपि उन्हें शासन-सम्बन्धी भी कुछ अधिकार प्राप्त थे।

अर्द्ध-स्वतन्त्र जातियाँ

अशोक के समय में कुछ प्रदेश ऐसे भी थे जो मौर्यों के 'विजित' के अन्तर्गत होते हुए भी अपनी पृथक् व अर्द्ध-स्वतन्त्र सत्ता रखते थे। अशोक की एक धर्मलिपि में उन स्थानों का उल्लेख किया गया है जहाँ धर्मविजय प्राप्त की गई थी। ये दो प्रकार के हैं: सीमान्त देश और राजविषय (विजित) के अन्तर्गत क्षेत्र, जैसे यवन-कम्बोज, नाभक-नाभ पंक्ति, भोज-पितनिक और आन्ध्र-पुलिन्द आदि। इन प्रदेशों की स्थिति पर पीछे विचार किया जा चुका है। हम यहाँ मात्र यह स्मरण दिलाना चाहते हैं कि मौर्य साम्राज्य में इनकी स्थिति विशिष्ट थी और सम्भवतः इन पर अशोक का प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं था। लेकिन हमें दीक्षितार का यह कथन अस्पष्टतः अस्वीकार्य है कि इनके कारण मौर्य साम्राज्य विभिन्न राज्यों का एक ढीला-ढाला संघ बन गया था।[1] अशोक के कन्धार-लेख से स्पष्ट है कि वह पश्चिमोत्तर प्रदेश की जातियों में मांसाहार के प्रचलन तक में हस्तक्षेप कर रहा था। अन्तः महामात्रों के द्वारा भी वह सीमान्त और अटवि जनों में धंम का प्रचार कर रहा था। अतः स्पष्टतः इन जातियों के प्रति उसका दृष्टि-कोण कुछ उदार मात्र था, वे स्वतन्त्र इकाइयाँ नहीं थीं।[2]

पौर जानपद सभाएँ

अशोक के समय तक पौर जानपद सभाओं का विशेष महत्त्व नहीं रह गया था। अशोक धर्मश्रावण और धर्मानुशासन के लिये बहुत उत्सुक था। इसके लिये उसने स्वयं बहुत पराक्रम किया तथा अपने कुमारों और महामात्रों को प्रेरित किया कि वे भी उसी के समान धर्मविजय के लिये प्रयत्नशील हों। यदि अशोक के समय में पौर-जानपद संस्थाएँ सक्रिय होतीं तो उसके लिये सर्वथा स्वाभाविक होता कि वह धर्मविजय की नीति की सफलता के लिये इनका भी उपयोग करता। लेकिन हमारा आशय यह नहीं है कि अशोक के काल में इन सभाओं का अस्तित्व था ही नहीं। 'दिव्यावदान' के अनुसार जब अशोक ने बौद्ध संघ को अतिशय दान दिया था तब उसके 'अपव्यय'

---

[1] **दीक्षितार, मौर्य पोलिटी**, पृ० 78।

[2] **दे०, चट्टोपाध्याय एस०, बिम्बिसार टु अशोक**, पृ० 156।

को रोकने के लिये अमात्यों के साथ पौर भी एकत्र हुए थे। मौर्य युग में पाटलिपुत्र, तक्षशिला आदि नगरों में पौर सभायें थीं। मेगास्थेनिज़ ने पाटलिपुत्र को प्रशासित करने वाली तीस सदस्य वाली जिस नगर-सभा का उल्लेख किया है वह पौर-सभा मानी जा सकती है। के०पी० जायसवाल ने चतुर्थ स्त० ले० में जानपद-सभा का उल्लेख माना है। इसमें राजुकों द्वारा जानपद जनों को मार्ग दिखाये जाने का उल्लेख है। इस लेख में आये 'जनस जानपदसा' से जायसवाल ने जानपद-सभा से अभिप्राय माना है। उनका कहना है कि अशोक ने इस आदेश द्वारा लजूकों को यह अधिकार प्रदान किया था कि वे जानपद-सभा के प्रति अनुग्रह प्रदर्शित करें और धर्मयुक्तों द्वारा उनका मार्ग-प्रदर्शन करें। परन्तु मौर्य साम्राज्य के केन्द्रीय प्रशासन में ऐसी सभाओं का अस्तित्व नहीं था जिनके सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते थे अथवा जो जनता का प्रतिनिधित्व करते थे। इस आदेश द्वारा अशोक ने लजूकों को मात्र यह आदेश दिया था कि वे विभिन्न जनपदों के निवासियों के सुख और हित के लिये प्रयत्नशील रहें और उन्हें मार्ग-प्रदर्शन करें। 'दिव्यावदान' के अनुसार जब तक्षशिला नगर में विद्रोह हुआ और कुनाल उसे दबाने गया तब तक्षशिला के पौरों ने (तक्षशिला पौरा) साढ़े तीन योजन तक मार्ग को और सारे नगर को सजाया और कुमार के पास पहुँच कर कहा—'न हम कुमार के विरुद्ध हैं और न राजा अशोक के। पर दुष्ट अमात्य हमारा अपमान करते हैं।' फिर वे कुनाल को सादर तक्षशिला ले गये। तक्षशिला के इन पौरों को मात्र 'पुर के निवासी' नहीं समझा जा सकता। सम्भवत: वे पौर सभा के सदस्य थे। कुमार को सम्बोधन करते हुए जिस पौर ने यह कहा था कि 'न हम कुमार के विरुद्ध हैं और न राजा अशोक के', 'दिव्यावदान' में उसके लिये एकवचन का प्रयोग किया गया है। सम्भवत: वह पौरसभा का अध्यक्ष था। 'दिव्यावदान' की एक अन्य कथा के अनुसार एक बार तिष्यरक्षिता ने बीमार अशोक को स्वस्थ करके उससे सात दिन के लिये राज्य माँगा और फिर एक कपट-लेख तैयार करके उस पर अशोक की दन्तमुद्रा अंकित करवा ली और उसके द्वारा तक्षशिला के पौरों को यह आज्ञा दी कि वे उसके सौतेले बेटे कुनाल को (जो उस समय तक्षशिला का 'कुमार' था) अन्धा कर दें। जब यह आज्ञापत्र तक्षशिला पहुँचा तो पौर-जानपदों को बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने वह आज्ञापत्र कुनाल के पास रखा जिसने उसे पढ़कर अपनी आँखें स्वयं निकलवा दीं। इस कथा में 'तक्षशिलानां पौराणाम्' का जिस प्रकार उल्लेख है उससे एक संस्था का बोध होता है।

नवीन प्रशासन नीति

दण्ड-समता और व्यवहार-समता

अशोक के अभिलेख उसकी नई प्रशासन नीति पर भी प्रकाश डालते हैं। वह चतुर्थ स्तम्भ-लेख में कहता है "मैंने रज्जुकों को अभियोग और दण्ड में उनके विवेक पर

अवलम्बित किया क्योंकि इसकी इच्छा की जानी चाहिये। किस की ? व्यवहार-समता होनी चाहिये और दण्ड-समता भी'' (एतेन मे लजूकानं अभिहाले व दंडे वा अतपतिये कटं इछितविये हि एसा किंति वियोहालसमता च सिय दंडसमता चा)। व्यवहार और दण्ड की समता भारत की परम्परा के विरुद्ध थी। कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में एक ही अपराध के लिये विभिन्न वर्णों के व्यक्तियों के लिये विभिन्न दण्डों का विधान है। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति किसी ब्राह्मण को अपेय या अभक्ष्य पदार्थ का सेवन कराए तो उसे इस ग्रन्थ में उत्तम साहस का दण्ड दिये जाने का विधान है, यदि क्षत्रिय के प्रति यही अपराध किया जाए तो मध्यम साहस के दण्ड का, वैश्य के प्रति किये जाने पर पूर्व साहस के दण्ड का तथा शूद्र के प्रति किये जाने पर मात्र 54 पण जुरमाने के दण्ड का। व्यभिचार के अपराध में भी इसी प्रकार से भिन्न-भिन्न दण्डों का विधान किया गया है। यदि क्षत्रिय वर्ण का पुरुष किसी ब्राह्मण स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो उसे उत्तम साहस का दण्ड दिये जाने का विधान है, यही अपराध यदि वैश्य वर्ण का पुरुष करे तो उसका सर्वस्व जब्त कर लेने का विधान है और शूद्र पुरुष द्वारा यही अपराध किये जाने पर उसे चटाई में लपेट कर जला देने के दण्ड की व्यवस्था है। इसी प्रकार के अन्य अनेक निर्देश कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में विद्यमान हैं जिनसे यह सूचित होता है कि प्राचीन भारत में व्यवहार-समता और दण्ड-समता का अभाव था। स्मृतियों में भी दण्ड और व्यवहार को वर्णपरक रखा गया है। इस स्थिति में अशोक की व्यवहार-समता और दण्ड-समता की नीति बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। उसका यह आदेश ब्राह्मणों को आपत्तिजनक लगा होगा क्योंकि इसके कारण समाज में उनकी विशिष्ट स्थिति नहीं रह सकती थी।

अन्य सुधार

दण्ड और अभियोग के सम्बन्ध में अशोक ने एक अन्य सुधार किया। उसने यह आदेश दिया कि जिन अपराधियों को कारावास या मौत का दण्ड दिया जाए उन्हें तीन दिन की मोहलत दी जाए ताकि उनके सम्बन्धी उनके मामले पर पुनर्विचार करवा सकें और यदि पुनर्विचार के अनन्तर भी सजा में कमी न हो, तब वे दानपुण्य, उपवास आदि द्वारा परलोक में उसके कल्याण के लिये प्रयत्न कर सकें। अशोक के ही शब्दों में "इसलिये मेरा यह आदेश है कि बन्दी और मृत्युदण्ड पाये हुए व्यक्तियों को मेरे द्वारा तीन दिन की छूट दी गई है। (इस बीच में) उनके ज्ञाति-जन (निकट सम्बन्धी) उनके जीवन की रक्षा के प्रयोजन से (पुनर्विचार के लिये) ध्यान आकृष्ट करेंगे। अथवा उनके जीवन को बचाने के लिये अथवा उनके मृत्युदण्ड का ध्यान करते हुए दान देंगे और उपवास करेंगे, उनके पारलौकिक कल्याण के लिये। ऐसी मेरी इच्छा है कि कारावास में भी लोग परलोक की आराधना करें। विविध धर्माचरण, संयम और दान-वितरण में वृद्धि हो।''

किसी निरपराधी को दण्ड न मिले, इसके लिये अशोक ने नगर-क्षेत्रों में न्याय-कार्य सम्पादित करने वाले नगर-व्यावहारिकों को यह आदेश दिया कि वे सब समय ऐसा प्रयास करें जिससे विना किसी कारण के किसी को कारागृह और शारीरिक क्लेश का दण्ड न मिले। महामात्रों को भी उसने इसी उद्देश्य से पाँच-पाँच वर्ष के अन्तर से अनुसंयान (दौरे) पर जाते रहने की आज्ञा दी थी। वस्तुतः उच्च पदाधिकारियों के द्वारा एक निश्चित अवधि में दौरे पर जाना अशोक की प्रशासकीय नीति का अभिन्न अंग और विशेषता थी।

अशोक के काल की कर-पद्धति के सम्बन्ध में उसके अभिलेखों में दो सूचनायें मिलती हैं। उस समय 'बलि' और 'भाग' नामक कर प्रचलित थे। रुम्मिनदेई के स्तम्भ-लेख से सूचित होता है कि बुद्ध के जन्म-स्थान लुम्बिनी ग्राम को अशोक ने उबलिक (उद्बलिक=बलि कर से मुक्त) कर दिया था और वहाँ के किसानों से उपज का केवल आठवाँ हिस्सा 'भाग' नामक कर के रूप में वसूल करने का आदेश प्रदान किया था जबकि मूलतः यह सम्भवतः उपज का छठा भाग होता था। इसी कारण राजा 'षड्भागी' कहे जाते थे। लेकिन यह निश्चित नियम नहीं, सिद्धान्त मात्र था। 'अर्थशास्त्र' में भाग को उपज का 1/4 या 1/5 बताया गया है। मेगास्थने (मेगास्थेनिज़) के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के युग में भूमिकर उपज का 1/4 होता था। मनु ने भाग की मात्रा उपज की 1/8 ही बताई है। पुरातन इतिहासकार 'अठभागिये' का अर्थ भिन्न प्रकार से करते थे। ब्युलर ने इसका अर्थ किया था 'अर्थभागी' (राजा के महान् दान का भागी)। यह अर्थ 'दिव्यावदान' के इस कथन पर निर्भर था कि अशोक ने लुम्बिनी वन पर 1 लाख सुवर्ण मुद्राएँ खर्च की थीं। पिशेल के अनुसार 'अष्टभाग' का अर्थ है 'आठ क्षेत्र वाला' (वह जिसके व्यय के लिए आठ क्षेत्रों की आय आनुमानित थी)। परन्तु ये अर्थ सही नहीं लगते।

अशोक द्वारा सार्वजनिक हित के बहुत-से कार्य किये गये। ये कार्य थे सड़कों पर छायादार वृक्ष लगवाना, प्याऊ बैठाना, कुएँ खुदवाना, विश्रामगृह बनवाना, औषधियों को पैदा करने की व्यवस्था करना, पशुओं तथा मनुष्यों की चिकित्सा का प्रबन्ध करना आदि। ये सब कार्य धर्मविजय के उद्देश्य से किये गये थे। इससे लगता है कि उसके शासन काल में प्रशासन जन-कल्याणोन्मुख था।

अध्याय 18

अशोककालीन कला और संस्कृति

अशोककालीन कला

साहित्यिक अनुश्रुतियों में अशोक एक ऐसे महान् निर्माता के रूप में वर्णित है जिसने अनेक नगर बसाये, स्तूपों और विहारों का निर्माण करवाया तथा कलात्मक मूर्त्तियां बनवाईं। 'दिव्यावदान' के अनुसार उसने 84,000 स्तूप बनवाये थे तथा 'महावंस' के अनुसार 84,000 धर्मस्कन्ध और विहार। 'दिव्यावदान' में वह उपगुप्त से कहता है कि "जिन स्थानों पर भगवान् बुद्ध ने निवास किया था मैं उनके दर्शन को जाऊँगा, वहां पूजा करूँगा और ऐसे निर्माण करवाऊँगा जिनसे भावी सन्ततियाँ भी लाभ उठायें।" इस परम्परा की आंशिक पुष्टि अशोक के अभिलेखों में प्रदत्त उसकी कुछ उक्तियों से हो जाती है। इसके अतिरिक्त चीनी यात्री फा-शिएन तथा शुआन-च्वांग ने ऐसे निर्माण-कार्यों का उल्लेख किया है जो उनकी यात्रा के समय अशोक द्वारा निर्मित माने जाते थे। आजकल भी उसके द्वारा निर्मित कुछ गुहायें, स्तूप, पशु-मूर्त्तियां तथा स्तूपावशेष मिलते हैं।

अशोक द्वारा निर्मित नगर

परम्पराओं में अशोक को कई नगरों का निर्माता कहा गया है। पहिला नगर है श्रीनगर जो अब भारत के कश्मीर राज्य की राजधानी है। कल्हण की 'राजतरंगिणी' के अनुसार वितस्ता के तट पर अशोक द्वारा निर्मित इस नगर में 96 लाख घर थे। यह संख्या स्पष्टतः अतिरञ्जित है परन्तु कल्हण का यह कथन सही हो सकता है कि अशोक ने वहाँ एक पाषाण दुर्ग, अशोकेश्वर नामक मन्दिर तथा अनेक स्तूपों और विहारों का निर्माण करवाया था। इसी प्रकार शुआन-च्वांग का यह कथन तो स्पष्टतः अस्वीकार्य ही है कि अशोक ने समस्त कश्मीर को बौद्ध संघ को दान में दे दिया था, परन्तु उसके इस कथन में अवश्य ही सत्यांश हो सकता है कि अशोक ने वहाँ 500 विहार और अनेक स्तूप बनवाये थे। शुआन-च्वांग इनमें 100 विहार और 4 स्तूप देखने का दावा करता है।

अशोक ने देवपत्तन नामक एक नगर नेपाल में बसाया था, जब वह वहाँ अपनी पुत्री चारुमती के साथ गया था। चारुमती का विवाह क्षत्रिय देवपाल के साथ हुआ

था ।[1] स्वयं चारुमती ने वहाँ एक भिक्षुणी विहार तथा देवपाल ने एक भिक्षु विहार बनवाये थे। अशोक द्वारा नेपाल में बनवाये गये स्तूप अभी तक बहुत कुछ अपनी पुरानी शैली में विद्यमान हैं।

अशोक ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में एक प्रासाद और सभा-भवन बनवाया था। फा-शिएन ने पांचवीं शती ई० के प्रारम्भ में उनको देखा था। उसने लिखा है कि 'पुष्पपुर (=पाटलिपुत्र) अशोक की राजधानी था। नगर में अशोक का प्रासाद और सभा-भवन हैं। ये सब देवात्माओं ने बनाये थे। पत्थर चुनकर दीवार और द्वार बनवाये गये थे। इनकी खुदाई और पच्चीकारी सुन्दर हैं। इन्हें इस लोक के लोग नहीं बना सकते थे। ये अब तक वैसे ही हैं (जैसे बनाये जाने के समय थे)।' अशोक ने पाटलिपुत्र की प्राचीर और अन्य भवनों में भी काष्ठ के स्थान पर पाषाण का प्रयोग करके उनका पुनर्निर्माण करवाया होगा। बैशम का अनुमान है कि काष्ठ के स्थान पर पाषाण का उपयोग ईरानी प्रभाव का परिणाम तो रहा ही होगा, गंगा-घाटी में वनों का धीरे-धीरे कम होते जाना इसका मुख्य व्यावहारिक कारण रहा होगा।[2]

स्तूप और विहार

अशोक के द्वारा निर्मित नगरों और प्रासादों के अवशेष तो अब नहीं मिलते लेकिन उसके स्तूपों और विहारों के कुछ अवशेष अब भी उपलब्ध हैं। चीनी यात्रियों ने भी कुछ ऐसे स्तूपों और विहारों की चर्चा की है जो उनको मिली सूचनानुसार अशोक ने बनवाये थे। 'दिव्यावदान' में उसके स्तूपों को 'गिरिशृंगकल्प' (पर्वत की चोटी की तरह ऊंचा) कहा गया है। 'महावंस' में कथा आती है कि एक बार अशोक ने मोग्गलिपुत्त तिस्स से पूछा: 'भन्ते ! भगवान् ने जिस धर्म का उपदेश किया उसका विस्तार कितना है ?' तिस्स ने बताया : 'धर्म में कुल 84,000 खण्ड हैं।' तब अशोक ने निश्चय किया कि वह हर खण्ड के लिए एक विहार बनवायेगा। इस प्रकार उसने भारत में 84,000 नगरों को चुनकर उनमें अपने अधीन राजाओं द्वारा 84,000 विहारों का निर्माण करवाया। फा-शिएन के अनुसार अशोक ने मूल आठ स्तूपों को खुलवाकर उनमें प्राप्त बुद्धावशेषों पर 84,000 स्तूप बनवाने का निश्चय किया था। बुद्धघोष की 'सुमंगलविलासिनी' में बताया गया है कि बुद्ध के अवशेषों पर बने स्तूपों से अजातशत्रु ने धातु अवशेष निकलवा लिए थे और उन्हें गड्डमड्ड करके सुरक्षार्थ भूमि के अन्दर निर्मित एक कक्ष में रखवा दिया था। अशोक ने उनको निकलवा कर उनके ऊपर 84,000 विहार (स्तूप नहीं) बनवाये। यह परम्परा तो निश्चय ही अतिरञ्जित है कि अशोक ने 84,000 स्तूप या विहार बनवाये थे, परन्तु इसमें

---

[1]हो सकता है इस नगर का देवपत्तन नाम देवपाल के नाम पर रखा गया हो।

[2]बैशम, ए०एल०, दि वण्डर दैट वाज़ इण्डिया, पृ० 348।

सन्देह नहीं कि उसने बहुत से स्तूपों और विहारों का निर्माण करवाया होगा, यद्यपि आजकल उपलब्ध ऐसे स्तूप गिने-चुने ही हैं जिन्हें मूलतः उसके द्वारा निर्मित माना जा सके। उसके निगालीसागर स्तम्भ-लेख से ज्ञात होता है कि उसने कनकमुनि या कोनाकमुनि बुद्ध के स्तूप का आकार दुगना करवाया था। साञ्ची के महास्तूप का निर्माण भी मूलतः उसी ने करवाया था; शुंगकाल में उसका मात्र आकार बढ़वा दिया गया था। इस स्तूप की, जो उल्टे कटोरे की आकृति का है, असली ऊंचाई 77½ फुट रही होगी। इसके आधार का व्यास 110 फुट है। अशोक के काल में इसका आकार कुछ छोटा रहा होगा। इसी प्रकार हो सकता है कि मूलतः उसने ही भरहुत स्तूप का निर्माण करवाया हो। यह स्तूप अब अनुपलब्ध है; केवल इसकी वेदिका का एक अंश शेष है जिस पर मौर्यकालीन लिपि में एक लेख लिखा है। अशोक के द्वारा निर्मित कोई बौद्ध विहार अभी तक नहीं मिला है। बराबर की पहाड़ियों में उसके द्वारा निर्मित तीन गुहायें मिली हैं परन्तु उनका निर्माण उसने आजीविकों के लिए करवाया था, बौद्ध भिक्षुओं के लिए नहीं।

सातवीं शती ई० में भारत की यात्रा करने वाले चीनी यात्री शुआन-च्वांग ने 80 से अधिक ऐसे स्तूपों और विहारों का उल्लेख किया है जिनको उस समय अशोक द्वारा निर्मित माना जाता था।[1] शुआन-च्वांग के अनुसार पाटलिपुत्र का अशोकाराम इतना विशाल था कि उसमें एक सहस्र भिक्षु बैठ सकते थे। अन्य परम्पराओं के अनुसार वहां पर हुए प्रथम पञ्चवार्षिक सम्मेलन में तीन लाख भिक्षु एकत्र हुए थे।

शुआन-च्वांग द्वारा वर्णित कुछ स्तूपों की चर्चा यहाँ की जा सकती है। उसके अनुसार कपिशा (गन्धार) का पीलुसन स्तूप 100 फुट ऊंचा था तथा नगरहार का स्तूप 300 फुट ऊंचा। पुष्कलावती में एक संघाराम के समीप कई सौ फुट ऊंचा स्तूप था। तक्षशिला में अशोक द्वारा निर्मित स्तूप उस स्थान पर था जहां कुनाल को अन्धा किया गया था। इसी प्रकार कश्मीर, थानेसर, मथुरा, कन्नौज, प्रयाग, कौशाम्बी, विशाखा, कपिलवस्तु, कुसीनगर, वाराणसी, वैशाली, पाटलिपुत्र, बोध-गया, ताम्रलिप्ति आदि स्थलों पर भी इस चीनी यात्री ने अशोक द्वारा निर्मित स्तूप और विहार देखे थे।

बराबर की गुहायें

मौर्यकाल की सात गुफायें गया के पास बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों में कड़े ग्रेनाइट पत्थरों को काटकर बनाई गई हैं। इनमें से तीन में दशरथ के लेख खुदे हैं। ये नागार्जुनी पहाड़ी में हैं। इनके नाम हैं गोपी, वापि तथा वदथिक। इनमें सबसे बड़ी गुफा गोपी गुफा है। इसके दोनों किनारे अर्ध-वृत्ताकार हैं। इसकी लम्बाई 40

---

[1]मुकर्जी, अशोक, हिन्दी, पृ० 68–9; वाटर्स, ट्रैवेल्स, 2, पृ० 98।

फुट 5 इंच है, चौड़ाई 17 फुट 2 इंच और ऊंचाई 6 फुट 6 इंच। इसके ऊपर 4 फुट की पीपाकार छत है। अशोक के नाम से जुड़ी गुफाओं की संख्या भी तीन है और ये बराबर की पहाड़ी में हैं। इनमें पहिली गुफा का नाम कर्णचौपड़ गुफा है। इसका कक्ष आयताकार है। इसकी लम्बाई 33 फुट 6 इंच, चौड़ाई 14 फुट और ऊंचाई 6 फुट 1 इंच है। इसके ऊपर 4 फुट 8 इंच की पीपाकार छत है। दूसरी गुफा सुदामा गुफा कहलाती है। इसमें दो कक्ष हैं, एक बाहरी और एक भीतरी। भीतरी कक्ष वृत्ताकार है तथा छत में गोलार्ध गुम्वद है। बाहरी कक्ष आयताकार है। इसकी लम्बाई 32 फुट 9 इंच है, चौड़ाई 19 फुट 6 इंच और दीवारें 6 फुट 9 इंच ऊँची हैं जिस पर 5 फुट 6 इंच की एक पीपाकार छत है। तीसरी गुफा का नाम विश्वझोंपड़ी (विश्वामित्र) गुफा है। इसमें भी दो कक्ष हैं। पर इसका काम पूरा नहीं हो पाया था। बाहरी कक्ष बरामदा-सा लगता है, कक्ष नहीं। चौथी गुफा को लोमश ऋषि गुफा कहते हैं। इसके द्वार के मेहराब में हाथियों की एक सुन्दर पंक्ति उकेर कर बनाई गई है। इसमें अशोक या दशरथ का कोई लेख नहीं मिलता। वैसे इस गुफा को भी मौर्यकालीन कहा जाता है क्योंकि इसकी दीवारों और छतों में चमकती हुई पॉलिश है जो मौर्यकाल की विशेषता है। लेखों वाली सभी गुफाएँ आजीविकों को दान में दी गई थीं। एस० पी० गुप्त का विचार है कि इन गुफाओं की कला का विकास नैसर्गिक गुहा शरण-स्थलों से, जैसी बुधनी जैसी जगहों पर मिली हैं, हुआ था। लोमश ऋषि गुहा को उन्होंने मौर्य युग के अन्तिम दशकों में कभी निर्मित बताया है।[1]

शुआन-च्वांग बताता है कि अशोक ने अपने गुरु उपगुप्त को पाटलिपुत्र के पास दस गुफायें दान में दी थीं। उनका पता अभी तक नहीं लग पाया है।

स्तम्भ : संख्या और उपलब्धि-स्थल

अशोक ने अनेक स्तम्भ भी बनवाए थे। इनमें से कुछ स्तम्भ अभी तक अवशिष्ट हैं। फा-शिएन ने केवल छह स्तम्भ देखे थे जिनमें से दो श्रावस्ती के जेतवन विहार के द्वार के दोनों ओर खड़े थे। इनमें से एक का शीर्ष 'धर्मचक्र' के रूप में था और दूसरे पर वृषभशीर्ष बना था। एक स्तम्भ संकिस में था जो 50 हाथ ऊंचा था और उसके सिर पर सिंह की आकृति थी। चौथा स्तम्भ कुशीनगर से वैशाली के रास्ते पर था। इस पर लेख भी खुदा था। पांचवां स्तम्भ पाटलिपुत्र में था। इस पर भी एक लेख खुदा था। छठा स्तम्भ भी उसी प्रदेश में था। यह 30 फुट से अधिक ऊंचा था और इसके सिर पर सिंह की आकृति थी।

शुआन-च्वांग ने अशोक के पन्द्रह स्तम्भ देखे थे जिनमें से चार या पांच की पहिचान वर्तमान स्तम्भों से की जा सकती है। शुआन-च्वांग ने जिन स्थानों पर

---

[1]गुप्त, एस०पी०, रूट्स् ऑव इण्डियन आर्ट, पृ० 202 अ०।

स्तम्भ देखे थे वे हैं—संकिस, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, लुम्बिनी, कुसीनारा, सारनाथ का मार्ग (लाटभैरों, जो 1908 में नष्ट हो गया था ?), सारनाथ, महाशाल, वैशाली, पाटलिपुत्र तथा राजगृह। श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुसीनारा तथा पाटलिपुत्र में उसने दो-दो स्तम्भ देखे थे। आजकल उपलब्ध स्तम्भ, जो अशोक के प्रायः माने जाते हैं, देहली, प्रयाग, लौरिया-अरराज, लौरिया-नन्दनगढ़, रामपुरवा (सिंहशीर्ष वाला), सांची, सारनाथ, रुम्मिनदेई तथा निग्लीव में स्थित हैं। देहली में दो स्तम्भ हैं। ये यहाँ क्रमशः टोपरा तथा मेरठ से फिरोजशाह तुगलक द्वारा लाये गये थे। प्रयाग स्तम्भ पहिले कौशाम्बी में था और सम्भवतः अकबर द्वारा प्रयाग में लाया गया था, ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं। इन दसों स्तम्भों पर अशोक के अभिलेख मिलते हैं। इनके अतिरिक्त रामपुरवा (वृषभशीर्ष वाला), बखिरा (वैशाली), संकिस (हस्तीशीर्ष युक्त) तथा कोसम (शीर्षविहीन) से ऐसे स्तम्भ मिले हैं जिन पर अशोक के लेख लिखे हुए नहीं है परन्तु जो 'मौर्य' पॉलिशयुक्त होने से मौर्ययुगीन माने जाते हैं। बखिरा तथा लौरिया-नन्दनगढ़ स्तम्भ अब भी वहीं स्थित हैं जहां इन्हें स्थापित किया गया था। मुकर्जी का अनुमान है भितरी स्तम्भ भी, जिस पर स्कन्दगुप्त का लेख लिखा है, हो सकता है मौर्ययुगीन हो।[1] वैसे जिन स्तम्भों पर अशोक के अभिलेख हैं वे उसने ही बनवाये थे, यह भी निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। हो सकता है इनमें कुछ प्राक्-अशोकीय हों और अशोक ने पहिले से स्थापित स्तम्भों पर लेख खुदवा दिये हों। जैसा कि स्मिथ ने ध्यान दिलाया है,[2] अशोक अपने सातवें स्त० ले० तथा लघु शि० ले० में आदेश देता है कि उसके राज्य में जहां-जहां पाषाण स्तम्भ हों वहां-वहां उसके लेख खुदवायें जायें—वह यह नहीं कहता कि जहां-जहां उसने स्तम्भ स्थापित करवायें हैं वहां-वहां लेख लिखवाये जायें। शुआन-च्वांग ने भी जिन-जिन स्तम्भों की चर्चा की है उनमें वह कुछ को ही अशोक के द्वारा निर्मित बताता है; शेष के निर्माता के विषय में वह मौन है। स्मिथ का अनुमान है कि मौर्य स्तम्भों की कुल संख्या कम से कम तीस जरूर रही होगी।[3]

जिन जगहों से अशोक के स्तम्भ मिले हैं उससे लगता है कि इन्हें लगाने के स्थानों के चुनाव की एक योजना थी। इसमें से चार उस मार्ग पर लगे हैं जो पाटलिपुत्र से हिमालय के पादवर्ती प्रदेश में नेपाल की तराई में बौद्ध तीर्थों को जाता है। अन्य स्तम्भ बड़े-बड़े नगरों और तीर्थों में लगाये गये थे ताकि अधिक से अधिक लोग उस पर लिखे लेख पढ़ सकें।

स्तम्भों की बनावट

अशोक के स्तम्भ चुनार के बलुए पत्थर से बने हैं। रोमिला थापर ने कुछ स्तम्भों

---

[1]मुकर्जी, अशोक, पृ० 73, टि० 2।

[2]स्मिथ, हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट्स् इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ० 20।

[3]को० हि० इं०, 2, पृ० 90 पर उद्धृत।

का निर्माण मथुरा के पास मिलने वाले लाल-सफेद बुन्दकीदार पत्थर से हुआ बताया है।[1] इनको प्रायः एकाश्मीय कह दिया जाता है परन्तु वस्तुतः ये दो-दो पाषाण-खण्डों से बने हैं—एक पाषाण-खण्ड से यष्टि या लाट बने हैं और दूसरे से शीर्ष भाग। यष्टि या लाट गोल हैं। इनकी मोटाई नीचे से ऊपर की ओर कम होती गई है। इनके आधार का वृत्त लगभग 35 से 50 इंच तक और ऊपर का 22 से 35 इंच तक। इनकी ऊँचाई प्रायः 30 से 50 फुट तक है। देहली-टोपरा स्तम्भ भूमि से 42 फुट 7 इंच ऊँचा है, लौरिया-अरराज $36\frac{1}{2}$ फुट, लौरिया-नन्दनगढ़ 32 फुट $9\frac{1}{2}$ इंच, रामपुरवा 44 फुट $9\frac{1}{2}$ इञ्च, इलाहाबाद 42 फुट 7 इंच, सारनाथ 37 फुट और रुम्मिनदेई मात्र 21 फुट।[2]

अशोकीय स्तम्भों में शीर्ष भाग को पृथक् पाषाण-खण्ड से बनाकर उसे लाट के साथ ताँबे के अंकुड़ों से जोड़ा जाता था। इतने भारी शीर्षों को खड़े स्तम्भों पर स्थापित करना और अंकुड़ों से जोड़ना अपने आपमें इञ्जीनियरिंग का भारी कमाल था। कलात्मक दृष्टि से शीर्ष के प्रायः पाँच भाग हैं—(1) इकहरी या दोहरी पतली मेखला, जो यष्टि के ठीक ऊपर आती है। (2) मेखला के ऊपर लौटी हुई कमल पंखड़ियाँ, जो घण्टाकार हैं। (3) उसके ऊपर एक कण्ठा जो प्रायः मोटी डोरी या सादे गोले के रूप में है। (4) उसके ऊपर गोल या चौकोर चौकी रहती है जिस पर हंस पंक्तियाँ, पशुमूर्त्तियाँ, धर्मचक्र आदि उकेरे गये मिलते हैं। (5) उसके ऊपर सिंह, हाथी, बैल, अश्व आदि पशुओं की मूर्त्ति स्थापित की जाती थी। सारनाथ स्तम्भ पर पीठ से पीठ सटाये चार सिंहों की मूर्त्ति के ऊपर धर्मचक्र भी स्थापित किया गया था।

अपने स्तम्भों पर अशोक ने सुप्रसिद्ध 'मौर्य पॉलिश' करवाई जिससे ये अत्यन्त चमकदार और चिकने हो गये हैं। यह पॉलिश कोई वज्रलेप थी। पाषाण-खण्डों की घुटाई करके यह चमक उत्पन्न नहीं की जा सकती थी। इन कलाकृतियों पर कभी-कभी बहुत सूक्ष्म उत्कीर्णन है, यहाँ तक कि पशुओं के बाल भी खूबसूरती से दिखाये गये हैं। ऐसी कलाकृतियों की घुटाई सम्भव ही नहीं थी। जो भी हो, 'मौर्य पॉलिश' एक अत्यन्त सफल प्रयोग था। यह पॉलिश आज भी अज्ञात है। इसके कारण दिल्ली के स्तम्भों को सतरहवीं शती ई० में भी टॉम कोर्याट ने 'पीतल मण्डित' बताया था तथा उन्नीसवीं शती के शुरू में बिशप हैदर ने 'धातु में ढला हुआ'।[3] यह पॉलिश स्तम्भों के उस भाग पर नहीं की जाती थी जो जमीन में गाड़ा जाता था। उदाहरणार्थ, देहली-टोपरा स्तम्भ पर पॉलिश केवल ऊपर के 35 फुट लम्बे भाग में है, शेष भाग खुरदरा है। रामपुरवा सिंह-स्तम्भ का भी निचला 8 फुट 9 इंच भाग

---

[1]थापर, रो०, पूर्वो०, पृ० 266।
[2]मुखर्जी, पूर्वो०, पृ० 75–7।
[3]को०हि०इं०, 2, पृ० 89।

खुरदरा है।

स्तम्भों की कलात्मकता

अशोक के स्तम्भों की कलात्मक श्रेष्ठता में वृद्धि के आधार पर उनका तिथिक्रम निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से बखिरा स्तम्भ, जिसकी यष्टि में भारीपन है और शीर्ष भाग और यष्टि में ठीक समन्वय नहीं है, प्राचीनतम माना जा सकता और सारनाथ स्तम्भ सबसे बाद का। परन्तु इन स्तम्भों का तिथि-क्रम निर्धारित करने में इनकी कलात्मकता को एक संकेत मात्र माना जाना चाहिये, निर्णायक प्रमाण नहीं। सबसे अच्छी दशा में मिलने वाले स्तम्भों में लौरिया-नन्दनगढ़ का सिंहशीर्ष स्तम्भ उल्लेख्य है। इसकी चौकी पर दाना चुगते हुए हंसों की पंक्ति बनी है। बखिरा और रामपुरवा के स्तम्भ पर भी अकेले सिंह की मूर्त्ति है। रामपुरवा के एक अन्य स्तम्भ पर वृषभशीर्ष है जो अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। सांची और सारनाथ के स्तम्भ शीर्षों पर चार सिंह पीठ-से-पीठ सटाये दिखाये गये हैं। संकिस के एक स्तम्भ पर हस्तिशीर्ष है। इन सबमें सारनाथ का स्तम्भ श्रेष्ठतम है। इसकी चौकी पर हाथी, बैल, अश्व और सिंह अंकित हैं और उनके बीच-बीच में धर्मचक्र बने हैं। इन पशुओं को चलती हुई मुद्रा में अंकित किया गया है। इन पशुओं को शायद इसलिए चुना गया था क्योंकि ये दिग्पा, दिशाओं के रक्षक, माने गये हैं। चौकी के ऊपर चार सिंह पीठ-से-पीठ सटाए हुए बैठे हैं जिनके ऊपर एक धर्मचक्र रखा हुआ था। उसके अब केवल टुकड़े मिलते हैं। सिंहों की आकृतियाँ भव्य, दर्शनीय और गौरवपूर्ण हैं। इनमें कल्पना, यथार्थता और सौन्दर्य का अद्भुत सम्मिश्रण है। इनका प्रत्येक अंग सजीव और कलात्मक है, यहाँ तक कि उनके बाल तक बारीकी के साथ तराशे गये हैं। सम्पूर्ण शीर्षमूर्त्ति में कहीं भी एक छैनी कम या ज्यादा नहीं लगी है। ये मूर्त्तियाँ वनराज के राजकीय गौरव को तो आभासित करती हैं परन्तु दर्शक को उसके स्वभाव की हिंसकता का स्मरण नहीं दिलातीं। इस दृष्टि से इन्हें अशोक के व्यक्तित्व का मूर्त्तिमान अंकन माना जा सकता है। जॉन मार्शल के अनुसार शैली और शिल्प दोनों दृष्टियों से प्राचीन भारत में इसकी समता करने वाली कोई कलाकृति नहीं है। बहुत से विद्वान् तो इसे प्राचीन विश्व की सर्वोत्तम पशुमूर्त्ति मानते हैं।

धौली की हाथी-मूर्त्ति

इस स्थल पर अशोक के काल में निर्मित एक अन्य स्वतन्त्र पशुमूर्त्ति उल्लेख्य है। धौली की जिस शिला पर अशोक के मुख्य शिला-लेख उत्कीर्ण हैं उसे तराश कर हाथी का रूप प्रदान किया गया है। मूर्त्ति अपूर्ण है पर अपनी अपूर्णता के बावजूद मौर्य युग के स्थापत्य का उत्तम उदाहरण मानी जाती है। एन० आर० राय के अनुसार कलिंग की जनता को यह अशोक के 'शान्त गौरव' का मूर्त्तिमान प्रतीक

लगती होगी ।[1]

अशोकीय कला पर विदेशी प्रभाव की समस्या

मौर्य काल में राजकीय स्थापत्य और मूर्तिकला का असाधारण विकास किस सीमा तक यूनानी और ईरानी सम्पर्क का परिणाम था, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। स्मिथ ने प्रतिपादित किया है कि ईरान तथा यवन राज्यों के साथ सम्पर्क से मौर्य कला बहुत प्रभावित हुई थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय बहुत-से विदेशी सैनिक और शिल्पी भारत में आ गये थे। उनमें अनेक इस देश में रह गये और उन्हीं के द्वारा अशोक ने स्तम्भों तथा उनके शीर्ष भागों का निर्माण करवाया होगा। सेल्युकस के समय में यूनानियों और भारतीयों का सम्बन्ध बढ़ा। चन्द्रगुप्त मौर्य का विवाह भी एक यूनानी कुमारी के साथ हुआ था। यूनानी राजाओं के कई राजदूत भी इस युग में पाटलिपुत्र आये थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि यूनानी और ईरानी शिल्पी भी भारत आते और उनकी कला तथा शिल्प इस देश की मूर्तिकला को प्रभावित करतीं। प्राङ्-मौर्य युग में भारत में प्रासादों, भवनों, मन्दिरों और चैत्यों के निर्माण के लिए प्रायः काष्ठ का ही प्रयोग किया जाता था। यूनानी और रोमक लेखकों ने पाटलिपुत्र के प्रासाद तथा प्राचीर को काष्ठनिर्मित बताया है। पाटलिपुत्र की खुदाई द्वारा भी यह बात सत्य प्रमाणित होती है। सम्भवतः प्रस्तर का बड़े पैमाने पर प्रयोग पहिले-पहिल अशोक द्वारा ही प्रारम्भ किया गया और इसके लिए उसने विदेशी शिल्पियों की सहायता ली थी। स्मिथ ने ध्यान दिलाया है कि अशोक के लगभग एक शती उपरान्त जब साँची में सारनाथ जैसा सिंह स्तम्भ-शीर्ष बनाने का प्रयास किया गया तो वह प्रयास सफल नहीं हुआ था क्योंकि उस समय विदेशी कलाकार उपलब्ध नहीं थे।[2] ह्वीलर का भी विचार था कि अशोक के कलाकार ईरानी थे जो साखामनीषी साम्राज्य के पतनोपरान्त बेकार हो जाने के कारण भारत चले आये थे। अनेक भारतीय इतिहासकार भी अशोक की कला पर ईरानी और/अथवा यूनानी प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा में मानते हैं।[3] उदाहरणार्थ, रोमिला थापर ने माना है कि अशोक के कलाकार तक्षशिला से आये थे जहाँ विदेशी कला-परम्परा जीवन्त थी।[4]

लेकिन इस मत का सबल प्रत्याख्यान भी किया गया है। वासुदेवशरण अग्रवाल, आर० के० मुकर्जी, एस० पी० गुप्त आदि ने अशोकीय कला को 'भारतीय' माना है। एस० पी० गुप्त ने ध्यान दिलाया है कि साखामनीषी साम्राज्य के पतन एवं

---

[1]ए०इं०यू०, पृ० 508।
[2]स्मिथ, पूर्वो०, पृ० 16।
[3]इ०आई०, 4, पृ० 94।
[4]थापर, रो०, पूर्वो०।

अशोक की कलाकृतियों में अस्सी वर्ष का अन्तराल है। इसलिए अशोक के कलाकार वे ईरानी नहीं हो सकते थे जो साखामनीषी साम्राज्य के पतन के कारण बेकार हो गये थे।[1] दूसरे, ईरानी स्तम्भों और भारतीय स्तम्भों में मूलभूत अन्तर है। ईरानी स्तम्भ वास्तुभवनों का अभिन्न अंग थे जबकि अशोकीय स्तम्भ स्वतन्त्र स्मारक हैं। ईरानी स्तम्भों की यष्टियाँ कई पाषाण खण्डों से बनी हैं, अशोकीय यष्टियाँ एकाश्मीय हैं। ईरानी स्तम्भों पर वास्तुकार द्वारा निर्मित होने की छाप है, जबकि अशोक के स्तम्भ काष्ठकार की कल्पना का परिणाम लगते हैं। ईरानी स्तम्भों में आधार-पीठ है जबकि भारतीय स्तम्भ पीठ रहित हैं। ईरानी स्तम्भों में गरारियाँ मिलती हैं जबकि अशोकीय स्तम्भ एकदम सपाट और चिकने हैं। ईरानी स्तम्भों की पशुमूर्त्तियाँ छत के लिए आधार का काम करती हैं, लेकिन अशोकीय स्तम्भों में ये स्वतन्त्र कलाकृतियाँ हैं। स्वतन्त्र स्तम्भ खड़े करने की परम्परा इस देश में विदेश से नहीं आई थी। यह भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से चली आई थी। पौराणिक युग में हिन्दू मन्दिरों के सामने ध्वज-स्तम्भ या दीप-स्तम्भ खड़े किये जाते थे। इन स्तम्भों को उस देवता के प्रतीक—चक्र, त्रिशूल आदि से अलंकृत भी करते थे। वैदिक साहित्य में इन्द्रध्वजों और यज्ञयूपों के उल्लेख हैं। अशोक के स्तम्भ उन स्तम्भों के उत्तराधिकारी हैं जो यज्ञस्थल पर यूपों के रूप में स्थापित किये जाते थे। भारत में इन स्तम्भों का क्या उद्देश्य था यह स्वयं अशोक द्वारा उनके स्थानों के चुनाव से स्पष्ट है। रुम्मिन-देई में बुद्ध का जन्म हुआ था और सारनाथ में उन्होंने धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया था। अत: इन दोनों स्थानों पर अशोक ने स्तम्भ स्थापित कराये थे। निग्लीव का स्तम्भ कोनाकमुनि की स्मृति में बनवाया गया था।

शायद पत्थर के स्तम्भों का निर्माण भी अशोक से पहिले ही प्रारम्भ हो चुका था। सहसराम के लेख में भी अशोक ने स्पष्ट रूप से यह लिखा है कि उसने अपने लेख ऐसे स्तम्भों पर भी उत्कीर्ण कराये थे जो पहिले से विद्यमान थे। पर्सी गार्डनर के इस कथन में बहुत सत्यांश है कि "अशोक की कला एक परिपक्व कला है। कतिपय अंशों में यह उस समय की यूनानी कला की तुलना से भी अधिक परिपक्व है।" इस युग तक ईरान और यूनानी राज्य इस कला में अच्छी उन्नति कर चुके थे और भारत का इन देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। अत: यह सम्भव है कि उन्होंने अशोक की कला को थोड़ा-बहुत प्रभावित किया हो। पर इसे पूर्णतया विदेशी सम्पर्क का परिणाम भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। भारत में जिस कला का विकास हो रहा था वही अशोक के समय में परिपक्वतर रूप में आ गई और यहाँ के शिल्पियों ने काष्ठ के स्थान पर प्रस्तर का अधिकाधिक उपयोग करना प्रारम्भ करके इसका विकास किया।

अशोकीय कला चाहे ईरानी प्रभाव की देन थी या विशुद्ध भारतीय, इस बात में

---

[1] गुप्त, एस०पी०, पूर्वो०।

किसी को कोई सन्देह नहीं हो सकता कि यह एक राजकीय कला थी और यह भारतीय कला के इतिहास में एक 'घटना' मात्र सिद्ध हुई। इसने मौर्योत्तर कला को विशेष प्रभावित नहीं किया।[1] इसका उद्देश्य सम्राट् के गौरव से आम जनता को प्रभावित करना था और इसमें यह सफल हुई, परन्तु यह भारतीय कला परम्परा का अभिन्न अंग नहीं बन सकी।

मौर्यकालीन लोककला

पाटलिपुत्र आदि की खुदाई में मौर्य युग की अनेक ऐसी पाषाण मूर्त्तियाँ मिली हैं जो राजकीय कला का नहीं लोक कला का उदाहरण हैं। ये सब बलुए पाषाण से निर्मित हैं और इन पर चमकदार 'मौर्य' पॉलिश है।[2] यह पॉलिश ही इनके मौर्यकालीन होने का प्रमाण है। इन सबमें सर्वाधिक प्रसिद्ध है दीदारगंज से प्राप्त चामरग्राहिणी यक्षी की 6 फुट 9 इंच ऊँची मूर्त्ति। यक्षी का मुखमण्डल सुन्दर है और शरीर में भराव है। उसकी मुद्रा दर्शनीय है।[3] पाटलिपुत्र से जैन तीर्थंकरों की अनेक खड़ी मूर्त्तियाँ मिली हैं। इनमें लोहानीपुर से प्राप्त कायोत्सर्ग मुद्रा वाली मूर्त्ति सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इस पर 'मौर्य' पॉलिश है। मथुरा के पास परखम से 7 फुट ऊँची बलुए पत्थर की यक्ष मूर्त्ति मिली है। इस पर 'मौर्य' पॉलिश भी है तथा मौर्य लिपि में एक लेख भी लिखा है। बेसनगर से ऐसी ही एक 'यक्षी' मूर्त्ति मिली है। कुमारस्वामी ने इन्हें 'लोककला' का नमूना माना है जो राजकीय कला से भिन्न थी।[4]

मौर्य युग की बहुत-सी मृण्मूर्त्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। ये पटना, अहिच्छत्रा, मथुरा, कौशाम्बी, मसोन (गाजीपुर), तक्षशिला आदि से बहुत बड़ी संख्या में पाई गई हैं। ये कला की दृष्टि से तो अत्यन्त सुन्दर हैं ही, उस युग की वेशभूषा तथा सभ्यता के अध्ययन के लिए भी उपयोगी हैं। बुलन्दीबाग (पटना) से एक नर्तकी की मृण्मूर्त्ति मिली है जिसकी ऊँचाई $10\frac{3}{4}$ इंच है। इसके अतिरिक्त और भी अन्य अनेक मौर्य-कालीन मृण्मूर्त्तियाँ मिली हैं जो कला का सुन्दर उदाहरण मानी जाती हैं।

मौर्यों की कला-इन्जीनियरिंग

मौर्य कला का एक इन्जीनियरिंग पक्ष भी है। कनिंघम का अनुमान है कि 50 फुट तक ऊँचे और 50 इंच तक मोटे अशोकीय स्तम्भों का औसत वज़न करीब 50 टन है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि वे केन्द्रीय कारखाने कहाँ थे जहाँ इतने बड़े आकार, अनेक प्रकारों, पॉलिश और परिष्कार वाले ये स्तम्भ बनाये गए होंगे। इन स्तम्भों का पत्थर चुनार की पहाड़ियों का है लेकिन ये प्रायः ऐसे स्थानों पर खड़े हैं जिनके आस-पास

---

[1] ए०इं०यू०, पृ० 509।

[2] थापर रोमिला, अशोक एण्ड दि डेक्लाइन ऑव दि मौर्यंज, पृ० 268।

[3] ए०इं०यू०, पृ० 508।

[4] कुमारस्वामी, हिस्ट्री ऑव इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ० 16।

सैंकड़ों मील के घेरे में कोई ऐसी पहाड़ी नहीं है जहाँ इतने बड़े स्तम्भों के लिए जरूरी पाषाण-खण्ड मिल सकें। इनका निर्माण करना, फिर इन्हें इनके अभीष्ट स्थानों तक पहुँचाना और वहाँ खड़ा करना मौर्यकालीन इन्जीनियरों के कौशल के साक्षी हैं।[1] एन० आर० राय का अनुमान है कि यह कारखाना चुनार के समीप कहीं रहा होगा।[2] अशोक के इन्जीनियरों को इन स्तम्भों को इच्छित स्थान तक ले जाने में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा इसका अनुमान करने के लिए एक वर्णन उपलब्ध है। सोलहवीं शती में सुलतान फिरोजशाह तुग़लक टोपरा के अशोक स्तम्भ को दिल्ली ले गया था। इसे वहाँ से लाने के लिए एक खास गाड़ी बनायी गई थी जिसमें बयालीस पहिये थे। हर पहिये में एक बड़ा रस्सा लगा था और हर रस्से को 200 आदमी खींच रहे थे। इस तरह स्तम्भ का पूरा बोझ खींचने के लिए 8400 आदमी लगे थे। जब इस स्तम्भ को सिर्फ 120 मील की दूरी तक ढोने में इतने श्रमिकों की आवश्यकता पड़ी थी तो हम कल्पना कर सकते हैं कि इन स्तम्भों को, जिनमें कुछ उससे भारी थे जिसे फिरोजशाह लाया था, उससे भी अधिक दूर भेजने में कितने श्रम की जरूरत पड़ी होगी।[3]

इन स्तम्भों के इन्जीनियरिंग का एक पक्ष है इनकी यष्टि की स्थापना के बाद उनके ऊपर पशुशीर्ष वाले भाग की स्थापना। कई टन वाले पशुशीर्षों को बीस-तीस फुट से ज्यादा ऊँची यष्टि के सिरे तक ले जाना, उन्हें यष्टि पर जमाना और अंकुड़ों से जोड़ना निश्चय ही मामूली बात नहीं थीं।

मौर्यों की इन्जीनियरी की सफलता सिंचाई के क्षेत्र में भी स्पष्ट है। शक महा-क्षत्रप प्रथम रुद्रदामा (150 ई०) का लेख बतलाता है कि सुदर्शन तडाक का निर्माण रैवतक या ऊर्जयत पहाड़ों पर (जूनागढ़ या गिरनार के पास) पलासिनी और अन्य नदियों का पानी बाँधने से सम्भव हुआ था। उसी लेख से पता चलता है कि इस जलाशय का निर्माण मौर्य राजा चन्द्रगुप्त के राज्यपाल (राष्ट्रिय) पुष्यगुप्त के आदेश से हुआ था और उसमें पनालियाँ (प्रणालियाँ) अशोक के शासन काल में यवनराज तुषास्फ ने बनवाई थीं। यह तडाक स्कन्दगुप्त (455–67 ई०) के शासन काल में भी विद्यमान था।

अभिलेखों से ज्ञात संस्कृति

सामाजिक संगठन

अशोककालीन भारतीय संस्कृति का अध्ययन प्रधानतः उसके अभिलेखों की सहायता से ही किया जा सकता है क्योंकि उसके शासन काल में न तो कोई ऐसा विदेशी यात्री

[1]स्मिथ, अशोक, पृ० 12।
[2]ए०इं०यू०, पृ० 508।
[3]स्मिथ, अशोक, पृ० 123।

भारत आया जिसने भारतीय जीवन पर अपने विचार लिखे हों और न ही कोई ऐसा भारतीय ग्रन्थ मिलता है जिसे विशेष रूप से उसके शासन काल में लिखित मान कर उसके समय की सांस्कृतिक अवस्था के अध्ययन के लिए उपयोग में लाया जा सके। यह सही है कि अनेक बौद्ध, ब्राह्मण और जैन ग्रन्थों की, जो आजकल उपलब्ध हैं, उसके शासन काल में रचना हुई होगी, परन्तु ऐसा कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसमें तत्कालीन संस्कृति की झलक भी मिले और जिसको विशेषतः उसके शासन काल में रचित माना जा सके।[1] इसलिए उसके शासन काल की भारतीय संस्कृति के विषय में हमारा ज्ञान उसके अभिलेखों तक सीमित है।

अशोककालीन भारतीय सामाजिक संगठन चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था और जाति-भेद पर आधृत था। उसके कुछ दर्शक पूर्व मेगास्थेनिज़ ने भारतीय समाज को सात वर्गों में विभाजित बताया था। उसने सम्भवतः अपने युग के प्रमुख वर्गों को—वर्णों या जातियों को नहीं—इस संख्या में अनुसूचित कर दिया है। अशोक के अभिलेखों में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का स्पष्ट रूप से कहीं उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन पंचम शि० ले० में 'भटमयेसुबंभनिभेषु' वाक्यांश में इसका उल्लेख हुआ लगता है। भाण्डारकर ने 'भटमयेसुबंभनिभेसु' का अर्थ किया है 'भृतमय (सेवकों सहित) सांसारिक ब्राह्मण और गृहपति'। 'भटमयेसु' का अर्थ बहुत-से विद्वान् भट (=सैनिक) और आर्य (=नेता) मानते हैं। बरुआ के अनुसार यहाँ मजदूरी द्वारा पेट पालने वाले सेवकों एवं भिक्षा पर निर्भर रहने वाले ब्राह्मणों एवं श्रमणों से आशय है। इस विषय में सर्वोत्तम सुझाव रायचौधुरी का है। उसके अनुसार इस पद में चारों वर्णों का उल्लेख हुआ है : भट=भृत्य=शूद्र; अय=आर्य=वैश्य; बंभन=ब्राह्मण; इभ्य=राजा=क्षत्रिय। सरकार ने भी रायचौधुरी की व्याख्या मानी है।[2] चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की ओर इस संदिग्ध संकेत के अतिरिक्त अशोक के अभिलेख न तो क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों की चर्चा करते हैं और न श्वपाकों और चाण्डालों जैसे अन्त्यजों की। ब्राह्मणों का उल्लेख अवश्य ही श्रमणों के साथ-साथ मिलता है। मेगास्थेनिज़ ने भी ब्राह्मणों और श्रमणों का साथ-साथ उल्लेख किया है। स्पष्टतः समाज में इन दोनों को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। लेकिन स्मरणीय है कि जबकि ब्राह्मण वैदिक व्यवस्था के अन्तर्गत एक वर्ण का नाम है, श्रमण वैदिकेतर समाज के एक धार्मिक विभाग का नाम है जो अनेक उपविभागों में विभाजित रहा होगा। वैदिक आर्यों का जीवन चार आश्रमों में विभाजित माना जाता था—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास तथा बौद्ध एवं अन्य वैदिकेतर सम्प्रदायों में गृहस्थ जीवन छोड़ने वाले लोग सामान्यतः भिक्षु-भिक्षुणी कहलाते थे। जैन भिक्षुओं को निर्ग्रन्थ भी कहते थे। अशोक के अभिलेखों में भिक्षु,

[1]'कथावत्थु' की रचना अशोक के काल में हुई थी, परन्तु इसमें परवर्ती सामग्री बहुत मिश्रित है और संस्कृति के अध्ययन में यह सहायता नहीं देता।

[2]'आर्य' शब्द के वैश्य अर्थ में प्रयोग के लिए दे०, बरुआ, पूर्वो०, पृ० 270।

भिक्षुणी, निर्ग्रन्थ और प्रव्रजित शब्द आये हैं। भिक्षु-भिक्षुणी स्पष्टतः बौद्ध थे, निर्ग्रन्थ जैन भिक्षु थे और प्रव्रजित वैदिक संन्यासी। गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वालों को गृहस्थ कहा गया है और बौद्ध गृहस्थों को उपासक-उपासिकायें (भाब्रु-अभिलेख)।

अशोक अपने अभिलेखों में दासों और भृतकों का उल्लेख करता है और अनुरोध करता है कि उनके साथ सम्यक् व्यवहार किया जाये। मेगास्थेनिज़ के अनुसार उसके समय में भारत में दास-प्रथा नहीं थी। परन्तु इस विषय में उसको भ्रम हो गया लगता है।

सामाजिक जीवन के अन्य पक्ष

अशोक के अभिलेखों से सामाजिक जीवन के कुछ अन्य पक्षों पर रोचक झाँकी मिलती है। एक, उस युग में पर्दा-प्रथा अस्तित्व में आ चुकी थी। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में आये 'असूर्यम्पश्या' शब्द की व्याख्या करते हुए 'काशिका' में कहा गया है, 'असूर्यं-पश्या राजदाराः', अर्थात् वे रानियाँ जो सूर्य नहीं देख पाती थीं। इस शब्द के साथ अशोक के अभिलेखों में आये 'अवरोधन' (=स्त्रियों के रहने के बन्द स्थान, अन्तःपुर) शब्द को मिलाते हैं तो लगता है कि उस युग में पर्दा-प्रथा विद्यमान थी।

आधुनिक भारतीय स्त्रियों के समान उस युग की स्त्रियाँ भी रोग, विवाह, पुत्र-जन्म, यात्रा आदि के अवसरों पर अनेक निरर्थक मंगल कृत्य करती थीं (नवाँ शि० ले०)।

अशोककालीन भोजन-पान पर उसके अभिलेखों से रोचक प्रकाश मिलता है। उसके पाँचवें स्तम्भ-लेख, प्रथम शि० ले० तथा कन्धार द्विभाषी-लेख में भोजन के लिए पशुहत्या पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। इनमें अनेक के मांस का भक्षण धर्म-शास्त्रों में भी वर्जित माना गया है, यद्यपि कुछ के मांस के भक्षण की अनुमति कुछ धर्मशास्त्रों में दी गई है।[1] मोर के माँस का भक्षण एक को छोड़कर सभी स्मृतिकारों ने निषिद्ध बताया है। अशोक के प्रथम शि० ले० से लगता है कि मृग और मयूर का मांस वह चाव से खाता था और राजकीय रन्धनागार के लिए पशुहत्या निषिद्ध घोषित कर दिये जाने पर भी दो मोर और एक मृग मारे जाते रहे। कन्धार द्विभाषी-अभि-लेख में कहा गया है कि अशोक ने मछली पकड़ना भी निषिद्ध घोषित कर दिया था और अशोक का अनुकरण करके और लोगों ने भी जीवहत्या बन्द कर दी थी।

अशोक के काल में राजाओं द्वारा जनता के मनोरंजनार्थ समाज आयोजित किये जाते थे। अशोक ने इनके स्थान पर धंम समाजों का आयोजन किया। समाजों पर विस्तृत विचार पीछे किया जा चुका है।

अशोक के अभिलेखों में अनेक लोक-विश्वासों की चर्चा है यथा, जादू-टोने में

[1]द्र०, चक्रवर्ती, मनमोहन, 'एनिमल्स इन दि इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव प्रियदसी', एम० ए० एस० बी०, जिल्द 1, संख्या 17, भाण्डारकर द्वारा उद्धृत।

विश्वास, नक्षत्रादि में विश्वास, इत्यादि ।

धार्मिक अवस्था

अशोक के अभिलेख तत्कालीन धार्मिक अवस्था पर भी कुछ प्रकाश देते हैं। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, इनमें ब्राह्मणों, श्रमणों, प्रव्रजितों, निर्ग्रन्थों आदि का उल्लेख मिलता है । सातवें स्तम्भ-लेख में चार धार्मिक सम्प्रदायों की चर्चा है—संघ (स्पष्टतः बौद्ध संघ), ब्राह्मण, आजीविक तथा निर्ग्रन्थ । वह यह भी स्पष्ट रूप से कहता है कि इनके अतिरिक्त और भी सम्प्रदाय हैं पर नाम देकर वह मात्र इन्हीं की चर्चा करता है । बौद्ध धर्म का रूप उसके समय तक काफी विकसित हो चुका था। उदाहरणार्थ, उसके द्वारा कोनाकमुनि बुद्ध के स्तूप की पूजा के लिए जाने का अर्थ है कि उस समय तक बौद्ध धर्म में एक से अधिक बुद्धों की कल्पना विकसित हो चुकी थी। निर्ग्रन्थ निश्चय ही जैन थे ।[1] आजीविकों के विषय में भाण्डारकर का यह मत रोचक है कि उनके दो सम्प्रदाय थे—एक, ब्राह्मण आजीविक और दूसरे, अ-ब्राह्मण आजीविक ।[2] विभिन्न सम्प्रदायों के लिए अशोक ने पासंड शब्द का प्रयोग किया है । इस पर पीछे विचार किया जा चुका है ।

आर्थिक अवस्था

अशोक के अभिलेखों से तत्कालीन आर्थिक जीवन के विषय में विशेष सूचनाएँ नहीं मिलतीं । फिर भी इनसे इतना निश्चित है कि उस समय कृषक वर्ग का बहुत महत्त्व था । स्पष्टतः कृषक उस युग में भी भारतीय आबादी में बहुसंख्यक रहे होंगे। अशोक अपनी यात्राओं से होने वाले लाभों में एक लाभ यह बताता है कि इनमें जानपद जनों (ग्रामीण क्षेत्रों के निवासियों) से भेंट हो जाती थी । स्पष्टतः वह कृषक वर्ग के निकट सम्पर्क में आने का लाभ समझता था । जहाँ तक कर-व्यवस्था का सम्बन्ध है, उसके केवल लुम्बिनी स्तम्भ-लेख में बलि और भाग नामक करों की चर्चा मिलती है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि राजा कभी-कभी स्वयं कर माफ या कम करने की घोषणा कर देता था। उसके और किसानों के बीच में जमींदार या सामन्तों का अस्तित्व संकेतित नहीं है । सोहगौरा- और महास्थानगढ़-अभिलेखों से, जो अशोककालीन हो सकते है, कोष्ठागारों का उल्लेख मिलता है । सोहगौरा-अभिलेख में कहा गया है कि इसमें उल्लिखित कोष्ठागार में संगृहीत सामग्री का उपयोग विपत्तिकाल में किया जाता था । स्पष्टतः ऐसे कोष्ठागार अन्य प्रदेशों में भी रहे होंगे । अशोक द्वारा पशुवध पर लगाये गये प्रतिबन्धों से पशुपालन व्यवसाय का महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

---

[1]विस्तृत विवेचन के लिए दे०, पंकज, एन० क्यु०, स्टेट एण्ड रिलीजन इन एन्श्येण्ट इण्डिया, इलाहाबाद, 1983, पृ० 44 अ० ।

[2]भाण्डारकर, अशोक, पृ० 148 अ० ।

अध्याय 19

अशोक के अन्तिम दिन, मूल्याङ्कन और इतिहास में स्थान

अशोक के अन्तिम दिन और मृत्यु

अशोक के अन्तिम दिनों के विषय में उत्तरी परम्परायें

अशोक ने पुराणों के अनुसार कुल 36 वर्ष शासन किया और सिंहली इतिवृत्तों के अनुसार 37 वर्ष। इसलिये उसका अभिषेक अगर 265 ई० पू० में हुआ (जैसा कि हमने माना है) तो उसकी मृत्यु 229 ई० पू० या 228 ई० पू० में हुई होगी। लेकिन उसके शासन की यह अवधि अगर उसके राज्यारोहण की तिथि से शुरू मानी जाये, जो अधिक सम्भव है, तो उसकी मृत्यु 233 या 232 ई० पू० में हुई होगी। उसके अभिलेखों से ज्ञात उसकी अन्तिम तिथि 27वाँ वर्ष है (सतविसति वर्षाभिसितेन—सप्तम स्त० ले०)। इसलिए उसके शासन के अन्तिम कुछ वर्षों का ज्ञान उसके अभिलेखों से नहीं होता।

जहाँ तक साहित्यिक साक्ष्य का सम्बन्ध है, इनसे लगता है कि इस महान् मौर्य नरेश के अन्तिम दिन सुखद नहीं बीते थे और एक मत के अनुसार राजसत्ता उसके हाथ से निकल गई थी, यद्यपि वह नाम मात्र का शासक अवश्य बना रहा था। इसकी चर्चा विभिन्न युगों में लिखित और विभिन्न प्रदेशों से प्राप्त ग्रन्थों में मिलती है जिनमें 'दिव्यावदान' का 'अशोकावदान' (जो जीन शिलुस्की के अनुसार मूलतः स्वतन्त्र ग्रन्थ था), 'सूत्रालंकार', कुमारलात का ग्रन्थ 'कल्पनामण्डितिका', 'संयुक्त आगम' का चीनी संस्करण, शुआन-च्वांग (सातवीं शती ई०) की भारत-यात्रा का विवरण, क्षेमेन्द्र (11वीं शती ई०) की रचना 'अवदानकल्पलता' तथा तारानाथ (17वीं शती ई०) द्वारा लिखित 'बौद्ध धर्म का इतिहास' उल्लेखनीय हैं।[1] तारानाथ ने अपने ग्रन्थ में क्षेमेन्द्र की कृति, अवदानों के संस्कृत मूलपाठ तथा उनके तिब्बती संस्करणों की सहायता लेने का दावा किया है। 'सूत्रालंकार' का चीनी भाषा में अनुवाद 405 ई० में कुमारजीव ने किया था, परन्तु इसकी रचना सम्भवतः अश्वघोष ने (प्रथम-द्वितीय शती ई०) में की थी। 'अशोकावदान' की रचना इसके भी कुछ पहिले हुई थी यद्यपि इसका वर्तमान रूप मूलग्रन्थ का संशोधित संस्करण है।[2] इन उत्तरी

[1] सन्दर्भों के लिये दे०, बोंगार्ड-लेविन, मौर्यन इण्डिया, पृ० 112, टि० 175।
[2] वही।

ग्रन्थों की तुलना में सिंहल के 'दीपवंस' और 'महावंस' नामक इतिवृत्तों में प्राप्त दक्षिणी परम्परा, जो उत्तरी परम्परा से अनेकत्र भिन्न है, मूलतः अपेक्षया परवर्ती है।[1]

अशोक की वृद्धावस्था से सम्बन्धित 'दिव्यावदान' में प्राप्त एक कथा इस प्रकार है : अशोक के ज्येष्ठ पुत्र का नाम कुनाल था। वह पद्मावती नामक रानी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। कुनाल बहुत सुन्दर था। उसकी आँखें कुनाल पक्षी की आँखों जैसी आकर्षक थीं, इसलिए उसे यह नाम दिया गया था। उसका विवाह कञ्चनमाला नामक सुन्दरी से हुआ था। वृद्धावस्था में अशोक ने तिष्यरक्षिता नाम की एक सुन्दर श्रेष्ठी कन्या से विवाह किया। वह कुनाल से प्रेम करने लगी परन्तु उससे प्रेम का प्रतिदान न पाकर क्रोधित हो उठी। एक बार कुनाल को तक्षशिला में विद्रोह का दमन करने के लिए भेजा गया। कुनाल ने उसे अनायास शान्त कर दिया क्योंकि तक्षशिलावासी अशोक के विरुद्ध नहीं थे, केवल स्थानीय अमात्यों की दुष्टता से नाराज थे। विद्रोह शान्त हो जाने पर कुनाल तक्षशिला में गवर्नर (कुमार) के रूप में शासन करने लगा। एक बार अशोक बीमार पड़ा। तिष्यरक्षिता ने उसकी बहुत सेवा की जिससे प्रसन्न होकर राजा ने उसे एक सप्ताह के लिए साम्राज्य का शासन सौंप दिया और साथ ही अपनी राजकीय मुद्रा भी दे दी। अब तिष्यरक्षिता ने एक कपट-लेख तैयार करवाया और उस पर अशोक की मुद्रा लगा दी। इसमें तक्षशिला के महामात्यों को यह आज्ञा दी गई थी कि कुनाल की आँखें निकाल दी जाएँ। जब यह आज्ञापत्र तक्षशिला पहुँचा तो इसे कुनाल के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। कुनाल ने स्वयं वधिकों को बुलवाया और अपनी आँखें निकलवा दीं। राजाज्ञा में यह भी आदेश था कि कुनाल को तक्षशिला के शासक पद से च्युत कर दिया गया है। कुनाल ने इस आज्ञा का भी पालन किया और अपनी पत्नी कञ्चनमाला के साथ पाटलिपुत्र की ओर चल पड़ा। जब अशोक को ये सब घटनाएँ विदित हुईं तो उसने तिष्यरक्षिता और उसके साथी षड्यन्त्रकारियों को कठोर दण्ड दिये और जहाँ पर कुनाल ने अपनी आँखें निकलवायी थीं, वहाँ एक स्तूप बनवाया। शुआन-च्वांग ने इस स्तूप को देखा था। कुनाल के अन्धा किये जाने की कथा की पुष्टि जैन अनुश्रुति द्वारा भी होती है, पर कुछ अन्तर के साथ। 'परिशिष्टपर्वण' के अनुसार जब कुनाल उज्जयिनी में था तो अशोक ने अपने हाथ से लिख कर इस आशय का आदेश वहाँ के अमात्यों के पास भेजा कि कुमार को अच्छी तरह पढ़ाया जाए। पर कुनाल की विमाता ने 'अधीयउ' को 'अंधीयउ' कर दिया और राजाज्ञा का पालन करने के लिए कुमार ने स्वयं अपने को अन्धा करा दिया। जो भी हो, बौद्ध और जैन—दोनों अनुश्रुतियाँ इस बात पर एकमत हैं कि कुनाल को युवावस्था में ही अन्धा कर दिया गया था।

[1]बोंगार्ड-लेविन, पूर्वो०।

'अशोकावदान' में प्रदत्त एक अन्य कथा के अनुसार जब अशोक के मन में बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई तो उसने बुद्ध के सुप्रसिद्ध श्रद्धालु भक्त गहपति अनाथपिण्डिक की बराबरी करने के लिए बौद्ध संघ को सौ करोड़ दान करने का निश्चय किया (अहमपि कोटिशतं भगवच्छासने दानं दास्यामि)। लेकिन हजारों स्तूपों और विहारों के निर्माण तथा भिक्षुओं को भोजन और आश्रय देने पर उसने नब्बे करोड़ तो व्यय कर दिये, पर शेष दस करोड़ का वह सुगमता से प्रबन्ध नहीं कर सका। इस पर उसने राजकोष से शेष धन खर्च करने का निश्चय किया। उस समय कुनाल का पुत्र सम्पदि युवराज था (तस्मिंश्च समये कुनालस्य सम्पदिनाम पुत्रो युवराज्ये प्रवर्तते)। राजा के अमात्यों ने उससे कहा कि अशोक राजकोष का धन कुर्कुटाराम भेज रहा है, उसे रोक दो (निवारयितव्यः) क्योंकि राजशक्ति कोष पर ही निर्भर करती है। इस पर युवराज ने भाण्डागारिक को राजकोष से दान देने को मना कर दिया (प्रतिषिद्धः)। पहिले अशोक भिक्षुओं को सुवर्ण पात्रों में भोजन भेजता था। इसकी मनाही हो जाने पर उसने चाँदी के पात्रों में भेजना चाहा और इसकी भी मनाही हो जाने पर क्रमशः लोहे और मिट्टी के पात्रों में। जब उसे ऐसा भी नहीं करने दिया गया तो उसने अमात्यों को बुलाकर पूछा: 'इस समय राज्य का स्वामी कौन है?' एक अमात्य ने उत्तर दिया, 'देव, आप ही पृथ्वी के स्वामी हैं (देवः पृथिव्यामीश्वरः)।' यह सुनकर अशोक रोते हुए बोला: तुम मुझ पर कृपा करके झूठ क्यों बोल रहे हो। मैं तो राज्य से च्युत हो गया हूँ। मेरे पास मात्र यह आधा आँवला शेष है जिस पर मेरा अधिकार है। यह कह कर उसने वह आधा आँवला ही संघ के पास इस संदेश के साथ भेज दिया: "जो मौर्यकुञ्जर त्यागशूर नरेन्द्र अशोक सम्पूर्ण जम्बुद्वीप का स्वामी था वह अब केवल आधे आँवले का स्वामी रह गया है। भृत्यों ने भूमिपति के सब अधिकारों को छीन लिया है।" इस ग्रन्थ में ही एक स्थल पर अशोक के मुख से कहलाया गया है कि "पद से च्युत हो जाने पर भी मेरी प्रार्थना है कि जिन कैदियों को प्राणदण्ड मिला हो, उन्हें धार्मिक कृत्य करने की अनुमति दे दी जाय।"[1] 'सूत्रालंकार' में कहा गया है कि अशोक के मन्त्री उसे कोई भी बहुमूल्य वस्तु नहीं देना चाहते थे। 'अशोकावदान' के चीनी संस्करण में बताया गया है कि युल-मो-ती (=सम्पदि) ने अशोक की बीमारी का लाभ उठाकर अमात्यों की सहमति से संघ से वे सब वस्तुयें वापिस लेने का प्रयास किया जो अशोक ने संघ को दान में दी थीं। 'संयुक्तागम' में बताया गया है कि युवराज सं-पो-ति (=सम्पदि) ने आदेश दे दिया था कि महान् नरेश (=अशोक) को मांगने पर भी कोई बहुमूल्य वस्तु न दी जाये। क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि राजा के पौत्र सम्पदि ने, जिसको लोभ ने जकड़ रखा था, कोषाधिकारियों से कहकर अशोक के दानादेश वापिस ले लिये थे। 'सूत्रालंकार' में बताया गया है कि अर्द्ध-आमलक को

[1]जायसवाल, हिन्दू राजतन्त्र, 2, पृ० 288।

संघ के पास भेजने के पूर्व अशोक ने शोकाभिभूत होकर कहा था : 'मेरी शक्ति खतम हो गई है। जब मेरे पास सत्ता थी, कोई मेरा विरोध करने का साहस नहीं करता था, कोई धोखा नहीं देता था और विद्रोह दबा दिये जाते थे।' शुआन-च्वांग ने लिखा है कि अशोक की सत्ता उसके मन्त्रियों ने हथिया ली थी। वह अशोक के इस कथन को उद्धृत करता है कि 'मैं महत्त्वाकांक्षी और शक्तिशाली मन्त्रियों के चंगुल में हूँ'। उसने कुक्कुटाराम के समीप निर्मित वह आमलक स्तूप भी देखा था जो उस अर्द्धामलक पर बनवाया गया था जिसे अशोक ने संघ को दान में दिया था। तारानाथ ने इस घटना की चर्चा करते हुए बताया है कि अशोक ने अपरान्तक, कश्मीर और थोगर के बौद्ध संघ को सौ करोड़ सुवर्ण मुद्रायें देने का वचन दिया था। जब वह अपना वचन पूरा नहीं कर सका तो उसने अपना राज्य ही संघ को दान में दे दिया। लेकिन दो दिन में ही मन्त्रियों ने अतुल धन देकर राज्य वापिस ले लिया और अशोक के पौत्र विगताशोक को राजा बना दिया। वह अर्द्ध-आमलक की घटना की चर्चा भी करता है। उसे अशोक ने कुछ भिक्षुओं को तब दान में दिया था जब वे उसके पास आए थे और उसके पास दान में देने के लिए कुछ शेष नहीं था।[1]

अशोक के अन्तिम दिनों के विषय में दक्षिणी परम्परा

जहाँ तक सिंहली इतिवृत्तों में पाई जाने वाली एतद्विषयक दक्षिणी अनुश्रुतियों का सम्बन्ध है, इनमें अशोक की दुखमय वृद्धावस्था की चर्चा तो है परन्तु उसके हाथ से यथार्थ सत्ता निकल जाने का उल्लेख नहीं है। 'महावंस' के अनुसार अशोक के शासन के 29वें वर्ष में उसकी रानी असन्धिमित्ता की मृत्यु हो गई। इसके चार वर्ष उपरान्त उसने तिस्सरक्खा (=तिष्यरक्षा=तिष्यरक्षिता) को अपनी रानी बनाया। इसके दो वर्ष बाद तिष्यरक्षा ने ईर्ष्यावश बोधिवृक्ष को उसमें एक विषैला काँटा चुभोकर नष्ट करने की चेष्टा की। जब विष के प्रभाव से बोधिवृक्ष सूखने लगा तो अशोक को बहुत दुःख पहुँचा। उसने बहुत प्रयास करके पवित्र वृक्ष को पुनरुज्जीवित करवाया। इसके दो वर्ष बाद, अभिषेक के 37वें वर्ष में, अशोक मृत्यु को प्राप्त हुआ।

बौद्ध परम्पराओं की आधुनिक व्याख्याएँ

अशोक के अन्तिम दिनों के विषय में बौद्ध परम्पराओं की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। रोमिला थापर के अनुसार 'दिव्यावदान' की कथा को बौद्धों ने दुख की विश्वजनीनता को समझाने के लिए गढ़ा था। वे बताना चाहते थे कि अगर सकल जम्बुद्वीप का स्वामी अशोक, जिसने इतने पुण्य किये थे, दुःख से नहीं बच पाया तो

---

[1]बोंगार्ड-लेविन, पूर्वो०, पृ० 90 अ०।

सामान्य जन कैसे बच सकते हैं?[1] लेकिन अन्य अधिकांश आधुनिक विद्वान् इस कथा में यथार्थ ऐतिहासिक घटनाओं को प्रतिध्वनित मानते हैं। रायचौधुरी ने इस कथा से निष्कर्ष निकाला है कि अशोक के अन्तिम दिनों में उसके अमात्य अत्याचारी हो गये थे और मौर्य राजकुमार, जिन्हें धंम विजय की शिक्षा मिली थी, शासन करने के योग्य सिद्ध नहीं हुए थे।[2] बरुआ का कहना है कि अपनी वृद्धावस्था में जब अशोक राजकार्य से निवृत्त रहने लगा तो उसके मन्त्रियों और राजकुमारों ने उसकी नीति के विपरीत चलने का षड्यन्त्र रचा।[3] फ्लीट और दीक्षितार का अनुमान था कि अशोक ने वृद्धावस्था में सिंहासन त्याग दिया था।[4] हाल ही में बोंगार्ड-लेविन ने प्रतिपादित किया है कि अपने शासन के अन्तिम दिनों में अशोक ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति को एक सीमा तक छोड़कर बौद्ध धर्म के अपेक्षया अधिक कट्टर पक्षधर का रुख अपनाया था। उसके द्वारा बौद्ध संघ को दान, उसका संघभेद-अभिलेख, उसके द्वारा बौद्ध संगीति का आयोजन आदि इसकी ओर संकेत करते हैं। अशोक द्वारा संघ को अतुल दान दिये जाने से सम्बन्धित 'दिव्यावदान' आदि में प्रदत्त उपर्युक्त कथाएँ उनकी इस अवधारणा का समर्थन करती हैं, ऐसा बोंगार्ड-लेविन का विश्वास है।[5]

अशोक अपनी वृद्धावस्था में कुछ कट्टर ही नहीं हो गया था वरन् उसकी मनोवृत्ति संकीर्ण भी हो गई थी, इसको सिद्ध करने के लिए बोंगार्ड-लेविन ने कुछ अन्य बौद्ध अनुश्रुतियों की ओर ध्यान दिलाया है। एक अनुश्रुति के अनुसार यह सुनकर कि पुण्ड्रवर्द्धन के एक निर्ग्रन्थ ने एक बुद्ध प्रतिमा का अपमान किया है, अशोक ने उस प्रदेश के सब आजीविकों को मार डालने का आदेश दे दिया था। जब यही अपराध पाटलिपुत्र के एक निर्ग्रन्थ ने भी किया तो अशोक ने निर्ग्रन्थों के निकायों पर कर लगा दिया। यद्यपि निर्ग्रन्थ प्रायः जैनों को कहा जाता था, तथापि 'दिव्यावदान' में कुछ स्थलों पर 'निर्ग्रन्थ' और 'आजीविक' को पर्यायवाची शब्दों की तरह भी प्रयुक्त किया गया है। बैशम ने इन बौद्ध अनुश्रुतियों को अविश्वसनीय माना था परन्तु बोंगार्ड-लेविन का कहना है कि ये अनुश्रुतियाँ उनके इस मत का समर्थन करती हैं कि अशोक अपने शासन के अन्तिम वर्षों में कुछ असहिष्णु हो गया था। इस प्रसङ्ग में यह तथ्य रोचक है कि इस अनुश्रुति में अशोक द्वारा निर्ग्रन्थों पर अत्याचार का उल्लेख है और 'दिव्यावदान' की कथा का सम्पदि, जो अशोक को राजकोष का धन व्यय करने से रोकता है, सब स्रोतों में जैन कहा गया है।

अशोक के विषय में बौद्ध कथाओं के इस कथन के समर्थन में कि वृद्धावस्था में

---

[1]थापर, रोमिला, पूर्वो०, पृ० 54।

[2]पो०हि०ए०इं०, पृ० 363 अ०।

[3]बरुआ, अशोक एण्ड हिज़ इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० 61।

[4]फ्लीट, जे०आर०ए०एस०, 1909, पृ० 304; दीक्षितार, मौर्य पोलिटी, पृ० 90।

[5]बोंगार्ड-लेविन, मौर्यन इण्डिया, पृ० 92, अ०।

उसके आदेशों का पालन नहीं होता था, बोंगार्ड-लेविन ने ध्यान दिलाया है कि उस प्रयाग लघु स्तम्भ-लेख का प्रारम्भ, जिसमें अशोक की रानी के दान का उल्लेख है, 'देवानांपिय पियदसि लाजा हेवं आह' वाक्यांश से न होकर 'देवानंपियषा वचनेना' वाक्यांश से हुआ है। इसका अर्थ है कि इसको अशोक ने नहीं वरन् किसी अन्य व्यक्ति ने जारी किया था और उसने अपने आदेश को प्रामाणिकता प्रदान करने के लिए इसमें देवानांप्रिय का उल्लेख कर दिया है। धौली के पृथक् शि० ले० में भी इसी प्रकार का वाक्यांश है और वे लेख भी, जैसाकि एम०ए० महेण्डेल ने प्रदर्शित किया है, स्वयं अशोक ने जारी नहीं किये थे वरन् उसकी अनुपस्थिति में उसके केन्द्रीय पदाधिकारियों ने भेजे थे। रानी के अभिलेख में अन्त में स्पष्टतः कहा गया है कि यह 'द्वितीय रानी कारुवाकी का' आदेश था। रानी के अभिलेख की यह व्याख्या 'अशोकावदान' में प्रदत्त उस अनुश्रुति से संगत है जिसमें अशोक शोकाभिभूत होकर कहता है : 'मेरे आदेशों का अब पालन नहीं होता।' इस निष्कर्ष के प्रकाश में बोंगार्ड-लेविन ने यह सुझाव भी रखा है कि कारुवाकी अवदान कथाओं में उल्लिखित तिष्यरक्षिता है।

लेकिन बोंगार्ड-लेविन की उपर्युक्त व्याख्या पूर्णतः सही नहीं है। यद्यपि बौद्ध कथाओं में सुरक्षित यह अनुश्रुति सत्य हो सकती है कि अशोक के अन्तिम दिन सुखमय नहीं रहे—उसकी मृत्यु के आठ वर्ष पूर्व उसकी प्रिया रानी असन्धिमित्ता की मृत्यु हो गई और नई रानी तिष्यरक्षिता ने बोधिवृक्ष को नष्ट करने का प्रयास किया (यद्यपि विषैला काँटा चुभोकर नष्ट करने की बात वनस्पति-शास्त्र की दृष्टि से ही सही नहीं जान पड़ती), षड्यन्त्र रचकर कुनाल को अन्धा करवाया तथा नये युवराज सम्पदि ने (जिसकी रुचि जैनधर्म में थी) बौद्धों को असीमित दान दिये जाने का विरोध किया और अमात्यों की सहायता से अशोक के द्वारा बौद्ध संघ पर किये जाने वाले व्यय पर रोक लगा दी। लेकिन न तो हमें बौद्ध अनुश्रुतियों का यह कथन पूर्णतः सही लगता है कि राजसत्ता वृद्ध अशोक के हाथ से पूरी तरह निकल गई थी और वह मात्र नाम का राजा रह गया था और न बोंगार्ड-लेविन की यह मान्यता सही लगती है कि अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में अशोक कुछ असहिष्णु हो गया था। बोंगार्ड-लेविन ने निर्ग्रन्थों से सम्बन्धित जिस बौद्ध परम्परा का उल्लेख किया है वह सही है या नहीं और अगर सही है तो अशोक के जीवन की किस अवस्था से सम्बन्धित है, यह स्पष्ट नहीं है। अशोक का अन्तिम अभिलेख 27वें वर्ष का है (देहली-टोपरा स्तम्भ-लेख) और उसमें वह गृहस्थों और प्रव्रजितों में तथा बौद्ध संघ के साथ ब्राह्मणों, निर्ग्रन्थों और आजीविकों में धर्म महामात्रों द्वारा किये जाने वाले कल्याण-कारी कार्यों का उल्लेख करता है। अतः तब तक वह धार्मिक रूप से सहिष्णु रहा ही होगा। यद्यपि हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि अपने शासन के अन्तिम वर्षों में अशोक की राजसत्ता पर पकड़ ढीली पड़ गई थी, परन्तु उसकी रानी के दान हेतु लिखवाये गये अभिलेख में आए 'देवानंपियषा वचनेना' वाक्यांश से बोंगार्ड-लेविन

द्वारा निकाला गया यह निष्कर्ष हमें स्वीकार्य नहीं है कि उस समय अशोक के बजाय उसकी रानी के आदेश चल रहे थे। अगर ऐसा है तो फिर धौली पृथक् शि० ले० में इसी वाक्यांश के प्रयोग से क्या यह मानना नहीं पड़ जाएगा कि उन अभिलेखों के लिखे जाने के समय भी राजसत्ता उसके हाथ में नहीं थी ? स्मरणीय है कि जौगड़ शिला पर लिखित इसी पृथक् शि० ले० के संस्करण में 'देवानंपिये हेवं आह' वाक्य है, जिससे स्पष्ट है कि 'देवानंपियस वचनेन' को 'देवानंपिये हेवं आह' का समानार्थक माना गया था। इसलिए इस 'सम्भावना' को स्वीकार करते हुए भी कि अशोक के जीवन के अन्तिम दिन असन्धिमित्ता की मृत्यु, तिष्यरक्षिता के कुकृत्यों और सम्पदि के (अगर वह सचमुच में युवराज बना था तो) शासन-कार्य में हस्तक्षेप के कारण सुखद नहीं रहे, हम यह नहीं मानते कि उस समय अशोक ने अपनी धर्म-सहिष्णुता की नीति को बहुत-कुछ छोड़ दिया था अथवा वह नाम मात्र का राजा रह गया था—कम से कम रानी के दान की चर्चा करने वाले प्रयाग स्तम्भ-लेख से तो यह बिल्कुल प्रमाणित नहीं होता। जहाँ तक इस सुझाव का प्रश्न है कि प्रयाग स्तम्भ-लेख की द्वितीय रानी कारुवाकी की पहिचान तिष्यरक्षिता से की जा सकती है, इसके लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

अशोक का मूल्याङ्कन : एक विजेता के रूप में

मूल्याङ्कन करने में निहित समस्याएँ

इस प्रकार अशोक की कथा समाप्त होती है। अब हमारे सामने सबसे कठिन कार्य रह जाता है—उसका मूल्याङ्कन करना और भारतीय तथा विश्व इतिहास में उसका स्थान निर्धारित करने का प्रयास करना। किसी राजा का इतिहास में महत्त्व जाँचना वैसे ही कठिन काम होता है, अशोक के मामले में तो यह और भी कठिन है क्योंकि वह अनेक दृष्टि से अनुपम नरेश था। उसके जीवनवृत्त में वे सब बातें तो मिलती ही हैं जो अन्य महत्त्वपूर्ण नरेशों के जीवनवृत्त में प्रायः देखने में आती हैं यथा, गृह-युद्ध, पिता का किसी अन्य राजकुमार के प्रति पक्षपात, भयंकर युद्धों द्वारा साम्राज्य विस्तार, विशाल साम्राज्य की समस्याएँ और उनके समाधान के प्रयास, धर्म और राजनीति का एक-दूसरे पर प्रभाव, किसी रानी का राजनीति में हस्तक्षेप, अमात्यों और राजकुमारों का वृद्ध सम्राट् को अपने चंगुल में करने का प्रयास, आदि। लेकिन अशोक का जीवनवृत्त और इतिहास ऐसी अन्य अनेक बातों से महत्त्वपूर्ण हो गया है जो अन्य राजाओं पर लागू नहीं होतीं—जैसे अशोक भारत का प्रथम नरेश है जिसके अभिलेख मिलते हैं और वे भी संख्या में इतने जितने किसी भी प्राचीन भारतीय नरेश के नहीं मिलते और जिनकी विषय-वस्तु समग्र भारतीय इतिहास में अनुपम है। इसी प्रकार अशोक के काल में भारतीय पाषाण कला का इतिहास प्रारम्भ होता है और वह भी ऐसे उच्च स्तर पर जिसकी समता परवर्ती युगीन कलाकृतियाँ नहीं कर

पातीं। अशोक विश्व का सम्भवत: एक मात्र नरेश है जिसने जनता के नैतिक स्तर को उठाने का गम्भीर रूप से, निरन्तर और अथक प्रयास किया। बौद्ध धर्म के इतिहास की दृष्टि से भी उसके शासन काल को अनुपम स्थान प्राप्त है। उसने इतिहासकारों के सम्मुख यह गम्भीर समस्या पैदा की है कि वे उसकी इस बात के लिए प्रशंसा करें कि उसने आगे आने वाली पीढ़ियों के राजाओं के सम्मुख जन-कल्याण, धंमघोष एवं जनता के नैतिक स्तर को सुधारने का आदर्श रखा अथवा उसकी इस बात के लिए आलोचना करें कि उसने मागध साम्राज्य के प्रसार को रोक दिया और उसकी सैनिक शक्ति को अवनतिशील बनाया।

किसी शासक को जाँचने की चार कसौटियाँ

हमारे विचार से अशोक अथवा किसी भी अन्य राजा का मूल्यांकन करते समय सर्वप्रथम उसकी 'राजनीतिक' उपलब्धियों को देखना चाहिये। किसी राजा को मात्र इसीलिए महान् नहीं मान लिया जाना चाहिये क्योंकि उसकी रुचि साहित्य, कला अथवा धर्म में थी। राजा की गतिविधि का क्षेत्र राजनीति होता है, इसलिए उसका मूल्यांकन सर्वप्रथम राजनीतिक जीवन में ही होना चाहिये। यह दूसरी बात है कि कोई नरेश व्यक्तिगत रूप से उच्च कोटि का लेखक या कलाकार या सन्त भी रहा हो। परन्तु अगर वह राजनीतिक क्षेत्र में असफल था तो हमें उसकी आलोचना करनी चाहिये, उसी तरह से जैसे कोई साहित्यकार अपनी साहित्यिक उपलब्धियों के लिए प्रशंसा पाता है धार्मिक या कलात्मक गुणों के लिए नहीं, और एक वीणा-वादक संगीतज्ञ के रूप में प्रशंसा का अधिकारी होता है, राजनीतिज्ञ के रूप में नहीं। लेकिन अभाग्यवश आधुनिक इतिहासकार इस मानदण्ड को प्राय: नजरअन्दाज़ कर देते हैं और किसी भोज को (चाहे उसने अपने पूर्वगामी राजा से विशाल साम्राज्य उत्तराधिकार में पाकर उसे नष्ट-भ्रष्ट ही क्यों न कर दिया हो) केवल इसलिए प्रशंसा का पात्र मान लेते हैं क्योंकि वह एक सफल साहित्यकार एवं साहित्य प्रेमी था। हमारे विचार से किसी राजा की सफलता और असफलता का मुख्य मानदण्ड 'राजनीतिक' होना चाहिये। इसके बाद वह अगर समुद्रगुप्त के समान वीणावादक और भोज के समान साहित्यकार भी है तो इसे हम उसकी 'व्यक्तिगत' उपलब्धि के रूप में प्रशंसनीय बात मान सकते हैं।

किसी नरेश की 'राजनीतिक' उपलब्धियों के कई पक्ष हो सकते हैं। एक, उसने अपने पूर्वगामी नरेश से कितना बड़ा राज्य पाया था और कितना बड़ा राज्य अपने उत्तराधिकारी के लिए छोड़ा। उसकी कठिनाइयों को दृष्टिगत रखते हुए हमें उसकी इस क्षेत्र में उपलब्धि या हानि का मूल्यांकन करना चाहिये। कौटिल्य ने राजा का उद्देश्य एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना करना बताया है जिसकी शासन सत्ता निरंकुश हो (एकैश्वर्यम्), जो हिमालय से लेकर समुद्र तक फैला हो और जिसके बल के समक्ष किसी को सिर उठाने की हिम्मत न हो। दूसरे, राजा का अस्तित्व जन-कल्याण

के लिए होता है। वह प्रजा का रञ्जन करने के कारण 'राजा' कहलाता है।[1] कौटिल्य के शब्दों में प्रजा के सुख में राजा का सुख और प्रजा के हित में राजा का हित होता है (प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्)। इसलिए हमें देखना चाहिये कि उस नरेश ने प्रजाहित के लिए क्या कार्य किये। ये तीनों ही कसौटियाँ महत्त्वपूर्ण होती हैं। मात्र विजय प्राप्त करने वाला राजा लोभी कहा जायेगा, मात्र प्रशासन की ओर ध्यान देने वाला राजा, राजा न होकर मन्त्री पद के योग्य माना जायेगा और राज्य की सुरक्षा और प्रसार को नजरअन्दाज़ करके केवल प्रजा-रञ्जन में व्यस्त राजा वास्तव में प्रजा का शत्रु कहा जायेगा क्योंकि अन्ततोगत्वा वह राज्य की जड़ें दुर्बल करके प्रजा के लिए संकट उत्पन्न करता है। तीसरे, हमें यह देखना चाहिये कि उस राजा ने अपने साम्राज्य के स्थायित्व के लिए क्या किया। बहुत से राजा (यथा, मालवा का यशोधर्मा तथा हर्ष) अपने जीवन काल में बड़े विजेता सिद्ध हुए परन्तु उन्होंने अपनी विजयों को स्थायी बनाने का या तो प्रयास नहीं किया अथवा उसमें सफल नहीं हुए। इसलिए हमें देखना चाहिये कि किसी नरेश ने अपने साम्राज्य की सुरक्षा व स्थायित्व के लिए क्या उपाय किये। इसके लिए हमें विशेषतः उसकी शासन-व्यवस्था का अध्ययन करना होगा। इन तीनों कसौटियों पर जो राजा खरा उतरे वह अगर अपने व्यक्तिगत जीवन में हर्ष की तरह नाटककार और समुद्रगुप्त की तरह वीणावादक न भी हो तो भी उसका राज्य समृद्ध होगा और प्रजा सुखी होगी। अगर उसमें ये गुण भी हैं तो वह व्यक्तिगत रूप से अतिरिक्त अनुशंसा का अधिकारी होगा। परन्तु वह अगर पिछली शर्तों को पूरा करता है तो उसके राज्य में कलाकार, साहित्यकार, सन्त, महात्मा व परोपकार में लगने वाले व्यक्ति स्वयं फले फूलेंगे। अकबर का उदाहरण इस प्रसंग में स्मरणीय है। वह स्वयं निरक्षर था, परन्तु उसने अपने सुशासन से वे स्थितियाँ पैदा करने में सफलता पाई जिनमें साहित्य, विद्या और शिक्षा की अप्रतिम प्रगति हुई। आखिर राजा का कार्य सांस्कृतिक उन्नति के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न करना होता है, स्वयं वीणा बजाना, गीत और नाटक लिखना तथा धर्म का उपदेश देना नहीं।

अशोक का उपर्युक्त कसौटियों पर मूल्यांकन : प्रथम कसौटी : पैतृक राज्य का विस्तार

किसी राजा की महत्ता की जाँच के लिए उपर्युक्त चार कसौटियाँ या मानदण्ड स्थिर कर लेने के बाद अब हम अशोक का सही मूल्यांकन कर सकते हैं। सर्वप्रथम हम उसकी जाँच एक विजेता के रूप में करें। उसने अपने पिता से एक ऐसा साम्राज्य उत्तराधिकार में पाया था जिसमें असम, कलिंग और सुदूर दक्षिण को छोड़कर

[1]तु०, हाथिगुम्फा-अभिलेख में आया वाक्य 'पकतियो रंजयति।'

समस्त जम्बुद्वीप तो सम्मिलित था ही, पश्चिमोत्तर दिशा में कुछ भारतेतर प्रदेश भी सम्मिलित थे। अशोक ने न केवल इस साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखा वरन् साम्राज्य प्रसार की परम्परागत नीति का अनुसरण करते हुए इसमें कलिंग को भी सम्मिलित किया। उसने कलिंग के पूर्व स्वष आदि कुछ अन्य प्रदेश जीते थे, इसकी सम्भावना भी है। इस तरह अशोक उन राजाओं में नहीं था जो एक विशाल साम्राज्य उत्तराधिकार में पाकर उसे विघटित हो जाने देते हैं। संक्षेप में अगर हम उसे 'पिता से क्या पाया और पुत्र को क्या दिया' इस कसौटी पर कसें तो कह सकते हैं कि उसने अपने पिता से जो साम्राज्य पाया था उसमें कम-से-कम कलिंग प्रदेश सम्मिलित करके अपने उत्तराधिकारी के लिए छोड़ा। लेकिन स्मरणीय है कि (1) उसे ऐसे गम्भीर विदेशी आक्रमणों का सामना नहीं करना पड़ा था जैसे चन्द्रगुप्त मौर्य तथा स्कन्दगुप्त आदि को सहने पड़े थे तथा (2) कलिंग-विजय के बाद उसने बौद्धों के धम्म चक्कवत्ती आदर्श से प्रभावित होकर साम्राज्य प्रसार की प्रक्रिया को न केवल स्वेच्छया रोक दिया वरन् वह अपने उत्तराधिकारियों से भी अनुरोध कर गया कि वे शस्त्र-विजय की नीति न अपनायें। ये दोनों तथ्य इस कसौटी पर उसकी सफलता की आभा को बहुत कुछ धूमिल कर देते हैं क्योंकि उसने ऐसा न किया होता तो सम्भवतः भारत के इतिहास की धारा ही बदल जाती।

अशोक का राजत्व आदर्श और धम्म चक्कवत्ती धम्मराज की अवधारणा

दूसरी कसौटी : अशोक के जन-कल्याण के कार्य

किसी भी राजा का मूल्यांकन करने के लिए हमने जो दूसरी कसौटी निर्धारित की है वह है उसके द्वारा जन-कल्याण के लिए किये गये प्रयास। 'राजा' शब्द का अर्थ ही है 'वह जो प्रजा का रञ्जन करे।' कौटिल्य के शब्दों में प्रजा के सुख में राजा का सुख और प्रजा के हित में राजा का हित होता है (प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्)। इस कसौटी पर अशोक प्राचीन भारतीय नरेशों में तो सर्वाधिक खरा सिद्ध होता ही है, सम्भवतः प्राचीन विश्व के नरेशों में अग्रतम माना जा सकता है।[1] इसके लिए सर्वप्रथम उसके शब्दों को ही पुनः उद्धृत किया जा सकता है। अपने प्रथम धौली पृथक् शि० ले० में वह कहता है : "सभी मनुष्य मेरी प्रजा (=सन्तान) (के समान) हैं। जिस प्रकार मैं अपनी प्रजा (=सन्तान) के लिए कामना करता हूँ कि वह सभी हित सुख—इहलौकिक (और) पारलौकिक—को प्राप्त करे उसी प्रकार (सभी) मनुष्यों के लिए भी कामना करता हूँ।" अपने द्वितीय धौली पृथक् शि० ले० में तो वह और भी आगे बढ़कर अपने महामात्रों से कहता है : "शायद मेरे अविजित अन्तों को यह जिज्ञासा हो सकती है—'हम लोगों के विषय

[1]द्र०, अग्रवाल, वा० श०, 'प्रियदर्शी अशोक', इतिहास-दर्शन, वाराणसी, 1978, पृ० 108–11।

में राजा की क्या इच्छा है ? इति।' यही मेरी इच्छा है अन्तों के बारे में कि वे जानें कि देवानांप्रिय की इच्छा है कि वे मुझसे अनुद्विग्न होवें, आश्वस्त होवें, सुख प्राप्त करें, दुःख नहीं। ···उनको आश्वासन दिया जाना चाहिये जिससे वे जानें—'जैसे पिता वैसे देवानांप्रिय हमारे लिए। देवानांप्रिय हमसे वैसे ही प्रेम करते हैं जैसे अपने से। वह हम पर वैसी ही अनुकम्पा करते हैं जैसी अपनी सन्तान पर।'" स्पष्टतः अशोक का पिता-पुत्र भाव केवल अपनी प्रजा तक सीमित नहीं था बल्कि सीमान्त राज्यों की प्रजा के लिए भी था। लेकिन अपने छठे शि० ले० में तो वह और भी आगे बढ़ जाता है। इसमें वह कहता है : "सर्वलोक हित मेरा कर्त्तव्य है ऐसा मेरा मत है ···सर्वलोक हित से बड़ा दूसरा कर्म नहीं है। मैं जो कुछ पराक्रम करता हूँ—किस लिए ? इसलिए कि भूतों (=जीवधारियों) के ऋण से मुक्त होऊँ। मैं उनको यहाँ (इस लोक में) सुखी बनाऊँ और वे दूसरे लोक में सुख प्राप्त कर सकें।" इस तरह अशोक का आदर्श केवल मानव बन्धुत्व ही नहीं था, वह प्राणि मात्र का हित करना अपना कर्त्तव्य समझता था। वह समझता था कि उसका कर्त्तव्य समस्त मानव जाति के प्रति था न कि मात्र अपने प्रजाजनों के प्रति।

अपने इस राजत्व आदर्श की पूर्ति के हेतु अशोक ने जो पग उठाये उनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। इनमें कुएँ खुदवाना, छायादार वृक्ष लगवाना, औषधि और वनस्पतियाँ उगवाना, चिकित्सा व्यवस्था करना, पशुओं के प्रति विवेकहीन क्रूरता को रोकना, दोपायों, चौपायों, पक्षियों और जलचर प्राणियों को अनेक तरह के लाभ पहुँचाना, बन्दियों पर दया दिखाना, समस्त सम्प्रदायों के हित-सुख के कार्य करना, दण्ड-समता और व्यवहार-समता लागू करना आदि ही सम्मिलित नहीं थे, जनता को सदाचरण के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देने के लिए धर्मलेख लिखवाना, धर्म महा-मात्रों आदि की नियुक्ति, पदाधिकारियों को दौरों पर भेजना, स्वयं धर्मयात्रा पर जाते समय जानपद जनों से सम्पर्क करना, उस समय वृद्धों के सुख के लिए व्यवस्था करना, धर्म चर्चा करना, आदि भी सम्मिलित थे। उसके द्वारा भेरी घोष का सर्वथा त्याग करके धंम विजय की नीति अपनाया जाना उसका जन-कल्याण का सबसे बड़ा काम था क्योंकि इससे स्वयं उसकी एवं साम्राज्य की शक्ति और साधन जनहित की ओर उन्मुख किये जा सके। स्मरणीय है कि इनमें जन-कल्याण के जो कार्य पड़ोसी राज्यों में किये जा सकते थे उनको सम्पन्न करने का दावा भी वह करता है। इन प्रयासों में स्वयं उसके अनुसार उसे महती सफलता मिली थी।

धम्म चक्कवत्ती की अवधारणा

अशोक का राजत्व आदर्श और उसकी जन-कल्याण की भावना बौद्धों की धम्म चक्कवत्ती (=धर्म चक्रवर्त्ती) की अवधारणा से किस सीमा तक प्रभावित हुए थे, यह विवादग्रस्त प्रश्न है। चक्रवर्त्ती के आदर्श में चक्र का प्रतीकात्मक महत्त्व अनेक विध माना गया है। हिन्दू आदर्श में चक्र कहीं सार्वभौम नरेश के सर्वगामी रथ के

पहिये का प्रतीक है, कहीं विष्णु और कृष्ण के आयुध का, कहीं सार्वभौम नरेश के आज्ञा चक्र का, कहीं राजचक्र या मण्डल का। कहीं-कहीं यह सार्वभौम नरेश के शरीर पर चक्रवर्तित्त्व के बत्तीस लक्षणों में से एक बताया गया है। बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी चक्र का महत्त्व स्वीकृत है। बौद्ध धर्म में एक ओर धम्मचक्क धर्म की अपरिहार्य प्रगति का प्रतीक है तो दूसरी ओर इसका राजनीतिक पक्ष धम्म चक्कवत्ती के आदर्श में मिलता है। पालि साहित्य में तीन प्रकार के चक्कवत्ती बताये गये हैं : चक्कवाल चक्कवत्ती (जो सम्पूर्ण वसुन्धरा के चारों द्वीपों पर शासन करें), दीपचक्कवत्ती (जो केवल एक द्वीप पर शासन करें) तथा पदेश चक्कवत्ती (जो किसी द्वीप के केवल एक प्रदेश पर शासन करें)। पालि साहित्य में जहाँ सारे जम्बुद्वीप को एक चक्रवर्त्ती राजा का शासन-क्षेत्र माना गया है वहाँ आशय प्रायः दीप चक्कवत्ती से है। परन्तु कहीं-कहीं चक्कवाल चक्कवत्ती और दीपचक्कवत्ती में विशेष अन्तर नहीं किया गया है। 'अंगुत्तर निकाय' में भगवान् बुद्ध कहते दिखाये गये हैं कि वह अपने एक पूर्वजन्म में सम्पूर्ण पृथिवी पर शासन करने वाले चक्रवर्त्ती राजा थे।

धर्मानुसार शासन करने वाले चक्रवर्त्ती—धम्म चक्कवत्ती—का बौद्ध आदर्श हिन्दू धर्म विजयी, हिन्दू धर्म चक्रवर्त्ती, के आदर्श से भिन्न था। हिन्दू धर्म में धर्म विजय आसुर विजय (जिसमें विजेता विजित राजा के प्राण, राज्य और सम्पत्ति सभी कुछ छीन लेता था) तथा लोभ विजय (जिसमें विजेता विजित राजा की मात्र सम्पत्ति छीनता था) से भिन्न है क्योंकि इसमें चक्रवर्त्ती नरेश विजित राजाओं को जीतता तो है परन्तु उनकी सम्पत्ति और राज्य उनको ही लौटा देता है। लेकिन बौद्ध धर्म में धम्म चक्कवत्ती सागर पर्यन्त पृथिवी को बिना दण्ड के, बिना शस्त्र के धर्म द्वारा जीतकर उस पर शासन करता है। यह आदर्श 'दीघनिकाय' के 'लक्खण सुत्तन्त' और 'चक्कवत्ती सीहनाद सुत्त' में वर्णित है। 'लक्खण सुत्तन्त' में बताया गया है कि अगर कोई महा-पुरुष बत्तीस लक्षणों सहित उत्पन्न होता है तो वह या तो अर्हत्, सम्यक् सम्बुद्ध, बनता है और या धम्म चक्कवत्ती। भगवान् बुद्ध की तुलना अनेकत्र सार्वभौम चक्रवत्ती से की गई है। चक्रवर्त्ती शासक के समान उन्होंने भी चक्र का प्रवर्त्तन किया था और एक चक्र-वर्त्ती के समान उनका अन्तिम संस्कार किया गया था। 'मिलिन्द-पञ्हो' में एक सुन्दर रूपक मिलता है जिसमें दिखाया गया है कि बुद्ध रूपी चक्रवर्त्ती का सेनापति कौन है, कोषाध्यक्ष कौन है, राजधानी क्या है, सप्तरत्न क्या हैं,[1] इत्यादि। लेकिन बत्तीस लक्षण युक्त महापुरुष अगर भिक्षु बनने के बजाय संसार में रहने का निश्चय करता है तो वह राजा, चक्रवर्त्ती धर्मराज, चारों दिशाओं का विजेता, बिना बल प्रयोग और बिना शस्त्र प्रयोग के धर्म द्वारा विजय प्राप्त करके शासन करने वाला बनता

[1]सप्तरत्न चक्रवर्तित्व के द्योतक माने गये हैं। इनमें चक्र के अतिरिक्त सामान्यतः लक्ष्मी, महिषी, युवराज, मन्त्री, राजहस्ती तथा अश्व परिगणित किये गये हैं। वैसे विभिन्न ग्रन्थों में इनकी सूची में कुछ अन्तर मिलता है।

है (राजा···चक्कवत्ती धम्मिको धम्मराज चातुरन्तो विजितावी ···सो इमं पथवीं सागरपरियन्तं अदण्डेन असत्थेन धम्मेन अभिविजीय अज्झावसति)। 'चक्कवत्ती सीहनाद सुत्तन्त' में कहा गया है कि धम्म चक्कवत्ती अपने लोगों (अन्तेजन), नगरों और ग्रामीण क्षेत्रों के निवासियों (निगम जनपदेसु), ब्राह्मण-श्रमणों तथा पशु-पक्षियों तक की धर्मानुसार रक्षा करता है। जब ब्राह्मण-श्रमण उसके पास आकर यह पूछते हैं (परिपुच्छेयासि) कि क्या अच्छा है और क्या बुरा, क्या करणीय है और क्या अकरणीय, तो वह उनको अशुभ कर्म करने से रोकता है और शुभ कर्म करने की प्रेरणा देता है। उसके राजप्रासाद पर एक दैवी चक्र प्रकट होता है। वह उस चक्र के पीछे-पीछे चारों दिशाओं में जाता है तो सब दिशाओं के विजित शत्रु स्वयं उसके सम्मुख श्रद्धावनत होते हैं और उससे उपदेश देने को कहते हैं। वह उनको बताता है : तुम प्राणियों का वध नहीं करोगे, तुम किसी से वह नहीं लोगे जो दिया नहीं गया है, आदि। स्पष्टतः यह शस्त्र विजय का नहीं उसी धम्म विजय का वर्णन है जिसका उल्लेख 'लक्खण सुत्तन्त' में हुआ है। डी० आर० भाण्डारकर का यह कहना सही ही है कि अशोक की धंम विजय नीति और इन सुत्तों में वर्णित धम्म चक्कवत्ती आदर्श में आश्चर्यजनक सादृश्य है। लेकिन उनका यह आग्रह सर्वस्वीकार्य नहीं है कि अशोक को धंम विजय की प्रेरणा इन सुत्तों से या ऐसे ही अन्य बौद्ध सुत्तों से मिली होगी और इन सुत्तों से प्रभावित होकर उसने चक्रवर्त्ती धार्मिक धर्मराज बनना चाहा होगा। बहुत-से विद्वान् इसके विपरीत यह मानते हैं कि अशोक की उपलब्धियों और धंम विजय नीति से धंम चक्कवत्ती आदर्श विकसित हुआ होगा। भाण्डारकर ने ध्यान दिलाया है कि अशोक के तेरहवें शि० ले० में उसके द्वारा धंम विजय में प्राप्त सफलता का वर्णन यही बताने के लिए किया गया है कि वह चक्रवर्त्ती धर्मराज बन गया था। 'दिव्यावदान' में उसे स्पष्टतः चतुर्भाग 'चक्रवर्त्ती धार्मिको धर्मराजा' कहा भी गया है।[1] 'दीपवंस' में भी कहा गया है कि उसका चक्र समस्त जम्बुद्वीप में घूमा था। बोंगार्ड-लेविन भाण्डारकर से सहमत प्रतीत होते हैं।[2] इसके विपरीत रोमिला थापर को यह सम्भव नहीं लगता कि प्राक्-अशोकीय युग में धम्म चक्कवत्ती आदर्श पूर्णतः विकसित हो चुका था अथवा अशोक की धंम विजय की नीति के पीछे उसकी धम्म चक्कवत्ती बनने की महत्त्वाकांक्षा थी।[3] लेकिन हमें इस विषय में भाण्डारकर का सुझाव सत्य के निकटतर लगता है।

धम्म चक्कवत्ती की अवधारणा धर्म निरपेक्ष थी

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि धंम चक्कवत्ती अवधारणा आधुनिक धर्म निरपेक्षता या सर्व-धर्म-समभाव के आदर्श का ही प्राचीन रूप थी, कोई साम्प्रदायिक

---

[1]भाण्डारकर, अशोक, पृ० 207।
[2]बोंगार्ड-लेविन, पूर्वो०, पृ० 248–9।
[3]थापर, रो०, पूर्वो०, पृ० 146।

आदर्श नहीं। यह सुविदित है कि बुद्ध ने अपने नव-स्थापित भिक्षु संघ में जो संगठन प्रवर्तित किया था वह सम्भवतः तत्कालीन गणराज्यों के प्रतिमान पर आधृत था। इस प्रकार उनका अपना राजनीतिक दृष्टिकोण प्रजातान्त्रिक ही कहा जाना चाहिये। जैसे अपने पश्चात् उन्होंने संघ में धर्म को नियामक रूप में विज्ञापित किया वैसे ही उनकी दृष्टि में धर्म का महत्त्व राज्य व्यवस्थापक के रूप में माना जाना स्वाभाविक था। प्लेटो की तरह बुद्ध भी मानते थे कि शासक पद अन्ततोगत्वा बुद्ध/चक्रवर्ती में ही परिनिष्पन्न होता है तथापि वह प्लेटो की इस भ्रान्ति के शिकार नहीं थे कि एक ही व्यक्ति सर्वोपरि धार्मिक और राजनीतिक शासक हो सकता है। उन्होंने मार के इस निमन्त्रण को कि वे स्वयं धार्मिक चक्रवर्ती बन जायें, एक प्रलोभन मानकर ठुकरा दिया था और इस प्रकार धर्मसंघ में प्रतिष्ठित ज्ञान शक्ति एवं राजतन्त्र में प्रतिष्ठित दण्ड शक्ति का पृथक्त्व बनाये रखा था। हिन्दू परम्परा के अनुसार ब्राह्मण वर्ग को राजसत्ता से अलग रहते हुए भी उसका मार्ग निर्देशक बनना चाहिये। लेकिन बुद्ध ने ब्राह्मणों के सामाजिक स्थान को अस्वीकृत किया क्योंकि वे ज्ञानी को ही ब्राह्मण मानने के लिए प्रस्तुत थे जो उनकी दृष्टि से विरक्त ही हो सकता था। दूसरी तरफ वैराग्यपरक संघ भी राजसत्ता का सहायक या नियामक नहीं हो सकता था। फलतः बौद्ध दृष्टि में राजाओं को अप्रतिहत स्वतन्त्रता प्राप्त हुई और बौद्ध 'धम्म चक्कवत्ती' व्यवहार में धर्म निरपेक्ष चक्रवर्ती ही सिद्ध हुए। अशोक को भी आधुनिक अर्थ में धर्म निरपेक्ष चक्रवर्ती ही कहना अधिक उचित होगा। भगवान् बुद्ध ने भले ही अंगुलिमाल और नालागिरि पर करुणा और मैत्री से विजय प्राप्त की हो परन्तु अशोक ने धंम घोष से जो भी विजय प्राप्त की उसने राजनीतिक रूप नहीं लिया। अगर धंम को प्रोत्साहित करना धर्म चक्रवर्ती बनना है तो निस्सन्देह अशोक में हम इस आदर्श की प्रबलतम अभिव्यक्ति मान सकते हैं, परन्तु उसकी धार्मिकता धर्म सहिष्णुता पर आधृत थी और उसका सर्व-धर्म-समभाव या धर्म-निरपेक्षता की आधुनिक अवधारणा से अभेद था।

भारत की एकता और साम्राज्य के स्थायित्व के लिए अशोक के प्रयास

भारत की एकता तथा साम्राज्य के स्थायित्व में बाधक तत्त्व

अशोक एक ऐसे साम्राज्य का स्वामी था जिसको एकीकृत बनाये रखने की समस्या बहुत कुछ वैसी ही रही होगी जैसी भारत को आजकल सहनी पड़ रही है। आधुनिक काल के समान भारत तत्कालीन युग में भी अनेक प्रजातियों, भाषाओं और धर्मों का देश था। आजकल के समान उस युग में हिन्दू या ब्राह्मण धर्म के अनुयायी बहु-संख्यक थे परन्तु बौद्ध, निर्ग्रन्थ, आजीविक आदि अन्य सम्प्रदाय भी विद्यमान थे और इनमें कुछ काफी लोकप्रिय थे और कुछ को यदा-कदा राजकीय संरक्षण भी प्राप्त हुआ था। इसी तरह उस युग में भारत का भाषात्मक मानचित्र उतना ही विविधा-

पूर्ण था जितना आजकल है। दक्षिणी प्रदेशों में उस युग में निश्चित रूप से वे द्रविड भाषाएँ बोली जाती थीं जो आधुनिक द्रविड़ भाषाओं की पूर्वजा थीं। इ० पी० राइस के अनुसार गोवा से राजमहल तक खींची जाने वाली काल्पनिक रेखा के दक्षिण में द्रविड़ भाषाओं का क्षेत्र था। स्पष्ट है कि उस युग में द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव-क्षेत्र आज की तुलना में और अधिक उत्तर तक विस्तृत था। ये द्रविड़ भाषाएँ परस्पर भी काफी भिन्न रही होंगी, उत्तर भारत की आर्य भाषाओं से भिन्न तो थीं ही। उत्तर भारत संस्कृत से व्युत्पन्न आर्य भाषा-भाषी क्षेत्र था। आर्य भाषा के रूप भी अलग-अलग प्रदेशों में अलग-अलग थे। आर्य भाषा के उन विभिन्न रूपों या बोलियों से ही आधुनिक भारतीय भाषाएँ विकसित हुई हैं। उत्तरापथ उस युग में भी विदेशी भाषाओं का क्षेत्र था। स्वयं अशोक के अभिलेखों में यूनानी और एरेमाइक का प्रयोग इसका प्रमाण है। प्रजातीय दृष्टि से तत्कालीन भारत में रक्त विविधता थी ही। तीसरी शती ई०पू० तक भारत में अनेक प्रजातियाँ प्रविष्ट हो चुकी थीं। उस समय उत्तरापथ में ही नहीं सुराष्ट्र तक में यवन प्रजातीय तत्त्व अस्तित्वमान था, यह अशोक द्वारा यवनराज तुषास्फ को सुराष्ट्र में गवर्नर नियुक्त किये जाने से स्पष्ट है। इस प्रकार अशोक के साम्राज्य के स्थायित्व का प्रश्न भारत की राजनीतिक-सांस्कृतिक एकता के प्रश्न के साथ जुड़ा हुआ था। उस युग में जब एकता पैदा करने के लिए रेल, वायुयान, समाचार-पत्र, सिनेमा, रेडियो और दूरदर्शन जैसे साधन उपलब्ध नहीं थे अशोक—और उस जैसे अन्य सभी नरेशों को—एकता बनाये रखने का प्रश्न बड़ा जटिल लगा होगा। इस पृष्ठभूमि में अशोक के द्वारा इस क्षेत्र में किये गये प्रयासों का महत्त्व अनायास बोधगम्य हो सकता है।

तीसरी कसौटी : अशोक द्वारा साम्राज्य के स्थायित्व के लिए किये गये प्रयास : प्रशासकीय समरूपता तथा निरंकुशवाद पर बल

भारत की एकता व मौर्य साम्राज्य के स्थायित्व में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रशासन की हो सकती थी। अशोक ने ही नहीं, उसके पूर्वजों ने भी समस्त साम्राज्य के प्रशासन को समरूप रखने की आवश्यकता को समझा था। इसीलिए उन्होंने अपने साम्राज्य को एकतन्त्रवादी प्रशासन प्रदान किया था जिसमें सम्राट् सर्वोच्च सत्ताधारी ही नहीं, शक्ति का एकमात्र स्रोत होता था। अशोक का राजत्व आदर्श, जिसके अनुसार वह अपनी प्रजा को अपनी सन्तान के समान समझता था, एक ओर उसकी जन-कल्याण की भावना को स्पष्ट करता है तो दूसरी ओर उसकी निरंकुश स्थिति को। उसके साम्राज्य में कुछ अर्द्ध-स्वाधीन जातियाँ जरूर थीं, लेकिन वे भी उसके नियन्त्रण के परे नहीं थीं। शेष साम्राज्य प्रान्तों में विभाजित था जहाँ उसके द्वारा नियुक्त गवर्नर जो प्रायः मौर्य राजकुमार होते थे, शासन करते थे। उन्हें वह कभी भी पदच्युत अथवा स्थानान्तरित कर सकता था। स्पष्टतः उनकी स्थिति गुप्त काल के उन अधीन महाराजाओं से भिन्न थी जो गुप्त सम्राटों की प्रभुसत्ता मानते हुए

भी अपने-अपने राज्यों पर आनुवंशिक रूपेण शासन करते थे। अशोक की शक्ति उसके गवर्नरों पर निर्भर नहीं थी और न वह उनसे युद्ध के अवसर पर सैनिक सहायता की अपेक्षा करता था। उल्टे, साम्राज्य की समस्त सेना सम्राट् के अधीन थी और उसके गवर्नर संकट के समय उससे सहायता मांगते थे।

अशोकीय साम्राज्य में एकता की भावना राजपुरुषतन्त्र (bureaucracy) की समरूपता के कारण भी उत्पन्न हुई होगी। अशोक के अभिलेखों से स्पष्ट है कि उसके आदेश सब प्रदेशों के लिए समान होते थे और एक ही आदेश की प्रतिलिपियाँ सब जगह उत्कीर्ण कराई जाती थीं। इससे सब प्रजाजनों के मन में यह भावना स्वयं ही उत्पन्न हुई होगी कि वे एक राज्य के समानस्तरीय नागरिक हैं। स्वयं सम्राट् द्वारा जनपदवासियों से सम्पर्क रखने, राजकुमारों की गवर्नरों के रूप में नियुक्ति तथा धर्म महामात्रों एवं राजूकों आदि के समय-समय पर दौरे—इन सबसे प्रजाजनों और प्रशासन के मध्य सम्पर्क बना रहता होगा। इस तरह अशोक के काल में प्रशासन राजनीतिक एकता को सबलतर करने का साधन बन गया जो किसी भी साम्राज्य के स्थायित्व के लिए भी पहिली शर्त होती है।

ब्राह्मी लिपि का अखिल भारत में प्रचार

लेकिन अशोक ने कुछ और भी ऐसे कार्य किये जिनसे देश में एकता की भावना दृढ़ हुई। यद्यपि उन कामों के पीछे उसका उद्देश्य देश में एकता की भावना पैदा करना नहीं वरन् अपने जीवन और शासन नीति को धम्म चक्कवत्ती के आदर्श के अनुरूप ढालना था, परन्तु इनसे भारत की मूलभूत एकता की भावना को भी बल मिला। एक, उसने धंम प्रचार के लिए देश के अधिकांश में ब्राह्मी लिपि को लोकप्रिय बनाया। इन पृष्ठों के लेखक का तो यह भी विचार है कि तीसरी शती ई०पू० के प्रारम्भ तक भारत में (पश्चिमोत्तर प्रदेशों को छोड़कर) लेखन-कला का अस्तित्व था ही नहीं और ब्राह्मी लिपि का आविष्कार मेगास्थेनिज की भारत-यात्रा के बाद और अशोक के लेख लिखे जाने के पूर्व—सम्भवत: अशोक के काल में ही और उसी के प्रयास से—हुआ था। यह मत चाहे किसी को स्वीकार्य न हो, लेकिन यह मानने में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि ब्राह्मी लिपि को अखिल भारतीय स्तर पर अशोक ने ही फैलाया और लोकप्रिय बनाया था। अगर ऐसा नहीं होता तो भारत के विभिन्न प्रदेशों में ब्राह्मी का विकास उसके अशोकीय रूप से नहीं होता। जो भी हो, अशोक ने एक लिपि का प्रचार करके न केवल साम्राज्यिक प्रशासन को लिखित आदेशों पर आधृत कर मजबूत बनाया वरन् देश को सांस्कृतिक और प्रशासनिक एकता की एक मजबूत जंजीर से भी बाँधा। यह कार्य कुछ वैसा ही था जैसा तिब्बत में सातवीं शती ई० में एक लिपि का प्रचार करके स्रोङ्-त्सन-गाम-पो ने किया था।

अर्द्ध-मागधी भाषा का अखिल भारत में प्रचार

यही काम अशोक ने भाषा के क्षेत्र में किया। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, अशोक के काल में हमारे देश में वैसी ही भाषात्मक विविधता थी जैसी आज है। लेकिन अशोक ने अपने अभिलेखों में सर्वत्र (सुदूर पश्चिमोत्तर प्रदेशों को छोड़कर) कुछ सूक्ष्म से परिवर्तनों को छोड़कर पूर्वी या अर्द्ध-मागधी का प्रयोग किया है। दूसरे शब्दों में उसने इस भाषा को राजभाषा का रूप दिया। उसके अभिलेखों में भाषा की इस लगभग एकरूपता के कारण आधुनिक विद्यार्थी उसके शिला-लेखों के किसी एक संस्करण को समझकर शेष संस्करणों को अनायास पढ़ सकते हैं। सारे देश में एक ऐसी भाषा का प्रचार, जो प्रशासन और साहित्य के क्षेत्र में 'एकता की कड़ी' (link language) की भूमिका अदा कर सके, कितनी महत्त्वपूर्ण बात है इसे आधुनिक भारतीय अनायास समझ सकते हैं और सुखद आश्चर्य तो तब होता है जब हम पाते हैं कि अशोक का यह प्रयोग इतना सफल हुआ कि आगामी कई शती तक—वस्तुतः गुप्त काल के प्रारम्भ तक—प्राकृत समस्त भारतवर्ष के विभिन्न राज्यों की राजभाषा बनी रही। भाण्डारकर के शब्दों में "अशोक के समय में सारा देश आर्य बन चुका था। पर विभिन्न प्रान्तों की अलग-अलग बोलियाँ थीं। पर उसने अपने धर्म के प्रचार के लिए जो महान् प्रयत्न किये, उनके कारण एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में सम्प्रेषण अधिक प्रायिक और द्रुत हो गया, और यह बात सर्वत्र अनुभव की जाने लगी कि एक सामान्य भाषा हो, जो सब प्रान्तों में पढ़ी और समझी जाए, और न केवल धर्मेतर मामलों में, बल्कि धर्म-सम्बन्धी मामलों में भी, विचार-विनिमय का माध्यम बने। इसके परिणामस्वरूप, पालि या स्मारकीय प्राकृत भारत की राष्ट्र-भाषा बन गई। पहले पालि कोई स्थानीय बोली होगी, कृत्रिम घड़ी हुई भाषा नहीं, जैसा कुछ लोग मानते हैं। सम्भाव्यतः यह उस प्राकृत की जननी थी जो पीछे से महाराष्ट्री कहलायी और जब यह सारे भारत की सार्वत्रिक भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो गयी, तब, न केवल धर्मेतर और धार्मिक लेख्य बल्कि धार्मिक पवित्र ग्रन्थ भी पालि में ही लिखे जाने लगे। शुरू में बौद्ध धर्मग्रन्थ मगधी बोली में संरक्षित रहे होंगे, पर जब यह नयी एस्पेरेंतो बन गयी, तब वे सब पालि में अनुवादित कर दिये गये ताकि वे भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक समझे जा सकें। राजकीय लेख्य, और धार्मिक दानों के अभिलेख भी इसी भाषा में लिखे जाने लगे। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रसार के लिये जो प्रायः अतिमानवीय कार्य किया उसका यह परोक्ष परिणाम हुआ जो भारत के लिए बड़ा भारी वरदान था।"[1]

[1]भाण्डारकर, अशोक, हिन्दी, पृ० 104-5।

धार्मिक सहिष्णुता की भावना का प्रचार

लेकिन भारत की एकता और मागध साम्राज्य के स्थायित्व में एक बहुत बड़ी बाधा यहाँ एकाधिक धर्मों और मतों का प्रचलन था जिससे समाज में धार्मिक तनाव बने रहते थे। इसके लिये अशोक ने अपनी धमं नीति का सहारा लिया जिसका एक मूल सिद्धान्त था धर्म-सहिष्णुता की भावना। इसका उसने धर्म लेखों द्वारा ठीक उसी प्रकार और लगभग उन्हीं शब्दों में प्रचार किया जिस प्रकार आधुनिक भारतीय राजनेता 'सर्व-धर्म-समभाव' के आदर्श का पुस्तकों, समाचार-पत्रों और रेडियो आदि द्वारा प्रचार करते हैं। उसके द्वादश शि० ले० में कहे गये ये शब्द आज की परिस्थिति में भी उतने ही प्रासाङ्गिक और सारगर्भित हैं जितने तब थे: "देवानांप्रिय दान और पूजा को उतना नहीं मानते जितना किसको ? इसको कि सब सम्प्रदायों में सारवृद्धि होवे। सारवृद्धि अनेक प्रकार की होती है। उसका मूल है वचन का गोपन (अर्थात् वाक्-संयम)। कैसे ? अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरों के सम्प्रदाय की निन्दा अनुचित अवसरों पर नहीं होनी चाहिए, थोड़ी हो किसी-न-किसी उचित अवसर पर। पूजनीय है दूसरों के सम्प्रदाय उन-उन (अर्थात् सब) अवसरों पर। ऐसा करता हुआ (मनुष्य) अपने सम्प्रदाय की वृद्धि करता है। (दूसरों के) सम्प्रदाय का उपकार करता है। इससे अन्यथा (अर्थात् इसके विपरीत) करने वाला (मनुष्य) अपने सम्प्रदाय को क्षीण करता है और दूसरों के सम्प्रदाय का भी अपकार करता है। वह जो कोई अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरों के सम्प्रदाय की निन्दा, सब अपने सम्प्रदाय के प्रति भक्ति के कारण (करता है)। यह कैसे ? 'अपने सम्प्रदाय का दीपन किया जाय' (अर्थात् अपने सम्प्रदाय की उन्नति की जाय)। और वह पुनः ऐसा करता हुआ अपने सम्प्रदाय की अत्यधिक हानि करता है। इसलिए समवाय (अर्थात् मेलजोल) ही शुभ है। कैसे ? दूसरों के धर्म को सुनना और सुनाना चाहिए। देवानांप्रिय की ऐसी इच्छा है। कैसी ? कि सब सम्प्रदाय बहुश्रुत और कल्याणकारी सिद्धान्त वाले होंवे। और वे जो अपने-अपने (सम्प्रदाय) में अनुरक्त हों उनके द्वारा कहा जाय, 'देवानांप्रिय दान व पूजा को उतना नहीं मानते जितना किसे ? कि सब सम्प्रदायों में सार की वृद्धि होवे।' इस प्रयोजन के लिए बहुत-से धर्ममहामात्र और स्त्र्यध्यक्ष महामात्र और व्रजभूमिक और अन्य (अधिकारी) वर्ग नियुक्त हैं। इसका यह फल है कि (इससे) अपने सम्प्रदाय की वृद्धि और धर्म का दीपन होता है।"

राजनीतिक-सामाजिक-पारिवारिक तनाव दूर करने में धंम नीति की भूमिका

लेकिन अशोक मात्र धर्म-सहिष्णुता का, जिसे आजकल धर्म-निरपेक्षता भी कहा जाता है, प्रचार करके ही सन्तुष्ट नहीं हुआ, उसने एक ऐसे धंम का भी प्रचार किया जिसके प्रभाव के परिणामस्वरूप पारिवारिक और सामाजिक जीवन के तनाव दूर हो सकते थे। इस विषय में रोमिला थापर के ये विचार पुनः उद्धृत किये जाने

योग्य हैं: "उस युग में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों के संघात से और बहुमत विरोधियों के कारण सामाजिक ढाँचे में तनाव और अन्तर्विरोध पैदा हुए। इसके अतिरिक्त और भी तनाव थे जो वणिक् समुदाय की मर्यादा, नगर-केन्द्रों में शिल्प-श्रेणियों की शक्ति, अत्यधिक केन्द्रीकृत राजनीतिक प्रणाली के दबाव एवं स्वयं साम्राज्य के विशाल आकार के कारण पैदा हुए थे। स्पष्ट है मौर्य साम्राज्य की प्रजा को इन विरोधी शक्तियों का सामना करने के लिए किसी केन्द्र की अथवा सामान्य दृष्टि-कोण की अपेक्षा थी, किसी ऐसे विचार की जो उन्हें एक-दूसरे के निकट ला सके और उनके भीतर एकता की भावना पैदा कर सके। ··· समन्वय उत्पन्न करने वाले सिद्धान्तों की खोज में अशोक ने हर प्रश्न के बुनियादी पक्षों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और फलस्वरूप धंम नाम से प्रसिद्ध नीति का जन्म हुआ।" इस प्रकार अशोक के धंम की अवधारणा राजनीतिक एकता पैदा करने एवं सामाजिक तनावों को दूर करने का वैचारिक उपाय थी।

बौद्ध धर्म : एकता की एक अतिरिक्त कड़ी

अगर धंम की अवधारणा ने राजनीतिक एकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं—धार्मिक असहिष्णुता की भावना एवं पारिवारिक-सामाजिक तनाव आदि—को दूर करने में योगदान दिया तो अशोक द्वारा एक राजा के रूप में बौद्ध धर्म के स्वीकार एवं इसके प्रचार के लिए किये उपायों से धार्मिक एकता की एक अन्य मजबूत कड़ी उत्पन्न हुई।

एक व्यक्ति और राजा के रूप में अशोक ने बौद्ध धर्म की जो सेवा की उसे अतुलनीय कहा जा सकता है। उसने बौद्ध धर्म को पूर्वी भारत और मध्यदेश में प्रचलित एक धार्मिक सम्प्रदाय के स्तर से ऊपर उठाकर अखिल भारतीय ही नहीं विश्वजनीन धर्म बनाया। इस दृष्टि से उसकी तुलना सेण्ट पॉल से की गई है जिसने ईसाई धर्म को एक सम्प्रदाय के स्तर से उठाकर विश्वजनीन धर्म बनाया था। उसने बौद्ध संघ से मतभेद दूर कर उसे समग्र बनाया तथा तृतीय बौद्ध संगीति आयोजित की या उसके आयोजन में सहायता दी। इसके अतिरिक्त उसने भारत के विभिन्न प्रदेशों में तथा भारत के बाहर भी धर्म-प्रचारक भेजे, स्वयं बौद्ध तीर्थ स्थलों की यात्रा करके जनमानस में उनके महत्त्व की भावना सबलतर की तथा स्तूपों, स्तम्भों तथा पशु-मूर्तियों का निर्माण करवाकर बौद्ध कला को गति प्रदान की। बौद्ध धर्म के साथ भारतीय संस्कृति का भी विदेशों में प्रचार हुआ। इसलिए 'बृहत्तर भारत' के निर्माण में भी अशोक का योगदान माना जाना चाहिये। लेकिन उसकी बौद्ध धर्म के लिए की गई सेवा का भारत को तात्कालिक लाभ यह मिला कि यह धर्म भारतीय एकता की मजबूत कड़ी बन गया।

भारतीय एकता का सबलतर होना धंम चक्कवत्ती आदर्श को पाने के प्रयास का परोक्ष परिणाम था

जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि अशोक ने अपने व्यक्तिगत धर्म—बौद्ध धर्म—के प्रचार एवं अपने आदर्श—धंम चक्कवत्ती धर्मराज—को व्यावहारिक रूप देने के लिए जो उपाय किये उनसे न केवल साम्राज्य को स्थायित्व मिला वरन् भारत की राजनीतिक-सांस्कृतिक एकता बलवत्तर हुई। परन्तु यह मानना भ्रान्ति होगी कि उसकी नीतियों का उद्देश्य भारत की राजनीतिक-सांस्कृतिक एकता की प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना था। उसका लक्ष्य धंम चक्कवत्ती बनना और बौद्ध धर्म का प्रचार ही थे। भारत की राजनीतिक-सांस्कृतिक एकता को तो उसकी नीतियों से आनुषंगिक रूप से बढ़ावा मिला था। इस स्थिति को भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नीतियों और उनके परिणामों से स्पष्टतर किया जा सकता है। भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का लक्ष्य अपनी जड़ें जमाना था। इसके लिए अंग्रेजों ने यहाँ एक भाषा—अंग्रेजी—का प्रचार किया, एक राजपुरुषतन्त्र (bureaucracy) की स्थापना की और उसे मजबूत बनाया, भारत के दूरस्थ प्रदेशों को रेलों, सड़कों तथा वायुयान आदि के द्वारा परस्पर जोड़ा, टेलीफोन तथा समाचार-पत्रों आदि द्वारा विभिन्न प्रदेशों में सम्पर्क स्थापित किया, अपने आर्थिक हितों की पूर्त्ति करने के लिए भारत के औद्योगीकरण का प्रारम्भ किया, आदि। परन्तु इन नीतियों का लक्ष्य उनके अपने हितों की सिद्धि थी। यह एकदम जुदा बात है कि इनके परिणामस्वरूप भारत में एकता की भावना को बल मिला। जब भारत के विभिन्न प्रदेश एक-दूसरे के सम्पर्क में आए तो उन्होंने अपनी विस्मृत एकता को न केवल पहिचाना वरन् व्यक्ति की स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र, संसदीय प्रशासन विधि, आदि पाश्चात्य विचारों के रूप में इस एकता को मजबूत करने वाले नए सूत्रों की खोज भी की। ब्रिटिश आधिपत्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया ने भी न केवल समस्त भारत में जागृति उत्पन्न की वरन् एकता की भावना को समान लक्ष्य जनित अतिरिक्त आधार प्रदान किया। अंग्रेजों की उपर्युक्त नीतियों के, जो उन्होंने अपने हितों की पूर्त्ति के लिए अपनाईं, ये उनकी अपनी दृष्टि से दुखद परिणाम थे। अशोक के विषय में यही बात कुछ अन्तर के साथ कही जा सकती है। अशोक अंग्रेजों की तरह विदेशी नहीं था, भारत का अपना था और उसकी नीतियों से भारत की एकता को बल मिला तो यह स्वयं उसे अपनी नीतियों का एक दुखद नहीं सुखद परिणाम लगा होगा। मागधी भाषा को राजभाषा बनाकर, ब्राह्मी लिपि में लेख लिखवा कर, एक कला परम्परा को राजकीय प्रश्रय देकर तथा अपने राजपुरुषतन्त्र की सहायता लेकर उसने बौद्ध धर्म का प्रचार करना एवं धंम चक्कवत्ती आदर्श को व्यावहारिक रूप देना चाहा था। इनसे देश की एकता बलवत्तर हुई, यह परिणाम सुखद होते हुए भी आनुषंगिक था, परोक्ष था, अनचाहा था।

अशोक का व्यक्तित्व और व्यक्तिगत उपलब्धियाँ

चौथी कसौटी : अशोक एक व्यक्ति के रूप में

किसी राजा का मूल्याङ्कन करने के लिए चौथी कसौटी हमने उसकी व्यक्तिगत उपलब्धियों को माना है। अशोक के विषय में यह बात अनायास कही जा सकती है कि 'राजा अशोक' से 'व्यक्ति अशोक' बहुत बड़ा था, लेकिन एक व्यक्ति के रूप में उसकी महत्ता जिन बातों में थी उनको 'राजा अशोक' में ही अभिव्यक्ति मिल सकती थी। 'व्यक्ति अशोक' जिन आदर्शों से प्रभावित हुआ था उनकी सफलता उसके राजा के रूप में कार्य कर पाने पर ही निर्भर थी।

अशोक के व्यक्तित्व को शब्दों में बाँधना बड़ा कठिन कार्य है। पालि निकायों में कहा गया है कि महापुरुष माता और पिता दोनों की तरफ से सुजात होते हैं (उभतो सुजातो मातितो च पितितो च)। अशोक पितृपक्ष से मौर्यजातीय था और चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार जैसे महान् नरेशों की परम्परा में उत्पन्न हुआ था। उसकी माता की पहिचान के विषय में, जैसा कि हम देख चुके हैं, कुछ विवाद है परन्तु 'दिव्यावदान' के अनुसार वह चम्पा के एक ब्राह्मण की पुत्री थी। अगर बिन्दुसार की माता सेल्युकस की पुत्री थी तो अशोक में कुछ यूनानी रक्त भी रहा होगा, यद्यपि उसके अभिलेखों से ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता।

'दिव्यावदान' में अशोक को दुःस्पर्शगात्र बताया गया है और कालाशोक रूप में उसके उल्लेख से लगता है कि उसका रंग काला था। लेकिन ये परम्परायें सही नहीं लगतीं। उसके कालाशोक होने की परम्परा वैसी ही है जैसी उसके चण्डाशोक होने की। यह निश्चित है कि उसका एक नाम (उपाधि नहीं) 'प्रियदर्शी' (जो देखने में प्रिय हो) था। जब तक यह न माना जाए कि इस नाम को रखते समय बालक अशोक के साथ क्रूर मजाक किया गया था, तब तक उसे दुःस्पर्शगात्र अथवा कृष्णवर्णी मानने का कोई कारण नहीं लगता। वैसे किसी व्यक्ति की महत्ता उसके बाह्य व्यक्तित्व पर निर्भर करती भी नहीं। भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्य वक्कलि से कहा था : "वक्कलि ! इस सड़े-गले शरीर को देखने से क्या लाभ ? वक्कलि ! जो धम्म को देखता है वह मुझे देखता है और जो मुझे देखता है वह धम्म को देखता है" (अलं वक्कलि किं ते इमिना पूतिकायेन दिट्ठेन ? यो खो वक्कलि धम्मं पस्सति सो मं पस्सति, यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति)।

जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है अशोक को राजकुमारोचित शिक्षा मिली ही होगी। 'दिव्यावदान' के अनुसार जब बिन्दुसार के कहने पर आजीविक आचार्य पिंगलवत्स ने राजा के सब पुत्रों की परीक्षा ली तब अशोक को योग्यतम पाया था। तक्षशिला में गवर्नर के रूप में रहते समय वह वहाँ प्रचलित यूनानी और एरेमाइक आदि लिपियों, विचारों तथा ईरान की प्रशासकीय एवं कला-परम्पराओं से परिचित हुआ होगा और शायद वहीं उसको भारतीय भाषाओं के लिए एक नई लिपि

आविष्कृत कराने का विचार आया होगा (यद्यपि यह भी हो सकता है यह आविष्कार बिन्दुसार ने करवाया हो)। जो भी हो, वह खरोष्ठी ओर ब्राह्मी दोनों लिपियों का ज्ञाता था। अपने 14वें शिलालेख में वह चर्चा करता है कि अभिलेखों में लिपिकारों द्वारा अशुद्धियाँ कर दी गई हैं। इससे संकेतित है कि वह स्वयं भी साक्षर था। उसके अभिलेखों में ज्यादातर स्वयं उसकी अपनी भाषा में लिखवाये गये लगते हैं। इससे यह भी प्रमाणित लगता है कि उसे राजशासन के प्रारूप तैयार करने की विधि आती थी।

अशोक ने पाषाण कला के विकास में जो रुचि ली और उसकी कलाकृतियों पर 'राजकीय' या दर्बारी होने की जो छाप है उससे प्रतीत होता है कि अशोक को पाषाण कला के विविध पक्षों का अच्छा ज्ञान था। और क्योंकि यह कला भारत में नवीन थी—कम-से-कम इसकी जड़ें बहुत गहरी तो नहीं रही होंगी—इसलिए यह मानना अपरिहार्य है कि अशोक ने इसके पल्लवन में व्यक्तिगत रूप से रुचि ली थी। और ऐसा वह तब तक नहीं कर सकता था जब तक उसे इस कला का उतना ज्ञान न रहा हो जितना कलाकारों के साथ सह-अनुभूति रखने के हेतु आवश्यक था।

अशोक : एक राजा के रूप में

एक राजा के रूप में अशोक के व्यक्तित्व की कुछ झलकियाँ अभिलेखों में सुरक्षित हैं। 'महासुतसोम जातक' में राजाओं के पाँच प्रकार के मनोरञ्जन बताये गए हैं—भोजन, विषयासक्ति, नृत्य, संगीत तथा उद्यान। अपने छठे शिला-लेख में अशोक भी उन अवसरों का उल्लेख करता है जब वह राजकार्य में व्यस्त नहीं रहता था। इनमें भोजन करना (भुंजमानस), अन्त:पुर में होना (ओरोधनम्हि), शयनगृह में होना (गभागारम्हि), पशुशाला में होना (वचम्हि),[1] पालकी या रथ में होना (विनीतम्हि) तथा उद्यान में होना (उयानेसु) सम्मिलित हैं। भोजन में मृग और मयूर का मांस उसे विशेष प्रिय था। अपने धर्म-परिवर्तन के पूर्व वह विहार-यात्राओं, आखेट और लोक-प्रचलित समाजों का भी प्रेमी रहा होगा। कुछ बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार बौद्ध धर्म स्वीकार करने के पूर्व वह अत्यन्त कामी (कामाशोक) था। लेकिन राजा बनने के बाद वह बिल्कुल बदल गया। उसके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वह अपने परिवार के सदस्यों के प्रति अत्यन्त स्नेह और प्रेम का व्यवहार करता था। वह अपनी रानियों और परिवार के अन्य सदस्यों को इतना धन अवश्य ही देता था कि वे समुचित रूप से दान कर सकें।

अशोक के व्यक्तित्व के कुछ अन्य पक्ष अभिलेखों से संकेतित हैं। इनसे स्पष्ट है कि उसने बौद्ध धर्म के कुछ ग्रन्थों (भाब्रु-लेख) को और सम्भवत: अन्य धर्मों के ग्रन्थों को भी सुना था (बारहवाँ शि० ले०)। छठे स्तम्भ-लेख में कहा गया है कि वह अन्य

[1]बरुआ ने 'वच' को वह उपस्थान माना है जहाँ अशोक अतिथियों और अन्य आगन्तुकों का स्वागत-सत्कार करता होगा।

धार्मिक सम्प्रदायों का न केवल आदर करता था वरन् उनके पास व्यक्तिगत रूप से जाना (=पचूपगमन, प्रत्युपगमन, पास जाना, व्यक्तिगत सम्पर्क में आना) अपना मुख्य कर्त्तव्य समझता था। इस मामले में उसकी धर्म-जिज्ञासा अकबर की धर्म-जिज्ञासा से तुलनीय है। आठवें शि० ले० में वह ब्राह्मणों, श्रमणों तथा वृद्धों के दर्शन के हेतु जाने तथा उनसे धर्मचर्चा करने का उल्लेख करता है।

अशोक के अभिलेखों से उसकी राजनीतिज्ञता और प्रशासक के रूप में योग्यता पर भी प्रकाश मिलता है। उसके तेरहवें शि० ले० एवं कलिंग से प्राप्त पृथक् शि० ले० से लगता है कि वह राजनीति के सिद्धान्तों से परिचित था और उनका व्यावहारिक उपयोग करना जानता था। उसके द्वारा अपने राजपुरुषों को दौरे पर भेजा जाना, धर्म-महामात्रों की नियुक्ति जिनके कर्त्तव्य सुनिर्धारित थे, धर्म की शिक्षा के लिए किये गये उपाय, जेल प्रशासन में सुधार, संघ भेद रोकने के लिए जारी किया गया आदेश एवं उसके अन्य अनेक प्रशासकीय सुधार उसके व्यावहारिक राजनीति के ज्ञान व प्रशासनिक प्रतिभा के प्रमाण हैं। अपने राजपुरुषों के लिए वह राजा भी था और उनका मित्र और मार्ग-दर्शक भी।

अशोक के कुछ व्यक्तिगत गुण उसके अभिलेखों से स्पष्ट हैं। स्पष्टतः वह धर्म-निष्ठ व्यक्ति था। उसका सर्वलोकहित का आदर्श उसकी विशालहृदयता का प्रमाण है। उसने अपने 13वें शि० ले० में कहा है कि 'कलिंग को जीतकर देवानांप्रिय को अनुताप है' (अस्ति अनुसोचन देवनप्रिअस विजिनिति कलिगनि)। किसी राजा के लिए, जो लगभग अखिल भारत का स्वामी था, अपने किसी ऐसे काम के लिए जो राजधर्म के अनुसार विहित ही नहीं उसका कर्त्तव्य था, सार्वजनिक रूप से अनुताप व्यक्त करना उसकी चारित्रिक सबलता एवं आत्म-विश्वास का द्योतक माना जा सकता है। वह सामाजिक औपचारिकताओं का पूरा ध्यान रखता था। भाब्रु-लेख में बौद्ध संघ की और प्रयाग से प्राप्त रानी के अभिलेख में रानी की चर्चा करते समय पूर्ण औपचारिकता से काम लिया गया है। ब्रह्मगिरि लघु शिला-लेख में कहा गया है कि सुवर्णगिरि के आर्यपुत्र और महामात्र इसिल के महामात्रों को सम्बोधित करते समय पहिले उनका आरोग्य पूछें। उसके द्वादश शि० ले० से भी स्पष्ट है कि वह दूसरे लोगों की भावनाओं का आदर करने पर बहुत बल देता था। उसने गुरुओं, वृद्धजनों, माता-पिता की सेवा करने एवं दासों तथा भृत्यों के हित-सुख का ध्यान रखने का अनेकत्र उपदेश दिया है। कलिंग से पृथक् शि०ले० में कहा गया है कि वह जिन बातों को सही समझता था वे उसकी अपनी अन्तर्दृष्टि का परिणाम थीं (अं किछि दखामि)। किसी समस्या पर विचार करने की उसकी शक्ति तेरहवें शि० ले० की प्रारम्भिक पंक्तियों से स्पष्ट है। उसके चरित्र की दृढ़ता और कर्मठता उसके अभिलेखों में स्वयं उसके लिए बार-बार प्रयुक्त 'पराक्रम', 'उत्साह', 'उद्यम' आदि शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है। इन सब साक्ष्य से लगता है कि अशोक एक योग्य, सुशिक्षित, सुसंस्कृत एवं दृढ़ चरित्र वाला व्यक्ति था।

अशोक की नीति के आलोच्य पक्ष : मागध साम्राज्य की अवनति प्रारम्भ होने में अशोक का उत्तरदायित्व

क्या अशोक की नीति से ब्राह्मण वर्ग असन्तुष्ट हुआ था ?

उपर्युक्त विवेचन से अशोक के चरित्र के विविध पक्ष एवं उसकी नीति के वे परिणाम स्पष्ट हो जाते हैं जिनसे भारतीय सांस्कृतिक एकता और मौर्य साम्राज्य के स्थायित्व को वल मिला। लेकिन इस सिक्के का दूसरा पहलू भी है। पं० हरप्रसाद शास्त्री जैसे कुछ इतिहासकारों के अनुसार मौर्य साम्राज्य के पतन का दायित्व अशोक की धार्मिक नीति पर था।[1] शास्त्री के अनुसार मौर्य वंश के अन्तिम शासक बृहद्रथ की हत्या उसके ब्राह्मण सेनापति द्वारा किया जाना एकाएक घटने वाली घटना नहीं थी, बल्कि यह अशोक की बौद्ध नीति के विरुद्ध ब्राह्मणों का विद्रोह था। शास्त्री का कथन है कि अशोक एक कट्टर बौद्ध था। यद्यपि उसने अपने शिलालेखों में दूसरे धर्मों के प्रति आदर की भावना प्रदर्शित की है तथा अपने धर्म की बड़ाई करना और दूसरों के धर्म की निन्दा करना हेय बताया है, तथापि उसके अभिलेखों की अनेक बातों से उसका बौद्ध धर्म के प्रति पक्षपात और ब्राह्मण धर्म के प्रति असहिष्णुता स्पष्ट है। एक, उसने वैदिक धर्म में विहित पशुबलि को सर्वथा बन्द करा दिया था। उसका यह आदेश केवल पशुबलि का निषेध ही नहीं था बल्कि ब्राह्मणों के परम्परागत अधिकारों पर आघात था। दो, अशोक ने एक स्थल में यहाँ तक दावा किया है कि 'जो (भूलोक के) देवता थे (=ब्राह्मण), उन्हें मैंने (मनुष्यों से) मिश्र कर दिया है।' तीन, ब्राह्मण वर्ग समाज में सर्वोच्च था, वही सबसे यज्ञ और अनुष्ठान कराता था तथा औरों को सामाजिक नियम तोड़ने पर दण्ड दे सकता था। अत: अशोक का धर्म महामात्रों को नियुक्त करना भी ब्राह्मणों के हितों के विपरीत था। शास्त्री के विचार में ये अधिकारी ब्राह्मणों के इन विशेषाधिकारों को छीनने के लिए नियुक्त किये गये थे। चार, अशोक ने दण्ड-समता और व्यवहार-समता के सिद्धान्त का अनुसरण करके ब्राह्मणों को न्याय और दण्ड आदि विषयों में अन्य वर्गों के समान मान लिया, जबकि मनु के अनुसार ब्राह्मण अदण्ड्य थे और बड़े से बड़ा अपराध करने पर भी उनका वध नहीं किया जा सकता था।

हरप्रसाद शास्त्री के इस मत का राजबली पाण्डेय[2] और हाल ही में बोंगार्ड-लेविन[3] आदि अनेक विद्वानों ने समर्थन किया है। डॉ० पाण्डेय लिखते हैं कि "एक ओर तो अशोक की अहिंसा की इस नीति ने राष्ट्रीय ममता और शत्रुद्वेषी भावना को शिथिल किया जो विदेशी आक्रमण रोकने की प्रबल शक्तियाँ हैं और दूसरी ओर

---

[1]शास्त्री, हरप्रसाद, 'कॉज़िज़ ऑव दि डिस्मेम्बरमेण्ट ऑव दि मौर्यन एम्पायर', जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, कलकत्ता, 1910, पृ० 259–62।

[2]पाण्डेय, राजबली, प्राचीन भारत, पृ० 185।

[3]बोंगार्ड-लेविन, मौर्यन इण्डिया, पृ० 100।

इसने वैदिक धर्म को मानने वालों के हृदय पर, जिनकी संख्या जनता में बहुत अधिक थी, चोट पहुँचाई। अशोक ने उपर्युक्त नीति को राज्य की नीति बनाकर बहुसंख्यक जनता के असन्तोष को और भी अधिक बढ़ा दिया। इसलिए जब अन्य सहायक कारणों से मौर्य-साम्राज्य लड़खड़ाने लगा, तब उसको सँभालने के लिए जनसाधारण से जो सहायता मिलनी चाहिए थी, वह नहीं मिली। इसके विरुद्ध वैदिकगामी जनता ने इससे लाभ उठाया। पुष्यमित्र शुंग इसी प्रक्रिया का एक सजीव प्रतीक था जिसने मौर्यों का विनाश कर राजसत्ता अपने हाथ में ले ली।'' लेकिन बहुत से अन्य विद्वानों ने शास्त्री के मत को अग्राह्य माना है। रायचौधुरी का कहना है कि पशुबलि-विरोधी आदेश से अशोक की ब्राह्मण-विरोधी भावना प्रदर्शित नहीं होती। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि ब्राह्मण-धर्म में भी एक विचारधारा ऐसी थी जिसमें बलि-प्रथा की भर्त्सना की गई है और 'अहिंसा' पर बल दिया गया है।[1] 'मुण्डकोपनिषद्' एवं 'छान्दोग्य उपनिषद्' में कहा गया है कि जो लोग यज्ञ आदि में लगे रहते हैं, वे जरा-मरण के भय से मुक्त नहीं होते। 'गीता' में जहाँ युद्ध की प्रेरणा दी गई है, वहीं गृहस्थों के लिए अहिंसा को भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना गया है। स्वयं अशोक के शिला-लेखों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों के प्रति उदार था। उसने ब्राह्मणों के प्रति अभद्र व्यवहार की अनेकत्र निन्दा की है और उन्हें पूज्य माना है। तीसरे, लघु शिला-लेखों के इस कथन से कि अशोक ने देवताओं को मनुष्यों से मिश्र कर दिया था, यह सिद्ध नहीं होता है कि अशोक ब्राह्मणों को उनके सम्मानित स्थान से च्युत करना चाहता था। यहाँ अशोक का तात्पर्य केवल इतना ही है कि उसने जम्बुद्वीप में सतयुग की स्थापना कर दी थी। देवताओं और मनुष्यों का पृथ्वी पर मिलाप प्राचीन भारत में एक लोकप्रिय धार्मिक कल्पना और साहित्यिक प्रतीक था। अशोक यहाँ स्पष्टतः अपने धर्म-प्रचार की उपलब्धियों को उस भाषा में कह रहा है जिसे उसके युग के लोग आसानी से समझ सकते थे। धर्म महामात्रों की नियुक्ति करके अशोक ने ब्राह्मणों के अधिकारों का अपहरण किया था, ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है। अधिकांश इतिहासज्ञों ने धर्म-महामात्रों को केवल नैतिकता का रक्षक और कानून का व्यवस्थापक माना है। जहाँ तक दण्ड-समता और व्यवहार-समता का सम्बन्ध है, अशोक का उद्देश्य ब्राह्मणों के अधिकारों का हनन करना नहीं, बल्कि सम्पूर्ण देश में दण्ड एवं व्यवहार (=न्याय) की एक-सी व्यवस्था करना रहा होगा। ब्राह्मणों को सदैव अदण्ड्य माना जाता था, यह कहना भी नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है। स्वयं ब्राह्मण-साहित्य में अनेकत्र अपने स्वामी को धोखा देने के अपराध में ब्राह्मणों के लिए प्राण-दण्ड की व्यवस्था की गई है। कौटिल्य ने देशद्रोही ब्राह्मण को जल में डुबा देने का विधान किया है। 'महाभारत' से भी स्पष्ट है कि ब्राह्मण साधुओं को मृत्युदण्ड दिया जाना सम्भव था। इसलिए शास्त्री के मत को पूर्णतः स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

---

[1]रायचौधुरी, हेमचन्द्र, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, पृ० 354–55।

लेकिन हरप्रसाद शास्त्री के तर्कों की रायचौधुरी द्वारा की गई उपर्युक्त आलोचना अंशतः ही सही है, पूर्णतः नहीं। यह मान्यता सही हो सकती है कि अशोक के मन में ब्राह्मणों के प्रति विद्वेष नहीं था, परन्तु प्रश्न तो यह है कि उसकी नीति का ब्राह्मणों के परम्परागत हितों एवं तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों पर क्या प्रभाव पड़ा। जैसा कि कोसाम्बी ने कहा है, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि अशोक द्वारा बौद्ध धर्म को अत्यधिक दान दिये जाने के कारण राज्य की अर्थ-व्यवस्था पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा होगा।[1] यह भार उस समय और भी अधिक बढ़ गया होगा जब अशोक ने एक बौद्ध नरेश के रूप में राजकोष से धन व्यय करके बुद्ध के देहावशेष पर बहुत-से (साहित्यिक परम्परानुसार 84,000) स्तूप या विहार बनवाये। 'दिव्यावदान' से ज्ञात होता है कि जब अपने शासन काल के अन्तिम वर्षों में अशोक ने राजकोष से कुक्कुटाराम को धन देना चाहा था तब अमात्यों ने युवराज सम्प्रति से कहकर भाण्डागारिक को यह आदेश दिलवा दिया था कि राजकोष से बौद्ध संघ को धन न दिया जाय। बौद्ध धर्म के प्रति अशोक के इस असाधारण उत्साह और प्रचुर धनराशि व्यय करने से कुछ क्षेत्रों में निश्चित ही असन्तोष उत्पन्न हुआ होगा। वैसे भी यह मान्यता कि बौद्ध बनने के पश्चात् अशोक के मन में ब्राह्मणों के प्रति बिल्कुल विद्वेष नहीं था, पर्याप्त शंकास्पद है। सिंहली इतिहास-ग्रन्थों के अनुसार बौद्ध होने के पश्चात् अशोक उन उच्छृंखल ब्राह्मणों से रुष्ट हो गया था जिन्हें उसके पिता के समय से ही राजप्रासाद में प्रतिदिन भोजन कराया जाता था और उन ब्राह्मणों के स्थान पर उसने सदाचारी एवं संयमी बौद्ध भिक्षुओं को भोजन कराने की आज्ञा दे दी।[2]

अशोक की नीति के कारण मागध साम्राज्य के प्रसार की प्रक्रिया का रुकना

भाण्डारकर ने अशोक को एक अन्य दृष्टि से मौर्य साम्राज्य की अवनति के लिए उत्तरदायी बताया है। उनका कहना है कि अशोक की शान्ति-नीति के कारण सैनिक अभ्यास और प्रदर्शन बन्द हो गये थे, जिससे सेना निकम्मी हो गयी थी। यद्यपि अशोक ने आटविक जातियों को सम्बोधित करते हुए अपनी शक्ति का जिस प्रकार से उल्लेख किया है उससे प्रतीत होता है कि वह अपने साम्राज्य में विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों को सहन नहीं करता था। लेकिन विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों को रोकने में अपना सामर्थ्य प्रकट करना और सेना को साम्राज्य-प्रसार में लगाये रखना दो सर्वथा भिन्न बातें हैं। जायसवाल के अनुसार, "यदि अशोक राजनीति में धर्मभीरु न बन जाता तो (बिन्दुसार के समय तक मौर्य साम्राज्य में शामिल होने से) बचे हुए (भारतीय) जनपदों का क्या होता, यह अनुमान लगाना कठिन नहीं। यदि वह अपने पूर्वजों की

---

[1]कोसाम्बी, एन इण्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑव इण्डियन हिस्ट्री, पृ० 211–12।

[2]द्र०, दत्त, नलिनाक्ष एवं वाजपेयी, कृष्णदत्त, उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृ० 195।

नीति को जारी रखता तो वह फारस के सीमान्त से कन्याकुमारी तक समूचे जम्बुद्वीप को वस्तुतः एकच्छत्र राज्य के अधीन कर सकता था। वह आदर्श तब से आज तक चरितार्थ नहीं हो पाया।"[1] आर० डी० बनर्जी के अनुसार भी, "अशोक ही मौर्य वंश के पतन के लिए उत्तरदायी था। उसके आदर्शवाद और धार्मिक भावना ने सेना के अनुशासन को कड़ी चोट पहुँचाई। जब उसने 'धर्मघोष' की भावना को जनता के सामने रखा और कहा कि उसके समय में 'भेरीघोष' ने 'धर्मघोष' का स्थान ले लिया है, तब उसने स्वयं ही अपने साम्राज्य के पतन की घण्टी बजा दी।" अशोक के पश्चात् उसके अनेक उत्तराधिकारियों ने भी धर्मविजय की नीति को अपनाकर (अपने मतानुसार परिवर्तित करके) शासन-तन्त्र को धर्मोन्मुख बनाये रखा, लेकिन राजनीति में इस प्रवृत्ति को प्रारम्भ करने का श्रेय अशोक को प्राप्त होता है। उसने अपने अभिलेखों में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि वह चाहता था कि उसके उत्तराधिकारी भी धंमविजय की नीति का अवलम्बन करें। उसने इच्छा प्रकट की थी: "मेरे पुत्र एवं पौत्र शस्त्रविजय करना अपना कर्त्तव्य न समझें।" उसके अनेक उत्तराधिकारियों ने धंमविजय नीति का अपने-अपने धर्म के हितार्थ अनुसरण करके उसकी इच्छा को पूरा किया। सम्पदि (सम्प्रति) ने, जो 'दिव्यावदान' के अनुसार अशोक के शासन के अन्तिम वर्षों में युवराज पद पर नियुक्त था और बौद्ध संघ से रुष्ट था, जैनों को आर्थिक सहायता दी। दशरथ ने अपने पितामह के मार्ग पर चलते हुए आजीविकों के लिए गुफाएँ दान में दीं। धर्मविजय की नीति का सबसे प्रबल समर्थक शालिशूक हुआ जिसके शासन काल में साम्राज्य पर विदेशी आक्रमण प्रारम्भ हुए और घोर अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। 'युग-पुराण' में इस नरेश को 'मोहात्मा' (=मूर्ख), 'धर्मवादी' (धर्म का ढोंग करने वाला) तथा 'अधार्मिक' कहा गया है (स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्)। उसका यह निर्णय, जो अशोक पर भी उतना ही लागू होता है जितना शालिशूक पर, सत्य से अतिदूर नहीं था क्योंकि अशोक निश्चय ही यह समझ बैठा था कि उसकी इस नीति से एक वर्ष से कुछ ही अधिक समय में पृथिवी पर मानो स्वर्ग उतर आया था और देवता और मनुष्य अमिश्र हो गए थे। वह अपनी धर्मविजय नीति की सफलता का अनेकत्र अतिरञ्जित वर्णन करता है। लेकिन जैसा कि रायचौधुरी ने कहा है शस्त्र विजय की नीति के परित्याग से "साम्राज्य की सामरिक क्षमता अवश्य ही घटी होगी।" इस मत के विरुद्ध बरुआ आदि का आग्रह है कि इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि अशोक ने अपनी सेनाएँ भंग कर दी थीं। उल्टे वह अटवि जनों को अपने प्रताप का स्मरण दिला कर अपनी सैनिक क्षमता की ओर संकेत करता है। लेकिन हमारे विचार से प्रश्न यह नहीं है कि उसने सेनाएँ भंग कर दी थीं या नहीं। प्रश्न इस बात का है कि उसने और अधिक प्रदेशों को जीतने के लिए सेनाओं का उपयोग करना बन्द कर दिया। इससे सेनाओं की व्यवहार-कुशलता, युद्ध-प्रियता एवं क्षमता अवश्य घटी होगी। जैसा कि सर्वज्ञात

[1]जायसवाल, जे०बी०आर०एस०, 1916, पृ० 83।

है धन के समान राज्य भी या तो बढ़ता है या घटता है, कभी यथावत् नहीं रहता। जो सेना दो-चार दशक तक युद्ध नहीं करेगी वह युद्ध का अनुभव कैसे प्राप्त करेगी और फिर अवसर पड़ने पर लड़ेगी क्या ? स्वतन्त्र भारत को इस नीति का खट्टा फल एक बार चखना पड़ा था। इतिहास का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि सभी देशों में अपने अस्तित्व को बनाये रखने के इच्छुक सम्राट् अपने साम्राज्य की रक्षा साम्राज्य की सीमाओं के परे करते थे। रोमक सम्राट् सदैव अपनी सीमाओं के बाहर पश्चिमी एशिया, फ्रान्स, जर्मनी और अफ्रीका में लड़े, चीनी नरेश थाइलैण्ड, सिक्यांग और तिब्बत में तथा ईरानी शासक यूनान और भारत में। आज भी चीन, रूस तथा अमेरिका आदि की यही नीति है। अशोक ने धर्म विजय की नीति अपनाकर सेनाएँ चाहे भंग न की हों, परन्तु साम्राज्य के प्रसार की प्रक्रिया को अवश्य ही रोक दिया और "जब तक कोई शत्रु हम पर आक्रमण नहीं करता तब तक हमें लड़ने की क्या आवश्यकता"—यह घातक नीति अपनाई। इसके बाद मौर्य साम्राज्य की नींव लड़खड़ाना केवल समय की बात रह गई क्योंकि जब राजाओं की रुचि साम्राज्य प्रसार के बजाय पुण्य के अर्जन में हो गई तो वे आक्रान्ताओं का सामना उस विश्वास से कैसे कर सकते थे जैसे चन्द्रगुप्त मौर्य ने किया था। जब सेनाओं के लड़ने का अभ्यास छूट गया होगा तो वे आक्रमणकारी शत्रुओं का सामना करने में स्वत: असमर्थ हो गयी होंगी। निष्कर्षत: अशोक ने बौद्ध संघ को अतिशय दान देकर राजकोष को रिक्त किया, मन्त्रि-परिषद् को अपना विरोधी बनाया, ब्राह्मण वर्ग को अपने विरुद्ध किया, धर्मविजय नीति से साम्राज्य का प्रसार रोका और सेना को निष्क्रिय बनाया। अत: उसकी धर्मविजय की नीति को मौर्य साम्राज्य की अवनति का काफी महत्त्वपूर्ण कारण माना जाना चाहिए।

अशोक की अन्य शासकों से तुलना

धंमविजय की नीति के अनुसरण के कारण इतिहासकारों ने अशोक को संसार के महापुरुषों में स्थान दिया है। एच० जी० वेल्स ने ईसा, बुद्ध, अशोक, अरिस्टोटल, बेकन और लिंकन को इतिहास के छ: प्रमुख पुरुष माना है। कुछ विद्वानों ने उसकी तुलना रोमक सम्राट् कान्स्टेण्टाइन से की है। कान्स्टेण्टाइन का साम्राज्य विशाल था और उसने ईसाई धर्म स्वीकार कर उसे राजधर्म बनाया था। परन्तु कान्स्टेण्टाइन ने राजनीतिक परिस्थितियों से विवश होकर ईसाई धर्म को अपनाया था, इस धर्म में अपनी आस्था और अपनी धर्मनिष्ठा के कारण नहीं। उसके पूर्ववर्ती रोमक सम्राटों ने ईसाई धर्म के प्रचारकों पर घोर अत्याचार किये थे। पर ईसाई प्रचारकों के प्रयास से रोमक साम्राज्य में उनके धर्म का निरन्तर उत्कर्ष होता जा रहा था और कान्स्टेण्टाइन के समय तक वह इतना प्रबल हो चुका था कि कान्स्टेण्टाइन को उसके सम्मुख सिर झुकाना पड़ा और उसने उसकी दीक्षा ग्रहण कर ली। इस प्रकार वह एक दूरदर्शी सम्राट् था और उसने ईसाई धर्म को राजनीतिक प्रयोजन से स्वीकार

किया था। पर अशोक ने किसी राजनीतिक विवशता या लाभ के कारण बौद्ध धर्म को नहीं अपनाया था। उसके युग में बौद्ध धर्म कोई ऐसी शक्ति नहीं था जिसकी सहायता से वह अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने की आशा करता। इस प्रकार कान्स्टेण्टाइन ने जीतते हुए पक्ष का पोषण किया जब कि अशोक ने ऐसे धर्म को अपनाया जिसको अभी लोकप्रियता पाना शेष था। अशोक ने बौद्ध धर्म को अपने साम्राज्य का राजधर्म भी नहीं बनाया। सिद्धान्ततः वह सब सम्प्रदायों का समान रूप से आदर करता था और सबको दान पुण्य द्वारा सन्तुष्ट करता था।

रीज़ डेविड्स ने अशोक और कान्स्टेण्टाइन की तुलना इसलिए की है क्योंकि जैसे कान्स्टेण्टाइन के दान-पुण्य से ईसाई चर्च का अध्यात्मिक ह्रास हुआ वैसे ही अशोक के दान-पुण्य से बौद्ध धर्म की अवनति हुई। लेकिन भारत में बौद्ध धर्म की अवनति गुप्तकाल के बाद हुई थी, अशोक के समय से नहीं।

कुछ विद्वानों ने अशोक की तुलना रोमक सम्राट् मार्कस ऑरेलियस के साथ की है। इस रोमक सम्राट् का जीवन पवित्र था, उद्देश्य उच्च थे और वह विद्वान् भी था। अतः व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता की दृष्टि से उसे अशोक के समकक्ष माना जा सकता है। पर वह सब धर्मों व सम्प्रदायों को समान दृष्टि से नहीं देखता था। उसने ईसाइयों पर अत्याचार करने में संकोच नहीं किया। उसकी दृष्टि भी संकुचित थी। रोमक साम्राज्य के पड़ोस में बसी जातियों को तो वह बर्बर समझता था।

मुग़ल सम्राट् अकबर के साथ भी अशोक की तुलना करने का प्रयत्न किया गया है। और यह सही भी है कि अकबर धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु था। मुसलमान होते हुए भी उसने हिन्दुओं के साथ समानता का व्यवहार किया, उन्हें अपने राज्य में उच्च पद दिये, गो-हत्या का निषेध किया और जजिया हटा दिया। उसमें अशोक के समान जिज्ञासा भी थी। इसी कारण वह ऐसी धर्म-सभाएँ आयोजित करता था जिनमें हिन्दू, मुसलमान, जैन और ईसाई आदि विविध धर्मों के विद्वान् एकत्र होते थे। उसने 'दीन-ए-इलाही' नाम से एक नये धर्म का भी सूत्रपात किया, जिसमें सब धर्मों के शुभ तत्त्वों का समावेश करने का प्रयास किया गया था। लेकिन अकबर एक राजनीतिज्ञ पहिले था। वह जानता था कि हिन्दुओं का सहयोग प्राप्त किये बिना भारत में मुग़ल शासन जम नहीं सकता। अतः उसकी धार्मिक नीति अनेक अंशों में राजनीतिक आवश्यकताओं पर आधृत थी। उसने 'दीन-ए-इलाही' के रूप में जिस नये धर्म का सूत्रपात किया था वह भी उसकी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं का परिणाम था। इस धर्म का प्रधान आचार्य व गुरु भी वह स्वयं था। इसलिए उसका 'दीन-ए-इलाही' कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ सका।

मैकफेल ने अशोक की तुलना एल्फ्रेड, शार्लमेन, उमर खलीफा आदि से की है। परन्तु इनमें किसी राजा के सम्मुख वैसा उच्च राजत्व आदर्श नहीं था जैसा अशोक ने अपने सम्मुख रखा था। अन्य यूरोपीय इतिहासकार प्रायः सिकन्दर, सीज़र या नेपोलियन को विश्व का महानतम शासक मानते हैं। ये तीनों अवश्य ही बड़े विजेता थे

और तीनों ने ही अपने-अपने युगों में कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किये और विश्व इतिहास को प्रभावित किया। हम भाण्डारकर के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि सिकन्दर की विश्व को एकमात्र देन दाढ़ी मुंड़ाने का फैशन था, सीज़र एक विषयासक्त बूढ़ा था और नैपोलियन के प्रति मानव जाति का कोई आभार नहीं हो सकता। हमारे विचार से सिकन्दर ने यूनानीसम (Hellenistic) सभ्यता का सूत्रपात करके, सीज़र ने रोमक गणराज्य को राजतन्त्रात्मक रूप देने की लगभग सफल कोशिश करके तथा नेपोलियन ने फ्रांस की राज्यक्रान्ति के आदर्शों को कुछ परिवर्तन के साथ लोकप्रिय बनाकर विश्व इतिहास को गम्भीर रूप से प्रभावित किया और अपने-अपने समय में नया मोड़ दिया। परन्तु हम भाण्डारकर के इस कथन से अवश्य ही सहमत हैं कि इनमें से किसी के सम्मुख उतना महान् राजत्व आदर्श नहीं था जितना अशोक का था। हमें एच० जी० वेल्स का यह कथन आज भी सही लगता है : "जिन लाखों राजाओं के नामों से इतिहास के पन्ने काले हो रहे हैं उन राजराजेश्वरों और महाराजाधि-राजाओं के बीच में अशोक का नाम एक अकेले नक्षत्र के समान चमकता है। वोल्गा से जापान तक आज भी उसका नाम सम्मान से लिया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत भी, यद्यपि उसने उसके सिद्धान्त त्याग दिये हैं, उसकी महानता की परम्परा बनाये हुए हैं। जितने लोगों ने कान्स्टेण्टाइन या शार्लमेन का नाम कभी सुना होगा उनसे भी अधिक लोग आज आदरपूर्वक उसका स्मरण करते हैं।"[1]

---

[1]दि० आउटलाइन आँव हिस्ट्री, पृ० 212।

अध्याय 20

अशोक के उत्तराधिकारी और मौर्य वंश का पतन

मौर्य वंश का अशोकोत्तर राजक्रम और तिथिक्रम

विविध साक्ष्य से ज्ञात तथ्य

अशोक के उपरान्त मौर्य राजक्रम और तिथिक्रम के विषय में न केवल पौराणिक और बौद्ध अनुश्रुतियों में भेद है वरन् पौराणिक इतिवृत्तों में भी परस्पर वैमत्य है। विविध पुराणों में चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार और अशोक के शासन की अवधि के सम्बन्ध में लगभग सहमति है। इन सबमें उनका शासन काल क्रमश: 24, 28 और 36 वर्ष[1] बताया गया है। इस बात पर सब पुराण सहमत हैं कि मौर्य वंश की कुल शासनावधि 137 वर्ष थी। अब, क्योंकि चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार और अशोक ने कुल मिलाकर 88 वर्ष तक राज्य किया, अत: अशोक के उत्तराधिकारियों के लिए केवल 49 वर्ष शेष बचते हैं। इन 49 वर्षों में 'ब्रह्माण्ड-पुराण' के अनुसार छ: राजाओं ने शासन किया और 'मत्स्य-पुराण' के अनुसार सात ने। 'वायु-पुराण' में भी इनकी संख्या छ: ही दी गई है, यद्यपि नाम नौ के दे दिये गये हैं।

'सामान्यत: वायु' और ब्रह्माण्ड पुराणों में[2] मौर्य राजाओं के नामों और उनके शासन कालों का इस प्रकार उल्लेख है—चन्द्रगुप्त 24 वर्ष, भद्रसार 25 वर्ष, अशोक 36 वर्ष, कुनाल (अशोक का पुत्र) 8 वर्ष, बन्धुपालित (कुनाल का पुत्र) 8 वर्ष, इन्द्रपालित 10 वर्ष, देववर्मा 7 वर्ष, शतधनुष् (देववर्मा का पुत्र) 8 वर्ष तथा बृहद्रथ 7 वर्ष। मौर्य राजाओं की यह वंशावली देकर इन पुराणों में यह कहा गया है कि ये नौ मौर्य राजा 137 वर्षों तक पृथिवी का भोग करेंगे (सप्तत्रिंशच्छतं पूर्णं तेभ्यो शुंगो भविष्यति)। लेकिन इनमें विभिन्न राजाओं के शासन की जो अवधियाँ दी गई हैं उनका योग 133 वर्ष ही आता है।

---

[1]कुछ पुराणों में चन्द्रगुप्त के शासन की अवधि 34 वर्ष बताई गई है परन्तु यहाँ किसी लिपिक से भूल हो गई लगती है। कुछ पुराणों में बिन्दुसार का शासन 25 या 26 वर्ष का बताया गया है। अशोक के शासन की अवधि उसके राज्यारोहण से शुरू मानी जानी चाहिये, अभिषेक से नहीं, क्योंकि पुराणों ने इन दोनों घटनाओं में भेद नहीं किया है।

[2]पार्जिटर, डा०क०ए०, पृ० 29।

'वायु-पुराण' की एक प्रतिलिपि में, जो 'इ-वायु' पाण्डुलिपि कही जाती है, मौर्य राजाओं का विवरण इस प्रकार से दिया गया है—चन्द्रगुप्त 24 वर्ष, नन्दसार 25 वर्ष, अशोक 36 वर्ष, कुलाल (अशोक का पुत्र) 8 वर्ष, बन्धुपालित (कुलाल का पुत्र) 8 वर्ष, दशोन (उनका नप्ता) 7 वर्ष, दशरथ (उसका पुत्र) 8 वर्ष, सम्प्रति (दशरथ का पुत्र) 9 वर्ष, शालिशूक 13 वर्ष, देववर्मा 7 वर्ष, शतधनु (देववर्मा का पुत्र) 8 वर्ष और बृहद्रथ 87 वर्ष। इस वंशावली को देकर इस पुराण में भी कहा गया है कि ये नौ मौर्य राजा 137 वर्षों तक वसुन्धरा का भोग करेंगे। पर इस सूची में दिये गये नामों की संख्या 9 न होकर 12 है और उनके शासन की अवधियों का योग 240 है।[1] स्पष्टतः इस वर्णन में कहीं भूल हुई है। एक भूल तो यही हो सकती है कि इसमें बृहद्रथ के शासन की अवधि 7 वर्ष के बजाय गलती से 87 वर्ष लिख दी गयी हो। उस अवस्था में मौर्य शासन की कुल अवधि 140 वर्ष हो जाएगी जो सत्य के निकटतर होगी।

'मत्स्य-पुराण' के अनुसार मौर्य वंश के राजाओं की संख्या 10 थी और उनका शासन काल 137 वर्ष था। पर इसमें केवल 7 राजाओं के नाम दिये गये हैं—चन्द्रगुप्त, (बिन्दुसार अनुल्लिखित है), अशोक 36 वर्ष, अशोक का नप्ता 17 वर्ष, दशरथ (उसका पुत्र) 8 वर्ष, सम्प्रति (दशरथ का पुत्र) 9 वर्ष, शतधन्वा (सम्प्रति का पुत्र) 6 वर्ष, और बृहद्रथ 7 वर्ष। शालिशूक और देववर्मा—ये दो नाम इस पुराण में नहीं दिये गये हैं।[2]

'विष्णु-पुराण' में मौर्य वंश के राजाओं के नाम इस क्रम से दिये गये हैं—चन्द्रगुप्त, विन्दुसार, अशोक, सुयश, दशरथ, संगत, शालिशूक, सोमवर्मा, शतधन्वा और बृहद्रथ। इन राजाओं की संख्या 10 है।[3]

'कलियुगराजवृत्तान्त' में मौर्य राजाओं की संख्या 11 दी गई है—चन्द्रगुप्त 34 वर्ष, बिन्दुसार 28 वर्ष, अशोक 36 वर्ष, सुपार्श्व 8 वर्ष, बन्धुपालित 8 वर्ष, इन्द्र-पालित 70 वर्ष, सङ्गत 9 वर्ष, शालिशूक 13 वर्ष, देववर्मा 7 वर्ष, शतधनु 8 वर्ष और बृहद्रथ 88 वर्ष। इन 11 राजाओं का कुल शासन काल 309 वर्ष है। इनमें इन्द्रपालित के 70 वर्ष तथा बृहद्रथ के 88 वर्ष सम्भवतः क्रमशः 7 तथा 8 होने चाहियें। 70 तथा 88 लिपिक की भूल का परिणाम हो सकते हैं। उस अवस्था में इन सब नरेशों के शासन का कुल योग 166 वर्ष होगा जो स्पष्टतः 137 संख्या के निकटतर है।

'दिव्यावदान' के अनुसार अशोक के बाद के निम्नलिखित मौर्य राजाओं ने शासन किया—सम्पदि (सम्प्रति), बृहस्पति, वृषसेन, पुण्यधर्मा और पुष्यमित्र।[4]

---

[1]वही।

[2]वही, पृ० 23।

[3]वही।

[4]जीन शिलुस्की, पूर्वो०, पृ० 30, टि० 3।

इनमें केवल सम्प्रति का ही नाम ऐसा है जो पौराणिक अनुश्रुतियों में भी पाया जाता है।

जैन अनुश्रुति में सम्प्रति का विशद रूप से वर्णन किया गया है।

तिब्बत की बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक के बाद जो राजा हुए उनके नाम थे कुनाल, विगताशोक और वीरसेन। तारनाथ ने वीरसेन को गन्धार का राजा कहा है।[1]

पोलिबियस नामक क्लासिकल लेखक ने 206 ई०पू० में गन्धार पर शासन करने वाले राजा का नाम सोफागसेनस (=सोभागसेन) बताया है।[2] वह वीरसेन का वंशज होना चाहिये।

'राजतरंगिणी' में कल्हण ने कश्मीर पर अशोक के बाद वहाँ शासन करने का श्रेय उसके पुत्र जालौक को दिया है जिसका उत्तराधिकारी उसने दामोदर को बताया है।[3]

अभिलेखों से अशोक के केवल एक उत्तराधिकारी का अस्तित्व ज्ञात होता है। वह है दशरथ, जिसके तीन अभिलेख नागार्जुनी की गुहाओं से मिले हैं। उसे अशोक के समान 'देवानांप्रिय' उपाधि दी गई है। पूसें का यह अनुमान आजकल कोई नहीं मानता कि इनमें देवानांप्रिय (=अशोक) द्वारा दशरथ के अभिषिक्त किये जाने का उल्लेख है। अशोक के एक अभिलेख में उसके एक पुत्र तीवर की चर्चा मिलती है जो उसकी दूसरी रानी कारुवाकी के गर्भ से उत्पन्न बताया गया है। रोमिला थापर ने कारुवाकी की पहिचान तिष्यरक्षिता से की है और तीवर को एक बिगड़ा राजकुमार बताया है।[4] तीवर का उल्लेख मौर्य वंश के अभिषिक्त राजाओं की किसी सूची में नहीं मिलता।

विभिन्न राजाओं की ऐतिहासिकता का विवेचन

अशोक के उत्तराधिकारियों के विषय में उपलब्ध उपर्युक्त तथ्य बहुत भ्रमोत्पादक हैं और उनको व्यवस्थित करना बड़ा कठिन है। इसीलिए इतिहासकारों में उनके इतिहास के विषय में बहुत मतभेद है। सबसे पहिले हम यहाँ उन तथ्यों को दोहरा दें जो निर्विवाद या लगभग निर्विवाद हैं। एक, पुराणों में यह बात बार-बार कही गई है कि मौर्यों ने कुल 137 वर्ष शासन किया। उस अवस्था में अगर प्रथम तीन शासकों ने 88 वर्ष शासन किया (चन्द्रगुप्त ने 24 वर्ष, बिन्दुसार ने 28 वर्ष और अशोक ने 36 वर्ष) तो अशोक के उत्तराधिकारियों के लिए 49 वर्ष शेष बचते हैं। इस अर्द्धशती में ही हमें उपर्युक्त नरेशों को स्थान देना होगा। दूसरे, पुराणों में

---

[1]तारानाथ, पूर्वो०।

[2]हिस्ट्रीज, 9.31।

[3]राजतरंगिणी, 1.108–53।

[4]थापर, रो०, पूर्वो०, पृ० 185।

मौर्य वंश के राजाओं की कुल संख्या 9 या 10 बताई गई है। इसलिए अशोक के बाद केवल 6 या 7 राजाओं ने शासन किया होगा। यह बात कम से कम पाटलिपुत्र के सिंहासन के लिए सही होनी चाहिये, चाहे अन्य प्रदेशों में कुछ भिन्न राजाओं ने स्वतन्त्ररूपेण अथवा गवर्नर रूप में शासन किया हो और उन्हें विभिन्न ग्रन्थों के लेखकों ने अपनी सूचियों में स्थान दे दिया हो। उदाहरणार्थ, कल्हण द्वारा उल्लिखित कश्मीर के मौर्य नरेश तथा तारानाथ द्वारा उल्लिखित गन्धार के मौर्य राजा मुख्य वंश से निश्चय ही अलग थे। तीसरे, उपर्युक्त राजाओं में दशरथ की ऐतिहासिकता उसके अभिलेखों से सिद्ध है और बृहद्रथ साहित्य में अनेकत्र अन्तिम मौर्य राजा के रूप में उल्लिखित है। बाण भी उसकी चर्चा करता है। सम्प्रति की ऐतिहासिकता भी मान्य है क्योंकि उसको अनेक जैन ग्रन्थों में उसी प्रकार महावीर का श्रद्धालु भक्त बताया गया है और उसकी गतिविधियों का वर्णन किया गया है जैसे बौद्ध ग्रन्थों में अशोक का। 'दिव्यावदान' जैसे बौद्ध ग्रन्थ भी उससे परिचित हैं। उसके अतिरिक्त शालिशूक, देवधर्मा तथा शतधन्वा को भी ऐतिहासिक नरेश माना जा सकता है। 'सामान्यतः वायु०', ब्रह्माण्ड०, विष्णु०, भागवत०, मत्स्य० तथा 'वायु० इ-प्रति' शतधन्वा का उल्लेख करते हैं यद्यपि उसके नाम की वर्तनी के विषय में विभिन्न पाण्डुलिपियों में कुछ मतभेद हैं। इसी प्रकार लगभग सभी पुराण उसके पिता देवधर्मा से परिचित हैं (केवल मत्स्य० में शतधन्वा को सम्प्रति का पुत्र कहा गया है)।

इस प्रकार अशोक के उपरान्त शासन करने वाले उपर्युक्त 6 राजा ऐतिहासिक लगते हैं। एक अन्य नरेश जिसकी चर्चा पुराणों तथा बौद्ध और जैन ग्रन्थों में मिलती है कुणाल (कुनाल, कुलाल) है। वह भी ऐतिहासिक व्यक्ति होना चाहिये। पुराणों में उसे सामान्यतः 8 वर्ष का समय दिया गया है, लेकिन कुछ पुराणों में कुणाल के बजाय सुयश नाम मिलता है। पूसें ने उसकी पहिचान कुणाल से की है।[1] बौद्ध और जैन ग्रन्थों में सम्प्रति को कुणाल का पुत्र बताया गया है और भागवत० में सुयश का। 'दिव्यावदान' में बताया गया है कि कुणाल का एक नाम धर्मविवर्धन भी था। एफ० डब्ल्यु० टॉमस ने धर्मविवर्धन उर्फ कुणाल की पहिचान तिब्बती अनुश्रुतियों के कुस्तन से की है। फा-शिएन ने फा-यि (=धर्मवर्धन) को अशोक के अधीन अफगानिस्तान का शासक बताया है। बी० एम० बरुआ ने कुणाल की पहिचान रानी के दान का उल्लेख करने वाले स्तम्भ-लेख के तीवर या तीवल से की है जो अशोक का कारुवाकी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र था। रोमिला थापर ने उसको कल्हण की 'राजतरंगिणी' में उल्लिखित जालौक माना है क्योंकि ब्राह्मी लिपि में कुणाल को गलती से जालौक लिखा जा सकता था।[2] ये सब मत अनुमानाश्रित हैं, परन्तु इतने

---

[1]पूसें, लिन्दें ऑं तेम्प द मौर्यंज, थापर द्वारा उल्लिखित, पृ० 186।

[2]थापर, पूर्वो०, पृ० 185।

विविध साक्ष्य में उल्लिखित होने से कुणाल की ऐतिहासिकता मान्य हो जाती है। इस निष्कर्ष के स्वीकार में कठिनाई यह आती है कि पुराणों में कुणाल को अशोक का उत्तराधिकारी बताया गया है और उसके शासन की अवधि आठ वर्ष बताई है जबकि बौद्ध और जैन परम्परानुसार कुणाल अपनी विमाता के कुचक्र के कारण अशोक के जीवन-काल में ही अन्धा कर दिया गया था और अशोक का उत्तराधिकारी सम्प्रति या सम्पदि बना था।[1] इस विरोधाभास को दूर करने के लिए हे० च० रायचौधुरी ने यह रोचक सुझाव रखा है कि अशोक के उपरान्त कुणाल गद्दी पर तो बैठा परन्तु वास्तविक राजा सम्प्रति बना रहा। दूसरे शब्दों में अशोक के बाद कुणाल की स्थिति 'महाभारत' के धृतराष्ट्र जैसी थी। इसलिए किसी-किसी पुराण में उसके शासन की अवधि नहीं बताई गई है। वस्तुतः उसके शासन के आठ वर्ष पृथक्तः गिने ही नहीं जाने चाहिये। इसीलिए उसको एक पृथक् राजा न मानकर कुछ पुराणों में मौर्य राजाओं की कुल संख्या भी दस के स्थान पर 9 बताई गई है।

पुराणों में उल्लिखित जो राजा शेष बचते हैं (बन्धुपालित, इन्द्रपालित, दशोन, सुपार्श्व, संगत आदि) वे या तो उपर्युक्त राजाओं के अपर नाम या उपाधियाँ हो सकते हैं, या वे स्थानीय गवर्नर आदि रहे होंगे।[2] इसीलिए उनके नाम मात्र एक या दो पुराणों में ही मिलते हैं। बन्धुपालित को प्रायः दशरथ का दूसरा नाम माना जाता है। तारानाथ ने कुनाल के जिन उत्तराधिकारियों के नाम दिये हैं वे मात्र गन्धार के शासक थे। सम्प्रति के 'दिव्यावदान' में उल्लिखित उत्तराधिकारी अन्य साक्ष्य से अज्ञात हैं। वे भी पुराणों में उल्लिखित राजाओं के अपर नाम हो सकते हैं। पूसें के अनुसार दशरथ द्वारा आजीविकों को गुहादान दिये जाने से उसकी बौद्ध धर्म के प्रति असहिष्णुता झलकती है। परन्तु आजीविकों को गुहाएँ तो अशोक ने भी दी थीं।

एक समय स्मिथ ने यह मत प्रतिपादित किया था कि अशोक की मृत्यूपरान्त उसके साम्राज्य का दशरथ और सम्प्रति के बीच विभाजन हो गया था। बाद में एफ० डब्ल्यु० टॉमस ने इसका समर्थन किया। रोमिला थापर ने कुनाल और दशरथ के बीच में साम्राज्य के विभाजन की सम्भावना मानी है। परन्तु साम्राज्य के औपचारिक विभाजन की सम्भावना सिद्ध करने योग्य प्रमाणों का सर्वथा अभाव है। यह दूसरी बात है कि विविध प्रदेशों में कुछ विद्रोही मौर्य राजकुमारों ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये हों। 'राजतरंगिणी' के आधार पर भी मात्र इतना माना जा सकता है कि कश्मीर के शासक जालौक ने किसी समय कान्यकुब्ज तक धावे बोले थे।

---

[1]रो० थापर का अनुमान है कि कुणाल के अन्धा होने के द्वारा प्रतीकात्मक रूप से उसके बौद्ध धर्म विरोधी (=बौद्ध धर्म के प्रति अन्धा) होने की ओर संकेत है।

[2]डी० आर० भाण्डारकर, रोमिला थापर तथा बुद्धप्रकाश इन्हें मौर्य वंश की एक शाखा का सदस्य मानते हैं। लेकिन हेक्टर अलाहाकून ने बन्धुपालित की पहिचान दशरथ से की है और इन्द्रपालित तथा दशोन की सम्प्रति से (पूर्वो०, पृ० 92–100)।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :

(1) अशोक की मृत्यु के बाद जालौक ने कश्मीर में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की।

(2) मुख्य साम्राज्य का स्वामी कुणाल बना। परन्तु अन्धा होने के कारण वह नाम मात्र का शासक था। उसके नाम पर सम्प्रति ने शासन किया। पुराणों में सम्प्रति का शासन काल 9 वर्ष बताया गया है, दशरथ का 8 वर्ष, शालिशूक का 13 वर्ष, देवधर्मा का 7 वर्ष, शतधनु या शतधन्वा का 8 या 6 वर्ष तथा बृहद्रथ का 7 वर्ष। शतधन्वा के शासन की अवधि 6 वर्ष मानने पर इन राजाओं के शासन की अवधियों का योग 50 वर्ष होता है और अशोक के उत्तराधिकारियों के लिए हमने ऊपर 49 वर्ष का समय ही माना है। इन सब नरेशों की संख्या भी 6 है और इनमें चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार तथा अशोक के नाम जोड़ने पर मौर्य राजाओं की कुल संख्या 9 होती है तथा कुणाल को गिनने पर दस। यह तथ्य भी पौराणिक परम्परा से संगत है।

(3) अन्य नाम या तो इन्हीं राजाओं के अपर नाम अथवा उपाधियाँ हैं और या उन मौर्य राजकुमारों के जिन्होंने गवर्नरों के रूप में शासन किया।

अशोक के वंशजों का इतिहास

कुणाल-सुयश (233 ई०पू० से 225 ई०पू० तक; नाम का राजा)

233 ई०पू० में अशोक की मृत्यु हुई। उसके अनेक पुत्र थे। उत्कीर्ण लेखों में उसके केवल एक पुत्र तीवर का उल्लेख है। तीवर की माता देवी कारुवाकी के दान का उल्लेख अशोक के एक लेख में हुआ है। साहित्य में तीवर का उल्लेख नहीं मिलता। 'दिव्यावदान' और पुराणों में कुणाल का उल्लेख अशोक के पुत्र के रूप में किया गया है और पुराणों के अनुसार अशोक के पश्चात् वही पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर बैठा था। उसका एक अन्य नाम धर्मविवर्धन था। अशोक का एक अन्य पुत्र महेन्द्र था जिसने भिक्षु बन कर लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। तिब्बती अनुश्रुति में अशोक के कुस्तन नामक एक अन्य पुत्र का उल्लेख है। उसे खोतन में भारतीय उपनिवेश बसाने और वहाँ अपना राज्य स्थापित करने का श्रेय दिया गया है। 'विष्णु-पुराण' में अशोक के उत्तराधिकारी का नाम सुयश लिखा गया है। सम्भवतः सुयश कुणाल का विरुद था।[1] 'दिव्यावदान' में कुणाल के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ उल्लिखित हैं। तक्षशिला के एक विद्रोह को शान्त करने के लिए अशोक द्वारा कुणाल को भेजा गया था। 'दिव्यावदान' में कुणाल की माता का नाम पद्मावती लिखा गया है और उसका जन्म उसी दिन हुआ बताया गया है जिस दिन अशोक ने 84 हजार धर्मराजिकाओं (स्तूपों आदि) के निर्माण का निश्चय किया था।

---

[1]रोमिला थापर ने एक स्थल पर कुणाल और सुयश को एक माना है (पूर्वो०, पृ० 186) और अन्यत्र सुयश को अशोक का कोई मन्त्री जिसने दशरथ को सिंहासन पर बैठने में सहायता की (वही, पृ० 184)। दे०, अलाहाकून, हेक्टर, दि लेटर मौर्यज़, देहली, 1980, पृ० 55–6।

अशोक की मृत्यु के अनन्तर मागध साम्राज्य के अधीश्वर पद पर कुणाल अभिषिक्त हुआ पर यथार्थ रूप में शासन का सञ्चालन सम्प्रति के ही हाथों में रहा। यही कारण है कि कतिपय ग्रन्थों में अशोक का उत्तराधिकारी सम्प्रति को बताया गया है, कुणाल को नहीं। कुणाल के शासन-काल में मागध साम्राज्य विघटित होना प्रारम्भ हुआ। कश्मीर पाटलिपुत्र के प्रभुत्व से मुक्त हो गया और अशोक के एक पुत्र जालौक ने वहाँ अपना पृथक् राज्य स्थापित कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के शासन के अन्तिम दिनों में ही यवनों ने मागध साम्राज्य को आक्रान्त करना शुरू कर दिया था और उनका सामना करने के लिए अशोक ने जालौक की नियुक्ति की थी। जालौक यवनों को परास्त करने में तो समर्थ हुआ, पर उसने अवसर पाकर कश्मीर में स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। 'राजतरंगिणी' के अनुसार अशोक ने म्लेच्छों से पृथिवी का उद्वार करने के लिए जो आराधना की उसके परिणामस्वरूप शिवभक्त जालौक का जन्म हुआ था। कल्हण ने जालौक के शासन की बहुत प्रशंसा की है। उसका शासन युधिष्ठिर के शासन का स्मरण कराने वाला था। उसने दूर-दूर तक विजय-यात्रा की और 'राजतरंगिणी' के अनुसार कान्यकुब्ज तक के प्रदेश अपने अधिकार में कर लिये। उसके द्वारा परास्त यवन निश्चय ही बैक्ट्रियायी यूनानी थे। कश्मीर में उसके पश्चात् दामोदर ने शासन किया।

कुणाल के शासन काल में ही हो सकता है गन्धार में विगताशोक ने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। उसको नेत्रहीन कुणाल का पुत्र कहा गया है। वह उस विगताशोक से भिन्न है जिसे अनुश्रुतियों में अशोक का भाई बताया गया है। गन्धार में विगताशोक का उत्तराधिकारी वीरसेन था और वीरसेन के उपरान्त सम्भवतः उस सोफागसेनस (=सोभागसेन) ने शासन किया जो पोलिबियस के अनुसार उस समय गन्धार का शासक था जब वहाँ तृतीय एण्टियोकस ने आक्रमण किया।

एक मत के अनुसार कुणाल के शासन काल में दक्षिणापथ के अनेक प्रदेश स्वतन्त्र हो गये और शिमुक के नेतृत्व में वहाँ सातवाहन वंश की स्थापना हुई। हमें सातवाहन इतिहास विषयक यह सुझाव सही नहीं लगता, परन्तु इसमें शक नहीं किया जा सकता कि अशोक के उपरान्त दक्षिण भारतीय प्रदेश मौर्य आधिपत्य से स्वतन्त्र होने लगे थे और मौर्य वंश के पतन तक नर्मदा के दक्षिण में केवल विदर्भ ही साम्राज्य में सम्मिलित बचा था।

सम्प्रति (233 ई०पू० से 224 ई०पू०)

बौद्ध और जैन अनुश्रुतियों के अनुसार सम्प्रति या सम्पदि कुणाल का पुत्र था। पुराणों में उसे दशरथ का पुत्र कहा गया है। पर अशोक के समय में भी क्योंकि सम्प्रति ने युवराज के पद पर कार्य किया था, अतः उसे दशरथ का पुत्र मानना युक्तियुक्त नहीं होगा। अशोक के अन्तिम वर्षों से वह मौर्य शासन का सञ्चालन कर रहा था।

कुणाल के समय में वही साम्राज्य का वास्तविक शासक था।[1] 'दिव्यावदान' में सम्प्रति को अशोक का उत्तराधिकारी लिखा गया है और कुणाल का मौर्य साम्राज्य के राजा के रूप में उल्लेख नही है। जैन ग्रन्थों से भी यह सूचित होता है कि अशोक के बाद सम्प्रति ही मागध साम्राज्य का सञ्चालक था। पौराणिक और अन्य अनुश्रुतियों में जो यह भेद है उसका कारण यही हो सकता है कि कुणाल नाममात्र का ही राजा था और उसके समय में शासन-सूत्र का वास्तविक सञ्चालन सम्प्रति के हाथों में था। इसलिए उसके शासन की अवधि अशोक की मृत्यु से प्रारम्भ मानी जानी चाहिये।

कुछ जैन ग्रन्थों में अशोक के पौत्र और कुणाल के पुत्र का नाम चन्द्रगुप्त लिखा है। 'पुष्याश्रवकथा' के अनुसार भी कुणाल का पुत्र और उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त था। 'परिशिष्टपर्वण' में अशोक, कुणाल और सम्प्रति की कथाएँ जिस प्रकार तथा जिस क्रम से लिखी गई हैं 'पुण्याश्रवकथाकोश' में उसी क्रम से अशोक, कुणाल और चन्द्रगुप्त की कथाएँ प्रदत्त हैं। अतः हो सकता है सम्प्रति का एक नाम चन्द्रगुप्त भी रहा हो। 'पुण्याश्रवकथा' में इस चन्द्रगुप्त (कुणाल के पुत्र) के विषय में ही यह अनुश्रुति भी वर्णित है कि उसने दक्षिण में जाकर अनशन द्वारा प्राणत्याग किया था।

जैन अनुश्रुतियों में सम्प्रति का वही स्थान है जो बौद्ध अनुश्रुतियों में अशोक का है। जैन साहित्य के अनुसार सम्प्रति ने जैन धर्म का प्रचार करने के लिए बहुत उद्योग किया था। जैन ग्रन्थों में यह भी कहा गया है कि सम्प्रति 'त्रिखण्डभरताधिप' था। उसके शासन काल में मौर्य वंश अपने उत्कर्ष ा चरम सीमा को पहुँचा। प्राचीन जैन अनुश्रुतियों में मौर्य वंश की तुलना यव (जौ) के दाने के साथ की गई है। जैसे यव का मध्य भाग मोटा होता है और उसके दोनों सिरे पतले, वैसे ही मौर्य वंश प्रारम्भ और अन्त में शक्तिहीन था और मध्य काल में शक्तिशाली। जैन ग्रन्थों के अनुसार सम्प्रति मौर्य राजाओं में श्रेष्ठतम था। उसके पश्चात् मौर्य वंश की शक्ति क्षीण होने लगी। इस प्रकार यव के दाने में जो स्थिति मध्य भाग की होती है वही मौर्य राजाओं में सम्प्रति की थी। परन्तु सम्प्रति को जैन ग्रन्थों में 'सर्वोत्कृष्ट' तथा 'यवमध्यकल्प' कहे जाने का कारण सम्भवतः उसके साम्राज्य की विशालता न होकर उसका जैनधर्म का प्रबल समर्थक एवं संरक्षक होना था। 'विविधतीर्थकल्प' में पाटलिपुत्र-नगर-कल्प में सम्प्रति के लिए निम्नलिखित विशेषणों का प्रयोग किया गया है—'त्रिखण्डभरताधिप' या भारत के तीनों खण्डों का स्वामी, 'परम अर्हत्', 'अनार्यदेशेष्वपि प्रवर्तितश्रमणविहार' (जिसने अनार्य देशों में भी श्रमणों=जैन साधुओं के विचरण को प्रवृत्त किया) और 'महाराज'। ये विशेषण जैन धर्म के इतिहास में सम्प्रति के स्थान को विशिष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं।

---

[1]हेक्टर अलाहाकून ने सम्प्रति को अशोक का उत्तराधिकारी बताया है (पूर्वो०, पृ० 79)। बुद्धप्रकाश का भी यही मत था (पूर्वो०, प० 146, 161)।

जैन ग्रन्थों में सम्प्रति को कहीं पाटलिपुत्र का राजा कहा गया है और कहीं अवन्ति देश या उज्जयिनी का। इससे सहज में यह अनुमान किया जा सकता है कि ये नगर उसके राज्य के अन्तर्गत थे। सम्भवतः उज्जयिनी उसकी दूसरी राजधानी थी।

सम्प्रति ने आचार्य सुहस्ती से जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। 'परिशिष्ट-पर्वण' और 'बृहत्कल्पसूत्र' जैसे जैन ग्रन्थों के अनुसार एक समय जब उज्जयिनी में जीवन्तस्वामी की प्रतिमा की रथयात्रा निकल रही थी और आचार्य सुहस्ती उसके साथ रथयात्रा में जा रहे थे तब उनके दर्शन करने पर उसे स्मरण आया कि सुहस्ती से उसकी भेंट पिछले जन्म में हो चुकी थी। सुहस्ती के बताने से सम्प्रति को अपने पूर्व जन्म की सब बातें स्मरण आ गईं, और उसने इस बात को स्वीकार किया कि इस जन्म में उसे जो भी समृद्धि एवं राजसुख प्राप्त हैं उसका कारण आचार्य सुहस्ती की कृपा और जैन धर्म की महिमा हैं। अब सुहस्ती ने सम्प्रति को जैन धर्म की दीक्षा दी और अणुव्रत, गुणव्रत आदि व्रतों का उपदेश दिया।

'परिशिष्टपर्वण' के अनुसार एक समय सम्प्रति के मन में यह बात आई कि अनार्य देशों में भी जैन धर्म का प्रचार किया जाना चाहिये। यह सोचकर उसने अपने राजपुरुषों को साधुओं के वेश में अन्ध्र और द्रमिड (द्रविड) आदि अनार्य देशों में भेजा। इन राजपुरुषों ने सम्प्रति के प्रभाव से शीघ्र ही अनार्य देशों के निवासियों को जैन धर्मावलम्बी बना लिया। जैन धर्म के प्रचार के लिए राजा सम्प्रति ने अन्य अनेक कार्य भी किये। उज्जयिनी नगरी के चारों मुख्य द्वारों पर उसकी ओर से महासत्रों की स्थापना की गई। उसने व्यापारियों को यह भी आदेश दिया कि साधु लोग तेल, अन्न, दधि, वस्त्र आदि जो कुछ भी ग्रहण करना चाहें उन्हें मुफ्त दे दिया जाए और उसका मूल्य राजकोष से प्राप्त कर लिया जाए।

'बृहत्कल्पसूत्र' और उसका टीका में भी सम्प्रति के उन कार्यों का उल्लेख है जिन्हें उसने जैन धर्म के प्रचार के लिए किया था। ये कार्य निम्नलिखित थे—(1) उसने नगर के चारों द्वारों पर दान की व्यवस्था की। (2) वणिजों और विवणिजों द्वारा साधुओं को वस्त्रादि वस्तुएँ मूल्य के बिना देने का प्रबन्ध किया (जो दूकान पर बैठ कर माल बेचते हैं उनके लिए 'वणिज' शब्द प्रयुक्त किया गया है, और जो दूकान न होने पर किसी ऊँचे स्थान पर बैठकर माल बेचें, उन्हें 'विवणिज' कहा गया है)। (3) प्रत्यन्त या सीमान्त देशों के शासक राजाओं को बुलाकर उन्हें विस्तार के साथ 'धर्म' को बताया और उनसे यह अनुरोध किया कि स्वदेश को लौटने के अनन्तर वे भी श्रमणों के प्रति भक्तिभाव रखें। इस ग्रन्थ के अनुसार भी उसने अपने भटों (सैनिकों) को साधुओं के वेश में प्रत्यन्त देशों में प्रेषित किया। श्रमण वेशधारी सैनिकों ने प्रत्यन्त देशों में जाकर शुद्ध आहार आदि ग्रहण करना प्रारम्भ किया और वहाँ के निवासियों को साधुओं की विधि एवं मर्यादाओं का ज्ञान कराया। इसके परिणामस्वरूप ये सब राज्य साधुओं के विचरण के योग्य हो गये। सम्प्रति के काल से ये सब प्रत्यन्त देश 'भद्रक' (जिसमें भद्र आहार-व्यवहार प्रचलित हों) हो

गये। 'परिशिष्टपर्वण' में केवल आन्ध्र और द्रविड देशों का ही ऐसे प्रत्यन्त राज्यों के रूप में उल्लेख है जिन्हें सम्प्रति ने साधुओं के विहार-योग्य किया था। पर 'बृहत्कल्पसूत्र' की टीका में आन्ध्र और द्रविड के अतिरिक्त महाराष्ट्र और कुडुक्क को भी इन प्रत्यन्त देशों में परिगणित किया है। पहले ये प्रत्यन्त देश 'घोर' एवं 'प्रत्यपायबहुल' (जिनमें अनेकविध विपत्तियों का प्राचुर्य हो) थे, पर सम्प्रति के प्रयत्न से ये 'साधुसुखप्रचार' हो गये थे। कुडुक्क से कौन-सा देश अभिप्रेत है, यह स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः यह महाराष्ट्र के समीप कहीं स्थित था। 'विष्णु-पुराण' में कुट्टक नाम के एक प्रदेश का उल्लेख मिलता है जिसे कोङ्क (कोंकण ?) और कर्णाटिक के साथ लिखा गया है। कुट्टक और कुडुक्क एक ही प्रदेश के नाम हो सकते हैं। अशोक के समय में आन्ध्र और महाराष्ट्र मौर्य 'विजित' (=साम्राज्य) के अन्तर्गत थे, पर सम्प्रति के समय में वे 'प्रत्यन्त' हो गये थे।

राजशक्ति का प्रयोग कर सम्प्रति ने जैन साधुओं को यह सुविधा प्रदान की कि वे राज्य में प्रत्येक वस्तु स्वेच्छानुसार व्यापारियों से प्राप्त कर लें। प्रत्यन्त देशों में भी साधु वेश में रहते हुए सैनिकों द्वारा उनके लिए अनेक सुख-सुविधाएँ जुटा दी गई थीं। इसे अनेक जैन आचार्यों ने पसन्द नहीं किया। सुहस्ती के एक साथी महागिरि ने सुहस्ती से उसका कारण पूछा। यह जानते हुए भी कि इस ढंग से अन्न-वस्त्र ग्रहण करना साधुओं के लिए अनुचित है सुहस्ती ने सम्प्रति के कारण इसका समर्थन किया। इस पर महागिरि ने सुहस्ती से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

सम्प्रति ने अपने राज्य एवं प्रत्यन्त देशों में बहुत-से जैन चैत्यों, मन्दिरों तथा मठों का निर्माण करवाया। 'परिशिष्टपर्वण' के अनुसार उसने त्रिखण्ड भरतक्षेत्र (भारत) को जिनायतनों (जैन मन्दिरों) से मण्डित कर दिया था। 'पाटलिपुत्रनगरकल्प' में उसे 'प्रवर्तितश्रमणविहारः' (श्रमणों के निवास के लिए बहुत-से विहारों का निर्माण कराने वाला) कहा गया है। 'कल्पसूत्र' की 'सुबोधिका' टीका के अनुसार सम्प्रति ने सवा करोड़ जिनालयों (जैन मन्दिरों) का निर्माण कराया था। स्मिथ के अनुसार जिस किसी भी प्राचीन जैन मन्दिर या अन्य कृति की उत्पत्ति एवं निर्माण अज्ञात हो, उसे लोग सम्प्रति द्वारा निर्मित बता देते हैं। टॉड के अनुसार राजस्थान और सौराष्ट्र (काठियावाड) में जितने भी प्राचीन जैन मन्दिर हैं, उन सबके विषय में यह किंवदन्ती प्रचलित मिलती है कि उनका निर्माण सम्प्रति द्वारा कराया गया था।

दशरथ (224 ई०पू० से 216 ई०पू०)

सम्प्रति का उत्तराधिकारी दशरथ था। सम्भवतः 'बन्धुपालित' दशरथ का ही विशेषण है। प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति में दशरथ और सम्प्रति दोनों को कुणाल का पुत्र कहा गया है। रोमिला थापर ने दशरथ को अशोक का उत्तराधिकारी माना है। दशरथ के तीन लेख प्राप्त हुए हैं जो बिहार राज्य की नागार्जुनी पहाड़ी की कृत्रिम गुहाओं में उत्कीर्ण हैं। ये गुहायें दशरथ द्वारा आजीविक सम्प्रदाय के साधुओं

को दान में दी गई थीं, और इन गुहालेखों में उसका यह दान ही उत्कीर्ण किया गया है। अशोक के समान दशरथ ने भी इन उत्कीर्ण लेखों में अपने नाम के साथ 'देवानांप्रिय' विशेषण प्रयुक्त किया है। इन लेखों की भाषा और लिपि प्रायः वही हैं जो कि अशोक के लेखों की हैं।

दशरथ के समय में भी मौर्य साम्राज्य का पतन जारी रहा। एक मत के अनुसार कलिङ्ग ने इसी काल में खारवेल के नेतृत्व में स्वतन्त्रता प्राप्त की थी। परन्तु हमें यह मत सही नहीं लगता।

शालिशूक (216 ई०पू० से 203 ई०पू०)

पुराणों के अनुसार मौर्य वंश के अन्तिम चार राजा थे शालिशूक, देवधर्मा, शतधन्वा और बृहद्रथ। इन्होंने क्रमशः 13, 7, 6 (या 8) तथा 7 वर्ष शासन किया। 'युग-पुराण' के अनुसार शालिशूक ने अपने बड़े भाई को मार कर राजसिंहासन प्राप्त किया था। उसके बड़े भाई का नाम क्या था, यह इस ग्रन्थ ने सूचित नहीं किया है पर उसके लिए 'साधु' और 'गुणैः प्रथित' (जिसके गुणों की ख्याति सर्वत्र विस्तृत हो) विशेषणों का प्रयोग किया है। गृहकलह में सफलता पाने पर भी शायद शालिशूक की स्थिति सुरक्षित नहीं थी। इसी कारण उसने अत्याचारों और प्रजा-पीड़न का आश्रय लिया। 'युग-पुराण' में उसे 'दुष्टात्मा' (दुष्ट प्रकृति का), 'प्रिय विग्रह' (जिसे युद्ध प्रिय हो), 'धर्मवादी' (धर्म का ढोंग करने वाला) तथा 'अधार्मिक' कहा गया है। 'युग-पुराण' में यह भी सूचित किया गया है कि इस 'मोहात्मा' (मूर्ख या मूढ़) ने धर्म की विजय को स्थापित किया। यहाँ 'विजयं नाम धार्मिकम्' शब्द व्यङ्ग के साथ लिखे गये हैं।

शालिशूक के सम्बन्ध में अनेक अद्‌भुत कल्पनाएँ की गई हैं। एक कल्पना यह है कि उसका शालिशूक नाम यवनराज सैल्युकस के नाम पर रखा गया था। कुछ विद्वानों ने जालौक और शालिशूक को भी एक ही माना है। उनका कथन है कि दोनों शब्दों में ध्वनि-साम्य है और कल्हण ने 'राजतरङ्गिणी' में शालिशूक को ही जालौक लिख दिया है। पर ये दोनों कल्पनाएँ किसी ठोस प्रमाण पर आश्रित नहीं हैं। शालिशूक और सैल्युकस में कुछ ध्वनि-साम्य अवश्य है, पर शालिशूक एक विशुद्ध संस्कृत शब्द भी है। जालौक और शालिशूक को एक मानना इसलिए सम्भव नहीं है क्योंकि कल्हण ने जालौक को 'बौद्धवादिसमूहजित्' (अपने को बौद्ध कहने वालों के समूह या संघ की विजय करने वाला) तथा सिद्ध अवधूत से ज्ञान और उपदेश प्राप्त करने वाला कहा है। स्पष्टतः जालौक नन्दीश या शिव का पूजक था जबकि शालिशूक धर्म-विजय की नीति का अनुसरण करने वाला था।

शालिशूक के समय में मागध साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया और भी अधिक तीव्र हो गई और सम्भवतः यूनानियों ने पुनः आक्रमण किया तथा वे पंजाब, ब्रज, मध्यमिका, मथुरा, पाञ्चाल और साकेत को आक्रान्त करते हुए पाटलिपुत्र तक आ

पहुंचे। एक मत के अनुसार इस अभियान का नेता डिमिट्रियस था, परन्तु हमें यह सम्भव नहीं लगता। शालिशूक के काल में ही सीरिया के एण्टियोक ने गन्धार पर आक्रमण किया और सोभागसेन से अपनी वंशानुगत मित्रता दोहराई।[1]

देववर्मा (203 ई०पू० से 196 ई०पू०) और शतधन्वा (196 ई०पू० से 190 ई०पू०)

शालिशूक के पश्चात् देववर्मा पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। पुराणों में उसका शासन-काल सात वर्ष लिखा गया है। देववर्मा का उत्तराधिकारी शतधन्वा या शतधनुष् था। इसने छः (या आठ) साल राज्य किया। हेक्टर अलाहाकून ने विष्णु० के आधार पर शतधन्वा को वैष्णव बताया है।[2] इन दोनों राजाओं के समय की कोई भी राजनीतिक घटना ज्ञात नहीं है पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनके काल में मौर्य साम्राज्य की अवनति जारी रही, अनेक प्रदेश मगध के प्रभुत्व से मुक्त हो गये और उत्तर-पश्चिमी भारत पर यवन आक्रमण जारी रहे। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' के अनुसार पुष्यमित्र शुङ्ग से पूर्व विदर्भ में यज्ञसेन नामक राजा का स्वतन्त्र शासन था। सम्भव है कि मौर्य वंश के इसी ह्रास-काल में उसने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया हो। बहुत-से प्राचीन गणराज्य भी इस काल में फिर से स्वतन्त्र हो गये थे। इन गण-राज्यों में बहुतों के सिक्के उपलब्ध हुए हैं जिन्हें दूसरी सदी ई० पू० व उसके लगभग का माना जाता है। ये सिक्के यौधेय, राजन्य, औदुम्बर, आर्जुनायन, आग्रेय, शिवि, मालव, कुणिन्द और महाराज आदि गणों के हैं।

बृहद्रथ (190 ई०पू० से 184 ई०पू०)

मौर्य वंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था। पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार उसने सात साल तक शासन किया। उसके शासन काल में भी मौर्य साम्राज्य की अवनति जारी रही। बृहद्रथ के समय की कोई घटना हमें ज्ञात नहीं है, पर 'हर्षचरित' से ज्ञात होता है, कि उसके शासन-काल में मगध में एक बार फिर राजक्रान्ति हुई। बृहद्रथ का सेनानी (प्रधान सेनापति) पुष्यमित्र था। उसने बृहद्रथ के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और उसको मार कर पाटलिपुत्र के सिंहासन पर अधिकार कर लिया। पुराणों में पुष्यमित्र को 'सेनानी' और 'महाबलपराक्रमः' कहा गया है, और उसके द्वारा बृहद्रथ को उखाड़ फेंकने तथा स्वयं राज्य प्राप्त कर लेने का उल्लेख किया गया है। बृहद्रथ की हत्या के साथ मौर्य वंश का अन्त हो गया। मगध की यह नई क्रान्ति 184 ई०पू० में हुई थी। 321 ई० पू० में चन्द्रगुप्त मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था और 137 वर्ष पश्चात्, 184 ई०पू० में, मौर्यों के शासन का अन्त हो गया।

[1]दे०, नारायण, इण्डो-ग्रीक्स्, पृ० 84–5।
[2]अलाहाकून, पूर्वो०, पृ० 111।

मागध साम्राज्य की अवनति और मौर्य वंश के पतन के कारण

मौर्य साम्राज्य की अवनति के प्रश्न पर विचार करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अशोक के उत्तराधिकारियों के शासन काल में साम्राज्य की अवनति अवश्य हुई थी, लेकिन यह साम्राज्य वृहद्रथ की हत्या के साथ समाप्त नहीं हुआ; उसके बाद भी इस पर क्रमशः कम-से-कम दो वंशों—शुंग और कण्व—ने शासन किया। दूसरे शब्दों में बृहद्रथ की हत्या के साथ मौर्य वंश का पतन हुआ था, मौर्य साम्राज्य का नहीं। जिस तरह यह साम्राज्य हर्यङ्क, शैशुनाग, नन्द और प्रारम्भिक मौर्य वंशों के काल में क्रमशः विशाल से विशालतर होता गया था वैसे ही अशोक के उत्तराधिकारियों एवं शुंग और कण्व राजाओं के काल में यह विघटित होकर अधिकाधिक लघुतर होता गया। दूसरे शब्दों में बृहद्रथ की हत्या के साथ केवल वंश-परिवर्तन हुआ था, साम्राज्य का पतन नहीं। इसलिए इस समय हम जिस समस्या पर विचार कर रहे हैं वह यह है : अशोक के उपरान्त 'मागध साम्राज्य' के अवनतिशील होने के क्या कारण थे और उसकी मृत्यु के अनन्तर अर्द्ध-शती में उसके वंश के हाथ से राजसत्ता कैसे निकल गई ?

अशोक के उत्तराधिकारियों की दुर्बलता और अयोग्यता

मौर्य साम्राज्य के अवनतिशील होने का एक कारण, जिसकी ओर अनायास अंगुली उठाई जा सकती है, अशोक के उत्तराधिकारियों की दुर्बलता और अक्षमता थी। मागध साम्राज्य अपनी विशालता और प्रशासकीय जटिलताओं के कारण शिव के उस धनुष के समान हो गया था जिसकी प्रत्यञ्चा कोई राम ही चढ़ा सकता था। लेकिन अशोक के उत्तराधिकारियों में ऐसी योग्यता नहीं थी। रोमिला थापर का अनुमान है कि उसके उत्तराधिकारियों में सम्भवतः दशरथ ही ऐसा था जो अशोक की नीति को समझता था, लेकिन उसके युवक होने के कारण उसे इस नीति को विकसित करने का अवसर नहीं मिला।[1] क्योंकि दशरथ के विषय में इसके अतिरिक्त और कोई बात ज्ञात नहीं है कि उसने आजीविक साधुओं को कुछ गुफाएँ दान में दी थीं, इसलिए हम नहीं जानते कि मिस थापर के इस आग्रह का आधार क्या है। लेकिन हम उनकी इस मान्यता से अवश्य सहमत हैं कि शायद अशोक के उत्तराधिकारियों को भारतीय परिस्थिति का पूर्ण बोध नहीं था। वे अवसर पाते ही विद्रोह करने के लिए तैयार रहते थे। पुराणों में अशोक के बाद शासन करने वाले जिन अनेक राजाओं की चर्चा आती है उनकी संख्या कम करने के लिए पूसें आदि अनेक इतिहासकारों ने बहुत-से नामों को एक ही राजा के विभिन्न नाम या विरुद माना है।[2] कुछ मामलों में यह अनुमान सही हो सकता है, लेकिन इनमें बहुत-से राजा

[1]थापर, रो०, पूर्वो०, पृ० 198।

[2]दे०, पीछे।

ऐसे भी रहे होंगे जिन्होंने विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न समय पर केन्द्रीय सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करके शासन किया होगा। ऐसे मौर्य राजकुमारों की अयोग्यता तथा महत्त्वाकांक्षा से साम्राज्य के स्थायित्व को क्षति पहुँची होगी, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। लेकिन यह कारण मौर्य साम्राज्य की अवनति का मूलभूत अथवा मुख्य कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि किसी भी वंश में न तो सभी शासकों के योग्य होने की आशा की जा सकती है और न यही सोचा जा सकता है कि किसी वंश के सभी राजकुमार अपने वंश में स्वीकृत उत्तराधिकार-नियम के अनुसार चलते रहेंगे। दूसरे शब्दों में, ऐसी कठिनाइयाँ सभी साम्राज्यिक वंशों में उत्पन्न होती हैं। इसीलिए किसी वंश के साम्राज्य का स्थायित्व जिन बातों पर निर्भर होता है उनमें एक यह भी होती है कि क्या उसकी शासन-व्यवस्था में इतना लचीलापन और जीवनशक्ति हैं कि वह दो-चार पीढ़ी तक सम्राटों की अयोग्यता और समय-समय पर महत्त्वाकांक्षी राजकुमारों द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों को झेल सके।

रायचौधुरी का एक सुझाव

हे० च० रायचौधुरी ने मौर्यों की अवनति का मुख्य कारण यह माना है कि उनकी प्रान्तीय सरकारें जनता पर अत्याचार करती थीं।[1] इसके लिए उन्होंने बिन्दुसार और अशोक के काल में तक्षशिला में हुए विद्रोहों की ओर ध्यान दिलाया है। 'दिव्यावदान' के अनुसार उन दोनों ही अवसरों पर जब क्रमशः अशोक व कुणाल को विद्रोहों को दबाने के लिए भेजा गया था तब तक्षशिला निवासियों ने उनसे कहा था कि वे सम्राट् के विरुद्ध नहीं थे, वरन् उन अमात्यों के विरुद्ध थे जो उनका अपमान करते थे। अपने प्रथम पृथक् कलिङ्ग-शिलालेख में भी अशोक ने अपने महामात्रों से आग्रह किया है कि वे इस बात का ध्यान रखें कि किसी व्यक्ति के साथ दुर्व्यवहार न हो। इसके लिए उसने उच्च-पदाधिकारियों को हर पाँच साल में एक बार दौरे पर भेजे जाने की व्यवस्था की। उज्जैन तथा तक्षशिला से तो उसने हर तीसरे साल उच्च पदाधिकारियों को दौरे पर भेजे जाने का आदेश दिया था।[2] इस तथ्य को भी रायचौधुरी ने मौर्य प्रान्तीय प्रशासन की दुर्बलता का प्रमाण माना है। रायचौधुरी के इस कथन में कुछ सत्यांश हो सकता है लेकिन इससे भी अशोक के उपरान्त मौर्य साम्राज्य की अवनति की समुचित व्याख्या नहीं हो पाती, क्योंकि इतने विशाल साम्राज्य में किसी न किसी दूरस्थ प्रान्त में स्थानीय अमात्यों द्वारा जनता पर न्यूनाधिक अत्याचार किए जाने की सम्भावना सदैव बनी रहती है। इस प्रकार के विद्रोहों से साम्राज्य टूटते नहीं, जब तक ऐसे विद्रोह सतत और अनेकत्र न हों जिसका, जहाँ तक मौर्य साम्राज्य का सम्बन्ध है, कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

---

[1]रायचौधुरी, पो०हि०ए०इं०, पृ० 354-5।

[2]वही।

डी० डी० कोसाम्बी का मत

डी० डी० कोसाम्बी ने आग्रह किया है कि मौर्य साम्राज्य की अवनति उसकी अर्थ-व्यवस्था पर भारी दबाव पड़ने के कारण हुई थी।[1] इसके लिए उन्होंने दो प्रमाण दिये हैं। एक, उनका कहना है कि अपने 'अर्थशास्त्र' में कौटिल्य ने अत्यधिक कर लगाये जाने का विधान किया है। यहाँ तक कि नटों और वेश्याओं पर भी उसने भारी कर प्रतिपादित किये हैं। लेकिन जैसा कि हम पीछे दिखा चुके हैं, अपने वर्तमान रूप में 'अर्थशास्त्र' एक मौर्योत्तर युगीन रचना है। दूसरे, इसमें वर्णित प्रशासकीय व्यवस्था एक **आदर्शभूत** प्रशासकीय व्यवस्था है, इसलिए इस ग्रन्थ का उपयोग मौर्य युग की **यथार्थ** व्यवस्था जानने के लिए नहीं किया जा सकता। तीसरे, स्मरणीय कि हमारे देश में एक अखिल भारतीय साम्राज्य की स्थापना नन्द-मौर्य युग में पहिली बार हुई थी। जैसा-कि रोमिला थापर ने कहा है राष्ट्रीय आय के रूप में करों की उपयोगिता इस युग में पहिली ही बार समझी गई थी।[2] इसलिए यह हो सकता है कि इस युग में करों की मात्रा सामान्य से अधिक रही हो, यद्यपि इसे सिद्ध करने के लिए भी प्रमाणों का सर्वथा अभाव है (अगर इस विषय में 'अर्थशास्त्र' की मनमाने ढंग से सहायता न ली जाए तो)। कोसाम्बी का यह भी कहना है कि मौर्य अर्थ-व्यवस्था पर दबाव का एक प्रमाण मौर्यकालीन आहत सिक्कों (Punch Marked Coins) की चाँदी में मिलावट की मात्रा की अधिकता है लेकिन कोसाम्बी का यह तर्क परवर्ती मौर्य नरेशों के सिक्कों की स्वयं उनके द्वारा प्रतिपादित पहिचान पर निर्भर है, जो हो सकता है सही न हो। यह सर्वथा सम्भव है कि जिन सिक्कों को उन्होंने परवर्ती मौर्यों का बताया है वे स्थानीय संस्थाओं या अधिकारियों द्वारा चलाए गए हों जिन्होंने किन्हीं कारण वश उनकी धातु की शुद्धता पर आवश्यक ध्यान न दिया हो—विशेषतः उन प्रदेशों में जो विद्रोह करके साम्राज्य से पृथक् हो रहे थे। यह भी सम्भव है कि उस समय अन्य वस्तुओं की तुलना में चाँदी की माँग बढ़ गई हो और इसलिए सिक्कों में चाँदी की मात्रा घटा दी गई हो।

मौर्य युग के भौतिक अवशेषों से भी ऐसा नहीं लगता कि उस समय अर्थ-व्यवस्था पर दबाव था। अपितु तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था गतिशील व वर्धमान लगती है। हस्तिनापुर और शिशुपालगढ़ की खुदाई से प्राप्त परवर्ती मौर्य युगीन वस्तुएं प्राचीनतर वस्तुओं की तुलना में प्रयुक्त माल की गुणवत्ता तथा तकनीक की दृष्टि से श्रेष्ठतर हैं। अब नगर-नियोजन और गृह-नियोजन सामान्य बातें हो जाती हैं तथा अशोक के द्वारा स्थापित एकता के परिणामस्वरूप आवागमन व संचार के साधन बेहतर हो जाते हैं। व्यापार तथा वाणिज्य का विकास होता है। भरहुत, साँची और

[1]कोसाम्बी, डी०डी०, इण्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑव इण्डियन हिस्ट्री, पृ० 211।
[2]थापर, पूर्वो०, पृ० 204।

अन्य स्थलों पर व्यापारियों द्वारा किये गये दान-कृत्यों से भी उनकी समृद्धि सूचित है।

नीहाररञ्जन राय का मत

नीहाररञ्जन राय ने प्रतिपादित किया है कि पुष्यमित्र के द्वारा बृहद्रथ की हत्या मौर्यों के द्वारा जनता पर किये गये अत्याचारों और उनके द्वारा विदेशी विचारों एवं परम्पराओं के स्वीकार की प्रतिक्रिया थी।[1] इस मत का आधार राय महोदय का यह विश्वास है कि मौर्य कला सम्राटों के साम्राज्यवाद को अभिव्यक्त करती है, जबकि भरहुत व साँची में लोककला अभिव्यक्त हुई है। लेकिन प्रोफेसर थापर का कहना है कि साँची व भरहुत की कला इसलिए लोकपरम्परा से जुड़ी हुई मालूम होती है क्योंकि इसके संरक्षक सामान्य जनता के प्रतिनिधि थे और उस बौद्ध धर्म को मानते थे जो लोकधर्म के बहुत-से तत्त्वों को आत्मसात कर चुका था। मौर्यों के विरुद्ध लोक-विद्रोह के मत के पक्ष में यह भी कहा जाता है कि अशोक ने समाजों आदि पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। लेकिन यह तर्क भी बहुत सबल नहीं है। यद्यपि यह सम्भव है कि अशोक की इस नीति से कुछ लोगों में असन्तोष पैदा हुआ हो। लेकिन न तो इस बात का प्रमाण उपलब्ध है कि अशोक ने ये बन्धन सख्ती से लगाये थे, न इस बात का कि अशोक के उत्तराधिकारियों ने उसके बाद यह नीति जारी रखी थी और न ही इस बात का कि उस युग में भारतीय जनता में इतनी जागृति थी कि वह ऐसी नीतियों के विरुद्ध विद्रोह करके वंश-परिवर्तन जैसा अतिमार्गी उपाय अपनाए।

मौर्यों के विरुद्ध जन-आन्दोलन हुआ था, यह सिद्ध करने के लिए यह भी ध्यान दिलाया गया है कि यूनानी साक्ष्यानुसार चन्द्रगुप्त के काल में भूमिकर उपज का $\frac{1}{4}$ भाग होता था, जो निश्चय ही बहुत अधिक था। लेकिन मेगास्थेनिज़ द्वारा बताई गई भूमिकर की यह मात्रा सर्वत्र लागू नहीं की गई होगी। यह कुछ ही प्रदेशों में, जो उर्वर थे और सिंचाई की सुविधा से युक्त थे, लागू की गई होगी। स्मरणीय है कि मौर्य साम्राज्य का उत्कर्ष काल मेगास्थेनिज़ से लेकर अशोक तक माना जाता है, और इस बीच में कभी भी कृषकों के असन्तोष का उल्लेख नहीं मिलता।

रोमिला थापर का मत

रोमिला थापर का आग्रह है कि मौर्य साम्राज्य की अवनति के मुख्य कारण सत्ता का केन्द्रीकरण और राष्ट्रीयता की भावना का अभाव थे।[2] साम्राज्य के सर्वोच्च पदाधिकारी सीधे सम्राट् के नियन्त्रण में होते थे तथा उसी के प्रति निष्ठाभाव रखते थे। सम्राट् उच्च पदों पर स्वेच्छानुसार नियुक्तियाँ करते थे जिससे राजाओं के

[1]राय, मौर्य एण्ड शुङ्ग आर्ट, पृ० 64।
[2]थापर, पूर्वो०, पृ० 207–12।

जल्दी-जल्दी सिंहासनारूढ़ होने पर अराजकता फैल जाती थी। उच्च पदों के लिए भर्ती का आधार प्रतियोगितात्मक परीक्षाएँ नहीं थीं जैसी हमें ब्रिटिश काल में मिलती हैं। इसलिए धीरे-धीरे राजपुरुष-तन्त्र में प्रतिस्पर्द्धी गुटों का, जिनकी आन्तरिक एकता का आधार जाति या प्रदेश होता था, उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था। ऐसी संस्थाओं का नितान्त अभाव था जिन्हें जनमत (public opinion) का प्रतिनिधि कहा जा सके। इसलिए सम्राट् को जनमत से परिचित होने के लिए गुप्तचरों की सहायता लेनी पड़ती थी। प्रशासन में कार्यकारिणी और न्याय संस्थाओं में भी अन्तर नहीं था। सम्राट् उन पर केवल महामात्रों को निरीक्षकों के रूप में भेजकर अथवा गुप्तचरों के द्वारा ही कुछ नियन्त्रण रख सकता था। लेकिन इन उपायों की सफलता सम्राट् के योग्य हुए बिना सम्भव नहीं थी। इस प्रकार हर दृष्टि से मौर्य प्रशासन की सफलता सम्राट् की योग्यता पर निर्भर करती थी।

मिस थापर का यह भी कहना है कि मौर्य काल में राष्ट्रीयता की भावना का सर्वथा अभाव था। राष्ट्रीयता की भावना को उत्पन्न करने वाले बहुत से तत्त्व जैसे समान परम्पराएँ, एक भाषा, एक धर्म एवं समान ऐतिहासिक अनुभव अस्तित्वमान नहीं थे। साम्राज्य के विभिन्न समुदायों का भौतिक जीवन स्तर भी समान नहीं था। इसी प्रकार राज्य की अवधारणा भी अज्ञात थी और सामान्य नागरिक राज्य के बजाय सामाजिक संगठन के प्रति निष्ठा भाव रखता था। इस तरह समस्त देश में राष्ट्रीय भावना और राजनीतिक एकता अज्ञात थीं। जिस तरह जब पोरस सिकन्दर का सामना कर रहा था तो नन्द सम्राटों ने उसमें कोई दिलचस्पी नहीं ली थी उसी तरह जब सोभागसेन पर तृतीय एण्टीओकस ने आक्रमण किया तब तत्कालीन मागध सम्राट् ने इसे अपने लिए महत्त्वहीन बात समझा था।

साम्राज्य और राष्ट्र की एकता में अन्य बाधक तत्त्व थे भू-स्वामित्व व्यवस्था और आर्थिक विषमताएँ। मौर्य काल में भू-स्वामित्व ऐसा था जिसके कारण भूमि अधिकाधिक छोटी-छोटी इकाइयों में बँटती चली गई। उस युग में आर्थिक विषमताएँ भी बहुत थीं—विभिन्न सामाजिक वर्गों में भी तथा विभिन्न प्रदेशों में भी। उदाहरणार्थ, गंगा की उपत्यका की तुलना में उत्तरी दक्षिणापथ बहुत पिछड़ा हुआ था। सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से भी असमानताएँ अनायास देखी जा सकती थीं। शहरों और व्यापार-केन्द्रों से ग्रामीण समूहों का अन्तर स्पष्ट था। प्रादेशिक परम्पराओं में विविधता थी। विभिन्न प्रदेशों की भाषाएँ भी अलग-अलग थीं। इस तरह राष्ट्रीय एकता का अभाव और सत्ता का केन्द्रीकरण साम्राज्य की अवनति के मूल कारण थे।

रोमिला थापर के मत की आलोचना

रोमिला थापर के इस विश्लेषण के दोष स्वतः स्पष्ट हैं। एक उन्होंने सत्ता के केन्द्रीकरण को साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण बताया है जबकि वस्तुतः यह साम्राज्य के स्थायित्व का प्रमुख घटक था। उस प्राचीन काल में जब आवागमन और संचार

के माध्यम इतने पिछड़े हुए थे तथा एक अखिल भारतवर्षीय साम्राज्य की स्थापना यहाँ के निवासियों के लिए एक नई बात थी, साम्राज्य की एकता का मूल आधार सम्राट् को माना जाना एक अनिवार्यता थी। वैसे भी प्राचीन काल में प्रशासन दो स्तरों पर चलता था—स्थानीय और समूहगत संगठन में प्रादेशिक, जातिगत तथा समूहगत स्वतन्त्रता होती थी जो पंचायतों, निगमों, श्रेणियों आदि के रूप में अभिव्यक्त होती थी। प्रायः इसका मूल होती थी धर्म की सर्वोपरिता की अवधारणा। लेकिन केन्द्रीय, प्रान्तीय, सैनिक तथा आर्थिक प्रशासन आदि में राजा की सर्वोच्चता निर्विवाद होती थी। जब किसी साम्राज्य में सम्राट् के साथ स्थानीय राजा सत्ता के भागीदार मिलते हैं—जैसे गुप्त एवं गुप्तोत्तर कालों में 'महाराजाधिराज' के साथ सत्ता बाँटने वाले 'महाराजाओं' और 'राजाओं' आदि के अस्तित्व में आने के कारण हुआ—तब यह कहा जाता है कि ऐसे साम्राज्यों का विनाश सत्ता के केन्द्रीकरण के अभाव के कारण हुआ। मौर्य साम्राज्य का अस्तित्व एक शताब्दी से अधिक इसीलिए बना रहा क्योंकि सम्राट् के अतिरिक्त सत्ता का कोई और विधि-सम्मत दावेदार नहीं था। दूसरे, रोमिला थापर ने इस विषय में ऐसे प्रश्न खड़े कर दिये हैं जिनको प्राचीन सन्दर्भ में उठाना समीचीन नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए प्रशासकीय राजपुरुषों की नियुक्ति के लिए प्रतियोगितात्मक परीक्षाएँ करवाना यूरोप में भी एक आधुनिक प्रयोग रहा है। समस्त प्राचीन एशिया में इसका उदाहरण चीन को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलता; और चीन में भी यह प्रयोग इसलिए सफल हो सका क्योंकि वहाँ आवश्यक आधारभूत सांस्कृतिक एवं भाषात्मक एकता पहिले से ही विद्यमान थी। रोमिला थापर जैसे इतिहासकारों के लिए इस बात पर विलाप करना आसान है कि मौर्यों ने राजपुरुषों के चयन के लिए प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं की व्यवस्था नहीं की, लेकिन उनके लिए यह बताना कठिन होगा कि उस युग में भारत जैसे देश में, जहाँ इतनी अधिक भाषात्मक एवं सांस्कृतिक विविधता मिलती है, इस प्रकार की परीक्षाओं की व्यवस्था किस प्रकार की जा सकती थी।

रोमिला थापर ने मौर्य काल में जनमत (public opinion) को अभिव्यक्त करने वाली संस्थाओं के अभाव की चर्चा की है जिसके परिणामस्वरूप मौर्य सम्राट् जनमत जानने के लिए गुप्तचरों की सूचनाओं पर अवलम्बित रहते थे। लेकिन 'जनमत' एक आधुनिक अवधारणा है। अगर इसका आशय स्थानीय प्रशासन में जनता के सहयोग से है तो वह पंचायत, श्रेणी और निगम आदि संस्थाओं के द्वारा अभिव्यक्ति पाता ही था। लेकिन अगर मिस थापर का आशय यह है कि मौर्य काल में केन्द्रीय प्रशासन में जनता के प्रतिनिधि भाग नहीं ले पाते थे तो उनकी यह शिकायत एक आधुनिक इतिहासकार की आधुनिक काल की संस्थाओं को प्राचीन काल में ढूंढने की इच्छा मात्र है। स्मरणीय है कि ईरान में भी साखामनीषी सम्राट् जनता से अपना सम्पर्क अपने गुप्तचरों के माध्यम से ही रखते थे जिनको उनके 'आँख और कान' कहा जाता था। कम से कम अशोक जैसे मौर्य नरेशों ने इस बात का प्रयास तो

किया था कि वे स्वयं दौरे करके और अपने उच्च पदाधिकारियों को दौरों पर भेज कर जानपद जनों से सम्पर्क बनाये रखें।

रोमिला थापर ने मौर्य साम्राज्य के काल में जिस राष्ट्रीय एकता (national unity) और राष्ट्रीय चेतना (national consciousness) के अभाव की बात कही है तथा इस सन्दर्भ में आर्थिक एवं प्रादेशिक विषमताओं की चर्चा की है एवं विभिन्न प्रदेशों और समूहों के सांस्कृतिक विकास में अन्तर का सम्बन्ध मौर्य साम्राज्य की अवनति से जोड़ने का प्रयास किया है—यह सब भी एक आधुनिक इतिहासकार द्वारा आधुनिक पारिभाषिक शब्दावली को प्राचीन काल पर आरोपित करने का प्रयास है। राष्ट्रीय एकता व राष्ट्रीय चेतना आधुनिक अवधारणाएँ हैं और प्राचीन सन्दर्भ में सारहीन हैं। इसी प्रकार भारत की भाषात्मक, आर्थिक और सांस्कृतिक विविधताओं और विषमताओं की इस सन्दर्भ में चर्चा सीमित रूप में ही प्रासंगिक मानी जा सकती है, मौर्य साम्राज्य के पतन के मुख्य कारण के रूप में नहीं, क्योंकि ये विविधताएं और विषमताएँ भारतीय जीवन का प्राचीन काल में ही नहीं सदैव अनिवार्य अंग रही हैं। आज भी एक ही जगह पर आधुनिकतम आणविक शक्तिचालित कारखानों और उनमें काम करने वाले विश्वविख्यात वैज्ञानिकों के साथ लगभग नव-पाषाणकालीन जीवन व्यतीत करने वाले कबीले देखे जा सकते हैं। और अगर ऐसी विविधताएँ और विषमताएँ भारतीय संस्कृति और जीवन का अभिन्न और अनिवार्य अंग रही हैं तो इन्हें किसी घटना विशेष का कारण मानना तर्काभास (logical fallacy) होगा। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि अशोक आदि ने एक भाषा, एक लिपि, समान प्रशासकीय व्यवस्था, एक कला परम्परा और एक धम्म का प्रचार करके अपने साम्राज्य में सांस्कृतिक एकता लाने का प्रयास किया था। इसलिए मौर्यों को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने साम्राज्य की नींव को सांस्कृतिक एकता द्वारा मजबूत बनाया; यह कहना उचित नहीं होगा कि सांस्कृतिक एकता के अभाव में उनका साम्राज्य विघटित हो गया। वास्तव में जितनी सांस्कृतिक और राजनीतिक एकता मौर्य काल में दिखाई देती है उतनी भारतीय इतिहास में बहुत कम देखने में आती है।

हरप्रसाद शास्त्री का मत

बहुत से विद्वानों ने मौर्य साम्राज्य की अवनति का कारण अशोक को बताया है। यह आक्षेप उस पर कई दृष्टि से लगाया गया है। इस समस्या पर हम पीछे विचार कर आये हैं। यहाँ केवल कुछ विचार-बिन्दुओं का पुनरुल्लेख और स्पष्टीकरण आवश्यक हैं। हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार अशोक ने अपनी नीति से ब्राह्मण वर्ग को असन्तुष्ट कर दिया था। उनके तर्कों का विश्लेषण करके हमने निष्कर्ष निकाला है कि यद्यपि उनके आरोप पूर्णतः सत्य नहीं हैं लेकिन इसमें भी शक नहीं किया जा

सकता कि अशोक की नीति से ब्राह्मण वर्ग में असन्तोष पैदा हुआ होगा, चाहे यह असन्तोष इतना न रहा हो कि राजनीतिक रूप ले सके। लेकिन जब अशोक के कई उत्तराधिकारियों ने भी यही नीति अपनाई—दशरथ ने आजीविकों को संरक्षण दिया और सम्प्रति ने जैन धर्म को उसी प्रकार सहायता दी जैसी अशोक ने बौद्ध धर्म को दी थी, तथा शालिशूक ने धम्मविजय नीति अपनाई—तब यह असन्तोष निश्चय ही अधिक गम्भीर हो गया होगा। 'गार्गी-संहिता' में शालिशूक की धम्मविजय नीति के कारण उसे 'मोहात्मा' कहे जाने तथा 'मार्कण्डेय-पुराण' में मौर्यों को 'असुर' बताये जाने को साहित्य में इस असन्तोष की गूँज कहा जा सकता है। यद्यपि यह कहना ज्ञान की वर्तमान अवस्था में न तो सम्भव है और न उचित कि पुष्यमित्र असन्तुष्ट ब्राह्मणों का नेता था और बृहद्रथ की हत्या एक 'ब्राह्मण क्रान्ति' थी, लेकिन इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि पुष्यमित्र ब्राह्मणों में फैले असन्तोष की उस अर्थ में देन था जिस अर्थ में ब्रिटिश शासन के प्रति असन्तोष के परिणामस्वरूप बहुत-से नेता आविर्भूत हुए।

रायचौधुरी और भाण्डारकर का मत

अशोक और उसके उत्तराधिकारियों को एक और अर्थ में साम्राज्य की अवनति का कारण माना जा सकता है और वह है उनकी अहिंसावादी नीति के कारण साम्राज्य की सैनिक क्षमता में कमी होना। भाण्डारकर और रायचौधुरी के अनुसार अशोक की शान्तिवादी नीति के कारण साम्राज्य की सैन्य क्षमता घटी तथा सम्राट् का प्रान्तों पर नियन्त्रण ढीला हुआ जिससे प्रान्तीय अधिकारियों को जनता को उत्पीड़ित करने का साहस होने लगा। रायचौधुरी के शब्दों में अशोक के उत्तराधिकारियों ने भेरिघोष कम सुना, धम्मघोष अधिक। रायचौधुरी के इस तर्क के उत्तर में यह कह दिया जाता है कि अगर अशोक इतना शान्तिवादी होता तो अपनी सेनाएँ पूर्णरूपेण भंग कर देता और अपनी दण्ड-संहिता से मृत्युदण्ड पूर्ण रूप से खत्म कर देता। लेकिन जब यह कहा जाता है कि अशोक की शान्तिवादी नीति से सैन्य क्षमता का ह्रास हुआ तब आशय यह नहीं होता कि उसने सेनाएँ भंग कर दी थीं या मृत्युदण्ड देना बन्द कर दिया था। उसकी शान्तिवादी नीति के दुष्प्रभाव का आशय यह है कि उसने सेनाओं से वह काम लेना बन्द कर दिया था जो किसी भी राजा को लेना चाहिए—अर्थात् नये प्रदेशों की विजय का—जिससे न केवल साम्राज्य का प्रसार रुक गया वरन् सेनाओं की क्षमता भी अनुभवहीनता के कारण बराबर कम होती गई। अगर वर्तमान युग में भी किसी देश की सेनाएँ कई दशक तक न लड़ें, केवल जनता को बाढ़ आदि विपत्तियों के समय सहायता देने जैसे कार्य करती रहें, सैनिक कारखानों में हथियारों के बजाए सामान्य उपयोग की वस्तुएँ बनने लगें और उसके सेनापतियों का नई विधियों से परिचय टूट जाए, तो उस देश की सेनाएँ कुछ ही समय में दुर्बल हो जाएँगी। यही

बात मौर्य काल में भी हुई। यह सही है कि अशोक व उसके उत्तराधिकारियों ने अपनी सेनाएँ भंग नहीं कर दी थीं, लेकिन यह भी सही है कि उन्होंने सेना का उपयोग साम्राज्य-प्रसार के लिए नहीं किया। उल्टे, सम्प्रति के काल में सैनिकों को जैन साधुओं का वेश धारण करके जैन धर्म के प्रचार के लिए भेजा गया। ऐसी सेनाएँ उन यूनानी आक्रमणकारियों का सामना कैसे कर सकती थीं जो बैक्ट्रिया में लगातार रणरत रहते थे और विजय पाने के लिए कटिबद्ध थे। अशोक यूनानी राज्यों में अपने धम्म के प्रचार में इतना व्यस्त हो गया था कि बैक्ट्रिया में डायोडोटस तथा पार्थिया में अर्सेकिज़ के द्वारा किये गये विद्रोहों की ओर, जो लगभग 250 ई० पू० में हुए, उसका ध्यान ही नहीं गया। अगर उस समय पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठा राजा धर्माशोक की जगह चण्डाशोक होता तो शायद वह बैक्ट्रिया व पार्थिया में भारतीय हितों की रक्षा करने की बात सोचता, और तब साम्राज्य की सुरक्षा के लिए युद्ध हिन्दुकुश के पार लड़े जाते, हिन्दुकुश के इस ओर नहीं—ठीक वैसे ही जैसे रोमक सम्राट् अपनी हितों की रक्षा के लिए पश्चिमी एशिया में युद्ध लड़ते थे और चीनी सम्राट् मध्य एशिया में। जब रायचौधुरी और भाण्डारकर जैसे विद्वान् यह कहते हैं कि अशोक की शान्तिवादी नीति का परिणाम बड़ा घातक हुआ तब शायद उनका यही आशय होता है। उनके इस तर्क के उत्तर में यह कहना कि अशोक अगर शान्तिवादी होता तो अपनी सेनाएँ भंग कर देता तथा मृत्युदण्ड देना बन्द कर देता, उनके आशय को जानबूझ कर नजरअंदाज कर देना है।

पठनीय सामग्री

(अ) मूल ग्रन्थ

अंगविज्जा : (सम्पा०) वी० एस० अग्रवाल।

अर्थशास्त्र : (सम्पा०) वाचस्पति गैरोला, वाराणसी, 1962।
: (सम्पा०) गणपति शास्त्री।
: (सम्पा०) आर० शामशास्त्री, मैसूर, 1919।
: (सम्पा०) आर० पी० कांगले, बम्बई, 1960।

आचारांग : (सम्पा०) एच० जैकोबी, पी० टी० एस०, लन्दन, 1882।

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प : (सम्पा०) टी० गणपतिशास्त्री, त्रिवान्द्रम, 1925।
: (सम्पा०) के० पी० जायसवाल, एन एम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, लाहौर, 1934।

आवश्यकसूत्र : जिनदासगणि की चूर्णि सहित, रतलाम, 1928–29।

ऐतरेय ब्राह्मण

कथाकोष : (सम्पा०) टॉनी, लन्दन, 1895।

कथासरित्सागर : ले० सोमदेव, बम्बई, 1903।

कम्बोडियायी महावंश

कल्पसूत्र : ले० भद्रबाहु; अंग्रेजी अनुवादक, एच० जैकोबी, एस० बी०इ०, ऑक्सफोर्ड, 1892; पुनर्मुद्रण, दिल्ली, 1964।

कामसूत्र : ले० वात्स्यायन; (सम्पा०) देवदत्त शास्त्री, वाराणसी, 1964।

कालिदास ग्रन्थावली : (सम्पा०) सीताराम चतुर्वेदी, अलीगढ़, 1950।

जातक : (सम्पा०) वी० फॉसबॉल, 6 भाग, लन्दन, 1877–97।
: इ० बी० कॉवेल (अंग्रेजी अनुवादक), कैम्ब्रिज, 1895–1913।

जातकमाला : ले० आर्यशूर; (सम्पा०) एच० कर्न, बोस्टन, 1891; अनुवादक स्पेयर, लन्दन, 1895।

जैनसूत्र : एच० जैकोबी (सम्पा०), एस०बी०इ०, 22 तथा 45, ऑक्सफोर्ड, 1884–1895।

तिलोयपण्णति

दशकुमारचरित : ले० दण्डी; (सम्पा०) विश्वनाथ झा तथा सुबोध चन्द्र पन्त, वाराणसी, 1974।

दिव्यावदान : (सम्पा०) इ० बी० कॉवेल तथा आर० ए० नील, कैम्ब्रिज, 1886।
: (सम्पा०) प० ल० वैद्य, दरभंगा, 1959।

दीघनिकाय : (सम्पा०) भिक्षु राहुल सांकृत्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप, 3 भाग, नालन्दा-देवनागरी-पालि सिरीज़।

दीपवंस : (सम्पा०) एच० ओल्डनबर्ग, लन्दन, 1879।

निरयावलीसूत्र : (सम्पा०) ए० एस० गोपानी तथा वी० जे० चोकशी, अहमदाबाद, 1935।

नीतिसार : ले० कामन्दक, पूना, 1958।
पञ्चतन्त्र : वाराणसी, 1972।
परिशिष्टपर्वण : ले० हेमचन्द्र; (सम्पा०) एच० जैकोबी, कलकत्ता, 1932।
पार्जिटर : दि पुराण टैक्स्ट्स् ऑव दि डायनेस्टीज़ ऑव कलि एज, वाराणसी, 1962।
प्रतिमानाटक : ले० भास, वाराणसी।
प्रियदर्शिका : ले० हर्ष, बम्बई, 1884।
बौधायन धर्मसूत्र : (सम्पा०) एल० श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, 1907।
बृहत्कथाकोष : ले० हरिषेण; (सम्पा०) ए० एन० उपाध्ये, बम्बई, 1943।
बृहत्कथामञ्जरी : ले० क्षेमेन्द्र, बम्बई, 1901।
भगवतीसूत्र : अभयदेव की टीका सहित, 3 भाग, बम्बई, 1910–12।
भविष्य-पुराण
भागवत-पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० 2010।
मत्स्य-पुराण : आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, 1907।
मनुस्मृति : अंग्रेजी अनुवादक पं० गंगानाथ झा, 5 भाग, कलकत्ता, 1922–29।
: अंग्रेजी अनुवादक केशवप्रसाद शर्मा, बम्बई, 1923।
महाबोधिवंस : एस० ए० स्ट्रांग, पालि टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1891।
महाभारत : गीता प्रेस, गोरखपुर।
महाभाष्य : ले० पंतजलि; (सम्पा०) एफ० कीलहॉर्न, 3 भाग, बम्बई, 1880–85।
महावंस : (सम्पा०) डब्ल्यु० गीगर, पी०टी०एस०, लन्दन, 1908।
महावंस टीका : पालि टैक्स्ट सोसायटी संस्करण।
मिलिन्दपञ्हो : (सम्पा०) आर० डी० वडेकर, बम्बई विश्वविद्यालय, 1940।
: अंग्रेजी अनुवादक टी० डब्ल्यु० रीज़ डेविड्स, एस०बी० इ०, ऑक्सफोर्ड, 1890–94।
मुद्राराक्षस : ले० विशाखदत्त; (सम्पा०) सत्यव्रतसिंह, वाराणसी, 1968।
मृच्छकटिक : (सम्पा०) रामानुज ओझा, वाराणसी, 1966।
याज्ञवल्क्य स्मृति
रत्नावली : ले० श्री हर्ष; (सम्पा०) के० पी० परब, बम्बई, 1895।
राजतरंगिणी : ले० कल्हण; (सम्पा०) रामतेजशास्त्री, वाराणसी, 1950।
रामायण : गीता प्रेस, गोरखपुर।
लंकावतार : अंग्रेजी अनुवादक डी० टी० सुजूकी, लन्दन, 1932।
ललित-विस्तर : (सम्पा०) आर० मित्रा, कलकत्ता, 1877।
वायु-पुराण
विष्णु-पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर।
: अंग्रेजी अनुवाद एच० एच० विल्सन, 5 भाग, लन्दन, 1864–70।
वंसत्थप्पकासिनी

स्वप्नवासवदत्ता : ले० भास०; (सम्पा०) तरणीश झा, इलाहाबाद, 1973।
स्थविरावलीचरित : दे०, परिशिष्टपर्वण, ले० हेमचन्द्र।
हरिवंश-पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर।

(आ) अभिलेख और मुद्राएँ

एलन, जे० : ब्रिटिश म्यूज़ियम कैटेलॉग ऑव दि क्वायन्स् ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया।
गुप्त और हर्डाकर : एन्श्येण्ट इण्डियन सिल्वर पञ्चमार्क्ड क्वायन्स् ऑव दि मगध-मौर्य कार्षापण सिरीज़, अञ्जानेरी, 1985।
गुप्त, प० ला० : क्वायन्स्, नई दिल्ली, 1969।
गोयल, श्रीराम : प्राचीन भारतीय अभिलेख-संग्रह, जयपुर, 1982।
: क्वायनेज ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, मेरठ, 1988।
ग्रियर्सन, जी० ए० : दि इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव प्रियदसी।
चक्रवर्त्ती, एस० के० : स्टडीज़ इन एन्श्येन्ट इण्डियन न्युमिसमेटिक्स।
पाण्डेय, रा० ब० : अशोक के अभिलेख, वाराणसी, सं० 2022।
बरुआ, बी० एम० : अशोक एण्ड हिज़ इन्स्क्रिप्शन्स्, कलकत्ता, 1955।
: इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव अशोक।
बसाक, आर० जी० : अशोकन इन्स्क्रिप्शन्स्, कलकत्ता, 1959।
भट्ट, जनार्दन : अशोक के धर्मलेख, बनारस, 1923।
भट्टाचार्य, जीवानन्द : सलेक्ट अशोकन एपिग्रेफ्स, कलकत्ता, 1941।
भाण्डारकर, डी० आर० : कार्माइकेल लेक्चर्स, कलकत्ता, 1921।
शर्मा, रामावतार : प्रियदर्शी प्रशस्तयः ऑर पियदसि इन्स्क्रिप्शन्स्।
सरकार, डी० सी० : सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स् बीयरिंग ऑन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलिजेशन, भाग 1, कलकत्ता, 1965।
: इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव अशोक, 1975।
सेन, ए० सी० : अशोकज़ एडिक्ट्स्।
सेना, इ० : दि इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव पियदसि, आई० ए०, 10, 1981।
हूल्तश, इ० : अशोकन इन्स्क्रिप्शन्स्, कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, भाग 1, ऑक्सफोर्ड, 1925।

(इ) सहायक ग्रन्थ

अग्रवाल, वी० एस० : भारतीय कला।
: इतिहास-दर्शन, वाराणसी, 1978।
अलाहाकून, हेक्टर : दि लेटर मौर्यज़, 232 बी०सी० टु 180 बी०सी०, दिल्ली, 1980।
अल्तेकर, ए० एस० : स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एन्श्येण्ट इण्डिया, वाराणसी, 1955।
आयंगर, एस० के० : बिगिनिंग्स् ऑव साउथ इण्डियन हिस्ट्री, मद्रास, 1918।
आयंगर, कृष्णस्वामी : एन्श्येण्ट इण्डिया, लन्दन, 1911।

इलियट, चार्ल्स : हिन्दुइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म, 3 भाग।
एगरमोन्त, पी०एच०एल० : दि क्रॉनोलॉजी ऑव दि रेन ऑव अशोक मोरिय, लीडेन, 1956।
एलन, जे० : कैम्ब्रिज शोर्टर हिस्ट्री ऑव इण्डिया।
ओझा, के० सी० : हिस्ट्री ऑव फोरेन रूल इन एन्श्येण्ट इण्डिया।
ओमस्टीड, ए० टी० : हिस्ट्री ऑव पर्शियन एम्पायर, शिकागो, 1949।
कनिंघम, ए० : दि एन्श्येण्ट ज्योग्रेफी ऑव इण्डिया, कलकत्ता, 1924।
कर्न : मेनुअल ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म, 1898।
काणे, पी० वी० : हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, भाग 1–3, पूना, 1930–46।
कुमारस्वामी, ए० के० : हिस्ट्री ऑव इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट।
कोसाम्बी, डी० डी० : एन इण्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑव इण्डियन हिस्ट्री, बम्बई, 1956।
कृष्णराव, एम० वी० : स्टडीज़ इन कौटिल्य, मैसूर, 1953।
गुप्त, एस० पी० : दि रूट्स् ऑव इण्डियन आर्ट, देहली, 1980।
गुप्त तथा रामचन्द्रन : (सम्पा०) दि ओरिजिन ऑव ब्राह्मी स्क्रिप्ट, नई दिल्ली।
गोपाल, एम० एच० : मौर्यन पब्लिक फाइनेन्स, लन्दन, 1935।
गोयल, शंकर : मौर्य साम्राज्य के पतन में अशोक का उत्तरदायित्व, परिषद्-पत्रिका, अंक अप्रैल, 1980, पृ० 37–35।
गोयल, एस० आर० : ए हिस्ट्री ऑव दि इम्पीरियल गुप्तज़, इलाहाबाद, 1967।
: ए रिलीजस हिस्ट्री ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, दो भाग।
: चन्द्रगुप्त मौर्य, मेरठ, 1987।
: प्राचीन नेपाल का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, वाराणसी, 1973।
: कौटिल्य एण्ड मेगास्थेनिज़, मेरठ, 1985।
: विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ, गोरखपुर, 1963।
: (सम्पा०) मागध साम्राज्य का उदय, नई दिल्ली, 1981।
घोषाल, यू० एन० : ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज़, बम्बई, 1959।
: ऑन सम प्वाइण्ट्स रिलेटिंग टु मौर्य एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम, आई०एच०क्यु०, 6, पृ० 433 अ०, 634 अ०।
: ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन पब्लिक लाइफ, बम्बई, 1966।
चट्टोपाध्याय, एस० : एखियमिनाइड्स् इन इण्डिया, कलकत्ता, 1950।
: बिम्बिसार टु अशोक, कलकत्ता, 1977।
जायसवाल, के० पी० : हिन्दू पोलिटी, बंगलौर, 1955।
जैन, जे० सी० : लाइफ इन एन्श्येण्ट इण्डिया एज़ डिपिक्टिड इन जैन केनन्स्, बम्बई, 1947।
जैन, ही० रा० : भारतीय संस्कृति को जैन धर्म का योगदान।
जैनी, जे० आर० : आउटलाइन्स ऑव जैनिज़्म, कैम्ब्रिज, 1940।
टॉमस, इ० जे० : दि क्वेश्चन ऑव दि जोरोआस्ट्रीयन इन्फ्लुएन्स ऑन अर्ली बुद्धिज़्म, मोदी मेमोरियल वॉल्यूम, पृ० 279 अ०।
टार्न, डब्ल्यु० डब्ल्यु० : ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, कैम्ब्रिज, 1938।

ट्राटमान, टॉमस आर० : कौटिल्य एण्ड दि अर्थशास्त्र, लीडेन, 1971 ।
ठाकुर, उपेन्द्र : हिस्ट्री ऑव मिथिला, दरभंगा, 1956 ।
डेविड्स्, आर० : बुद्धिस्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1955 ।
ड्रेक्समीर, सी० : किनशिप एण्ड कम्युनिटी इन अर्ली इण्डिया, कैलिफोर्निया, 1962 ।
तारानाथ : हिस्ट्री ऑव बुद्धिज़्म इन इण्डिया, आई०एच०क्यु० में प्रकाशित अनुवाद; लामा चिम्पा व अलका चट्टोपाध्याय द्वारा अनूदित ।
थापर, आर० : ए हिस्ट्री ऑव इण्डिया, 1, पैन्गुइन, 1966 ।
: अशोक एण्ड दि डेक्लाइन ऑव दि मौर्यज़, ऑक्सफोर्ड, 1961 ।
: फ्रॉम लीनियेज टु स्टेट, बम्बई, 1984 ।
दत्त, एन० : अर्ली मौनेस्टिक बुद्धिज़्म, भाग 1, कलकत्ता, 1941, भाग 2, कलकत्ता, 1945 ।
दत्त और बाजपेयी : उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का इतिहास ।
दिवाकर, आर० आर० : बिहार थ्रू दि एजिज़, ओरियण्ट लौंगमैन, 1959 ।
दीक्षितार, वी०आर०आर० : मौर्य पोलिटी, मद्रास, 1932 ।
नारायण, ए० के० : (सम्पा०) स्टडीज़ इन हिस्ट्री ऑव बुद्धिज़्म ।
नेगी, जे० एस० : सम इण्डोलोजिकल स्टडीज़, 1 ।
पाण्डेय, गो० च० : बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास ।
: श्रमण ट्रेडीशन ।
पंकज, एन० क्यु० : स्टेट एण्ड रिलीजन इन एन्श्येण्ट इण्डिया, इलाहाबाद, 1983 ।
पणिक्कर, के० एम० : ज्योग्रेफिकल फैक्टर्स इन इण्डियन हिस्ट्री, बम्बई ।
पाण्डेय, आर० बी० : गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, गोरखपुर, वि०सं० 2003 ।
: प्राचीन भारत ।
पाण्डेय, सी० बी० : मौर्यन आर्ट, देहली, 1983 ।
पुरी, बी० एन० : इण्डिया इन क्लासिकल ग्रीक राइटिंग्स्, अहमदाबाद, 1963 ।
प्रधान, एस० एन० : क्रॉनोलॉजी ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1927 ।
फिक : दि सोशल आर्गेनाइजेशन इन नॉर्थ-ईस्ट इण्डिया ।
फुलर, जे० एफ० सी० : दि जेनेरलशिप ऑव अलेक्ज़ेण्डर दि ग्रेट, देहरादून, 1977 ।
बज, इ० ए० डब्ल्यु० : दि लाइफ एण्ड एक्सप्लोयट्स ऑव अलेक्ज़ेण्डर दि ग्रेट (सीरियाइक वर्ज़न), कैम्ब्रिज, 1889 ।
बनर्जी, आर० डी० : हिस्ट्री ऑव उड़ीसा, भाग 2, कलकत्ता, 1930–31 ।
बन्द्योपाध्याय, एन० सी० : डवलपमेण्ट ऑव हिन्दू पोलिटी एण्ड पोलिटिकल थ्योरीज़, कलकत्ता, 1927 ।
: कौटिल्य, कलकत्ता, 1927 ।
बागची, पी० सी० : इण्डिया एण्ड सेण्ट्रल एशिया, कलकत्ता, 1955 ।
बार्नेट : एण्टिक्विटीज़ ऑव इण्डिया ।

बील, एस० : बुद्धिस्ट रिकार्ड्स ऑव दि वैस्टर्न वर्ल्ड, भाग 2, लन्दन, 1906।
बी० सी० लाहा वॉल्यूम, भाग एक।
बुद्धप्रकाश : पोलिटिकल एण्ड सोशल मूवमेण्ट्स इन एन्श्येण्ट पंजाब, दिल्ली, 1964।
: स्टडीज़ इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलिज़ेशन।
बेनीप्रसाद : दि स्टेट इन एन्श्येण्ट इण्डिया, इलाहाबाद, 1928।
बैशम, ए० एल० : हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रिन्स् ऑव दि आजीविकज़, लन्दन, 1951।
: दि वण्डर दैट वाज़ इण्डिया, लन्दन, तीसरा संस्करण, 1967।
: स्टडीज़ इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, कलकत्ता, 1964।
: (सम्पा०) पेपर्स ऑन दि डेट ऑव कनिष्क।
बोस, एस० एन० : सोशल एण्ड रूरल इकोनोमी ऑव नॉर्थ इण्डिया, दो भाग, कलकत्ता, 1945।
बोंगार्ड-लेविन, जी० एम० : एन्श्येण्ट इण्डिया एण्ड सेण्ट्रल एशिया, कलकत्ता, 1971।
: मौर्यन इण्डिया, नई दिल्ली, 1985।
ब्युलर : इण्डियन पेलियोग्रेफी।
ब्यूरी, जे० बी० : हिस्ट्री ऑव ग्रीस, न्यूयार्क, 1913।
भार्गव, पी० एल० : चन्द्रगुप्त मौर्य, लखनऊ, 1935।
भाण्डारकर (डी० आर०) कोमेमोरेशन वॉल्यूम।
भाण्डारकर, डी० आर० : सम आस्पेक्ट्स ऑव एन्श्येण्ट इण्डियन पोलिटी, वाराणसी, 1929।
भारत-कौमुदी, 2 भाग, इलाहाबाद, 1945–47।
मज़ूमदार, आर० सी० : एन्श्येण्ट इण्डिया, वाराणसी, 1952।
: कोरपोरेट लाइफ इन एन्श्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1922।
: दि क्लासिकल एकाउण्ट्स ऑव इण्डिया, कलकत्ता, 1960।
: रीडिंग्स इन पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, दिल्ली, 1976।
: इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव कम्बुज।
: मेगास्थेनिज़ एण्ड एरियन।
: (सम्पा०) हिस्ट्री ऑव बंगाल।
मज़ूमदार तथा पुसाल्कर : (सम्पा०) दि एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी, बम्बई, 1960।
मललसेकर : डिक्शनरी ऑव पालि प्रोपर नेम्स, 2 भाग।
मार्शल, जॉन : टैक्सिला।
मिश्र, जी० एस० पी० : दि एज ऑव विनय, दिल्ली, 1972।
मिश्र, योगेन्द्र : मेगास्थेनिज़ का भारत-विवरण, पटना, 1951।
मुकर्जी, आर० के० : हिन्दू सभ्यता (अनु०, वा०श० अग्रवाल), दिल्ली, 1958।
: अशोक, लन्दन, 1938।
: चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल (अनु०, मुनीश सक्सेना), दिल्ली, 1962।

: लोकल गवर्नमेण्ट इन एन्श्येण्ट इण्डिया, ऑक्सफोर्ड, 1920।
: एन्श्येण्ट इण्डियन एजूकेशन।

मैकफेल, जे० एम० : अशोक, कलकत्ता, 1908।

मैक्रिण्डल, जे० डब्ल्यु० : एन्श्येण्ट इण्डिया एज़ डेस्क्राइब्ड बाई मेगास्थेनिज़ एण्ड एरियन, कलकत्ता, 1926।
: एन्श्येण्ट इण्डिया एज़ डेस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिट्रेचर, वेस्टमिनिस्टर, 1901।

मोतीचन्द्र : काशी का इतिहास, बम्बई, 1962।

मोहानन : दि अर्ली हिस्ट्री ऑव बेंगाल।

याजदानी, जी० : (सम्पा०) दि अर्ली हिस्ट्री ऑव डकन।

यादव, बी० एन० एस० : कुषाण स्टडीज़, इलाहाबाद, में लिखित अध्याय।

राइस : एडिक्ट्स ऑव अशोक इन माइसूर।

राक्हिल : लाइफ ऑव दि बुद्ध।

राय, उ० ना० : प्राचीन भारत में नगर और नागरिक जीवन, इलाहाबाद, 1965।

रायचौधुरी, एच० सी० : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1953।

रायचौधुरी, पी० सी० : जैनिज़्म इन बिहार, पटना, 1956।

रेग्मी, डी० आर० : एन्श्येण्ट नेपाल, कलकत्ता, 1960।

रेप्सन, इ० जे० : (सम्पा०) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, खण्ड 1, कैम्ब्रिज, 1922।
: एन्श्येण्ट इण्डिया, कैम्ब्रिज, 1922, 1935।

रोस्टोवट्ज़ेफ : सोशल एण्ड इकोनोमिक हिस्ट्री ऑव दि हेलेनिस्टिक वर्ल्ड।

लाहा, एन० एन० : आस्पेक्ट्स ऑव एन्श्येण्ट इण्डियन पोलिटी, ऑक्सफोर्ड, 1921।

लाहा, बी० सी० : ए हिस्ट्री ऑव पालि लिट्रेचर, भाग 2, लन्दन, 1933।
: सम क्षत्रिय ट्राइब्स ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1923।
: ट्राइब्स इन एन्श्येण्ट इण्डिया, पूना, 1943।

लेगे : फा-शिएन।

लेविस-राइस : मैसूर एण्ड कुर्ग फ्रॉम इन्स्क्रिप्शन्स्।

वाटर्स, टी० : ऑन युवान च्वांग्स् ट्रैवल्स इन इण्डिया, लन्दन, 1904–5।

विण्टरनिट्ज़, एम० : ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर, भाग 1, कलकत्ता, 1927।

विद्यालंकार, जयचन्द्र : भारतीय इतिहास का उन्मीलन, इलाहाबाद, 1956–57।
: भारतीय इतिहास की रूपरेखा।

विद्यालंकार, सत्यकेतु : मौर्य साम्राज्य का इतिहास, मसूरी, 1971।

वेल्स, एच० जी० : दि आउटलाइन ऑव हिस्ट्री।

वैडेल, एल० ए० : रिपोर्ट ऑन दि एक्सकेवेशन्स् एट पाटलिपुत्र, कलकत्ता, 1903।

वैद्य, सी० वी० : हिस्ट्री ऑव मैडीवल हिन्दू इण्डिया ।
वुडकॉक : दि ग्रीक्स् इन इण्डिया ।
शर्मा, आर० एस० : आस्पेक्ट्स ऑव पोलिटिकल आइडियाज़ एण्ड इन्स्टि-ट्यूशन्स् इन एन्श्येण्ट इण्डिया, वाराणसी, 1968 ।
: दि शूद्रज़ इन एन्श्येण्ट इण्डिया, दिल्ली, 1958 ।
शर्मा, जे० पी० : रिपब्लिकन ट्राइब्स् इन एन्श्येण्ट इण्डिया, लीडेन, 1968 ।
शास्त्री, के० ए० एन० : (सम्पा०) एज ऑव नन्दज़ एण्ड मौर्यज़, दिल्ली, 1967 ।
शाह, टी० एल० : एन्श्येण्ट इण्डिया, दो भाग ।
शाह, शा० ला० : दि ट्रेडीशनल क्रोनोलॉजी ऑव दि जैनज ।
शाह, सी० जे० : जैनिज़म इन नॉर्थ इण्डिया, लन्दन तथा बम्बई, 1932 ।
शिलुस्की, जीन : दि लीजेण्ड्स ऑव एम्परर अशोक इन इण्डियन एण्ड चाइनीज़ टैक्स्ट्स, कलकत्ता, 1967 ।
श्रीवास्तव, अ० कु० : इण्डिया एज़ डेस्क्राइब्ड बाई दि अरब ट्रेवेलर्स ।
सरकार, एस० सी० : सम आस्पेक्ट्स ऑव अर्लीएस्ट सोशल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, लन्दन, 1928 ।
सरकार, डी० सी० : इण्डियन एपिग्रेफी ।
सरकार, जे० एन० : मिलिट्री हिस्ट्री ऑव इण्डिया ।
साचउ : अल्बरूनीज़ इण्डिया ।
सिनहा, एच० एन० : सावरेण्टी इन एन्श्येण्ट इण्डियन पोलिटी, लन्दन, 1938 ।
सेनगुप्त, एन० सी० : सोर्सिज़ ऑव लॉ एण्ड सोसायटी इन एन्श्येण्ट इण्डिया ।
स्पेलमान, जे० डब्ल्यु० : पोलिटिकल थ्योरी ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, लन्दन, 1964 ।
स्मिथ, वी० ए० : अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, ऑक्सफोर्ड, 1924 ।
: हिस्ट्री ऑव फाइन आर्टस् इन इण्डिया एण्ड सीलोन ।
: अशोक ।
सौन्दरराजन : ग्लिम्पज़िज़ ऑव इण्डियन कल्चर, देहली, 1981 ।

अनुक्रमणिका